वीरोदय महाकाव्य

-: मूलग्रन्थलेखक एवं संस्कृत हिन्दी टीकाकार :-

श्री वाणीभूषण बा. ब्र. पं. भूरामलजी शास्त्री

(आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज)

प्रेरक प्रसंग : प. पू. आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के परमशिष्य मुनि श्री सुधासागरजी महाराज, क्षु. श्री गम्भीर सागरजी, क्षु. श्री धैर्य सागरजी महाराज के ऐतिहासिक १९९४ के श्री सोनी जी की नसियाँ, अजमेर के चातुर्मास के उपलक्ष्य में प्रकाशित ।

ट्रस्ट संस्थापक : स्व. पं. जुगल किशोर मुख्तार

प्रूफ रीडिंग : श्री कमल कुमार जी बड़जात्या, अजमेर

ग्रन्थमालासम्पादक एवं नियामक : डॉ. दरबारी लाल कोठिया न्यायाचार्य, बीना (मध्य प्रदेश)

संस्करण : द्वितीय

प्रति : 2000

मूल्य : स्वाध्याय
(नोट :- डाक खर्च भेजकर प्रति निशुल्क प्राप्ति स्थान से मंगा सकते है ।

प्राप्ति स्थान :

* **सोनी मंन्दिर ट्रस्ट**
  सोनीजी की नसियाँ,
  अजमेर (राज.)

* **डा. शीतलचन्द जैन**
  मंत्री – श्री वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट
  १३१४ अजायब घर का रास्ता,
  किशनपोल बाजार, जयपुर

* **श्री दिगम्बर जैन मन्दिर अतिशय क्षेत्र**
  मन्दिर संघी जी, सांगानेर
  जयपुर (राज.)

श्री वाणीभूषण बा. ब्र. पं. भूरामलजी शास्त्री

वीरोदय महाकाव्य

आशीर्वाद एवं प्रेरणा :

मुनि श्री सुधासागर जी महाराज एवं

क्षु. श्री गंभीरसागर जी, एवं क्षु. श्री धैर्यसागर जी महाराज

सम्पादक

पं. हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री

सौजन्यता :

श्री गुप्त दातार

प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन समिति एवं सकल दिगम्बर जैन समाज,

अजमेर (राज.)

प्रकाशन :

वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, जयपुर

मुद्रण एवं लेजर टाइप सैटिंग :

निओ ब्लॉक एण्ड प्रिन्टस

पुरानी मण्डी, अजमेर फोन 22291
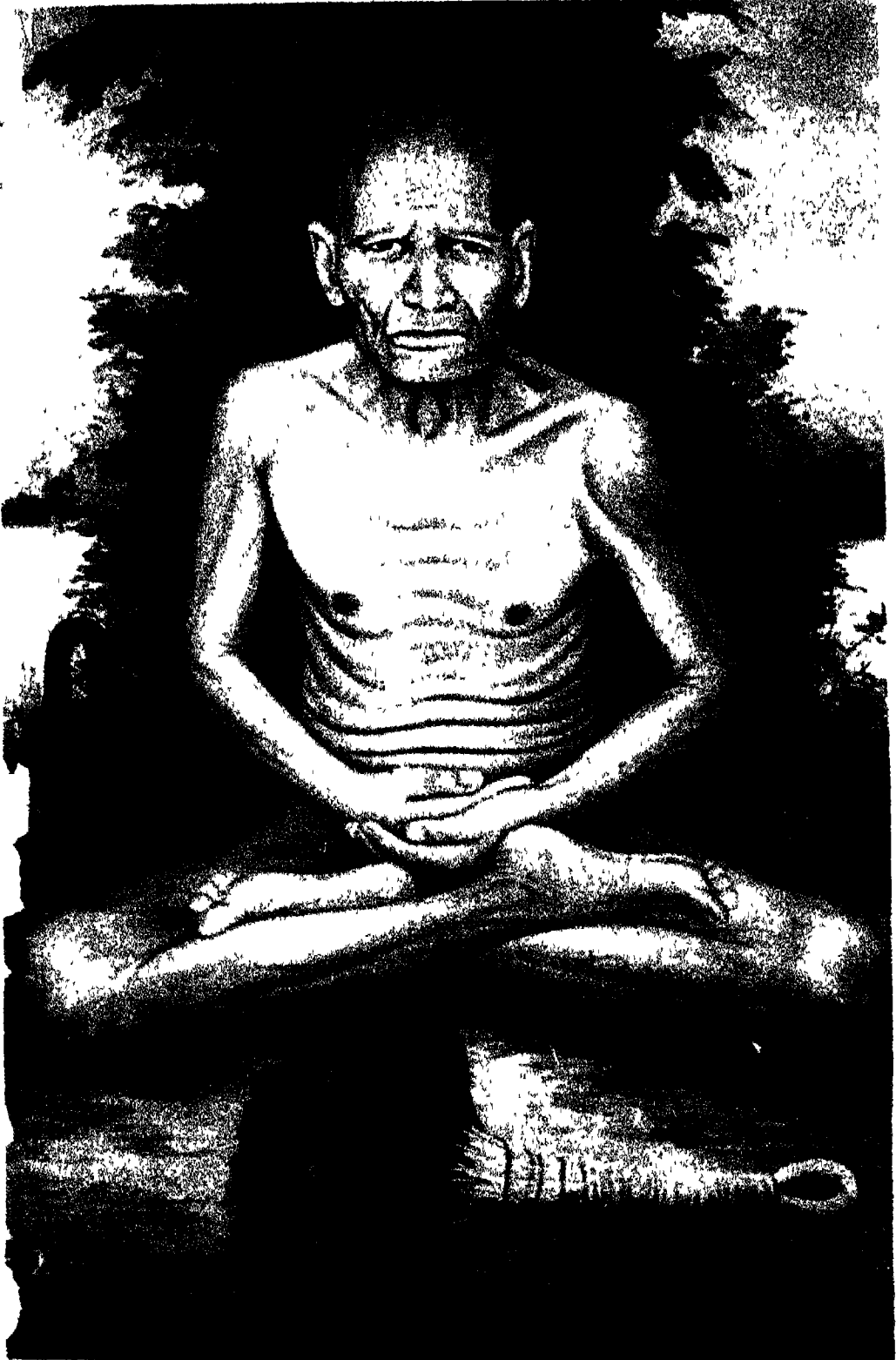
दिगम्बर जैनाचार्य १०८ श्री ज्ञानसागर मुनि महाराज

प्रकाशकीय समर्पण

आ. श्री विद्यासागर जी

卐

मु. श्री सुधासागर जी

पंचाचार युक्त
महाकवि, दार्शनिक विचारक,
धर्मप्रभाकर, आदर्श चारित्रनायक, कुन्द-कुन्द
की परम्परा के उन्नायक, संत शिरोमणि, समाधि सम्राट,
परम पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के कर कमलों में
एवं
इनके परम सुयोग्य
शिष्य ज्ञान, ध्यान, तप युक्त
जैन संस्कृति के रक्षक, क्षेत्र जीर्णोद्धारक,
वात्सल्य मूर्ति, समता स्वभावी, जिनवाणी के यथार्थ
उद्घोषक, आध्यात्मिक एवं दार्शनिक संत मुनि
श्री सुधासागर जी महाराज के कर कमलों में
सकल दि. जैन समाज एवं दिगम्बर जैन समिति,
अजमेर (राज.) की ओर से
सादर समर्पित ।

आचार्य श्री ज्ञानसागर जी की जीवन यात्रा आँखों देखी

आलेख - निहाल चन्द्र जैन
सेवा निवृत्त प्राचार्य
मिश्रसदन सुन्दर विलास, अजमेर

प्राचीन काल से ही भारत वसुन्धरा ने अनेक महापुरुषों एवं नर-पुंगवों को जन्म दिया है । इन नर-रत्नों ने भारत के सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक एवं शौर्यता के क्षेत्र में अनेकों कीर्तिमान स्थापित किये हैं । जैन धर्म भी भारत भूमि का एक प्राचीन धर्म हैं, जहाँ तीर्थंकर, श्रुत केवली, केवली भगवान के साथ साथ अनेकों आचार्यों, मुनियों एवं सन्तों ने इस धर्म का अनुसरण कर मानव समाज के लिए मुक्ति एवं आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है ।

इस १९-२० शताब्दी के प्रथम दिगम्बर जैनाचार्य परम पूज्य, चारित्र चक्रवर्ती आचार्य १०८ श्री शांतिसागर जी महाराज थे जिनकी परम्परा में आचार्य श्री वीर सागरजी, आचार्य श्री शिव सागरजी इत्यादि तपस्वी साधुगण हुये । मुनि श्री ज्ञान सागरजी आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज से वि. स २०१६, में खानियाँ (जयपुर) में मुनि दीक्षा लेकर अपने आत्मकल्याण के मार्ग पर आरूढ़ हो गये थे । आप शिवसागर आचार्य महाराज के प्रथम शिष्य थे ।

मुनि श्री ज्ञान सागर जी का जन्म राणोली ग्राम (सीकर-राजस्थान) में दिगम्बर जैन के छाबड़ा कुल में सेठ सुखदेवजी के पुत्र श्री चतुर्भुज जी की धर्म पत्नि घृतावरी देवी की कोख से हुआ था । आपके बड़े भ्राता श्री छगनलालजी थे तथा दो छोटे भाई और थे तथा एक भाई का जन्म तो पिता श्री के देहान्त के बाद हुआ था । आप स्वयं भूरामल के नाम से विख्यात हुये । प्रारम्भिक शिक्षा गाँव के प्राथमिक विद्यालय में हुई । साधनों के अभाव में आप आगे विद्याध्ययन न कर अपने बड़े भाई जी के साथ नौकरी हेतु गयाजी (बिहार) आगये । वहां १३-१४ वर्ष की आयु में एक जैनी सेठ के दुकान पर आजीविका हेतु कार्य करते रहे । लेकिन आपका मन आगे पढ़ने के लिए छटपटा रहा था । संयोगवश स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी के छात्र किसी समारोह में भाग लेने हेतु गयाजी (बिहार) आये । उनके प्रभावपूर्ण कार्यक्रमों को देखकर युवा भूरामल के भाव भी विद्या प्राप्ति हेतु वाराणसी जाने के हुए । विद्या-अध्ययन के प्रति आपकी तीव्र भावना एवं दृढ़ता देखकर आपके बड़े भ्राता ने १५ वर्ष की आयु में आपको वाराणसी जाने की स्वीकृति प्रदान कर दी ।

श्री भूरामल जी बचपन से ही कठिन परिश्रमी अध्यवसायी, स्वावलम्बी, एवं निष्ठावान थे । वाराणसी में आपने पूर्ण निष्ठा के साथ विद्याध्ययन किया और संस्कृत एवं जैन सिद्धान्त का गहन अध्ययन कर शास्त्री परीक्षा पास की । जैन धर्म से संस्कारित श्री भूरामल जी न्याय, व्याकरण एवं प्राकृत ग्रन्थों को जैन सिद्धान्तानुसार पढ़ना चाहते थे, जिसकी उस समय वाराणसी में समुचित व्यवस्था नहीं थी । आपका मन क्षुब्ध हो उठा, परिणामत: आपने जैन साहित्य, न्याय और व्याकरण को पुन:जीवित करने का भी दृढ़ संकल्प ही लिया । अडिग विश्वास, निष्ठा एवं संकल्प के धनी श्री भूरामल जी ने कई जैन एवं जैनेत्तर विद्वानों से जैन वाङ्मय की शिक्षा प्राप्त की । वाराणसी में रहकर ही आपने स्याद्वाद महाविद्यालय से "शास्त्री" की परीक्षा पास कर आप पं. भूरामल जी नाम से विख्यात हुए । वाराणसी में ही आपने जैनाचार्यों द्वारा लिखित न्याय, व्याकरण, साहित्य, सिद्धान्त एवं अध्यात्म विषयों के अनेक ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया ।

बनारस से लौट कर आपने अपने ही ग्रामीण विद्यालय में अवैतनिक अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया, लेकिन साथ में, निरन्तर साहित्य साधना एवं साहित्य लेखन के कार्य में भी अग्रसर होते गये। आपकी लेखनी से एक से एक सुन्दर काव्यकृतियाँ जन्म लेती रही। आपकी तरुणाई विद्वता और आजीविकोपार्जन की क्षमता देखकर आपके विवाह के लिए अनेकों प्रस्ताव आये, सगे सम्बन्धियों ने भी आग्रह किया। लेकिन आपने वाराणसी में अध्ययन करते हुए ही संकल्प ले लिया था कि आजीवन ब्रह्मचारी रहकर माँ सरस्वती और जिनवाणी की सेवा में, अध्ययन-अध्यापन तथा साहित्य सृजन में ही अपने आपको समर्पित कर दिया। इस तरह जीवन के ५० वर्ष साहित्य साधना, लेखन, मनन एवं अध्ययन में व्यतीत कर पूर्ण पांडित्य प्राप्त कर लिया। इसी अवधि में आपने दयोदय, भद्रोदय, वीरोदय, सुदर्शनोदय आदि साहित्यिक रचनायें संस्कृत तथा हिन्दी भाषा में प्रस्तुत की वर्तमान शताब्दी में संस्कृत भाषा के महाकाव्यों की रचना की परम्परा को जीवित रखने वाले मूर्धन्य विद्वानों में आपका नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। काशी के दिग्गज विद्वानों की प्रतिक्रिया थी "इसकाल में भी कालीदास और माघकवि की टक्कर लेने वाले विद्वान हैं, यह जानकर प्रसन्नता होती है" इस तरह पूर्ण उदासीनता के साथ, जिनवाणी माँ की अविरत सेवा में आपने गृहस्थाश्रम में ही जीवन के ५० वर्ष पूर्ण किये। जैन सिद्धान्त के हृदय को आत्मसात करने हेतु आपने सिद्धान्त ग्रन्थों श्री धवल, महाधवल जयधवल महाबन्ध आदि ग्रन्थों का विधिवत् स्वाध्याय किया। "ज्ञान भारं क्रिया बिना" क्रिया के बिना ज्ञान भार- स्वरूप है - इस मंत्र को जीवन में उतारने हेतु आप त्याग मार्ग पर प्रवृत्त हुए।

सर्वप्रथम ५२ वर्ष की आयु में सन् १९४७ में आपने अजमेर नगर में ही आचार्य श्री वीर सागरजी महाराज से सप्तम प्रतिमा के व्रत अंगीकार किये। ५४ वर्ष की आयु में आपने पूर्णरूपेण गृहत्याग कर आत्मकल्याण हेतु जैन सिद्धान्त के गहन अध्ययन में लग गये। सन् १९५५ में ६० वर्ष की आयु में आपने आचार्य श्री वीर सागरजी महाराज से ही रेनवाल में क्षुल्लक दीक्षा लेकर ज्ञानभूषण के नाम से विख्यात हुए। सन् १९५९ में ६२ वर्ष की आयु में आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज से खानियाँ (जयपुर) में मुनि दीक्षा अंगीकार कर १०८ मुनि श्री ज्ञानसागरजी के नाम से विभूषित हुए। और आपको आचार्य श्री का प्रथम शिष्य होने का गौरव प्राप्त हुआ। संघ में आपने उपाध्याय पद के कार्य को पूर्ण विद्वत्ता एवं सजगता के साथ सम्पन्न किया। रूढ़िवाद से कोसों दूर मुनि ज्ञानसागर जी ने मुनिपद की सरलता और गंभीरता को धारण कर मन, वचन और कायसे दिगम्बरत्व की साधना में लग गये। दिन रात आपका समय आगमानुकूल मुनिचर्या की साधना, ध्यान अध्ययन-अध्यापन एवं लेखन में व्यतीत होता रहा। फिर राजस्थान प्रान्त में ही विहार करने निकल गये। उस समय आपके साथ मात्र दो-चार त्यागी व्रती थे, विशेष रूप से ऐलक श्री सन्मतिसागर जी, क्षुल्लक श्री संभवसागर जी व सुख सागरजी तथा एक-दो ब्रह्मचारी थे। मुनि श्री उच्च कोटि के शास्त्र-ज्ञाता, विद्वान एवं तात्विक वक्ता थे। पंथ वाद से दूर रहते हुए आपने सदा जैन सिद्धान्तों को जीवन में उतारने की प्रेरणा दी और एक सद्गृहस्थ का जीवन जीने का आह्वान किया।

विहार करते हुए आप मदनगंज-किशनगढ़, अजमेर तथा ब्यावर भी गये। ब्यावर में पंडित हीरा लालजी शास्त्री ने मुनि श्री को उनके द्वारा लिखित ग्रन्थों एवं पुस्तकों को प्रकाशित कराने की बात कही, तब आपने कहा "जैन वाँगमय की रचना करने का काम मेरा है, प्रकाशन आदि का कार्य आप लोगों का है"।

जब सन् १९६७ में आपका चातुर्मास मदनगंज किशनगढ़ में हो रहा था, तब जयपुर नगर के चूलगिरि क्षेत्र पर आचार्य देश भूषण जी महाराज का वर्षा योग चल रहा था। चूलगिरी का निर्माण कार्य भी आपकी देखरेख एवं संरक्षण में चल रहा था। उसी समय सदलगा ग्रामनिवासी, एक कन्नड़-भाषी नवयुवक आपके पास ज्ञानार्जन हेतु आया। आचार्य देशभूषण जी की आँखों ने शायद उस नवयुवक की भावना को पढ़ लिया था, सो उन्होंने उस नवयुवक विद्याधर को आशीर्वाद प्रदान कर ज्ञानार्जन हेतु मुनिवर ज्ञानसागर जी के पास भेज दिया। जब मुनि श्री ने नौजवान विद्याधर में ज्ञानार्जन की एक तीव्र कसक एवं ललक देखी तो मुनि श्री ने पूछ ही लिया कि अगर विद्यार्जन के पश्चात छोडकर चले

आवोगे तो मुनि तो का परिश्रम व्यर्थ जायेगा । नौजवान विद्याधर ने तुरन्त ही दृढ़ता के साथ आजीवन सवारी का त्याग कर दिया । इस त्याग भावना से मुनि ज्ञान सागरजी अत्यधिक प्रभावित हुए और एक टक-टकी लगाकर उस नौजवान की मनोहारी, गौरवर्ण तथा मधुर मुस्कान के पीछे छिपे हुए दृढ़-संकल्प को देखते ही रह गये ।

शिक्षण प्रारम्भ हुआ । योग्य गुरू के योग्य शिष्य विद्याधर ने ज्ञानार्जन में कोई कसर नहीं छोड़ी । इसी बीच उन्होंने अखंड ब्रह्मचर्य्य व्रत को भी धारण कर लिया । ब्रह्मचारी विद्याधर की साधना प्रतिभा, तत्परता तथा ज्ञान के क्षयोपशम को देखकर गुरू ज्ञानसागर जी इतने प्रभावित हुए कि, उनकी कड़ी परीक्षा लेने के बाद, उन्हें मुनिपद ग्रहण करने की स्वीकृति दे दी । इस कार्य को सम्पन्न करने का सौभाग्य मिला अजमेर नगर को और सम्पूर्ण जैन समाज को । ३० जून १९६८ तदानुसार आषाढ़ शुक्ला पंचमी को ब्रह्मचारी विद्याधर की विशाल जन समुदाय के समक्ष जैनेश्वरी दीक्षा प्रदान की गई और विद्याधर, मुनि विद्यासागर के नाम से सुशोभित हुए । उस वर्ष का चातुर्मास अजमेर में ही सम्पन्न हुआ ।

तत्पश्चात मुनि श्री ज्ञानसागर जी का संघ विहार करता हुआ नसीराबाद पहुँचा। यहाँ आपने ७ फरवरी १९६९ तदानुसार मगसरबदी दूज को श्री लक्ष्मी नारायण जी को मुनि दीक्षा प्रदान कर मुनि १०८ श्री विवेकसागर नाम दिया । इसी पुनीत अवसर पर समस्त उपस्थित जैन समाज द्वारा आपको आचार्य पद से सुशोभित किया गया ।

आचार्य ज्ञानसागर जी की हार्दिक अभिलाषा थी कि उनके शिष्य उनके सान्निध्य में अधिक से अधिक ज्ञार्नाजन कर ले । आचार्य श्री अपने ज्ञान के अथाह सागर को समाहित कर देना चाहते थे विद्या के सागर में और दोनों ही गुरू-शिष्य उतावले थे एक दूसरे में समाहित होकर ज्ञानामृत का निरन्तर पान करने और कराने में । आचार्य ज्ञानसागर जी सच्चे अर्थों में एक विद्वान-जौहरी और पारखी थे तथा बहुत दूर दृष्टि वाले थे । उनकी काया निरन्तर क्षीण होती जा रही थी । गुरू और शिष्य की जैन सिद्धान्त एवं वांगमय की आराधना, पठन, पाठन एवं तत्वचर्चा-परिचर्चा निरन्तर अबाधगति से चल रही थी ।

तीन वर्ष पश्चात १९७२ में आपके संघ का चातुर्मास पुनः नसीराबाद में हुआ। अपने आचार्य गुरू की गहन अस्वस्थ्यता में उनके परम सुयोग्य शिष्य मुनि श्री विद्यासागर जी ने पूर्ण निष्ठा और निस्पृह भाव से इतनी सेवा की कि शायद कोई लखपती बाप का बेटा भी इतनी निष्ठा और तत्परता के साथ अपने पिता श्री की सेवा कर पाता । कानों सुनी बात तो एक बार झूंठी हो सकती है लेकिन आँखो देखी बात को तो शत प्रतिशत सत्य मान कर ऐसी उत्कृष्ट गुरू भक्ति के प्रति नतमस्तक होना ही पड़ता है।

चातुर्मास समाप्ति की ओर था । आचार्य श्री ज्ञानसागर जी शारीरिक रुप से काफी अस्वस्थ्य एवं क्षीण हो चुके थे । साइटिका का दर्द कम होने का नाम ही नहीं ले रहा था दर्द की भयंकर पीड़ा के कारण आचार्य श्री चलने फिरने में असमर्थ होते जा रहे थे । १६-१७ मई १९७२ की बात है - आचार्य श्री ने अपने योग्यतम शिष्य मुनि विद्यासागर से कहा "विद्यासागर ! मेरा अन्त समीप है । मेरी समाधि कैसे सधेगी ?

इसी बीच एक महत्वपूर्ण घटना नसीराबाद प्रवास के समय घटित हो चुकी थी । आचार्य श्री के देह-त्याग से करीब एक माह पूर्व ही दक्षिण प्रान्तीय मुनि श्री पार्श्वसागर जी आचार्य श्री की निर्विकल्प समाधि में सहायक होने हेतु नसीराबाद पधार चुके थे । वे कई दिनों से आचार्य श्री ज्ञानसागरजी की सेवा सुश्रुषा एवं वैय्यावृत्ति कर अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहते थे। नियति को कुछ और ही मंजूर था। १५ मई १९७२ को पार्श्वसागर महाराज को शारीरिक व्याधि उत्पन्न हुई और १६ मई को प्रातःकाल करीब ७ बजकर ४५ मिनिट पर अरहन्त, सिद्ध का स्मरण करते हुए वे इस नश्वर

देह का त्याग कर स्वर्गारोहण हो गये । अतः अब यह प्रश्न आचार्य ज्ञानसागर जी के सामने उपस्थित हुआ कि समाधि हेतु आचार्य पद का परित्याग तथा किसी अन्य आचार्य की सेवा में जाने का आगम में विधान है । आचार्य श्री के लिए इस भंयकर शारीरिक उत्पीडन की स्थिति में किसी अन्य आचार्य के पास जाकर समाधि लेना भी संभव नहीं था। आचार्य श्री ने अन्ततोगत्वा अपने शिष्य मुनि श्री विद्यासागर जी को कहा "मेरा शरीर आयु कर्म के उदय से रत्नत्रय- आराधना में शनैः शनैः कृश हो रहा है। अतः मैं यह उचित समझता हूँ कि शेष जीवन काल में आचार्य पद का परित्याग कर इस पद पर अपने प्रथम एवं योग्यतम शिष्य को पदासीन कर दूं। मेरा विश्वास है कि आप श्री जिनशासन सम्वर्धन एवं श्रमण संस्कृति का संरक्षण करते हुए इस पदकी गरिमा को बनाये रखोगे तथा संघ का कुशलता पूर्वक संचालन करसमस्त समाज को सही दिशा प्रदान करोगे।" जब मुनि श्री विद्यासागरजी ने इस महान भार को उठाने में, ज्ञान, अनुभव और उम्र से अपनी लघुता प्रकट की तो आचार्य ज्ञान सागरजी ने कहा "तुम मेरी समाधि साध दो, आचार्य पद स्वीकार करलो। फिर भी तुम्हें संकोच है तो गुरु दक्षिणा स्वरुप ही मेरे इस गुरुत्तर भार को धारण कर मेरी निर्विकल्प समाधि करादो- अन्य उपाय मेरे सामने नहीं है।"

मुनि श्री विद्यासागर जी काफी विचलित हो गये, काफी मंथन किया, विचार-विमर्श किया और अन्त में निर्णय लिया कि गुरु दक्षिणा तो गुरु को हर हालत में देनी ही होगी । और इस तरह उन्होंने अपनी मौन स्वीकृति गुरु चरणों से समर्पित करदी ।

अपनी विशेष आभा के साथ २२ नवम्बर १९७२ तदानुसार मगसर बदी दूज का सूर्योदय हुआ। आज जिन शासन के अनुयायिओं को साक्षात् एक अनुपम एवं अद्भुत दृश्य देखने को मिला । कल तक जो श्री ज्ञान सागरजी महाराज संघ के गुरु थे, आचार्य थे, सर्वोपरि थे, आज वे ही साधु एवं मानव धर्म की पराकाष्ठा का एक उत्कृष्ठ उदाहरण प्रस्तुत करने जा रहे थे यह एक विस्मयकारी एवं रोमांचक दृश्य था, मुनि की संज्वलन कषाय की मन्दता का सर्वोत्कृष्ठ उदाहरण था । आगमानुसार आचार्य श्री ज्ञानसागरजी ने आचार्य पदत्याग की घोषणा की तथा अपने सर्वोत्तम योग्य शिष्य मुनि श्री विद्यासागरजी को समाज के समक्ष अपना गुरुत्तर भार एवं आचार्य पद देने की स्वीकृति मांगकर, उन्हें आचार्य पद से विभूषित किया । जिस बडे पट्टे पर आज तक आचार्य श्री ज्ञानसागर जी आसीन होते थे उससे वे नीचे उतर आये और मुनि श्री विद्यासागरजी को उस आसन पर पदासीन किया। जन-समुदाय की आँखे सुखानन्द के आँसुओं से तरल हो गई । जय घोष से आकाश और मदिर का प्रागंण गूंज उठा। आचार्य श्री विद्यासागर जी ने अपने गुरु के आदेश का पालन करते हुये पूज्य गुरुवर की निर्विकल्प समाधि के लिए आगमानुसार व्यवस्था की। गुरु ज्ञानसागरजी महाराज भी परम शान्त भाव से अपने शरीर के प्रति निर्ममत्व होकर रस त्याग की ओर अग्रस्र होते गये।

आचार्य श्री विद्यासागरजी ने अपने गुरु की संलेखना पूर्वक समाधि कराने में कोई कसर नहीं छोडी । रात दिन जागकर एवं समयानुकूल सम्बोधन करते हुए आचार्य श्री ने मुनिवर की शांतिपूर्वक समाधि कराई । अन्त में समस्त आहार एवं जल का त्यागोपरान्त मिती जेष्ठ कृष्णा अमावस्या वि. स. २०३० तदनानुसार शुक्रवार दिनांक १ जून १९७३ को दिन में १० बजकर ५० मिनिट पर गुरु ज्ञानसागर जी इस नश्वर शरीर का त्याग कर आत्मलीन हो गये । और दे गये समस्त समाज को एक ऐसा सन्देश कि अगर सुख,शांति और निर्विकल्प समाधि चाहते हो तो कषायों का शमन कर रत्नत्रय मार्ग पर आरूढ़ हो जाओ, तभी कल्याण संभव है ।

इस प्रकार हम कह सकते है कि आचार्य ज्ञानसागरजी का विशाल कृतित्व और व्यक्तित्व इस भारत भूमि के लिए सरस्वती के वरद पुत्रता की उपलब्धि कराती है। इनके इस महान साहित्य सृजनता से अनेकानेक ज्ञान पिपासुओं ने इनके महाकाव्यों परशोध कर डाक्टर की उपाधि प्राप्त कर अपने आपको गौरवान्वित किया है। आचार्य श्री के साहित्य की सुरभि वर्तमान में सारे भारत में इस तरह फैल कर विद्वानों को आकर्षित करने लगी है कि समस्त भारतवर्षीय जैन अजैन विद्वानों का ध्यान उनके महाकाव्यों

की ओर गया है। परिणामतः आचार्य श्री ज्ञानसागरजी की ही संघ परम्परा के प्रथम आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के परम सुयोग्य शिष्य, प्रखर प्रवचन प्रवक्ता, मुनि श्री १०८ श्री सुधासागर जी महाराज के सान्निध्य में प्रथम बार "आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज के कृतित्व एवं व्यक्तित्व पर ९-१०-११ जून १९९४ को महान अतिशय एवं चमत्कारिक क्षेत्र, सांगानेर (जयपुर) में संगोष्ठी आयोजित करके आचार्य ज्ञानसागरजी के कृतित्व को सरस्वती की महानतम साधना के रूप में अंकित किया था, उसे अखिल भारतवर्षीय विद्वत समाज के समक्ष उजागर कर विद्वानों ने भारतवर्ष के सरस्वती पुत्र का अभिनन्दन किया है। इस संगोष्ठी में आचार्य श्री के साहित्य-मंथन से जो नवनीत प्राप्त हुवा, उस नवनीत की स्निग्धता से सम्पूर्ण विद्वत्त मण्डल इतना आनन्दित हुआ कि पूज्य मुनि श्री सुधासागरजी के सामने अपनी अतरंग भावना व्यक्त की, कि- पूज्य ज्ञानसागरजी महाराज के एक एक महाकाव्य पर एक एक संगोष्ठी होना चाहिए, क्योंकि एक एक काव्य में इतने रहस्यमय विषय भरे हुए हैं कि उनके समस्त साहित्य पर एक संगोष्ठी करके भी उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। विद्वानों की यह भावना तथा साथ में पूज्य मुनि श्री सुधासागर जी महाराज के दिल में पहले से ही गुरु नाम गुरु के प्रति,स्वभावत: कृतित्व और व्यक्तित्व के प्रति प्रभावना बैठी हुई थी, परिणामस्वरुप सहर्ष ही विद्वानों और मुनि श्री के बीच परामर्श एवं विचार विमर्श हुआ और यह निर्णय हुआ कि आचार्य श्री ज्ञानसागरजी के पृथक पृथक महाकाव्य पर पृथक पृथक रुप से अखिल भारतवर्षीय संगोष्ठी आयोजित की जावे। उसी समय विद्वानों ने मुनि श्री सुधासागर जी के सान्निध्य मे बैठकर यह भी निर्णय लिया कि आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज का समस्त साहित्य पुनः प्रकाशित कराकर विद्वानों को, पुस्तकालयों और विभिन्न स्थानों के मंदिरों को उपलब्ध कराया जावे।

साथ में यह भी निर्णय लिया गया कि द्वितीय संगोष्ठी में वीरोदय महाकाव्य को विषय बनाया जावे। इस महाकाव्य में से लगभग ५० विषय पृथक पृथक रुप से छाँटे गये, जो पृथक पृथक मूर्धन्य विद्वानों के लिए आलेखित करने हेतु प्रेषित किये गये है। आशा है कि निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार मुनि श्री के ही सान्निध्य में द्वितीय अखिल भारतवर्षीय विद्वत संगोष्ठी वीरोदय महाकाव्य पर माह अक्टूबर ९४ मे अजमेर में सम्पन्न होने जा रही है जिसमें पूज्य मुनि श्री का संरक्षण, नेतृत्व एवं मार्गदर्शन सभी विद्वानों को निश्चित रुप से मिलेगा।

हमारे अजमेर समाज का भी परम सौभाग्य है कि यह नगर आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज की साधना स्थली एवं उनके परम सुयोग्य शिष्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज की दीक्षा स्थली रही है। अजमेर के सातिशय पुण्य के उदय के कारण हमारे आराध्य पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने अपने परम सुयोग्य शिष्य, प्रखर प्रवक्ता, तीर्थोद्धारक, युवा मनिषी, पूज्य मुनि श्री सुधासागरजी महाराज, पूज्य क्षुल्लक १०५ श्री गंभीर सागरजी एवं पूज्य क्षुल्लक १०५ श्री धैर्य सागर जी महाराज को, हम लोगों की भक्ति भावना एवं उत्साह को देखते हुए इस संघ को अजमेर चातुर्मास करने की आज्ञा प्रदान कर हम सबको उपकृत किया है।

परम पूज्य मुनिराज श्री सुधासागरजी महाराज का प्रवास अजमेर समाज के लिए एक वरदान सिद्ध हो रहा है। आजतक के पिछले तीस वर्षों के इतिहास में धर्मप्रेमी सज्जनों व महिलाओं का इतना जमघट, इतना समुदाय देखने को नहीं मिला जो एक मुनि श्री के प्रवचनों को सुनने के लिए समय से पूर्व ही आकर अपना स्थान ग्रहण कर लेते हैं। सोनी जी की नसियाँ मे प्रवचन सुनने वाले जैन-अजैन समुदाय की इतनी भीड़ आती हैं कि तीन-तीन चार-चार स्थानों पर "क्लोज-सर्किट टी वी" लगाने पड़ रहे हैं। श्रावक संस्कार शिविर जो पर्युषण पर्व में आयोजित होने जा रहा है। अपने आपकी एक एतिहासिक विशिष्ठता है। अजमेर समाज के लिए यह प्रथम सौभाग्यशाली एवं सुनहरा अवसर होगा जब यहाँ के बाल-आबाल अपने आपको आगमानुसार संस्कारित करेंगे।

महाराज श्री के व्यक्तित्व का एवं प्रभावपूर्ण उद्बोधन का इतना प्रभाव पड़ रहा है कि दान दातार और धर्मप्रेमी निष्ठावान व्यक्ति आगे बढ़कर महाराज श्री के सानिध्य में होने वाले कार्यक्रमों को मूर्त रुप देना चाहते हैं। अक्टूबर माह के मध्य अखिल भारतवर्षीय विद्वत-संगोष्ठी का आयोजन भी

एक विशिष्ठ कार्यक्रम है जिसमें पूज्य आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज के द्वारा रचित वीरोदय महाकाव्य के विभिन्न विषयों पर ख्याति प्राप्त विद्वान अपने आलेख का वाचन करेंगे। काश यदि पूज्य मुनिवर सुधासागरजी महाराज का संसघ यहाँ अजमेर में पर्दापण न हुआ होता तो हमारा दुर्भाग्य किस सीमा तक होता, विचारणीय है ।

पूज्य मुनिश्री के प्रवचनों का हमारे दिल और दिमाग पर इतना प्रभाव हुआ कि सम्पूर्ण दिगम्बर समाज अपने वर्ग विशेष के भेदभावों को भुलाकर जैन शासन के एक झंडे के नीचे आ गये । यहीं नहीं हमारी दिगम्बर जैन समिति ने समाज की ओर से पूज्य आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज के समस्त साहित्य का पुनः प्रकाशन कराने का संकल्प मुनिश्री के सामने व्यक्त किया । मुनि श्री का आशीर्वाद मिलते ही समाज के दानवीर लोग एक एक पुस्तक को व्यक्तिगत धनराशि से प्रकाशित कराने के लिए आगे आये ताकि वे अपने राजस्थान में ही जन्मे सरस्वती-पुत्र एवं अपने परमेष्ठी के प्रति पूजांजली व्यक्त कर अपने जीवन में सातिशय पुण्य प्राप्त कर तथा देव, शास्त्र, गुरु के प्रति अपनी आस्था को बलवती कर अपना अपना आत्म कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सके।

इस प्रकार आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज के साहित्य की आपूर्ति की समस्या की पूर्ती इस चातुर्मास में अजमेर समाज ने सम्पन्न की है उसके पीछे एक ही भावना है कि अखिल भारतवर्षीय जन मानस एवं विद्वत जन इस साहित्य का अध्ययन, अध्यापन कर सृष्टी की तात्विक गवेषणा एवं साहित्यक छटा से अपने जीवन को सुरभित करते हुए कृत कृत्य कर सकेंगे।

इसी चातुर्मास के मध्य अनेकानेक सामाजिक एवं धार्मिक उत्सव भी आयेगें जिस पर समाज को पूज्य मुनि श्री से सारगर्भित प्रवचन सुनने का मौका मिलेगा । आशा है इस वर्ष का भगवान महावीर का निर्वाण महोत्सव एवं पिच्छिका परिवर्तन कार्यक्रम अपने आप में अनूठा होगा । जो शायद पूर्व की कितनी ही परम्पराओं से हटकर होगा ।

अन्त में श्रमण संस्कृति के महान साधक महान तपस्वी, ज्ञानमूर्ति, चारित्र विभूषण, बाल ब्रह्मचारी परम पूज्य आचार्य श्री १०८ श्री ज्ञानसागर जी महाराज के पुनीत चरणों में तथा उनके परम सुयोग्यतम शिष्य चारित्र चक्रवर्ती पूज्य आचार्य श्री १०८ श्री विद्यासागर जी महाराज और इसी कड़ी में पूज्य मुनि श्री १०८ श्री सुधासागर जी महाराज, क्षुल्लकगण श्री गम्भीर सागर जी एवं श्री धैर्य सागरजी महाराज के पुनीत चरणों में नत मस्तक होता हुआ शत्-शत् वंदन, शत्-शत् अभिनंदन करता हुआ अपनी विनीत विनयांजली समर्पित करता हूँ ।

इन उपरोक्त भावनाओं के साथ प्राणी मात्र के लिए तत्वगवेषणा हेतु यह ग्रन्थ समाज के लिए प्रस्तुत कर रहे हैं । यह **वीरोदय महाकाव्य** श्री वाणीभूषण बा ब्र पं भूरामलजी शास्त्री ने लिखा था, यही ब्र बाद में आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज के नाम से जगत विख्यात हुए।

इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण वीर निर्माण संवत् २४९४ में मुनि श्री ज्ञानसागर जैन ग्रन्थ माला से प्रकाशित हुआ था । उसी प्रकाशन को पुनः यथावत प्रकाशित करके इस ग्रन्थ की आपूर्ती की पूर्ती की जा रही है । अतः पूर्व प्रकाशक का दिगम्बर जैन समाज अजमेर आभार व्यक्त करती है । एवं इस द्वितीय संस्करण में दातारों का एवं प्रत्यक्ष एवं परोक्ष से जिन महानुभोवों ने सहयोग दिया है, उनका भी आभार मानते हैं ।

इस ग्रन्थ की महिमा प्रथम संस्करण से प्रकाशकीय एवं प्रस्तावना में अतिरिक्त है । जो इस प्रकाशन में भी यथावत संलग्न हैं ।

विनीत

श्री दिगम्बर जैन समिति

एवं सकल दिगम्बर जैन समाज

अजमेर (राज)

परम पूज्य आचार्य १०८ श्री ज्ञानसागरजी महाराज
सांख्यिकी – परिचय

प्रस्तुति - कमल कुमार जैन

पारिवारिक परिचय :

जन्म स्थान - राणोली ग्राम (जिला सीकर) राजस्थान, **जन्म काल** - सन् १८९१
पिता का नाम - श्री चतुर्भुज जी; **माता का नाम** - श्रीमती घृतवरी देवी
गोत्र - छाबड़ा (खंडेलवाल जैन), **बाल्यकाल का नाम** - भूरामल जी
भ्रात परिचय - पाँच भाई (छगनलाल/भूरामल/गंगाप्रसाद/गौरीलाल/एवं देवीदत्त)
पिता की मृत्यु - सन १९०२ में **शिक्षा** - प्रारम्भिक शिक्षा गाँव के विद्यालय में एवं शास्त्रि स्तर की शिक्षा स्याद्‌वाद महाविद्यालय बनारस (उ प्र) से प्राप्त की ।

साहित्यिक परिचय :

संस्कृत भाषा में
* दयोदय / जयोदय / वीरोदय / (महाकाव्य)
* सुदर्शनयोदय / भद्रोदय / मुनि मनोरंजनाशीति - (चरित्र काव्य)
* सम्यकत्व सार शतक (जैन सिद्धान्त)
* प्रवचन सार प्रतिरुपक (धर्म शास्त्र)

हिन्दी भाषा में
* ऋषभावतार / भाग्योदय / विवेकोदय / गुण सुन्दर वृत्तान्त (चरित्र काव्य)
* कर्त्तव्य पथ प्रदर्शन / सचित्तविवेचन / तत्वार्थसूत्र टीका / मानव धर्म (धर्मशास्त्र)
* देवागम स्तोत्र / नियमसार / अष्टपाहुड़ (पद्यानुवाद)
* स्वामी कुन्दकुन्द और सनातन जैन धर्म और जैन विवाह विधि

चारित्र पथ परिचय :

* सन १९४७ (वि सं २००४) में व्रतरुप से ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण की ।
* सन १९५५ (वि सं २०१२) में क्षुल्लक दीक्षा धारण की ।
* सन १९५७ (वि. सं २०१४) में ऐलक दीक्षा धारण की ।
* सन १९५९ (वि. सं. २०१६) में आचार्य १०८ श्री शिवसागर महाराज से उनके प्रथम शिष्य के रुप में मुनि दीक्षा धारण की । स्थान खानिया (जयपुर) राज । आपका नाम मुनि ज्ञानसागर रखा गया ।
* ३० जून सन् १९६८ (आषाढ़ शुक्ला ५ सं २०२५) को ब्रह्मचारी विद्याधर जी को मुनि पद की दीक्षा दी जो वर्तमान में आचार्य श्रेष्ठ विद्यासागर जी के रुप में विराजित है ।
* ७ फरवरी सन् १९६९ (फागुन वदी ५ सं. २०२५) को नसीराबाद (राजस्थान) में जैन समाज ने आपको आचार्य पद से अलंकृत किया एवं इस तिथि को विवेकसागर जी को मुनिपद की दीक्षा दी ।
* संवत् २०२६ को ब्रह्मचारी जमनालाल जी गंगवाल खाचरियावास (जिला-सीकर) रा को क्षुल्लक दीक्षा दी और क्षुल्लक विनयसागर नाम रखा । बाद में क्षुल्लक विनयसागर जी ने मुनिश्री विवेकसागर जी से मुनि दीक्षा ली और मुनि विनयसागर कहलाये।

* संवत् २०२६ में ब्रह्म. पन्नालाल जी को केशरगंज अजमेर (राज.) में मुनि दीक्षा पूर्वक समाधि दी ।
* संवत् २०२६ में बनवारी लाल जी को मुनि दीक्षा पूर्वक समाधि दी ।
* २० अक्टूबर १९७२ को नसीराबाद में ब्रह्म. दीपचंदजी को क्षुल्लक दीक्षा दी, और क्षु. स्वरुपानंदजी नाम रखा जो कि आचार्य श्री ज्ञानसागर जी के समाधिस्थ पश्चात् सन् १९७६ (कुण्डलपुर) तक आचार्य विद्यासागर महाराज के संघ में रहे ।
* २० अक्टूबर १९७२ को नसीराबाद जैन समाज ने आपको चारित्र चक्रवर्ती पद से अलंकृत किया ।
* क्षुल्लक आदिसागर जी, क्षुल्लक शीतल सागर जी (आचार्य महावीर कीर्ति जी के शिष्य भी आपके साथ रहते थे ।
* पांडित्य पूर्ण, जिन आगम के अतिश्रेष्ठ ज्ञाता आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज ने अपने जीवन काल में अनेकों श्रमण/आर्यिकाएँ/ऐलक/क्षुल्लक/ब्रह्मचारी/श्रावकों को जैन आगम के दर्शन का ज्ञान दिया। आचार्य श्री वीर सागर जी/आचार्य श्री शिवसागर जी/आचार्य श्री धर्मसागर जी/आचार्य श्री अजित सागर जी / एवं वर्तमान श्रेष्ठ आचार्य विद्यासागर जी इसके अनुपम उदाहरण है ।

आचार्य श्री के चातुर्मास परिचय

* संवत् २०१६ - अजमेर सं २०१७ - लाडनू, सं. २०१८ - सीकर (तीनों चातुर्मास आचार्य शिवसागर जी के साथ किये)
* संवत २०१९ - सीकर, २०२० - हिंगोनिया (फुलेरा); सं. २०२१ - मदनगंज - किशनगढ़ सं. २०२२ - अजमेर, सं २०२३ - अजमेर, सं. २०२४ - मदनगंज-किशनगढ़ सं. २०२५ - अजमेर (सोनी जी की नसियाँ), सं २०२६ - अजमेर (केसरगंज), सं. २०२७ - किशनगढ़ रैनवाल, सं २०२८ - मदनगंज-किशनगढ़ सं. २०२९ - नसीराबाद।

विहार स्थल परिचय

* सं २०१२ से सं २०१६ तक क्षुल्लक/ ऐलक अवस्था में - रोहतक/हासी/हिसार/गुडगाँवा/रिवाड़ी/ एवं जयपुर ।
* सं २०१६ से सं २०२९ तक मुनि/आचार्य अवस्था में - अजमेर/लाडनू/सीकर/हिंगोनिया/फुलेरा/मदनगंज-किशनगढ़/नसीराबाद/बीर/रुपनगढ़/मरवा/छोटा नरेना/साली/साकून/हरसोली/छप्या/दूदू/मोजमाबाद/चोरु/झाग/ सांवरदा/खंडेला/हयोढ़ी/कोठी/मंढा- भीमसींह/भींडा/किशनगढ़-रैनवाल/कांस/श्यामगढ़/मारोठ/सुरेरा/दांता/कुली/ खाचरियाबाद एवं नसीराबाद ।

अंतिम परिचय

* आचार्य पद त्याग एवं संल्लेखना व्रत ग्रहण	- मंगसर वदी २ सं. २०२९ (२२ नवम्बर सन् १९७२)
* समाधिस्थ	- ज्येष्ठ कृष्ण अमावस्या सं २०३० (शुक्रवार १ जून सन् १९७३)
* समाधिस्थ समय	- पूर्वान्ह १० बजकर ५० मिनिट ।
* सल्लेखना अवधि	- ६ मास १३ दिन (मिति अनुसार) ६ मास १० दिन (दिनांक अनुसार)

दर्शन-ज्ञान-चारित्र के अतिश्रेष्ठ अनुयायी के चरणों में श्रद्धेय नमन् । शत् शत् नमन ।

प्रकाशकीय

जैन साहित्य और इतिहास के मर्मज्ञ एवं अनुसंधाता स्वर्गीय सरस्वतीपुत्र पं. जुगल किशोर जी मुख्तार "युगवीर" ने अपनी साहित्य इतिहास सम्बन्धी अनुसन्धान- प्रवृत्तियों को मूर्तरुप देने के हेतु अपने निवास सरसावा (सहारनपुर) में "वीर सेवा मंदिर" नामक एक शोध संस्था की स्थापना की थी और उसके लिए क्रीत विस्तृत भूखण्ड पर एक सुन्दर भवन का निर्माण किया था, जिसका उद्घाटन वैशाख सुदि 3 (अक्षय-तृतीया), विक्रम संवत् 1993, दिनांक 24 अप्रैल 1936 में किया था। सन् 1942 में मुख्तार जी ने अपनी सम्पत्ति का "वसीयतनामा" लिखकर उसकी रजिस्ट्री करा दी थी। "वसीयतनामा" में उक्त "वीर सेवा मन्दिर" के संचालनार्थ इसी नाम से ट्रस्ट की भी योजना की थी, जिसकी रजिस्ट्री 5 मई 1951 को उनके द्वारा करा दी गयी थी। इस प्रकार पं. मुख्तार जी ने वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट की स्थापना करके उनके द्वारा साहित्य और इतिहास के अनुसन्धान कार्य को प्रथमत: अग्रसारित किया था।

स्वर्गीय बा. छोटेलालजी कलकत्ता, स्वर्गीय ला. राजकृष्ण जी दिल्ली, रायसाहब ला. उल्फतरायजी दिल्ली आदि के प्रेरणा और स्वर्गीय पूज्य क्षु. गणेश प्रसाद जी वर्णी (मुनि गणेश कीर्ति महाराज) के आशीर्वाद से सन् 1948 में श्रद्धेय मुख्तार साहब ने उक्त वीर सेवा मन्दिर का एक कार्यालय उसकी शाखा के रुप में दिल्ली में,उसके राजधानी होने के कारण अनुसन्धान कार्य को अधिक व्यापकता और प्रकाश मिलने के उद्देश्य से, राय साहब ला.उल्फतरयजी के चैत्यालय में खोला था।पश्चात् बा. छोटे लालजी,साहू शान्तिप्रसादजी और समाज की उदारतापूर्ण आर्थिक सहायता से उसका भवन भी बन गया, जो 21 दरियागंज दिल्ली में स्थित है और जिसमें "अनेकान्त" (मासिक) का प्रकाशन एवं अन्य साहित्यिक कार्य सम्पादित होते हैं। इसी भवन में सरसावा से ले जाया गया विशाल ग्रन्थागार है, जो जैनविद्या के विभिन्न अङ्गों पर अनुसन्धान करने के लिये विशेष उपयोगी और महत्वपूर्ण है।

वीर-सेवा मन्दिर ट्रस्ट गंथ-प्रकाशन और साहित्यानुसन्धान का कार्य कर रहा है। इस ट्रस्ट के समर्पित वयोवृद्ध पूर्व मानद मंत्री एवं वर्तमान में अध्यक्ष डा. दरबारी लालजी कोठिया बीना के अथक परिश्रम एवं लगन से अभी तक ट्रस्ट से 38 महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। आदरणीय कोठियाजी के ही मार्गदर्शन में ट्रस्ट का संपूर्ण कार्य चल रहा है। अत: उनके प्रति हम हृदय से कृतज्ञता व्यक्त करते हैं और कामना करते हैं कि वे दीर्घायु होकर अपनी सेवाओं से समाज को चिरकाल तक लाभान्वित करते रहें।

ट्रस्ट के समस्त सदस्य एवं कोषाध्यक्ष माननीय श्री चन्द संगल एटा, तथा संयुक्त मंत्री ला.सुरेशचन्द्र जैन सरसावा का सहयोग उल्लेखनीय है । एतदर्थ वे धन्यवादार्ह हैं ।

संत शिरोमणि आचार्य विद्यासागरजी के परम शिष्य पूज्य मुनि 108 सुधासागर जी महाराज के आर्शीवाद एवं प्रेरणा से दिनांक 9 से 11 जून 1994 तक श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र मंदिर संघीजी सागांनेर में आचार्य विद्यासागरजी के गुरु आचार्य प्रवर ज्ञानसागरजी महाराज के व्यक्तित्व एवं कृतित्व परअखिल भारतीय विद्वत संगोष्ठी का आयोजन किया गया था। इस संगोष्ठी में निश्चय किया था कि आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज के समस्त ग्रन्थों का प्रकाशन किसी प्रसिद्ध संस्था से किया जाय । तदनुसार समस्त विद्वानों की सम्मति से यह कार्य वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट ने सहर्ष स्वीकार कर सर्वप्रथम वीरोदयकाव्य के प्रकाशन की योजना बनाई और निश्चय किया कि इस काव्य पर आयोजित होने वाली गोष्ठी के पूर्व इसे प्रकाशित कर दिया जाय । परम हर्ष है कि पूज्य मूनि 108 सुधासागर महाराज का संसघ चातुर्मास अजमेर में होना निश्चय हुआ और महाराज जी के प्रवचनों से प्रभावित होकर श्री दिगम्बर जैन समिति एवम् सकल दिगम्बर जैन समाज अजमेर ने पूज्य आचार्य ज्ञान सागर जी महाराज के वीरोदय काव्य सहित समस्त ग्रन्थों के प्रकाशन एवं संगोष्ठी का दायित्व स्वयं ले लिया और ट्रस्ट को आर्थिक निर्भार कर दिया । एतदर्थ ट्रस्ट अजमेर समाज का इस जिनवाणी के प्रकाशन एवं ज्ञान के प्रचार प्रसार के लिये आभारी है ।

प्रस्तुत कृति **वीरोदय महाकाव्य** के प्रकाशन में जिन महानुभाव ने आर्थिक सहयोग किया प्रूफ रीडिंग : श्री कमल कुमार जी बड़जात्या, अजमेर तथा मुद्रण में निओ ब्लॉक एण्ड प्रिन्ट्स, अजमेर ने उत्साह पूर्वक कार्य किया है। वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं ।

अन्त में उस संस्था के भी आभारी है जिस संस्था ने पूर्व में यह ग्रन्थ प्रकाशित किया था । अब यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है । अतः ट्रस्ट इसको प्रकाशित कर गौरवान्वित है । जैन जयतुं शासनम् ।

दिनाङ्क : 9-9-1994

(पर्वाधिराज पर्यूषण पर्व)

डॉ. शीतल चन्द जैन

मानद मंत्री

वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट

1314 अजायव घर का रास्ता

किशनपोल बाजार, जयपुर

प्रथम संस्करण से

सम्पादकीय

भ. महावीर के चरित्र का आश्रय लेकर मुनि श्री ने इस काव्य की रचना की है, जिस पर 'आमुखम' और प्रस्तावना में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। मुनि श्री ने इसकी पुरानी भाषा में विस्तृत हिन्दी व्याख्या भी लिखी है हमने उसका संक्षिप्त नया रूपान्तर मात्र किया है।

प्रस्तावना लिखते समय यह उचित समझा गया कि उपलब्ध दि. और श्वे. ग्रन्थो की भ. महावीर से सम्बन्धित सभी आवश्यक सामग्री भी सक्षेंप मे दे दी जाय। अतः मुख्य-मुख्य बातो में मत-भेद-सम्बन्धी सभी जानकारी प्रस्तावना में दी गई है । भ. महावीर के विविध चरित्र जो संस्कृत, प्रकृत अपभ्रंश और हिन्दी में अनेक विद्वानों ने लिखे हैं और जिनके निकट भविष्य में प्रकाशन की कोई आशा नहीं है उनकी अनेक ज्ञातव्य बातों का संकलन प्रस्तावना मे किया गया है। कुछ विशिष्ट सामग्री तो विस्तार के साथ दी गई है जिससे कि जिज्ञासु पाठको के सर्व आवश्यक जीनकारी एक साथ प्राप्त हो सके । आशा है हमारा यह प्रयास पाठको को रुचि-कर एवं ज्ञान-वर्धक सिद्ध होगा ।

श्वे. आगम-वर्णित स्थलों के परामर्श में हमारे स्नेही मित्र श्री पं. शोभाचन्द्रजी भारिल्ल से पर्याप्त सहयोग मिला है, श्री पं. रघुवरदत्तजी शास्त्री ने हमारे अनुरोध पर 'आमुखम' लिखने की कृपा की है, श्री जैन सांखला लायब्रेरी के व्यस्थापक श्री सुजानमलजी सेठिया से समय-समय पर आवश्यक पुस्तकें प्राप्त होती रही है । ऐ. पन्नालाल दि. जैन सरस्वती भवन के ग्रन्थो का सम्पादन और प्रस्तावना- लेखन में भर-पूर उपयोग किया है, श्री पं. महेन्द्रकुमारजी पाटनी किशनगढ ने शुद्धिपत्र तैयार करके भेजा है और ग्रन्थमाला के मंत्री श्री पं. प्रकाशचन्द्रजी का सदैव सद्भाव सुलभ रहा है । इसलिये मैं इन सबका आभारी हूँ ।

मुद्रण-काल के बीच-बीच में बाहिर रहने से तथा दृष्टि-दोष से रह गई अशुद्धियों के लिए मुझे खेद है। पाठको से निवेदन है कि वे पढ़ने से पूर्व शुद्धिपत्र से पाठ का संशोधन कर लेवे।

ब्यावर — हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री

5-2-1968 — ऐ. पन्नालाल दि. जैन सरस्वती भवन,

प्रथम संस्करण

आमुखम्

मया कविवर्य्य - श्री १०८ श्रीमुनिज्ञानसागरमहाराज - विरचितं द्वाविंशतिसर्गात्मकं 'वीरोदय' नाम महाकाव्यमवलोकितम् । तेन मे मनसि महान् सम्मदः समजनि । यतः प्राक्कालिक-कविवर-कालिदासभारवि-माघ-श्रीहर्षादिभिरनेकानि काव्य-नाटकदीनि विरचितानि सन्ति, किन्तु तदनन्तरं कश्चिदपि कविरेतादृशं सकलगुणालङ्कारभूषितं महाकाव्यमरीरचदिति न मे दृष्टिपथं समायाति । एतादृशाद्भुतमहाकाव्यप्रणेतारः श्रीमुनिवर्य्याः समस्तसंस्कृतविचक्षणानां धन्यवादार्हा इति निश्चप्रचम् ।

निखिलरसभावगुणालङ्कारालङ्कृतमेतन्महाकाव्यं कुण्डिननगर-वास्तव्य - क्षत्रियनृपमुकुटमणि - श्रीसिद्धार्थराजकुमारं श्री महावीरं नायकीकृत्य संग्रथितं विद्वत्तल्लजैः श्री कविकुलालङ्कारभूतैर्मुनिवर्य्यैः । अयमेव श्रीमहावीरः स्वीयाद्भुतवैराग्यशमदमादितपोबलेन जैनसमाजे चतुर्विंशतीर्थङ्करत्वमलभत । अयमेवास्य महाकाव्यस्य धीरोदात्तः, दयावीरः , धर्मवीरश्च नायकायते । 'सर्गबन्धो' महाकाव्यम' इत्यभियुक्तोक्त्या महाकाव्यस्याखिललक्षणानि ग्रन्थेऽस्मिन् वरीवर्तन्ते ।

अस्यानुशीलनेन ग्रन्थकर्तुः प्रगल्भपाण्डित्यं कवित्वशक्तिश्च स्पष्टमनुमीयते । एतदध्ययनेन प्राक्तनकवयोऽध्येतृणां स्मृतिपथमायान्ति । तथाहि - एतावान् प्रौढपाण्डित्यसम्पन्नोऽपि कविः प्रथमसर्गस्य सप्तमे पद्ये - 'वीरोदयं यं विदधातुमेव न शक्तिमान् श्रीगणराजदेवः' इति वर्णयन् स्वीयविनीततामाविष्करोति । अनेन 'क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः इति निगदन् कालिदासः स्मर्यते ।

शान्तरसप्रधानमपीदं महाकाव्यं प्रायोऽनेकरसभामावगुणालङ्कारान् बिभर्ति । नायकजन्मसमये श्रीदेवी नामागमनं तासां मातृपरिचर्या, रत्नवृष्टि, इन्द्रादिसुरगणानुष्ठितः प्रचुरमोदभारभासुरो महाभिषेक-इत्यादि वर्णनानि नायकस्य सर्वैश्वर्यसम्पन्नत्वमाधिदैविकवैभवञ्च प्रकटयन्ति । द्वितीयसर्गे जम्बूद्वीपादिवर्णनं श्रीहर्षस्य विदर्भनगरवर्णनं स्मारयति। एवमेव कविना महाकाव्येऽस्मिन्नायकजीवनचरितं वर्णयता स्थाने स्थाने कविसम्प्रदायानुसारं नगरवर्णन, ऋतुवर्णनं, सन्ध्यावर्णनमित्यादि सुललितगीर्वाणवाण्या सन्निबद्धं कस्य काव्यकलारसिकसहृदयस्य मानसं नाह्लादयति ।

नैषधीयचरिते यथा श्रीहर्षमहाकविना प्रतिसर्गान्तं तत्तत्सर्गविषयवर्णन-पुरस्सरं स्वीयप्रशस्तिपद्यमुट्टङ्कितं तथैवास्मिन् महाकाव्येऽपि महाकविमुनिवर्य्यैः सन्दब्धम् । तथा तृतीयसर्गस्य ३० तमे पद्ये महाकवेः, 'अधीतिबोधाचरणप्रचारैः' इति वर्णनं नैषधीयचरित्रस्य प्रथमसर्गे चतुर्थपद्ये 'अधीतिबौधाचरणप्रचारणैर्दशाश्चतस्त्रः प्रणयन्नुपाधिभिः' इति स्मारयति।

एवमेव द्वितीयसर्गे जम्बूद्वीपवर्णने, 'हिमालयोल्लासिगुणः स एष द्वीपाधिपस्येव धनुर्विशेषः' एतत्पद्य महाकविश्रीकालिदास विरचित-कुमारसम्भवीयम्, 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराज' इति पद्यं स्मृतिविषयीकरोति । तथापि तदपेक्षयाऽत्रा स्ति कश्चिद्विशेषः । तथाहि-श्री कालिदासेन तु केवलं पूर्वापरसमुद्रावगाही हिमालयः पृथिव्या मानदण्डरुपेणैवोत्प्रेक्षितः । किन्तु महाकाव्येऽस्मिन् मुनिव्यर्यैविशेषाभिप्रायेण हिमालयो धनुर्गुणरुपेण वर्णितः । सागर एव तस्य वंश-दण्डः । इत्थेमेतद् भारतवर्ष जम्बूद्वीपे धनूरूपं विज्ञेयमिति तेषामभिप्रायः । अनेनास्य देशस्य विशिष्टक्षात्रशौर्यसम्पन्नत्वं प्रतीयते । अतएवास्मिन्नेव देशे वृषभादि-वीरान्तीर्थङ्करादि सदृशा लोकोत्तरा महावीराः पुरुषपुङ्गवाः समजायन्त, सञ्जायन्ते, सञ्जनिष्यन्ते चेति प्रतीयमानार्थः सहृदयैरनुभाव्यते।

इत्थमेव भट्टिकाव्ये ४६ तमे पद्ये यथा श्री भट्टिकविना, 'न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजम्' इत्यादि पद्यमेकावल्यलङ्कारलंकृतं केवलं प्राकृतिसौन्दर्यवर्णनमात्रमुद्दिश्य सन्निबद्धं । तथैवात्र महाकाव्ये द्वितीयसर्गस्य ३८ तमे पद्येऽपि महामुनिभिः

'नासौ नरो यो न विभाति भोगी' इत्यादि वर्णितम्। परमेतद्धार्मिक भावना भावितमाकलितमित्यपि प्रेक्षावतामद्भुतचमत्कारकरं प्रतीयते ।

अस्य महाकाव्यस्य तृतीयसर्गे ३८ तमे श्लोके प्रबालता मूर्ध्न्यधरे करे च, मुखेऽब्जताऽस्याश्चरणे गले च । सुवृत्तता जानुयुगे चरित्रे रसालताऽभूत्कुचयोः कटित्रे ॥ इत्यत्र प्रबालता, अब्जता, सुवृत्तता, रसालतापदेषु विचक्षणश्लेषचमत्कारः कस्य काव्यकाल कोविदस्य हृदयं न चमत्करोति ।

अस्यैव तृतीयसर्गे २९ तमे पद्ये, 'पूर्वं विनिर्माय विधु' विशेषयत्नाद्विधिस्तन्मुखमेवमेष' इत्यादिवर्णनं कुमारसम्भवे महाकवि कालिदास्य 'शेषाङ्गनिर्माणविधौ विधातुर्लावण्य उत्पाद्य इवास यत्नः ।' इति पार्वतीरुपवर्णनमिव सहृदयहृदयनान्याह्लादयतितराम् ।

एवमेवास्य चतुर्थसर्गे वर्षावर्णने वर्षर्तौ रसायनाधीश्वरादिसारूप्ये श्लिष्टोत्प्रेक्षालङ्कारचमत्कारः श्रीमहाकवेर्माघस्य वर्षावर्णनमप्यति क्राम्यति । इत्थमेव पष्ठसर्गे, 'नहि पलाशतरोर्मुकुलोद्गतिर्वनभुवां नखरक्षतसन्ततिः' इति वर्णन कालिदासीयकुमारसम्भव-वसन्तवर्णनमि विभाति । किञ्च माघस्य 'नवपलाशपलाशवनं पुरः' इत्यपि स्मारयति ।

एवमेवाग्रे कवेः शिशिरर्तुवर्णनमपि विविधालंकारसमन्वितं पाठकाननुरञ्जयति । संसारभोगभंगुरतामवलोक्य तथाऽज्ञानतिमिराच्छन्नस्य मानवसमाजस्य दुष्कृत्यजनितभूरिदुःखान्यालक्ष्य सञ्जातवैराग्येण नायकेन पितृकृतं परिणयाग्रहं विविधयुक्तिभिः प्रत्याख्याय स्वीयलोकोत्तरमहामानवताप्रदर्शनमतीव हृदयहारि शिक्षाप्रदञ्चेति नात्र सन्देहलेशः।

अस्याध्ययनेनेदमपि ज्ञायते यत्तस्मिन्काले देशेऽस्मिन् धूर्तयाज्ञिकैर्यज्ञेषु स्वार्थसिद्ध्यर्थं प्रचुरा पशुहिंसाऽक्रियत। तदवलोक्य नायकस्य चेतसि महद्‌दुःखमभूत् । एवञ्च तदा समाजेऽनेकेऽनाचार कुरीतयश्च प्रचलिता आसन्। तेनापि दयार्द्रहृदयस्य नायकस्य परम कारुण्य-पूरपूरितेऽन्तःकरणे स्वभोगसुखापेक्षया सामाजिकोद्धारः समुचितोऽन्वभूयत। एतदर्थमेव महामनस्वी परमदयालुर्नायकः लोकोद्धारचिकीर्षया सकलराजपुत्रोपभोगसामग्री विहाय परमकष्ट साध्यां शमदमातिसहितां प्रव्रज्यामङ्गीचकार । प्रव्रज्य कैवल्यं प्राप्य च सर्व जीवेभ्यो धर्मोपदेशं विधाय समाजस्य विशेषतोऽहिंसाप्रचारस्य महदभ्युदयमनुष्ठितवान् ।

इत्थं महाकवेरस्य विविधरसभावगुणालंकारालंकृता कविता कस्य सहृदयस्य मानसं न हरति । विशेषतः समस्तेऽपि काव्येऽन्त्यानुप्रासस्तु ग्रन्थकर्तु रद्भुतं वैदुष्यमाविष्कुरुते ।

पूज्यमहाकविभिर्मुनिवर्यै अस्मिन् महाकाव्ये गोमूत्रिकादि चित्रबन्धकाव्यकलाया अपि चमत्कारः कतिपयपद्येषु संप्रदर्शितः । तथाहि - काव्यस्यास्यान्ति में सर्गे 'रमयन् गमयत्येष' इत्यादि सप्तत्रिं- शत्तमे पद्ये गोमूत्रिका बन्धरचना, 'न मनोद्यमि देवेभ्योऽर्हदभ्य' इत्याद्यष्टत्रिंशत्तमे पद्ये यानबन्धरचना, 'विनयेन मानहीनं' इत्याद्ये कोनत्रिंशत्तमे पद्ये पद्मबन्धरचना, 'सन्तः सदा समा भान्ति' इत्यादिचत्वारिंशत्तमे पद्ये च तालवृन्तपद्यरचना कस्य सहृदयस्य वित्तं नाह्लदयेत् । अनेनापि कवित्वनैपुण्येन मुनिवर्याणामद्भुतं महाकवित्वमाविर्भवति । यतो हि एतादृशादद्भुत-चित्रबन्धकाव्यर चयितारो महाकवय एव प्रभवन्ति । अद्यतने काले त्वेवम्भूताः कवयितारो दुर्लभा एव दृश्यन्ते।

अतएव वयमेतादृशमहाकाव्यरचयितृभ्यो महाकवि श्रीमुनिवर्येभ्यो वर्धापनं वितरन्तस्तेषामुत्तरोत्तराभिवृद्ध्यै परमास्मानं प्रार्थयामः ।

बसंत पंचमी २०२४

रघुवरदत्त शास्त्री

साहित्याचार्य

प्रथम संस्करण से

प्रस्तावना

कविता का जनता के हृदय पर जैसा चमत्कारी प्रभाव पड़ता है, वैसा सामान्य वाणी का नहीं। कविता एक चित्त-चमत्कारी वस्तु है जो श्रोताओं के हृदयों में एक अनिर्वचनीय आनन्द उत्पन्न करती है। साधारण मनुष्य अधिक समय तक बोलने पर भी अपने भाव को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त नहीं कर पाता। परन्तु कवि उसे अपनी सरस कविता के द्वारा अल्प समय में ही अपने मनोगत भाव को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त कर देता है।

कविता करने की और अपने भावों को सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्त करने की कला हर एक मनुष्य में नहीं होती। जिसे पूर्व भव के संस्कारों से जन्म-जात प्रतिभा प्राप्त होती है और जो इस जन्म में व्याकरण, साहित्य आदि शास्त्रों का अध्ययन करके व्युत्पत्ति प्राप्त करता है, ऐसा व्यक्ति ही कविता करने में सफल होता है। यही कारण है कि विद्वानों ने कवि का लक्षण -"प्रतिभा-व्युत्पत्तिमांश्च कविः" इन शब्दों में किया है।

साहित्यदर्पण-कारने 'रसात्मक वाक्य' को काव्य कहा है[1]। इसी का स्पष्टीकरण करते हुए अलङ्कारचिन्तामणि-कार कहते हैं कि जो वाक्य शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार से युक्त हों, नौ रसों से समन्वित हों, रीति, भाव आदि से अभिराम हों, व्यंग्य आदि के द्वारा अभिधेय के कथन करने वाले हों, दोष-रहित और गुण-समूह से संयुक्त हों, नेता या कथा-नायक का उत्तम चरित्र वर्णन करने वाले हों और दोनों लोकों में उपकारक हों, वे ही वाक्य काव्य कहलाने के योग्य हैं और ऐसे काव्य मय प्रबन्ध का रचयिता ही कवि कहा जाता है[2]।

काव्य के पठन-पाठन से न केवल जन-मन-रंजन ही होता है, अपितु उससे धर्म-जिज्ञासुओं को धार्मिक, नैतिक, दार्शनिक ज्ञान का शिक्षण, कायर जनों को साहस, वीर जनों को उत्साह, तथा शोक-सन्तप्त जनों को ढाँढस और धैर्य प्राप्त होता है। धर्मशास्त्र तो कड़वी औषधि के समान अविद्या रूप व्याधि का नाशक है, किन्तु काव्य आल्हाद-जनक अमृत के समान अविवेक रूप रोग का अपहारक है[3]।

काव्य साहित्य मर्मज्ञ विद्वानों ने काव्य-रचना के लिए आवश्यक सामग्री का निर्देश करते हुए बतलाया है कि काव्य-कथा का नायक धीरोदात्त हो, कथा-वस्तु चामत्कारिक हो उसमें यथा स्थान षट् ऋतुओं एवं नव रसों का वर्णन किया गया हो और वह नाना अलङ्कारों से अलङ्कृत हो।

इस भूमिका के आधार पर हम देखते हैं कि वीरोदय-कार ने भ. महावीर जैसे सर्वश्रेष्ठ महापुरुष को अपनी कथा का नायक चुना है, जिनका चरित्र उत्तरोत्तर चमत्कारी है। कवि ने यथा स्थान सर्व ऋतुओं का वर्णन किया है, तथा करुण शृङ्गार और शान्त रस का मुख्यता से प्रतिपादन किया है। वस्तुतः ये तीन रस ही नव रसों में श्रेष्ठ माने गये हैं।

दश सर्गों से अधिक सर्गवाले काव्य को महाकाव्य कहा जाता हैं। महाकाव्य के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक सर्ग के अन्त में कुछ पद्य विभिन्न छन्दों के हों और यथास्थान, देश, नगर, ग्राम, उद्यान, बाजार, राजा, रानी क्षेत्रादिक का ललित पद्यों में वर्णन किया गया हो। इस परिप्रेक्ष्य में 'वीरोदय' एक महाकाव्य सिद्ध होता है।

---

१ वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। (साहित्यदर्पश १,३)

२ शब्दार्थालंकृतीद्धं नवरसकलितं रीतिभावाभिरामं,
व्यङ्ग्याद्यर्थं विदोषं गुणगणकलितं नेतृसद्वर्णनाढ्यम्।
लोकद्वन्द्वोपकारि स्फुटमिह तनुतात्काव्यमग्र्यं सुखार्थी
नानाशास्त्रप्रवीणः कविरतुलमतिः पुण्यधर्मोरुहेतुम्॥

(अलङ्कारचिन्तामणि ९,७)

३. कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम्।
आल्हाद्यमृतवत्काव्यम विवेकगदापहम्॥

(वक्रोक्ति जीवित)

काव्य शास्त्र में अलङ्कार के दो भेद माने गये हैं - शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार । प्रस्तुत काव्य प्रायः सर्वत्र तुकान्त पदविन्यास होने से अन्त्य अनुप्रासालङ्कार से ओत-प्रोत है । संस्कृत काव्यों में इस प्रकार की तुकान्त रचना वाली बहुत कम कृतियाँ मिलती हैं । वीरोदय-कार की यह विशेषता उनके द्वारा रचे गये प्रायः सभी काव्यों में पाई जाती हैं । यमक भी यथा स्थान दृष्टिगोचर होता है । अर्थालङ्कार के अनेक भेद-प्रभेद साहित्यदर्पणादि में बतलाये गये है । वीरोदय-कारने श्लेष, उपमा, उत्प्रेक्षा, वक्रोक्ति, अपह्नुति, परिसंख्या, मालोपमा, अन्योक्ति, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, अतिदेश, समन्वय, रूपक दृष्टान्त, व्याजस्तुति, सन्देह, विरोधाभास, भ्रान्तिमदादि अनेक अर्थालङ्कारों के द्वारा अपने काव्य को अलङ्कृत किया है ।

इस काव्य के चौथे सर्ग में वर्षा ऋतु, छठे सर्ग में वसन्त ऋतु, बारहवें सर्ग में ग्रीष्म ऋतु और इक्कीसवें सर्ग में शरद् ऋतु का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है, जो कि किसी भी प्रसिद्ध महाकाव्य के समकक्ष ही नहीं, बल्कि कुछ स्थलों पर तो उनसे भी श्रेष्ठ है । सर्ग प्रथम और नवम में करुण रस, दशम और एकादश सर्ग में शान्त रस, तथा प्रथम और इक्कीसवें सर्ग में शृङ्गार रस दृष्टिगोचर होता है ।

प्रस्तुत काव्य में उर्दू-फारसी के भी मेवा, मीर, अमीर, नेक, मौका आदि कुछ शब्द दृष्टिगोचर होते हैं । उनमें से कुछ शब्दों की तो टीका में निरुक्ति देकर उन्हें संस्कृत रूप दे दिया गया है और कुछ शब्द अधिक प्रचलित होने के कारण स्वीकार कर लिए गये हैं, इस प्रकार कवि ने संस्कृत भाषा को और भी समृद्ध करने का मार्ग-दर्शन किया है ।

प्रारम्भ के छह सर्ग कुछ क्लिष्ट हैं, अतः विद्यार्थियों और जिज्ञासुओं के सुखावबोधार्थ वीरोदय-कार ने स्वयं ही उनकी संस्कृत टीका भी लिख दी है, जो कि परिशिष्ट के प्रारम्भ में दे दी गई है । टीका में श्लोक-गत श्लेष आदि का अर्थ तो व्यक्त किया ही गया है, साथ ही कहां कौनसा अलङ्कार है, यह भी बता दिया गया है ।

प्रस्तुत रचना का जब विद्वान् लोग तुलनात्मक अध्ययन करेंगे तो उन्हें यह सहज में ही ज्ञात हो जायगा कि इस रचना पर धर्म-शर्माभ्युदय, चन्द्रप्रभ चरित, मुनिसुव्रत काव्य और नैषध काव्य आदि का प्रभाव है । फिर भी वीरोदय की रचना अपना स्वतन्त्र और मौलिक स्थान रखती है ।

इस प्रकार यह वीरोदय एक महाकाव्य तो है ही । पर इसके भीतर जैन इतिहास और पुरातत्त्व का भी दर्शन होता है, अतः इसे इतिहास और पुराण भी कह सकते हैं । धर्म के स्वरूप का वर्णन होने से यह धर्मशास्त्र भी है, तथा स्याद्वाद, सर्वज्ञता और अनेकान्तवाद का वर्णन होने से यह न्याय-शास्त्र भी है । अनेकों शब्दों का संग्रह होने से यह शब्द-कोष भी है ।

संक्षेप में कहा जाय तो इस एक काव्य के पढ़ने पर ही भ. महावीर के चरित के साथ ही जैन धर्म और जैन दर्शन का भी परिचय प्राप्त होगा और काव्य-सुधा का पान तो सहज में होगा ही । इसीलिए कवि ने स्वयं ही काव्य को 'त्रिविष्टपं काव्यमुपैम्यहन्तु' कहकर (सर्ग १ श्लो. २३) साक्षात् स्वर्ग माना है ।

वीरोदय काव्य की कुछ विशेषताएं

काव्य-साहित्य की दृष्टि से ऊपर इस प्रस्तुत काव्य की महत्ता पर कुछ प्रकाश डाला गया है । यहां उसकी कुछ अन्य विशेषताओं का उल्लेख किया जाता है, जिससे पाठकगण इसके महत्त्व को पूर्ण रूप से समझ सकेंगे । प्रथम सर्ग में श्लो. ३० से लेकर ३९ तक काव्य-रचयिता ने भ. महावीर के जन्म होने से पूर्व के भारतवर्ष की धार्मिक और सामाजिक दुर्दशा का जो चित्र अंकित किया है, वह पठनीय है ।

पूर्वकाल में देश, नगर और ग्राम आदिक कैसे होते थे, वहां के मार्ग और बाजार कैसे सजे रहते थे, इसका सुन्दर वर्णन दूसरे सर्ग में किया गया है ।

राजा सिद्धार्थ और महारानी त्रिशला देवी के रूप में कवि ने एक आदर्श राजा-रानी का स्वरूप तीसरे सर्ग में बतलाया है ।

चौथे सर्ग में महारानी त्रिशला देवी को दिखे सोलह स्वप्न और उनके फल का बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है, जिससे तीर्थंकर के जन्म की महत्ता चित्त में सहज ही अंकित हो जाती है ।

तीर्थंकर के गर्भ में आने पर कुमारिका देवियां किस प्रकार उनकी माता की सेवा-टहल करती हैं और कैसे-कैसे प्रश्न पूछ कर उनका मनोरंजन और अपने ज्ञान का संवर्धन करती हैं, यह बात पांचवें सर्ग में बड़ी अच्छी रीति से प्रकट की गई है ।

छठे सर्ग में त्रिशला देवी के गर्भ-कालिक दशा के वर्णन के साथ ही कवि ने वसन्त ऋतु का ऐसा सुन्दर वर्णन किया है कि जिससे उसके ऋतुराज होने में कोई सन्देह नहीं रहता ।

सातवें सर्ग में भ. महावीर के जन्माभिषेक के लिए आने वाले देव और इन्द्रादिक का तो सुन्दर वर्णन है ही, कवि ने शची इन्द्राणी के कार्यों का, तथा सुमेरु पर्वत और क्षीर सागर आदि का जो सजीव वर्णन किया है, वह तात्कालिक दृश्यों को आंखों के सम्मुख उपस्थित कर देता है ।

आठवें सर्ग में महावीर की बाल-लीलाओं और कुमार-क्रीडाओं का वर्णन करते हुए उनके मानस पटल पर उभरने वाले उच्च विचारों का कवि ने बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है । इसी सर्ग में महाराज सिद्धार्थ के द्वारा विवाह का प्रस्ताव उपस्थित किये जाने पर जिन सुन्दर और सुदृढ़ युक्तियों के द्वारा भगवान् महावीर ने उसे अस्वीकार किया है, उससे उनकी जन्म-जात लोकोद्धारक मनोवृत्ति का अच्छा परिचय प्राप्त होता है ।

इसमें बतलाया गया है कि संसार के जितने भी बन्धन हैं, वे सब स्त्री के बन्धन से उत्पन्न होते हैं । स्त्री के निमित्त से इन्द्रियां प्रमत्त होती हैं, मनुष्य की आंखें सदा स्त्री के रूप देखने को उत्सुक बनी रहती हैं । उसे प्रसन्न रखने के लिए वह सदा उबटन, तेल-फुलेलादि से अपने शरीर को सजाता-संवारता रहता है और शरीर-पोषण के लिए बाजीकरण औषधियों का निरन्तर उपयोग करता है । कवि भ महावीर के मुख से कहलाते हैं कि जो इन्द्रियों का दास है, वह समस्त जगत् का दास है । अतः इन इन्द्रियों को जीत करके ही मनुष्य जगज्जेता बन सकता है ।

इस प्रकार अपना अभिप्राय प्रकट कर उन्होंने पिता से अपने आजीवन अविवाहित रहने की ही बात नहीं कही, प्रत्युत भविष्य में अपने द्वारा किये जाने वाले कार्यों की ओर भी संकेत कर दिया । यह सारा वर्णन बड़ा ही हृदयस्पर्शी है ।

विवाह का प्रस्ताव अस्वीकार कर देने के पश्चात् भ महावीर के हृदय में जगज्जनों की तात्कालिक स्थिति को देखकर जो विचार उत्पन्न होते हैं, वे बड़े ही मार्मिक एवं हृदय-द्रावक हैं ।

भगवान् संसार की स्वार्थ-परता को देखकर विचारते हैं-अहो ये संसारी लोग कितने स्वार्थी हैं? वे सोचते हैं कि मैं ही सुखी रहूँ भले ही दूसरा दुःख-कूप में गिरता है, तो गिरे । हमें उससे क्या प्रयोजन है ?

कुछ लोगों की मांस खाने की दुष्प्रवृत्ति को देखकर महावीर विचारते हैं-आज लोग दूसरे के खून से अपनी प्यास बुझाना चाहते हैं और दूसरों का मांस खाकर अपनी भूख शान्त करना चाहते हैं । अहो यह कितनी दयनीय स्थिति है ।

देवी-देवताओं के ऊपर की जाने वाली पशु-बलि को देखकर भगवान् विचारते हैं- 'अहो, जगदम्बा कहलाने वाली माता ही यदि अपने पुत्रों के खून की प्यासी हो जाय, तो समझो कि सूर्य का उदय ही रात्रि में होने लगा ।''

''अहो, यह देवतास्थली जो कि देव-मन्दिरों की पावन भूमि कहलाती है, वह पशु-बलि होने से कसाई-घर बनकर यमस्थली हो रही है ? लोग पशुओं को मारकर और उनके मांस को खा-खाकर अपने पेट को कब्रिस्तान बना रहे हैं।''

इस प्रकार के अनेक दारुण दृश्यों का चित्रण करके कवि ने नवें सर्ग में बड़ा ही कारुणिक, मर्मस्पर्शी एवं उद्बोधक वर्णन किया है ।

जगत् की विकट परिस्थितियों को देखते हुए महावीर की वैराग्य भावनाएं उत्तरोत्तर बढ़ती जाती हैं और अन्त में एक दिन वे भरी जवानी में घर बार छोड़कर और वन में जाकर प्रव्रजित हो जाते हैं और सिंह के समान एकाकी इस भूतल पर विहार करते हुए विचरने लगते हैं । उनके इस छद्मस्थ कालिक विहार के समय की किसी भी परीषह और उपसर्ग रूप घटना का यद्यपि कवि ने कोई उल्लेख नहीं किया है, तथापि इतना स्पष्ट रूप से कहा है कि ''वीर प्रभु के इस तपश्चरण काल में ऐसे अनेक प्रसंग आये हैं, कि जिनकी कथा भी धीर वीर जनों के रोंगटे खड़े कर देती है ।'' इन परीषहों और उपसर्गों का विगत वार वर्णन दि और श्वे. ग्रन्थों के आश्रय से आगे किया गया है । इस प्रकार दसवें सर्ग में भ महावीर की आन्तरिक भावनाओं का बहुत सुन्दर वर्णन कवि ने किया है ।

ग्यारहवें सर्ग में कवि ने एक अनुपम ढंग से भ. महावीर के पूर्व भवों का वर्णन किया है । भगवान् ध्यानावस्था में ही अवधिज्ञान से अपने पूर्व भवों को देखते हैं और विचार करते हैं कि हाय, हाय ? आज संसार में जो मिथ्या आचार देख रहा हूँ, उनका मैं ही तो कुबीजभूत हूँ, क्योंकि पूर्व भवों में मैंने ही मिथ्या मार्ग का प्रचार एवं प्रसार किया है । वे ही मत-मतान्तर आज नाना प्रकार के असदाचारों के रूप में वृक्ष बन कर फल-फूल रहे हैं । इसलिए जगत् की चिकित्सा करने के पहिले मुझे अपनी ही चिकित्सा करनी चाहिए । जब तक मैं स्वयं शुद्ध (नीरोग एवं नीराग) न हो जाऊं, तब तक दूसरों की चिकित्सा करना कैसे उचित मानी जा सकती है । इसलिए मुझे बाहिरी परिग्रहादि से और आन्तरिक मद-मत्सरादि दुर्भावों से असहयोग करना ही चाहिए । भगवान् विचारते हैं कि मुझे स्व-राज्य अर्थात् आत्मीय स्वरूप की प्राप्ति के लिए परजनों से असहयोग ही नहीं, बल्कि दुर्भावों का बहिष्कार भी करना चाहिए, तभी मेरा स्व-राज्य-प्राप्ति के लिए किया गया यह सत्याग्रह सफल होगा ।

यहां यह उल्लेखनीय है कि जब कवि अपने इस काव्य की रचना कर रहे थे, उस समय महात्मा गांधी ने स्वराज्य प्राप्ति के लिए सत्याग्रह संग्राम और असहयोग आन्दोलन छेड़ा हुआ था उससे प्रभावित होकर कवि ने उसका उपयोग अध्यात्म रूप स्वराज्य प्राप्ति के लिए किया है ।

भ. महावीर के पूर्व भवों की विस्तृत चर्चा इसी प्रस्तावना में आगे की गई है ।

बारहवें सर्ग में कवि ने ग्रीष्म ऋतु का विस्तार से वर्णन करते हुए बतलाया कि जब सारा संसार सूर्य की गर्मी से त्रस्त होकर शीतलता पाने के लिए प्रयत्नशील हो रहा था, तब भ. महावीर शरीर से ममता छोड़कर पर्वत के शिखरों पर महान् आतापन योग से अपने कर्मों की निर्जरा करने में संलग्न हो रहे थे । वर्षाकाल में वे वृक्षों के नीचे खड़े रह कर कर्म मल गलाते रहे और शीतकाल में चौराहों पर रात-रात भर खड़े रह कर ध्यान किया करते थे । इस प्रकार कभी एक मास के, कभी दो मास के, कभी चार मास के और कभी छह मास के लिए प्रतिमा योग धारण कर एक स्थान पर अवस्थित रह कर आत्म ध्यान में मग्न रहते थे । भ. महावीर के इस छद्मस्थ कालीन महान् तपश्चरण का विवरण आगे विगतवार दिया गया है, जिससे पाठक जान सकेंगे कि उन्होंने पूर्व भव-संचित कर्मों का विनाश कितनी उग्र तपस्या के द्वारा किया था ।

इस प्रकार की उग्र तपस्या करते हुए साढ़े बारह वर्ष व्यतीत होने पर भ. महावीर को वैशाख शुक्ला दशमी के दिन कैवल्य विभूति की प्राप्ति हुई । उसके पाते ही भगवान् के केवल-ज्ञान जनित दश अतिशय प्राप्त हुए । तभी इन्द्र ने अपने देव परिवार के साथ आकर उस सभा स्थल का निर्माण कराया, जो कि समवशरण के नाम से प्रख्यात है।

तेरहवें सर्ग में उस समवशरण की रचना का विस्तार से वर्णन किया गया है । इस समवशरण के मध्य भाग में स्थित कमलासन पर भगवान् चार अंगुल अन्तरीक्ष विराजमान हुए, उनके समीप आठ प्रातिहार्य प्रकट हुए और देव कृत चौदह अतिशय भी प्रकट हुए । भ. महावीर के इस समवशरण में स्वर्ग से आते हुए देवों को तथा नगर निवासियों को जाते देख कर गौतम प्रथम तो आश्चर्य चकित होते हैं और विचारते हैं कि क्या मेरे से भी बड़ा कोई ज्ञानी हो सकता है । पश्चात् वे भ. महावीर के पास आते ही इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने उनका शिष्यत्व ही स्वीकार कर लिया और तभी उनके निमित्त से भगवान् की दिव्य देशना प्रकट हुई ।

इस सन्दर्भ में भ. महावीर ने इन्द्रभूति गौतम को लक्ष्य करके जो उपदेश दिया है, वह पठनीय ही नहीं, बल्कि मननीय भी है ।

इन्द्रभूति गौतम को भ. महावीर का शिष्य बना देखकर उनके भाई अग्निभूति और वायुभूति भी अपने-अपने शिष्य परिवार के साथ भगवान् के शिष्य बन गये और उनके देखा देखी अन्य आठ महा विद्वान् भी अपने शिष्य परिवार के साथ दीक्षित हो गये ।

यहां यह बात उल्लेखनीय है कि ये सभी ब्राह्मण विद्वान् एक महान् यज्ञ समारोह में एकत्रित हुए थे । उसी समय भ. महावीर को केवल ज्ञान हुआ था और ज्ञान कल्याणक मनाने के लिए देवगण आ रहे थे । इस सुयोग ने महा मिथ्यात्वी इन्द्रभूति आदि ब्राह्मण विद्वानों को क्षण भर में सम्यक्त्वी और संयमी बना दिया और वे सभी विद्वान् भगवान् के सूत्ररूप उपदेश के महान् व्याख्याता बनकर गणधर के रूप में प्रसिद्ध हुए और उसी भव से मुक्त भी हुए । चौदहवें

सर्ग में इन ग्यारहों ही गणधरों के जन्मस्थान, माता-पिता और शिष्य परिवार का विस्तृत वर्णन किया गया है । प्रस्तावना में आगे और भी कई बातों के विवरण के साथ एक चित्र दिया गया है, जिससे कि गणधरों की आयु, दीक्षा-काल आदि अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात हो सकेंगी ।

पन्द्रहवें सर्ग में भ. महावीर के उपदेश की कुछ रूप-रेखा देकर बतलाया गया है कि गौतम गणधर ने किस प्रकार उनकी वाणी को द्वादशाङ्ग रूप में विभाजित किया और मागध जाति के देवों ने किस प्रकार उसे दूर-दूर तक फैलाया । इसी सर्ग में भगवान् के विहार करते हुए सर्वत्र धर्मोपदेश देने का भी वर्णन किया गया है और बतलाया गया है कि किस-किस देश के कौन-कौन से राज-परिवार भगवान् के दिव्य उपदेश से प्रभावित होकर उनके धर्म के अनुयायी बन गये थे ।

भ. महावीर ने जिन सर्वलोक-कल्याणकारी उपदेशों को दिया उनमें से साम्यवाद, अहिंसा, स्याद्वाद और सर्वज्ञता ये चार मुख्य मानकर चार सर्गों में ग्रन्थकार ने उनका बहुत ही सुन्दर एवं सरल ढंग से वर्णन किया है ।

साम्यवाद का वर्णन करते हुए कहा गया है-हे आत्मन्, यदि तुम यहां सुख से रहना चाहते हो, तो औरों को भी सुख से रहने दो । यदि तुम स्वयं दुखी नहीं होना चाहते, तो औरों को भी दुःख मत दो । अन्य व्यक्ति को आपत्ति में पड़ा देखकर तुम चुप मत बैठे रहो, किन्तु उसके संकट को दूर करने का शक्ति भर प्रयत्न करो । दूसरों का जहां पसीना बह रहा हो, वहां पर तुम अपना खून बहाने के लिए तैयार रहो । दूसरों के लिए किया गया बुरा कार्य स्वयं अपने ही लिए बुरा फल देता है, इसलिए दूसरों के साथ भला ही व्यवहार करना चाहिए ।

अहिंसा का वर्णन करते हुए कहा गया है-जो दूसरों को मारता है वह स्वयं दूसरों के द्वारा मारा जाता है और जो दूसरों की रक्षा करता है, वह दूसरों से रक्षित रहता हुआ जगत्-पूज्य बनता है । आश्चर्य है कि मनुष्य अपने स्वार्थ के वश में होकर दूसरों को मारने और कष्ट पहुँचाने के लिए तत्पर रहता है और नाना प्रकार के छलों का आश्रय लेकर दूसरों को धोखा देता है । पर वह यह नहीं सोचता कि दूसरों को धोखा देना वस्तुतः अपने आपको धोखा देना है ।

यज्ञों में की जाने वाली हिंसा को लक्ष्य करके कहा गया है- "इसे स्वर्ग भेज रहे हैं" ऐसा कहकर जो लोग बकरे, भैंसें आदि के गले पर तलवार का वार करते हैं, वे अपने स्नेही जनों को उसी प्रकार स्वर्ग क्यों नहीं भेजते?

इस प्रकार अनेक युक्तियों से अहिंसा का समर्थन करते हुए कवि ने कहा है कि भगवती अहिंसा ही सारे जगत् की माता है और हिंसा ही डाकिनी और पिशाचिनी है, इसलिए मनुष्य को हिंसा-डाकिनी से बचते हुए भगवती अहिंसा देवी की ही शरण लेना चाहिए ।

अहिंसा के सन्दर्भ में और भी अनेक प्रमाद-जनित कार्यों का उल्लेख कर उनके त्याग का विधान किया गया है और अन्त में बतलाया गया है कि अहिंसा-भाव की रक्षा और वृद्धि के लिए मनुष्य को मांस खाने का सर्वथा त्याग करना चाहिए । जो लोग शाक-पत्र, फलादिक को भी एकेन्द्रिय जीव का अंग मान कर उसे भी मांस खाने जैसा बतलाते हैं, उन्हें अनेक युक्तियों से सिद्ध कर यह बतलाया गया है कि शाक-पत्र फलादिक में और मांस में आकाश पाताल जैसा अन्तर है । यद्यपि दोनों ही प्राणियों के अंग है, तथापि शाक-फलादिक भक्ष्य हैं और मांस अभक्ष्य है । जैसे कि दूध और गोबर एक ही गाय-भैंस के अंगज-पदार्थ हैं, तो भी दूध ही भक्ष्य है, गोबर नहीं ।

इस प्रकार इस सोलहवें सर्ग में साम्यवाद और अहिंसावाद का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है ।

सत्तरहवें सर्ग में मनुष्यता या मानवता की व्याख्या करते हुए बतलाया गया है कि जो मनुष्य दूसरे का सन्मान करता है और उसकी छोटी सी भी बात को बड़ी समझता है, वास्तव में वही मनुष्यता को धारण करता है । किन्तु जो अहंकार-वश औरों को तुच्छ समझता है और उनका अपमान करता है, यह मनुष्य की सबसे बड़ी नीचता है । आत्महित के अनुकूल आचरण का नाम मनुष्यता है, केवल अपने स्वार्थ-साधन का नाम मनुष्यता नहीं है । अतः प्राणिमात्र के लिए हितकारक प्रवृत्ति करना चाहिए ।

आगे बताया गया है कि पापाचरण को छोड़ने पर ही मनुष्य उच्च कहला सकता है, केवल उच्च कुल में जन्म लेने से ही कोई उच्च नहीं कहा जा सकता । इसलिए पाप से घृणा करना चाहिए, किन्तु पापियों से नहीं ।

मानव कर्त्तव्यों को बतलाते हुए आगे कहा गया है कि दूसरों के दोषों को कभी प्रकट न करे, उनके विषय में सर्वथा मौन ही धारण करे। जहाँ तक बने, दूसरों का पालन-पोषण ही करे। दूसरे के गुणों को सादर स्वीकार करे उनका अनुसरण करे। आपत्ति आने पर हाय-हाय न करे और न्याय-मार्ग से कभी च्युत न होवे।

इस सन्दर्भ में एक बहु मूल्य बात कही गई है कि स्वार्थ (आत्म-प्रयोजन) से च्युत होना आत्म-विनाश का कारण है और परार्थ से च्युत होना सम्प्रदाय के विरुद्ध है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि अपने स्वार्थ को संभालते हुए दूसरों का उपकार अवश्य करे। यही सारभूत मनुष्यता है।''

आगे जाति, कुल आदि के अहंकार को निंद्य एवं वर्जनीय बतलाते हुए अनेक आख्यानकों का उल्लेख करके यह बतलाया गया है कि उच्च कुल में जन्म लेने वाले अनेक व्यक्ति नीच कार्य करते हुए देखे जाते हैं और अनेक पुरुष नीच कुल में उत्पन्न होकर के भी उच्च कार्य करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। अतएव उच्च और नीच का व्यवहार जाति और कुलाश्रित न मानकर गुण और कर्माश्रित मानना चाहिए।

इस विषय में इतना विशेष ज्ञातव्य है कि कितने ही लोग जाति और कुल को अमिट और अटल सिद्ध करने के लिए अनेक प्रकार की कल्पनाएं करते हैं। कोई तो कहते हैं कि ये ब्राह्मणादि वर्ण ब्रह्मा के द्वारा सृष्टि के आदि में बनाये गये हैं और युगान्त तक रहेंगे। कितने ही लोग इनसे भी आगे बढ़कर कहते हैं कि सभी जातियां अनादि से हैं और अनन्त काल तक रहेंगी। कितने ही लोग जातियों को नाशवान् कहकर वर्णों को नित्य कहते हैं, तो कितने ही लोग वर्णों को अनित्य मानकर जातियों को नित्य कहते हैं। कुछ लोग जाति और वर्ण का भेद मनुष्यों में ही मानते हैं, तो कुछ लोग पशु, पक्षी और वृक्षादिक में भी उनका सद्भाव बतलाते हैं। परन्तु ये सब कोरी और निराधार कल्पनाएं ही हैं। कर्म-सिद्धांत के अनुसार गति की अपेक्षा जीवों के मनुष्य, देव, नारकी और तिर्यंच ये चार भेद हैं और जाति की अपेक्षा एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रियादि पांच भेद हैं। यद्यपि एकेन्द्रियादि की उत्तर जातियाँ अनेक हैं, तथापि उनमें उपर्युक्त प्रकार से जाति या वर्ण का भेद मानना न आगम-संगत है और न युक्ति-संगत ही। वस्तुतः वर्ण-व्यवस्था आजीविका की विभिन्नता पर की गई थी। वर्तमान में प्रचलित जाति-व्यवस्था तो देश-काल-जनित नाना प्रकार की परिस्थितियों का फल है। यही कारण है कि इन जातियों के विषय में थोड़ा-बहुत जो इतिहास उपलब्ध है, वह उन्हें बहुत आधुनिक सिद्ध करता है।

जातिवाद को बहुत अधिक महत्व देने वाले हिन्दुओं के महान् ग्रन्थ महाभारत में लिखा है-

कैवर्ती-गर्भसम्भूतो व्यासो नाम महामुनिः।
तपसा ब्राह्मणो जातस्तस्माज्जातिरकारणम् ॥१॥
उर्वशी-गर्भसम्भूतो वशिष्टः सुमहामुनिः।
तपसा ब्राह्मणो जातस्तस्माज्जातिरकारणम् ॥२॥
श्वपाकि-गर्भसम्भूतः पाराशरमहामुनिः।
तपसा ब्राह्मणो जातस्तस्माज्जातिरकारणम् ॥३॥
चाण्डाली-गर्भसम्भूतो विश्वामित्रो महामुनिः।
तपसा ब्राह्मणो जातस्तस्माज्जातिरकारणम् ॥४॥

अर्थात् - धीवरी के गर्भ से उत्पन्न हुए व्यास महामुनि तप के प्रभाव से ब्राह्मण हो गये, उर्वशी के गर्भ से उत्पन्न हुए वशिष्ट महामुनि तप के प्रभाव से ब्राह्मण कहलाये, श्वपाकी (कुत्ते का मांस खाने वाली) के गर्भ से उत्पन्न हुए पाराशर महामुनि तप के प्रभाव से ब्राह्मण हो गये और चाण्डाली के गर्भ से उत्पन्न हुए विस्वामित्र महामुनि तप के प्रभाव से ब्राह्मण हो गये। इसलिए उच्च कहलाने के लिए जाति कोई कारण नहीं है, किन्तु आचरण ही प्रधान कारण है।

सारांश यह है कि वर्तमान में प्रचलित जाति और वर्णों को अनादि और अनन्त कालीन बतलाना सर्वथा असत्य है। हां, यह ठीक है कि साधारणतः उच्च और नीच कुल में जन्म लेने वाले जीवों पर उनके परम्परागत उच्च या नीच आचरण का प्रभाव अवश्य पड़ता है, पर अपवाद सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं। कहीं उच्च कुलीन लोगों में भी हीनाचरण की प्रवृत्ति देखी जाती है। और कहीं नीच कुलीन लोगों में भी सदाचार की प्रवृत्ति पाई जाती है। इसलिए एकान्त

से सर्वथा ऐसा ही नहीं मान लेना चाहिए कि उच्च कुल में जन्म लेने वाले लोगों के ही सदाचारपना पाया जायगा, हीन कुल में जन्म लेने वालों के नहीं । उच्च या नीच कुल में जन्म होना पूर्व जन्म-संचित संस्कारों का फल है, अर्थात् दैवाधीन है । किन्तु वर्तमान में उच्च या नीच कार्य करना अपने पुरुषार्थ के अधीन है ।

इसी संदर्भ में ग्रन्थकार ने आज के प्रचलित विवाह-बन्धनों की ओर संकेत करते हुए बताया है कि देखो- वसुदेव ने अपने चचेरे भाई की पुत्री अर्थात् आज के शब्दों में अपनी भतीजी देवकी से विवाह किया और उससे जगत् प्रसिद्ध श्री कृष्ण नारायण का जन्म हुआ । इसके साथ ही यहां यह भी उल्लेखनीय है कि भ. नेमिनाथ का विवाह भी उन्हीं उग्रसेन की लड़की राजमती से होने जा रहा था । जो श्री कृष्ण के षड्यंत्र से बन्धन-बद्ध पशुओं को देख कर नेमिनाथ के संसार से विरक्त हो जाने से संभव नहीं हो सका । नेमिनाथ और राजमती परस्पर चचेरे भाई बहिन थे ।

वसुदेव और उग्रसेन का वंश परिचय इस प्रकार है-

उक्त वंश-परिचय से बिलकुल स्पष्ट है कि चतुर्थ काल में आज के समान कोई वैवाहिक बन्धन नहीं था और योग्य लड़के लड़कियों का विवाह-सम्बन्ध कर दिया जाता था ।
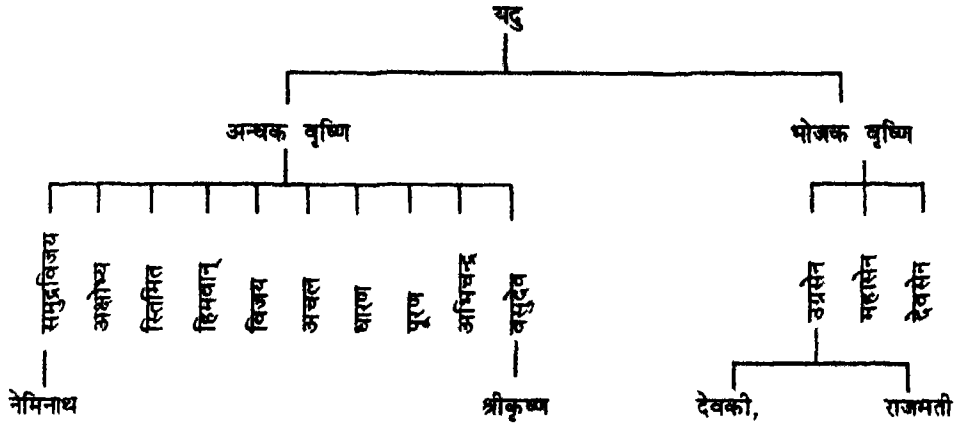
इसी सर्ग के २१ वें श्लोक में वेद के संकलयिता जिन व्यास ऋषि का उल्लेख किया गया है, वे स्वयं ही धीवरी (कहारिन) से उत्पन्न हुए थे, जिसका प्रमाण अभी ऊपर दिया जा चुका है ।

आगे इसी सर्ग के ३९ वें श्लोक में हरिषेण कथा कोष के एक कथानक का उल्लेख कर बताया गया है कि राजा ने यमपाश चाण्डाल के साथ उसकी अहिंसक प्रवृत्ति से हर्षित होकर अपनी पुत्री का विवाह कर दिया था ।

यहाँ पर विवाह के इस प्रकरण की, तथा इसी प्रकार के कुछ अन्य उल्लेखों की चर्चा का भी यह अभिप्राय है कि साधारणतः राजमार्ग तो यही रहा है कि मनुष्य अपने कुल, गुण, शील, रूप और विद्या आदि के अनुरूप हो योग्य कन्या से विवाह करते थे और आज भी करना चाहिए । परन्तु अपवाद सदा रहे हैं । इसलिए इस विषय में भी सर्वथा एकान्त मार्ग का आश्रय नहीं लेना चाहिए ।

इस प्रकार इस सर्ग में जाति और कुल की यथार्थता को बता कर अन्त में कहा गया है कि "धर्म-धारण करने में या आत्म-विकास करने में किसी एक व्यक्ति या जाति का ही अधिकार नहीं है । किन्तु जो उत्तम धर्म का अनुष्ठान करता है, वह सबका आदरणीय बन जाता है ।

अठारहवें सर्ग में काल की महत्ता बतलाते हुए इस अवसर्पिणी काल के प्राम्भिक तीन कालों को हिन्दू-मान्यतानुसार सत् युग बताया गया है, जिनमें कि भोग भूमि की रचना रहती है । जब तीसरे काल के अन्त में कल्पवृक्ष नष्ट होने लगे और कुलकरों का जन्म हुआ, तब से त्रेतायुग का प्रारम्भ हुआ । उस समय अन्तिम कुलकर नाभिराय से आदि तीर्थंकर भ ऋषभदेव का जन्म हुआ । उन्होंने कल्पवृक्षों के लोप हो जाने पर भूख-प्यास से पीड़ित प्रजा को जीवन के उपाज बतलाये । प्रजा का संरक्षण करने वालों को क्षत्रिय संज्ञा दी, प्रजा का भरण-पोषण करने वालों को वैश्य

कहा और प्रजा की सेवा-सुश्रूषा करने वालों को शूद्र कहा। उन्हीं भ. ऋषभदेव ने पुरुषों को ७२ कलाओं और स्त्रियों की ६४ कलाओं को सिखाया। मिट्टी के बर्तन बनाना भी उन्होंने सिखाया। जिसके फलस्वरूप कुम्भार लोग आज भी 'परजापत' (प्रजापति) कहलाते हैं। आद्य स्तुतिकार स्वामी समन्तभद्र ने ऋषभदेव की स्तुति करते हुए उन्हें 'प्रजापति' के नाम से उल्लेख करके कहा कि उन्होंने ही जीने की इच्छुक प्रजा को कृषि, गोपालन आदि कार्यों की सर्व प्रथम शिक्षा दी[१]।

भ. ऋषभ देव के दीक्षित होने पर उनके साथ दीक्षित होने वाले लोग कुछ दिन तक तो भूख-प्यास को सहते रहे। अन्त में भ्रष्ट होकर यद्वा-तद्वा आचरण करने लगे। भ. ऋषभ देव ने कैवल्य प्राप्ति के बाद उन्हें संबोधा। जिससे कितने ही लोगों ने तो वापिस सुमार्ग स्वीकार कर लिया। पर मरीचि और उसके अनुयायियों ने अपना वेष नहीं छोड़ा और कुमार्ग पर ही चलते रहे। इसका विस्तृत विवेचन आगे किया गया है।

इस सन्दर्भ में कवि ने मुनिचर्या और गृहस्थ धर्म का जैसा सुन्दर वर्णन भ. ऋषभ देव के द्वारा कराया है, वह मननीय है।

आगे कवि ने भरत चक्री द्वारा ब्राह्मणों की उत्पत्ति का वर्णन किया है और बतलाया है कि ये ब्राह्मण भ. शीतलनाथ के समय तक तो अपने धर्म पर स्थिर रहे। पीछे उससे परान्मुख होकर अपने को धर्म का अधिकारी बताकर मन-माने क्रियाकाण्ड का प्रचार करने लगे। धीरे-धीरे यहां तक नौबत आई कि 'अजैर्यष्टव्यं' इस वाक्य के अर्थ पर एक ही क्षीर-कदम्ब गुरु से पढ़े हुई पर्वत और नारद में उग्र विवाद खड़ा हो गया। जब ये दोनों विवाद करते हुए अपने सहाध्यायी वसुराजा के पास पहुँचे, तो गुराणी के अनुरोध-वश वसुराजा ने गुरु-पुत्र पर्वत का कथन सत्य कह कर यथार्थ सत्य की हत्या करदी और तभी से तीन वर्ष पुराने-नवीन अंकुरोत्पादन के अयोग्य धान्य के स्थान पर बकरों का यज्ञ में हवन किया जाने लगा, जिसकी परम्परा भ. महावीर और महात्मा बुद्ध के समय तक उत्तरोत्तर बढ़ती गई। इस यज्ञ-बलि के विरोध में उक्त दोनों महान् आत्माओं ने जो प्रबल विरोध किया, उसके फलस्वरूप आज पशुयज्ञ दृष्टिगोचर नहीं हो रहे हैं। इतना ही नहीं, उनकी अहिंसामयी धर्म-देशना का प्रभाव तात्कालिक वैदिक विद्वानों पर भी पड़ा और उन्होंने भी सिंहक यज्ञों एवं बाहिरी क्रिया-काण्डों के स्थान पर आत्म-यज्ञ और ज्ञानमय क्रियाकाण्ड का विधान अपने उपनिषदों और ब्राह्मण-सूत्रों में किया। तथा इसी शताब्दी के प्रारम्भ में उत्पन्न हुए प्रसिद्ध आर्य-समाजी नेता स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी उन हिंसा-परक वेद-मंत्रों का अहिंसा-परक अर्थ करके अहिंसा की ध्वजा को फहराया।

कवि ने अवसर्पिणीकाल के चौथे भाग को द्वापर युग के नाम से उल्लिखित कर अपनी समन्वय दृष्टि प्रकट की है। तदनुसार आज का युग कलिकाल है, यह स्वतः सिद्ध हो जाता है। अनेक जैनाचार्यों ने 'काले कलौ चले चित्ते'[२] और 'काल कलिर्वा कलुषाशयो वा'[३] इत्यादि वाक्यों से आज के युग को कलिकाल कहा ही है।

उन्नीसवें सर्ग में कवि ने बहुत ही सरल ढंग से अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और उसके सात भंगों का वर्णन किया है। दार्शनिक वर्णन साधारणतः कठिन होने से पाठकों को सहज-ग्राह्य नहीं होता। पर यह ग्रन्थकार की महान् कुशलता और सुविज्ञता ही समझना चाहिए कि उनके इस प्रकरण को पढ़ने पर सर्व साधारण पाठक भी स्याद्वाद और अनेकान्तवाद के गूढ़ रहस्य से परिचित हो सकेंगे।

द्रव्य का लक्षण 'सत' (अस्तित्व) रूप माना गया है और 'सत्' को उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य रूप कहा गया है[४] जिसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक वस्तु प्रति समय अपने पूर्व रूप को छोड़ती रहती है, नवीन रूप तो धारण करती है। फिर भी उसका मूल अस्तित्व बना रहता है। पूर्व रूप या आकार के परित्याग को व्यय, नवीन रूप के

---

१. प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।

(स्वम्भूस्तोत्र, श्लो २)

१. सोमदेवसूरिने यशस्तिलकमें। २. समन्तभद्राचार्य युक्त्यनुशासनमें।

३. सद्-द्रव्यलक्षणम्। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।

(तत्त्वार्थसूत्र, अ. ५, सू २९-३०)

धारण करने को उत्पादन और मूल रूप के बने रहने को ध्रौव्य कहते हैं । स्वामी समन्त भद्र ने एक दृष्टान्त देकर बतलाया है कि जब सोने के घट को मिटाकर उसका मुकुट बनाया जाता है, तब घट के इच्छुक को शोक होता है, मुकुट से अभिलाषी को हर्ष होता है, किन्तु सुवर्णार्थी के मध्यस्थ भाव रहता है । घटार्थी को शोक घटके विनाश के कारण हुआ, मुकुटार्थी को हर्ष मुकुट के उत्पाद के कारण हुआ । किन्तु सुवर्णार्थी का मध्यस्थ भाव दोनों ही दशाओं में सोने के बने रहने के कारण रहा । अतएव यह सिद्ध होता है कि वस्तु उत्पादन-व्यय और ध्रौव्य रूप से त्रयात्मक है[1] । जैनदर्शन के इस रहस्य को पतञ्जलि ने अपने पातञ्जल भाष्य में और कुमारिल भट्ट ने अपनी मीमांसाश्लोकवार्तिक में स्वीकार किया है, ऐसा निर्देश इस सर्ग के १७ वें श्लोक में ग्रन्थकार ने किया है । पाठकों की जानकारी के लिए उक्त दोनों ग्रन्थों के यहां उद्धरण दिये जाते हैं-

"द्रव्यं हि नित्यमाकृतिरनित्या । सुवर्णं कयाचिदाकृत्या युक्तं पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते, पुनरावृत्तः सुवर्णपिण्डः, पुनरपरया आकृत्या युक्तः खदिराङ्गारसदृशे कुण्डले भवतः । आकृतिरनित्या अन्या च भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव । आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते ॥"

(पाताञ्जल महाभाष्य १।१।१, योगभाष्य ४।१३)

अर्थात्- द्रव्य नित्य है और आकृति अनित्य है । सोना किसी आकृति-विशेष से युक्त होने पर पिण्ड कहलाता है । पिण्ड रूप आकृति का विनाश कर रुचक बनाये जाते हैं और रुचकरूप आकृति का उपमर्दन कर कटक बनाये जाते हैं । पुनः कटक रूप आकृति का विनाश कर स्वस्तिक बनाये जाते हैं और फिर उसे भी मिटा कर सुवर्ण पिण्ड बना दिया जाता है । पुनः नयी आकृति से वही खैर के अंगार-सदृश चमकते हुए कुण्डल बन जाते हैं । इस प्रकार आकृति तो अनित्य है, क्योंकि वह नये नये रूप धारण करती रहती है, किन्तु सुवर्ण रूप द्रव्य ज्यों का त्यों बना रहता है ।

मीमांसाश्लोकवार्तिककार कुमारिल भट्ट ने स्वामी समन्तभद्र का अनुसरण करते हुए वस्तु का स्वरूप विनाश-उत्पाद और स्थिति रूप से त्रयात्मक ही माना है । यथा-

वर्धमानकभङ्गे च रुचकः क्रियते यदा ।
तदा पूर्वार्थिन शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद् वस्तु त्रयात्मकम् ।

(मीमांसाश्लोकवार्तिक पृ ६१९)

अर्थात् जब सोने के वर्धमानक का विनाश करके रूचक बनाया जाता है, तब वर्धमानक के इच्छुक को तो शोक होता है और रुचकार्थी को प्रसन्नता होती है । किन्तु स्वर्णार्थी के तो माध्यस्थ्य भाव बना रहता है । इससे सिद्ध है कि प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप से त्रयात्मक है ।

इस प्रकार वस्तु की नित्या नित्यात्मकता और अनेक धर्मात्मकता को सिद्ध करके जैन दर्शनानुसार उसके चेतन और अचेतन ये दो भेद कर उनके भी उत्तर भेदों का वर्णन किया गया है । साथ ही जीव का अस्तित्व भी सयुक्तिक सिद्ध किया गया है । विस्तार के भय से यहां उसकी चर्चा नहीं की जा रही है ।

आगे बताया गया है कि यतः प्रत्येक वस्तु अनादि-निधन है और अपने-अपने कारण-कलापों से उत्पन्न होती है, अतः उसका कोई कर्त्ता, सृष्टा या नियन्ता ईश्वरादिक भी नहीं है ।

इस प्रकार इस सर्ग में अनेक दार्शनिक तत्त्वों की चर्चा की गई है ।

बीसवें सर्ग में अनेक सरल युक्तियों से अतीन्द्रिय ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध करके उसके धारक सर्वज्ञ की सिद्धि की गई है ।

इक्कीसवें सर्ग में शरद् ऋतु का साहित्यिक दृष्टि से सुन्दर वर्णन करके अन्त में बताया गया है कि कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के अन्तिम भाग में भ. महावीर ने पावा नगरी के उपवन से मुक्ति-लक्ष्मी को प्राप्त किया ।

---

१. घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥ (आप्तमीमांसा श्लो. ५९)

बाईसवें सर्ग में बताया गया है कि भ. महावीर ने जिस विज्ञान-सन्तुलित धर्म का जगत् के कल्याण के लिए उपदेश दिया था काल के प्रभाव से और विस्मरण आदि से उसकी जो शोचनीय दशा आज हो रही है, उस पर यहां कुछ विचार किया जाता है । भ. महावीर के पश्चात् और अन्तिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु स्वामी के समय तक तो जैन धर्म की गंगा एक प्रवाह रूप से ही बहती रही । किन्तु भद्रबाहु स्वामी के समय में पड़े १२ वर्ष के महान् दुर्भिक्ष के पश्चात् वह धारा दो रूप में विभक्त हो गई । उस समय जैन श्रमण संघ में २४ हजार साधु थे । सबको भद्रबाहु ने सूचित किया कि उत्तर भारत में १२ वर्ष के दुर्भिक्ष पड़ने की संभावना है, अतः सर्व साधुओं को दक्षिण देश की ओर विहार कर देना चाहिए । उनकी घोषणा सुनते ही आधा संघ तो उनके साथ दक्षिण देश की ओर विहार कर गया । किन्तु आधा संघ श्रावकों के अनुरोध पर स्थूलभद्राचार्य के नेतृत्व में उत्तर भारत में रह गया। धीरे-धीरे दुर्भिक्ष का प्रकोप बढ़ने लगा और साधुओं को आहार मिलने में कठिनाई अनुभव होने लगी। तब श्रावकों के अनुरोध पर साधुओं ने पात्र रख कर श्रावकों के घर से आहार लाकर अपने निवास-स्थल पर जा करके खाना प्रारंभ किया । इसी के साथ ही उन्होंने वस्त्र और दण्डादिक भी आत्म-रक्षा के लिए स्वीकार कर लिए और इस प्रकार निर्ग्रन्थ साधुओं में धीरे-धीरे शिथिलाचार का प्रवेश हो गया । जब १२ वर्ष के उपरान्त दुर्भिक्ष का प्रकोप शान्त हुआ और दक्षिण की ओर गये हुए मुनि जन उत्तर भारत को लौटे, तो उन्होंने बहुत प्रयत्न किया कि इधर रहे हुए साधुओं में जो शिथिलाचार आ गया है, वह दूर कर वे लोग हमारे साथ पूर्ववत् मिलकर एक सूत्र के रूप में रहें । पर यह संभव नहीं हो सका। अतः उत्तर भारत में रहे साधुजन श्वेत-वस्त्र धारण करने लगे थे, अतः वे श्वेताम्बर साधुओं के नाम से कहे जाने लगे और जो नग्न निर्ग्रन्थ वेष के ही धारक रहे, वे दिगम्बर साधुओं के नाम से पुकारे जाने लगे ।

यहां यह विशेष ज्ञातव्य है कि श्वे. आचाराङ्ग-सूत्र में भी साधु के लिए आचेलक्य ही परम धर्म बताया गया है और अचेलक का मुख्य अर्थ पूर्ण नग्नता ही है[1] । श्वे. शास्त्रों में राजा उदयन, ऋषभदत्त आदि के भी नग्न मुनि होने का उल्लेख आता है[2] । श्वे. स्थानाङ्ग सूत्र में भी साधुओं के अन्य कर्तव्यों के साथ नग्नता का विधान उपलब्ध है[3] । भ. महावीर स्वयं नग्न रहे थे ।

वैदिक साहित्य 'ऋक्र संहिता' (१०।१३६-२) में 'मुनयो वातरशानाः' का उल्लेख है । 'जाबालोपनिषद' सूत्र ६ में 'यथाजातरूपधरो निर्ग्रन्थों निष्परिग्रह॰ का उल्लेख मिलता है । महाभारत के आदिपर्व श्लो ३२६-२७ में जैन मुनि को 'नग्न क्षपणक' कहा है । विष्णुपुराण में 'ततो दिगम्बरो मुण्डो' (तृतीयाँश अ. १७-१८) कहा गया है और पद्मपुराण में भी 'दिगम्बरेण जैन धर्मोपदेशः' (प्रथम खण्ड श्लो.१३) आदि रूप से दिगम्बर मुनियों का वर्णन किया गया है। भर्तहरि ने अपने वैराग्यशतक में जैन मुनि को 'पाणिपात्रो दिगम्बर' लिखा है[4] । वाराहमिहिर-संहिता में जैन मुनियों को 'नग्न' और अर्हन्तदेव को 'दिग्वास लिखा'[5]। ज्योतिष ग्रन्थ गोलाध्याय में भी जैन साधुओं के नग्न रहने का उल्लेख है[6]। मुद्राराक्षस में भी इसी प्रकार का उल्लेख पाया जाता है ।

---

१. जे अचेले परिवुसिंए तस्स णं भिक्खुस्म णो एव,.......(आचारांग १५१)
तं वोसेज्ज वत्थमणयारे.. ....(आचारंग २१०)

२. जस्सट्ठाए कीरइ नग्गभावो जाव तमट्ठं आरोहेइ । (भगवती सूत्र, शतक ९ उद्देशक ३३)

३. से जहा नामए अज्जोमए समणाणं णिग्गंथाणं नग्गभावे मुण्डभावे अण्हाणए...........अरहा समणाणं णिग्गंथाणं नग्गभावे जाव लद्धावलद्धवित्तीओ जाव पट्ठवेहित्ती । (ठाणां सूत्र, हैदराबाद संस्करण पृ. ८१३)

४. एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः । कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः ॥
भर्तृहरि-वैराग्यशतके श्लो. ७०।

५. नग्नान् जिनानाँ विदुः १९।६१॥
दिग्वासस्तरुणो रुपवांश्च कार्योऽर्हतां देवः ॥४५,५८॥ (वाराहमिहिर-संहिता:

६. नग्नीकृता मुण्डिताः । तत्र ४-५ (गोलाध्याय (३।८-१०)

बौद्धों के जातक घटकथा, चुल्लवग्ग (८।२८।३) महावग्ग (८।१५।८) संयुक्त निकाय (२।३।१०७) दिव्यावदान (पृ. १६५) और दाठावसो (पृ. १४) इत्यादि ग्रन्थों में निर्ग्रन्थों की नग्नता का उल्लेख है। चीनी यात्री फाहियान[1] और हुएनत्सांग ने[2] भी अपने यात्रा-विवरणों में जैन मुनियों को नग्न लिखा है ।

मथुरा का वर्णन करते हुए फाहियान ने लिखा है-"सारे देश में कोई अधिवासी न जीवहिंसा करता है, न मद्य पीता है और न लहसुन प्याज खाता है, सिवाय चाण्डाल के । जनपद में न कहीं सूनागार (कसाईघर) है और न मद्य की दुकानें हैं । (फाहियान पृ. ३१)

यहां यह बात ज्ञातव्य है कि फाहियान ने ईसा की चौथी शती के अन्त में और हुएनत्सांग ने ईसा की सातवीं शती के प्रारम्भ में भारत की यात्रा की थी ।

श्वेताम्बर साधु जब नगराश्रित उपाश्रयों में रहने लगे, तो उनका प्रभाव दिगम्बर साधुओं पर भी पड़ा और उनमें से कितने ही आचार्यों ने कहना प्रारम्भ कर दिया कि साधुओं को इस कलिकाल में वन में नहीं रहना चाहिए । इस प्रकार जब साधुओं में शिथिलाचार ने प्रवेश कर लिया, तो गृहस्थ श्रावकों के आचार में भी शिथिलता आ गई ।

यद्यपि भद्रबाहु के समय सम्राट चन्द्रगुप्त ने, उनके पुत्र बिन्दुसार ने और पौत्र अशोक ने, तथा सम्प्रति आदि अनेक राजाओं ने अपने समय में जैन धर्म को राज्याश्रय दिया उसका प्रसार किया और विक्रमादित्य के समय तक उसका प्रभाव सारे भारतवर्ष पर रहा, तथापि इस अवधि के मध्य ही वैदिक-सम्प्रदाय-मान्य स्नान, आचमन आदि बाह्य क्रियाकाण्ड ने जैनधर्म में प्रवेश पा लिया और जैनों में अग्नि की उपासना यक्षादिक व्यन्तर देवों की पूजा, एवं पंचामृताभिषेक आदि का प्रचार प्रारम्भ हो गया । जैनों का भी प्रभाव हिन्दुओं पर पड़ा और उनमें से यज्ञ-हिंसा ने विदाई ले ली ।

धीरे-धीरे दि. और श्वे. दोनों ही साधु-परम्पराओं में जरा-जरा से मतभेदों के कारण अनेक गण-गच्छ आदि के भेद उठ खड़े हुए, जिससे आज सारा जैन समाज अनेक उपभेदों में विभक्त हो रहा है । इन नवीन उपभेदों के प्रवर्तकों ने तो सदा से चली आई जिनबिम्ब-पूजन का भी गृहस्थों के लिए निषेध करना प्रारम्भ कर दिया और कितनों ने वीतराग मूर्ति को भी वस्त्राभूषण पहिराना प्रारम्भ कर दिया । कितने ही लोग जनता को पीने का पानी सुलभ करने के लिए कुंआ, बावड़ी के खुदवाने आदि पुण्य कार्यों के करने से भी गृहस्थों को मना करने लगे और किसी स्थान पर लगी आग में घिरे जीवों को बचाने के लिए उसे बुझाने को भी जल-अग्नि आदि की विराधना का नाम लेकर पाप बताने लगे।

इस स्थल पर ग्रन्थकार कहते हैं जो धर्म प्राणि मात्र पर मैत्री और करुणा भाव रखने का उपदेश देता है, उसी के अनुयायी कुछ जैन लोग कहें कि साधु के सिवाय अन्य किसी भी प्राणी की रक्षा करना पाप है तो यह बड़े ही आश्चर्य और दु:ख की ही बात है । यथार्थ बात यह है कि जो जैन धर्म उत्तम क्षत्रिय राजाओं के द्वारा धारण करने योग्य था और अपनी सर्व कल्याण-कारिणी निर्दोष प्रवृत्ति के कारण सबका हितकारी था, वही जैन धर्म आज व्यापार करने वाले उन वैश्यों के हाथ में आ गया है जिनका कि धन्धा ही अपने माल को खरा और अन्य के माल को खोटा बताकर अपनी दुकान चलाना है ।

इस प्रकार अपने हार्दिक दु:ख पूर्ण उद्गारों को प्रकट करते हुए ग्रन्थकार ने इस सर्ग के साथ ही अपने ग्रन्थ को समाप्त किया है ।

अवतार–वाद नहीं, उत्तार–वाद

ससार में यह प्रथा प्रचलित रही है कि जो कोई भी महापुरुष यहां पैदा हुआ, उसे ईश्वर का पूर्णावतार या अंशावतार कह दिया गया है । भ महावीर ने अपने उपदेशों में कभी अपने आपको ईश्वर का पूर्ण या आंशिक अवतार नहीं कहा प्रत्युत अवतार वाले ईश्वर का निराकरण ही किया है । उन्होंने कहा-ईश्वर तो आत्मा की शुद्ध अवस्था का नाम

---

१ देखो फाहियान यात्रा-विवरण पृ. ४६,६३ आदि ।

२. देखो- हुएनत्सांग का भारत-भ्रमण पृ १४३, ३२०, ५२६, ५३३, ५४५, ५७०, ५७३ आदि)

है । एक बार आत्मा के शुद्ध हो जाने पर फिर उसकी संसार में अवतार लेने वाली अशुद्ध दशा नहीं हो सकती । जैसे धान्य के छिलके से अलग हुए चावल का पुन: उत्पन्न होना असंभव है, इसी प्रकार कर्म-मल से रहित हुए शुद्ध जीव का संसार में मनुष्यादि के रूप से जन्म लेकर अशुद्ध दशा को प्राप्त करना भी असंभव है । जैन धर्म अवतारवादी नहीं, प्रत्युत उत्तारवादी है । ईश्वर का मनुष्य के रूप में अवतरण तो उसके ह्रास या अवनति का द्योतक है, विकास का नहीं, क्योंकि अवतार का अर्थ है नीचे उतरना । किन्तु उत्तार का अर्थ है-ऊपर चढ़ना, अर्थात् आत्म-विकास करना। अवतारवादी परम्परा में ईश्वर या परमात्मा नीचे उतरता है, मनुष्य बनकर फिर सर्व साधारण संसारी पुरुषों के समान राग-द्वेष मयी हीन प्रवृत्ति करने लगता है । किन्तु उत्तारवादी परम्परा में मनुष्य अपना विकास करते हुए ऊपर चढ़कर ईश्वर भगवान् या परमात्मा बनता है । जैन धर्म ने पूर्ण रूप से विकास को प्राप्त आत्मा को ही भगवान् या परमात्मा कहा है, सांसारिक प्रपंच करने वाले व्यक्ति को नहीं ।

भ. महावीर ने स्वयं ही बतलाया कि सर्व साधारण के समान मैं भी अनादि से संसार में जन्म-मरण के चक्कर लगाता हुआ आ रहा था । इस युग के आदि में मैं आदि महापुरुष ऋषभदेव का पौत्र और आदि सम्राट् का पुत्र था। किन्तु अभिमान के वश में होकर मैंने अपनी उस मानव-पर्याय का दुरुपयोग किया और फिर उत्थान-पतन की अनेक अवस्थाओं का प्राप्त हुआ। पुन: अनेक भवों से उत्तरोत्तर आत्म-विकास करते हुए आज इस अवस्था को प्राप्त कर सका हूँ । अत: मेरे समान ही सभी प्राणी अपना विकास करते हुए मेरे जैसे बन सकते हैं । यही कारण है कि जैन धर्म ने जगत् का कर्ता धर्ता ईश्वर को नहीं माना है, किन्तु उद्धर्ता पुरुष को ही ईश्वर माना है । जैन धर्म का कर्मवाद सिद्धान्त यही उपदेश देता है कि- "आत्मा ही अपने सुख-दु:ख का कर्ता और भोक्ता है । सुमार्ग पर चलने वाला आत्मा अपना मित्र है और कुमार्ग पर चलने वाला आत्मा अपना शत्रु है"[१] ।

भ. महावीर के पूर्व भव

भगवान् महावीर का भिल्लराज के भव से लेकर अन्तिम भव तक का जीवन-काल उत्थान पतन की अनेक विस्मय-कारक करुण कहानियों से भरा हुआ है । वर्तमान कालिक समस्त तीर्थङ्करों में से केवल भ महावीर के ही सबसे अधिक पूर्व भवों का वर्णन जैन शास्त्रों में देखने को मिलता है । दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में उनके पूर्व भव का श्री गणेश भिल्लराज के भव से ही पाया जाता है । संक्षेप में भगवान् का यह सर्व जीवन-कथानक इस प्रकार है -

भ ऋषभदेव के पौत्र और भरत चक्री के पुत्र मरीचि होने से दो भव पूर्व भ महावीर का जीव इसी जम्बू द्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी के उत्तर किनारे पर पुष्कलावती देश की पुण्डरीकिणी नगरी के समीपवर्ती वन में पुरुरवा नामक का भील था । गन्तव्य मार्ग भूल जाने के कारण एक दिगम्बर मुनिराज उस वन में विचर रहे थे कि पुरुरवा भील ने दूर से उन्हें जाता हुआ देखकर और हरिण समझ कर मारने के लिए ज्यों ही धनुष-बाण संभाला कि उसकी स्त्री ने यह कह कर उसे मारने से रोक दिया कि 'ये तो वन के देवता घूम रहे हैं, इन्हें मत मारो।' भील ने समीप जाकर देखा, तो उसका भ्रम दूर हुआ और अपनी भूल पर पश्चाताप करते हुए उन्हें भक्ति पूर्वक नमस्कार कर उनसे आत्म-कल्याण का उपाय पूछा । मुनिराज ने उसे मद्य, मांस और मधु-सेवन के त्याग रूप व्रत का उपदेश दिया, जिसे उसने जीवन-पर्यन्त पालन किया और आयु के समाप्त होने पर वह सौधर्म स्वर्ग में एक सागर की आयु का धारक देव हुआ । वहां के दिव्य सुखों को भोग कर वह इसी भरत क्षेत्र की अयोध्या नगरी में भ. ऋषभदेव का पौत्र और आदि चक्रवर्ती भरत महाराज का पुत्र हुआ, जिसका नाम मरीचि रखा गया ।

जब भ. ऋषभदेव संसार, देह और भोगों से विरक्त होकर दीक्षित हुए, तब अन्य चार हजार महापुरुषों के साथ मरीचि ने भी भगवान् की भक्ति-वश जिन-दीक्षा को धारण कर लिया । भ. ऋषभदेव ने दीक्षा लेने के साथ ही छह

---

१ अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिअ सुप्पट्ठिओ ॥ (उत्तराध्ययन अ. २० गा. ३७)

मास के उपवास की प्रतिज्ञा लेकर मौन धारण कर लिया । उनके दीक्षित हुए ये सभी लोग उनका अनुकरण करते हुए कुछ दिन तक तो भूख-प्यास की बाधा सहन करते रहे, किन्तु जब उनसे भूख-प्यास का कष्ट नहीं सहा गया, तो वे लोग वन के फल-फूल खाने लगे । वन-देवताओं ने उन लोगों से कहा कि दिगम्बर वेष धारण करने वाले मुनियों का यह मार्ग नहीं है । यदि तुम लोग मुनि धर्म के कठिन मार्ग पर नहीं चल सकते, तो वापिस घर चले जाओ, या अन्य वेष धारण कर लो, पर दिगम्बर वेष में रह कर ऐसी उन्मार्ग-प्रवृत्ति करना ठीक नहीं है । वे लोग भरत चक्री के भय से अपने घर तो नहीं गये, किन्तु नाना वेषों को धारण करके वन में रहते हुए ही अपना जीवन-यापन करने लगे ।

जब भ. ऋषभदेव को केवल ज्ञान प्रगट हो गया, तब उन्होंने उन भ्रष्ट हुए तपस्वियों को सम्बोधन कर मुनि-मार्ग पर चलने का उपदेश दिया । जिससे अनेक तपस्वियों ने पुनः दीक्षा ग्रहण कर ली । किन्तु तब तक मरीचि अपने अनेक शिष्य बना कर उनका मुखिया बन चुका था, अतः उसने जिन-दीक्षा को अंगीकार नहीं किया और जब उसे भरत के प्रश्न करने पर ऋषभदेव की दिव्यध्वनि से यह ज्ञात हुआ कि मैं ही आगे चलकर इस युग का अन्तिम तीर्थङ्कर होने वाला हूँ, तब तो वह और भी उन्मत्त होकर विचरने लगा और स्व-मन-गढ़न्त तत्त्वों का उपदेश देकर एक नये ही मत का प्रचार करने लगा, जो कि आगे जाकर कपिल-शिष्य के नाम पर कापिल या सांख्य मत के नाम से संसार में आज तक प्रसिद्ध है । मरीचि का यह भव भ. महावीर के ज्ञात पूर्व भवों की दृष्टि से तीसरा भव है ।

यद्यपि मरीचि जीवन-भर उन्मार्ग का प्रवर्तन करता रहा, तथापि कुतप के प्रभाव से मर कर वह पांचवें ब्रह्म स्वर्ग में जाकर देव उत्पन्न हुआ । यह भ महावीर का चौथा भव है । वहां से चय कर पांचवें भव में वह इसी मध्य लोक में जटिल नाम का ब्राह्मण हुआ । पूर्व भव के दृढ़ संस्कारों से इस भव में भी वह अपने पूर्व-प्रचारित कपिल मत का ही साधु बनकर तपस्या करते हुए उसका प्रचार करता रहा और छठे भव में पुनः सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न होकर देवपद पाया । वहां से चयकर सातवें भव में पुष्यमित्र नाम का ब्राह्मण हुआ और परिव्राजक बनकर उसी मिथ्या-मत का प्रचार करता रहा। जीवन के अन्त में मर कर आठवें भव में पुनः सौधर्म स्वर्ग का देव हुआ । नवें भव में वहां से चय कर पुनः इसी भूतल पर अवतीर्ण हुआ और ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर अग्निसह नाम का धारक उग्र तपस्वी हुआ । इस भव में भी उसने उसी कपिल मत का प्रचार किया और मर कर दशवें भव में सनत्कुमार स्वर्ग का देव हुआ । ग्यारहवें भव में वह पुनः इसी भूतल पर जन्म लेकर अग्निमित्र नाम का ब्राह्मण हुआ और परिव्राजक बनकर उसी कपिल मत का प्रचार किया और मर कर दशवें भव में सनत्कुमार स्वर्ग का देव हुआ । ग्यारहवें भव में वह पुनः इसी भूतल पर जन्म लेकर अग्रिमित्र नाम का ब्राह्मण हुआ और परिव्राजक बनकर उसी कपिल मत का प्रचार कर जीवन के अन्त में मरा और बारहवें भव में माहेन्द्र स्वर्ग का देव हुआ । वहां से चय कर तेरहवें भव में भारद्वाज नाम का ब्राह्मण हुआ और उसी कपिल मत का प्रचार करता हुआ मर कर चौदहवें भव में पुनः माहेन्द्र स्वर्ग का देव हुआ ।

इस प्रकार मरीचि काजीव लगातार आगे के पांचों मनुष्य भवों में अपने पूर्व दृढ़ संस्कारों से प्रेरित होकर उत्तरोत्तर मिथ्यात्व का प्रचार करते हुए दुर्मोच दर्शनमोहनीय के साथ सभी पाप कर्मों का उत्कृष्ट बन्ध करता रहा, जिसके फलस्वरूप चौदहवें भव वाले स्वर्ग से चयकर मनुष्य हो तिर्यग्योनि के असंख्यात भवों में लगभग कुछ कम एक कोड़ा-कोड़ी सागरोपम काल तक परिभ्रमण करता रहा । अतः इन भवों की गणना प्रमुख भवों में नहीं की गई है । तत्पश्चात् कर्म-भार के हलके होने पर मरीचि का जीव गणनीय पन्द्रहवें भव में स्थावर नाम का ब्राह्मण हुआ । इस भव में भी तपस्वी बनकर और मिथ्या मत का प्रचार करते हुए मरण कर सोलहवें भव में माहेन्द्र स्वर्ग का देव हुआ । वहां से चय कर सत्तरहवें भव में इसी भरत क्षेत्र के मगध-देशान्तर्गत रागगृह नगर में विश्वभूति राजा की जैनी नामक स्त्री से विपुल पराक्रम का धारक विश्वनन्दी नाम का पुत्र हुआ । इसी राजा विश्वभूति का विशाखभूति नामक एक छोटा भाई था, उसकी लक्ष्मणा स्त्री से विशाखनन्दी नाम का एक मूर्ख पुत्र उत्पन्न हुआ। किसी निमित्त से विरक्त होकर राजा विश्वभूति ने अपना राज्य छोटे भाई को और युवराज पद अपने पुत्र विश्वनन्दी को देकर जिन-दीक्षा धारण कर ली ।

तदनन्तर किसी समय युवराज विश्वनन्दी नन्दन-वन के समान मनोहर अपने उद्यान में अपनी स्त्रियों के साथ क्रीड़ा कर रहा था । उसे देख कर ईर्ष्या से सन्तप्त चित्त हुए विशाखनन्दी ने अपने पिता के पास आकर कहा कि उक्त उद्यान मुझे दिया जाय, अन्यथा मैं घर छोड़कर चला जाऊंगा । पुत्र-मोह से प्रेरित होकर राजा ने उसे देने का आश्वासन दिया और एक षडयन्त्र रचकर विश्वनन्दी को एक शत्रु-राजा को जीतने के लिए बाहिर भेज दिया और वह उद्यान अपने पुत्र को दे दिया । विश्वनन्दी जब शत्रु को जीत कर वापिस आया और उक्त षडयन्त्र का उसे पता चला, तो वह आग-बबूला हो गया और विशाखनन्दी को मारने के लिये उद्यत हुआ । भय के मारे अपने प्राण बचाने के लिए विशाखनन्दी एक कैंथ के पेड़ पर चढ़ गया । विश्वनन्दी ने हिला-हिलाकर उस कैंथ के पेड़ को जड़ से उखाड़ डाला और विशाखनन्दी को मारने के लिए ज्यों ही उद्यत हुआ कि विशाखनन्दी वहां से भागा और एक पाषाण-स्तम्भ के पीछे छिप गया । विश्वनन्दी ने उसे भी उखाड़ फैंका और विशाखनन्दी अपने प्राण बचाने के लिए वहां से भी भागा। उसे भागते हुए देखकर विश्वनन्दी को करुणा के साथ विरक्ति-भाव जागृत हुआ और राज-भवन में न जाकर वन में जा सम्भूत गुरु के पास जिन-दीक्षा धारण कर ली ।

दीक्षा-ग्रहण करने के पश्चात् वे उग्र तप करते हुए विचरने लगे और विहार करते हुए किसी समय वे गोचरी के लिए नगर में ज्यों ही प्रविष्ट हुए कि एक सद्यः प्रसूता गाय ने धक्का देकर विश्वनन्दी मुनि को गिरा दिया । उन्हें गिरता हुआ देख कर अचानक सामने आये हुए विशाखनन्दी ने व्यंग-पूर्वक कहा- 'तुम्हारा वह पेड़ और खम्भे को उखाड़ फैंकने वाला पराक्रम अब कहां गया ?' उसका यह व्यंग बाण मुनि के हृदय में प्रविष्ट हो गया और निदान किया कि यदि मेरी तपस्या का कुछ फल हो- तो मैं इसे अगले भव में मारुं । तपस्या के प्रभाव से मुनि का जीव अठारहवें भव में महाशुक्र स्वर्ग में देव हुआ । आयु के पूर्ण होने पर वह वहां से आकर इसी भरत क्षेत्र में उन्नीसवें भव में त्रिपृष्ठ नाम का प्रथम नारायण हुआ और विशाखनन्दी का जीव अनेक कुयोनियों में परिभ्रमण कर अश्वग्रीव नाम का प्रथम प्रतिनारायण हुआ । पूर्व भव के वैर भाव के संस्कार से एक स्त्री का निमित्त पाकर दोनों में घमासान युद्ध हुआ और त्रिपृष्ट ने अश्वग्रीव को मारकर एक छत्र त्रिखण्ड राज्य-सुख भोगा। आयु के अन्त में मरकर बीसवें भव में त्रिपृष्ठ का जीव सातवें नरक का नारकी हुआ ।

वहां से निकल कर वह इक्कीसवें भव में सिंह हुआ और हिंसा-जनित पाप के फल से पुनः बाईसवें भव में प्रथम नरक का नारकी उत्पन्न हुआ । वहां से निकल कर तेईसवें भव में फिर भी सिंह हुआ ।

इस सिंह के भव में वह किसी दिन भूख से पीड़ित होकर एक हरिण को पकड़कर जब खा रहा था, तभी भाग्यवश दो चारण मुनि आकाश मार्ग से विहार करते हुए वहां उतरे और उसे सम्बोधन किया-हे भव्य, तूने जो त्रिपृष्ठनारायण के भव में राज्यासक्ति से घोर पाप उपार्जन किया, उसके फल से नरकों में घोर यातनाएं सही हैं और अब भी तू इस मृग जैसे दीन प्राणियों को मार-मार कर घोर पाप उपार्जन कर रहा है ? मुनिराज के वचन सुनकर सिंह को जाति-स्मरण हो गया और वह अपने पूर्व भवों को याद करके हरिण को छोड़कर आंखों से आंसू बहाते हुए निश्चल खड़ा हो गया । उन चारण मुनियों ने उसे निकट भव्य और अन्तिम तीर्थंकर होने वाला देख कर धर्म का उपदेश दिया । उनके वचनों को सिंह ने शान्ति पूर्वक सुना और प्रबुद्ध होकर उनकी तीन प्रदक्षिणा देकर उनके चरणों में अपना शिर रखकर बैठ गया । मुनिराज ने उसे पशु मारने और मांस खाने का त्याग कराया और उसके योग्य श्रावक व्रतों का उपदेश दिया । उन मुनिराजों के चले जाने पर सिंह की प्रवृत्ति एक दम बदल गई । उसने जीवों का मारना और मांस का खाना छोड़ दिया और अन्य आहार का मिलना सम्भव नहीं था, अतः वह निराहार रह कर विचरने लगा । अन्त में सन्यास-पूर्वक प्राण छोड़ कर प्रथम स्वर्ग का देव हुआ । यह भ. महावीर का गणनीय चौबीसवां भव है । तेईसवें सिंह भव तक उनका उत्तरोत्तर पतन होता गया और मुनि-समागम के पश्चात् उनके उत्थान का श्री गणेश हुआ ।

सौधर्म स्वर्ग से चयकर वह देव इस भूतल पर अवतीर्ण हुआ और पच्चीसवें भव में कनकोज्ज्वल नाम का राजा हुआ । किसी समय वह सुमेरु पर्वत की वन्दना को गया । वहां पर उसने एक मुनिराज से धर्म का उपदेश सुना और संसार से विरक्त होकर मुनि बन गया । अन्त में समाधि-पूर्वक प्राण-त्याग करके छव्वीसवें भव में लान्तव स्वर्ग का देव हुआ । वहां से चयकर सत्ताईसवें भव में इसी भरत क्षेत्र के साकेत नगर में हरिषेण नाम का राजा हुआ । राज्य

सुख भोग कर और जिन-दीक्षा ग्रहण करके अट्ठाईसवें भव में वह महाशुक्र स्वर्ग का देव हुआ । वहां से चय कर उनतीसवें भव में धातकी खण्डस्थ पूर्व दिशा-सम्बन्धी विदेह क्षेत्र के पूर्व भाग-स्थित पुण्डरीकिणी नगरी में प्रियमित्र नामका चक्रवर्ती हुआ। अन्त में जिन-दीक्षा लेकर वह तीसवें भव में सहस्रार स्वर्ग में देव हुआ । वहां से चयकर इकतीसवें भव में इसी भूमण्डल पर नन्दन नाम का राजा हुआ । इस भव में उसने प्रोष्ठिल मुनिराज के पास धर्म का स्वरूप सुना और जिन-दीक्षा धारण कर ली । तदनन्तर षोडश कारण भावनाओं का चिन्तवन करते हुए उसने तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया और जीवन के अन्त में समाधि-पूर्वक प्राण छोड़कर बत्तीसवें भव में अच्युत स्वर्ग का वह इन्द्र हुआ। बाईस सागरोपम काल तक दिव्य सुखों का अनुभव कर जीवन के समाप्त होने पर वहां से चयकर वह देव अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर के नाम से इस वसुधा पर अवतीर्ण हुआ । यह महावीर का गणनीय तेतीसवां भव है ।

इस प्रकार दिगम्बर-परम्परा के अनुसार भ. महावीर के अन्तिम ३३ भवों का वृत्तान्त मिलता है। श्वेताम्बर-परम्परा में भगवान् के २७ ही भवों का वर्णन देखने को मिलता है । उनमें प्रारम्भ के २२ भव कुछ नाम-परिवर्तनादि के साथ वे ही हैं जो कि दि परम्परा में बतलाये गये हैं । शेष भवों में से कुछ को नहीं माना है । यहां पर स्पष्ट जानकारी के लिए दोनों परम्पराओं के अनुसार भ महावीर के भव दिये जाते हैं :-

दिगम्बर–मान्यतानुसार–	श्वेताम्बर–मान्यतानुसार–
१. पुरुरवा भील	१ नयसार भिल्लराज
२ सौधर्म देव	२ सौधर्म देव
३. मरीचि	३. मरीचि
४ ब्रह्म स्वर्ग का देव	४ ब्रह्म स्वर्ग का देव
५. जटिल ब्राह्मण	५. कौशिक-ब्राह्मण
६. सौधर्म स्वर्ग का देव	६ ईशान स्वर्ग का देव
७ पुष्यमित्र ब्राह्मण	७ पुष्यमित्र ब्राह्मण
८ सौधर्म स्वर्ग का देव	८. सौधर्म देव
९ अग्निसह ब्राह्मण	९ अग्न्युद्योत ब्राह्मण
१० सनत्कुमार स्वर्ग का देव	१० ईशान स्वर्ग का देव
११ अग्निमित्र ब्राह्मण	११ अग्निभूति ब्राह्मण
१२ माहेन्द्र स्वर्ग का देव	१२ सनत्कुमार स्वर्ग का देव
१३ भारद्वाज ब्राह्मण	१३. भारद्वाज ब्राह्मण
१४ माहेन्द्र स्वर्ग का देव	१४ माहेन्द्र स्वर्ग का देव
त्रस-स्थावर योनि के असंख्यात भव	अन्य अनेक भव
१५ स्थावर ब्राह्मण	१५ स्थावर ब्राह्मण
१६ माहेन्द्र स्वर्ग का देव	१६ ब्रह्म स्वर्ग का देव
१७ विश्वनन्दी (मुनिपद में निदान)	१७. विश्वभूति (मुनिपद में निदान)
१८ महाशुक्र स्वर्ग का देव	१८ महाशुक्र स्वर्ग का देव
१९ त्रिपृष्ठ नारायण	१९ त्रिपृष्ठ नारायण
२० सातवें नरक का नारकी	२०. सातवें नरक का नारकी
२१ सिह	२१. सिंह
२२ प्रथम नरक का नारकी	२२. प्रथम नरक का नारकी
२३. सिंह (मृग भक्षण के समय	

चारण मुनि द्वारा संबोधन)	×
२४ प्रथम स्वर्ग का देव	×
२५. कनकोज्ज्वल राजा	×
२६. लान्तव स्वर्ग का देव	×
२७. हरिषेण राजा	×
२८. महाशुक्र स्वर्ग का देव	×
२९. प्रियमित्र चक्रवर्ती	२३. पोट्टिल या प्रियमित्र चक्रवर्ती
३०. सहस्रार स्वर्ग का देव	२४. महाशुक्र स्वर्ग का देव
३१. नन्द राजा (तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध)	२५. नन्दन राजा (तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध)
३२. अच्युत स्वर्ग का इन्द्र	२६. प्राणत स्वर्ग का देव
३३. भ. महावीर	२७. भ. महावीर

दोनों परम्पराओं के अनुसार भ महावीर के पूर्व भवों में छह भवों का अन्तर कैसे पड़ा ? इस प्रश्न के समाधानार्थ दोनों परम्पराओं के आगमों की छान-बीन करने पर जो निष्कर्ष निकला, वह इस प्रकार है-

भ. महावीर दोनों परम्पराओं के अनुसार बाईसवें भव में प्रथम नरक के नारकी थे । श्वे, परम्परा के अनुसार वे वहां से निकल कर पोट्टिल या प्रियमित्र चक्रवर्ती हुए । दि परम्परा के अनुसार नरक से निकल कर चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव नहीं हो सकते हैं । छक्खंडागमसुत्त की गति-आगति चूलिका में स्पष्ट रूप से कहा है -

तिसु उवरिमासु पुढवीसु णैरइया णिरयादो उवट्टिद-समाणा कदि गदीओ आगच्छति ? (सु. २१७) दुवे गदीओ आगच्छंतितिरिक्खगदिं मणुसगदिं चेव (सुं २१८) । मणुसेसु उववरण्णल्लया मणुस्सा केइमेक्कारस उप्पाएंति - केइमाभिणिबोहियणाणमुप्पाएंति, केई सुदणाणमुप्पाएंति, केईमोहिणाणमुप्पाएंति, केई मणपज्जवणाण मुप्पाएंति केई केवलणाणमुप्पाएंति, केई सम्मामिच्छत्तमुप्पाएंति, केई सम्मत्तमुप्पाएंति केई संजमासंजममुप्पाएंति, केई संजममुप्पाएंति । णो बलदेवत्तं णो वासुदेवत्तमुप्पाएंति, णो चक्कवट्टित्तमुप्पाएंति। केई तित्थयरत्तमुप्पाएंति, केइमंतयडा होदूण सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वाणयंति सव्वदुक्खाणं मंतं परिविजाणंति । (सु २२०)

इसका अर्थ इस प्रकार है - प्रश्न - ऊपर की तीन पृथिवियों के नारकी वहां से निकल कर कितनी गतियों में आते हैं ? उत्तर - दो गतियों में आते हैं- तिर्यग्गति में और मनुष्य गति में । मनुष्य गति में मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य ग्यारह पदों को उत्पन्न करते हैं- कोई आभिनिबोधिक ज्ञान उत्पन्न करते हैं, कोई श्रुतज्ञान उत्पन्न करते हैं, कोई अवधिज्ञान उत्पन्न करते हैं, कोई मन:पर्ययज्ञान उत्पन्न करते हैं, कोई केवलज्ञान उत्पन्न करते हैं, कोई सम्यग्मिथ्यात्व उत्पन्न करते हैं, कोई सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं, कोई संयमासंयम उत्पन्न करते हैं, कोई संयम उत्पन्न करते हैं । किन्तु वे जीव न बलदेवत्व को उत्पन्न करते हैं, न वासुदेवत्व को और न चक्रवर्तित्व को उत्पन्न करते हैं । कोई तीर्थङ्कर उत्पन्न होते हैं, कोई अन्तकृत् होकर सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं और सर्व दु:खों के अन्त होने का अनुभव करते हैं । (षट्खण्डागम पु. ६ पृ. ४९२)

इस आगम-प्रमाण के अनुसार नरक से निकला हुआ जीव चक्रवर्ती नहीं हो सकता है और न वासुदेव, बलदेव ही । किन्तु ये तीनों पदवी-धारी जीव स्वर्ग से ही आकर उत्पन्न होते हैं ।

अतएव दि. परम्परा के अनुसार बाईसवें भव के बाद भ. महावीर का जीव सिंह पर्याय में उत्पन्न होता है और उस भव में चारण मुनियों के द्वारा प्रबोध को प्राप्त होकर उत्तरोत्तर आत्मविकास करते हुए उनतीसवें भव में चक्रवर्ती होता है, यह कथन सर्वथा युक्ति-संगत है । किन्तु श्वे. परम्परा में प्रथम नरक से निकल कर एक दम चक्रवर्ती होने का वर्णन एक आश्चर्यकारी ही है । खास कर उस दशा में-जब कि उससे भी पूर्व भव में वह सिंह था, और उससे भी पूर्व बीसवें भव में वह सप्तम नरक का नारकी था । तब कहां से उस जीव ने चक्रवर्ती होने योग्य पुण्य का उपार्जन कर लिया ? श्वेताम्बर परम्परा में सिंह को किसी साधु-द्वारा सम्बोधे जाने का भी उल्लेख नहीं मिलता है । यदि वह

सम्बोधित कर सन्मार्ग की ओर लगाया गया होता, तो उसके नरक जाने का अवसर ही नहीं आता । श्वेत आगमों की छान-बीन करने पर भगवती सूत्र के १२ वें शतक के ९ वें उद्देश्य के अनुसार प्रथम नरक का नारकी वहां से निकल कर चक्रवर्ती हो सकता है । उसका आधार इस प्रकार है -

(प्र.) के नरदेवा ? (उ) गोयमा, जे रायाओ चाउरंतचक्कवट्टी उपण्णसम्मत्त-रयणप्पहाणा नवनिहिपइणो समिद्धकोसा बत्तीसं रायवरसहस्साणुयातमग्गा सागर-वरमेहलाहिवइणो मणुस्सिंदा से णरदेवा । (प्र.) णरदेवा णं भंते कओहिंतो उववज्जंति? किं. णेरइए. पुच्छा । (उ.) गोयमा, णेरइएहिंतो वि उववज्जंति, णो तिरि. णो मणु. देवेहिंतो वि उवज्जंति । (प्र.) जइ नेरइएहिंतो उववज्जंति, किं रयणप्पह-पुढविणेरइएहिंतो उववज्जंति, जाव अहे सत्तमपुढविणेरइएहिंतो उववज्जंति? (उ.) गोयमा, रयणप्पहापुढविणेरइएहिंतो उववज्जंति, णो सक्का जाव नो अहे सत्तम-पुढविणेरइएहिंतो उववज्जंति । (भगवतीसूत्र, भा. ३, पृ. २८९)

इसका अर्थ इस प्रकार है- प्रश्न-नर-देव कौन कहलाते हैं ? उत्तर-गौतम, जो राजा चातुरन्त-चक्रवर्ती हैं, जिन्हें चक्ररत्न प्राप्त हुआ है, जो नव निधियों के स्वामी हैं, जिनका कोष (खजाना) समृद्ध है, बत्तीस हजार राजा जिनके पीछे चलते हैं और जो समुद्ररूप उत्तम मेखला के अधिपति हैं, वे मनुष्यों के इन्द्र नर-देव कहलाते हैं । प्रश्न-भगवन्, ये नरदेव कहां से आकर उत्पन्न होते हैं ? उत्तर-गौतम, वे नर-देव नरक से भी आकर उत्पन्न होते हैं और देवगति से भी आकर के उत्पन्न होते हैं । किन्तु तिर्यग्गति और मनुष्यगति से आकर उत्पन्न नहीं होते हैं । प्रश्न- भगवन्, यदि नरक से आकर उत्पन्न होते हैं, तो क्या रत्नप्रभा पृथिवी के नारकियों से आकर उत्पन्न होते हैं, क्या शर्करा. यावत् अधस्तन सप्तम पृथिवी के नारकियों से आकर उत्पन्न होते हैं ? उत्तर-गौतम, रत्नप्रभा, पृथिवी के नारकियों से आकर उत्पन्न होते हैं, शेष नीचे की छह पृथिवियों के नारकियों से आकर उत्पन्न नहीं होते हैं ।

भगवती सूत्र के उक्त आधार पर प्रथम नरक से निकला जीव चक्रवर्ती हो सकता है, ऐसी श्वे. मान्यता भले ही प्रमाणित हो जाय, किन्तु जब नारायण, बलदेव जैसे अर्धचक्रियों की उत्पत्ति देवगति से ही बतलाई गई है, तब पूर्ण चक्रवर्ती सम्राट की उत्पत्ति नरक से निकलने वाले जीव से कैसे सम्भव है ?

ज्ञात होता है कि श्वेताम्बर परम्परा के आचार्यों ने अपने आगम की मान्यता के अनुसार ही उक्त भवों का निर्धारण किया है । यहां इतनी बात ध्यान देने के योग्य है कि षट्खण्डागम के पुस्तकारूढ़ होने के भी लगभग तीन सौ वर्ष बाद भगवती सूत्र आदि श्वे. आगम तीसरी वाचना के पश्चात् पुस्तकारुढ हुए हैं । अतः षटखण्डागम का प्राचीन होना स्वयं सिद्ध है । इस सन्दर्भ में एक बात और भी ज्ञातव्य है कि दि परम्परा भी षटखण्डागम की उक्त गति आगति चूलिका की उत्पत्ति व्याख्या-प्रज्ञप्ति अंग से ही मानती है, जबकि श्वे. परम्परा भगवती-सूत्र को व्याख्या-प्रज्ञप्ति नाम से कहती है । ऐसा प्रतीत होता है कि षट्खण्डागम-प्रस्तोता के गुरु धरसेनाचार्य के पश्चात श्रुत ज्ञान की धारा और भी क्षीण होती गई, और श्वे परम्परा में लिपिबद्ध होने तक वह बहुत कुछ विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गई । यही कारण है कि अनेक आचार्यों के स्मरणों के आधार पर श्वे आगमों का अन्तिम संस्करण सम्पन्न हुआ। अतः कितने ही स्थल त्रुटित रह गये हैं ।

प्रस्तुत काव्य में भ. महावीर के पूर्व भवों का वर्णन बहुत ही सुन्दर ढंग से ग्यारहवें सर्ग में किया गया है । जहां तक मेरा अनुमान है कि यह पूर्व भवों का वर्णन गुणभद्राचार्य-रचित उत्तरपुराण के आधार पर किया गया है । इसके परवर्ती सभी दि. ग्रन्थों में उसी का अनुसरण दृष्टिगोचर होता है ।

सिद्धान्त ग्रन्थों में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का उत्कृष्ट काल छयासठ सागरोपम बतालाया गया है। सिंह के जिस भव में चारण मुनियों ने उसे संबोधन करके सम्यक्त्व को ग्रहण कराया, वह बराबर अन्तिम महावीर के भव तक बना रहा । अर्थात् लगातार १० भव तक रहा और इस प्रकार क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति पूरी करके वह क्षायिक सम्यक्त्व रूप से परिणत हो उसी भव से उन्हें मुक्ति-प्राप्ति का कारण बना ।

पूर्व भवों के इस वर्णन से यह सहज ही ज्ञात हो जाता है कि आध्यात्मिक विकास की पराकाष्ठा पर पहुँचना किसी एक ही भव की साधना का परिणाम नहीं है किन्तु उसके लिए लगातार अनेक भवों में साधना करनी पड़ती है ।

भ. महावीर के जन्म समय भारत की स्थिति

भ. महावीर के जन्म से पूर्व अर्थात् आज से अढ़ाई हजार वर्ष के पहिले भारत वर्ष की धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति कैसी थी, इसका कुछ दिग्दर्शन प्रस्तुत काव्य के प्रथम सर्ग के उत्तरार्ध में किया गया है। उस समय ब्राह्मणों का बोल बाला था, सारी धार्मिक सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की बागडोर उन्हीं के हाथों में थी। उस समय उन्होंने यह प्रसिद्ध कर रखा था कि 'यज्ञार्थमेते पशवो हि सृष्टाः[1]' और 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति[2]' अर्थात् ये सभी पशु यज्ञ के लिए ब्रह्मा ने रचे हैं, और वेद-विधान से की गई हिंसा हिंसा नहीं है, अपितु स्वर्ग-प्राप्ति का कारण होने से पुण्य है। उनकी इस उक्ति का लोगों पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा, कि लोग यज्ञों में केवल बकरों का ही होम नहीं करते थे, वरन भैंसा, घोड़ा और गाय तक का होम करने लगे थे। यही कारण है कि वेदों में अश्वमेध, गोमेध आदि नामवाले यज्ञों का विधान आज भी देखने में आता है। धर्म के नाम पर यह हिंसा का ताण्डवनृत्य अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया था, जिसके फलस्वरूप नरमेध यज्ञ तक होने लगे थे-जिनमें कि रूप-यौवन-सम्पन्न मनुष्यों तक को यज्ञाग्नि की आहुति बना दिया जाता था। इस विषय के उल्लेख अनेकों ग्रन्थों में पाये जाते हैं[3]। गीतारहस्य जैसे ग्रन्थ के लेखक लोक-मान्य बालगङ्गाधर तिलक ने अपने एक भाषण में कहा था कि "पूर्वकाल में यज्ञ के लिये असंख्य पशु-हिंसा होती थी, इसके प्रमाण मेघदूत काव्य आदि अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं।"

भ. महावीर ने इस हिंसा को दूर करने के लिए महान् प्रयत्न किया और उसी का यह सुफल है कि भारतवर्ष से याज्ञिकी हिंसा सदा के लिए बन्द हो गई। स्वयं लोक-मान्य तिलक ने स्वीकार किया है कि 'इस घोर हिंसा का ब्राह्मण धर्म से विदाई ले जाने का श्रेय जैन धर्म के ही हिस्से में है। प्रस्तुत काव्य में इस विषय पर उत्तम प्रकाश डाला गया है, जिसे पाठक इसका स्वाध्याय करने पर स्वयं ही अनुभव करेंगे[4]।

भ महावीर के पूर्व सारे भारत की सामाजिक स्थिति अत्यन्त दयनीय हो रही थी। ब्राह्मण सारी समाज में सर्वश्रेष्ठ समझा जाता था। उसके लिए ब्राह्मण-ग्रन्थों में कहा गया था 'कि दुःशील ब्राह्मण भी पूज्य है और जितेन्द्रिय शूद्र भी पूज्य नहीं है[5]। ब्राह्मण विद्वान् हो, या मूर्ख, वह महान् देवता है[6]। और सर्वथा पूज्य है[7]। तथा श्रोत्रिय ब्राह्मण के लिये यहां तक विधान किया गया कि श्राद्ध के समय उसके लिए महान् बैल को भी मार कर उसका मांस श्रोत्रिय ब्राह्मण को खिलावें[8]। इसके विपरीत भ. महावीर ने वर्णाश्रम और जातिवाद के विरुद्ध अपनी देशना दी और कहा- मांस को खाने वाला ब्राह्मण निन्द्य है और सदाचारी शूद्र वन्द्य है[9]।

---

१ यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयम्भुवा।
यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद् यज्ञे वधोऽवधः॥
यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृग-पक्षिणः।

२ या वेदविहिता हिंसा नियताऽस्मिंश्चराचरे।
अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ॥ (मनुस्मृति ५।२२-३९-४४)

३. देखो-यशस्तिलकचम्पू, पूवार्ध।

४. देखो-सर्ग १६ आदि।

५. दुःशीलोऽपि द्विजः पूज्यो न शूद्रो विजितेन्द्रियः। पाराशर स्मृति ८।३२।

६. अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत्। मनुस्मृति ९।३१७।

७. एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत्॥ मनुस्मृति।९।३१९।

८. महोक्षं वा महोक्षं वा श्रोत्रियाय प्रकल्पयेत्।

९. विप्रोऽपि चेन्मांसभुगस्ति निद्यः, सद्-वृत्तभावाद् वृषलोऽपि वन्द्यः। वीरोदय १७।१७

उस समय ब्राह्मणों ने यहां तक कानून बना दिये थे कि 'शूद्र को ज्ञान नहीं देना चाहिए, न यज्ञ का उच्छिष्ट और हवन से बचा हुआ भाग, और न उसे धर्म का उपदेश ही देना चाहिए । यदि कोई शूद्र को धर्मोपदेश और व्रत का आदेश देता है, तो वह शूद्र के साथ असंवृत नामक अन्धकारमय नरक में जाता है'[1] ।

शूद्रों के लिए वेदादि धर्म ग्रन्थों के पढ़ने का अधिकार तो था ही नहीं, प्रत्युत यहां तक व्यवस्था का विधान ब्राह्मणों ने कर रखा था कि जिस गांव में शूद्र निवास करता हो, वहां वेद का पाठ भी न किया जावे । यदि वेद-ध्वनि शूद्र के कानों में पड़ जाय, तो उसके कानों में गर्म शीशा और लाख भर दी जाय, वेद वाक्य का उच्चारण करने पर उसकी जिह्वा का छेद कर दिया जाय और वेद-मंत्र याद कर लेने पर उसके शरीर के दो टुकड़े कर दिये जावें[2]। उस समय शूद्रों को नीच, अधम एवं अस्पृश्य समझ कर उनकी छाया तक से परहेज किया जाता था । आचार के स्थान पर जातीय श्रेष्ठता का ही बोल-बाला था । पग-पग पर रुढ़ियां, कुप्रथाएं और कुरीतियों का बाहुल्य था । स्वार्थ-लोलुपता, कामुकता और विलासिता ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होती थी । यज्ञों में होने वाली पशु-हिंसा ने मनुष्यों के हृदय निर्दयी और कठोर बना दिये थे ।

बौद्धों के 'चित्तसम्भूत जातक' में लिखा है कि एक समय ब्राह्मण और वैश्य कुलीन दो स्त्रियां नगर के एक महाद्वार से निकल रही थी, मार्ग में उन्हें दो चाण्डाल मिले । चाण्डालों के देखने को उन्होंने अपशकुन समझा । अतः घर के लोगों से उन चाण्डालों को खूब पिटवाया और उनकी दुर्गति कराई । मातंग जातक और सद्धर्म जातक बौद्ध ग्रन्थों से भी अछूतों के प्रति किये जाने वाले घृणित व्यवहार का पता चलता है ।

ब्राह्मणों ने जाति व्यवस्था को जन्म के आधार पर प्रतिष्ठित कर रखा था, अतएव वे अपने को सर्वश्रेष्ठ मानते थे । भरत चक्रवर्ती ने जब ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की तब उनकी धार्मिक प्रवृत्तियों को देखकर ही उन्हें उत्तम कहा था । किन्तु धीरे-धीरे उनकी गुण-कृत महत्ता ने जाति या जन्म का स्थान ले लिया और उन्होंने अपने को धर्म का अधिकारी ही नहीं, अपितु ठेकेदार तक होने की घोषणा कर दी थी । इस प्रकार की उस समय धार्मिक व्यवस्था थी।

आर्थिक व्यवस्था की दृष्टि से उस समय का समाज साधारणतः सुखी था, किन्तु दासी-दास की बड़ी ही भयानक प्रथा प्रचलित थी । कभी-कभी तो दास-दासियों पर अमानुषिक घोर अत्याचार होते थे । विजेता राजा विजित राज्य के स्त्री-पुरुषों को बन्दी बनाकर अपने राज्य में ले आता था और उनमें से अधिकांशों को चौराहों पर खड़ा करके नीलाम कर दिया जाता था । अधिक बोली लगाने वाला उन्हें अपने घर ले जाता और वस्त्र-भोजन देकर रात-दिन उनसे घरेलू कार्यों को कराया करता था। दासी-दास की यह प्रथा अभी-अभी तक रजवाड़ों में चलती रही है ।

इस प्रकार की धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक विषम परिस्थितियों के समय भ. महावीर ने जन्म लिया । बालकाल के व्यतीत होते ही उन्होंने अपनी दृष्टि चारों ओर दौड़ाई और तात्कालिक समाज का अच्छी तरह अध्ययन करके इस निर्णय पर पहुँचे कि मैं अपना जीवन लोगों के उद्धार में ही लगाऊंगा और उन्हें उनके महान कष्टों से विमुक्त करुंगा। फलस्वरूप उन्होंने विवाह करने और राज्य सम्भालने से इनकार कर दिया और स्वयं प्रव्रजित होकर एक लम्बे समय तक कठोर साधना की । पुनः कैवल्य-प्राप्ति के पश्चात् अपने लक्ष्यानुसार जीवन-पर्यन्त उन्होंने जगत् को सुमार्ग दिखाकर

---

१ न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम् ।
न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत् ॥
यश्चास्योपदिशेद्धर्मं यश्चास्य व्रतमादिशेत् ।
सोऽसंवृत तमो घोरं सह तेन प्रपद्यते ॥ (वशिष्ठ स्मृति १८।१२-१३)

२ अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपु-जतुभ्यां श्रोत्र-प्रतिपूरण मुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीर-भेदः ।

टीका-अथ हेति वाक्यालङ्कारे । उपश्रुत्य बुद्धिपूर्वकमक्षरग्रहणमुपश्रवणम् । अस्य शूद्रस्य वेमुपशृण्वतस्त्रपु-जतुभ्यां त्रपुणा (शीसकेन) जतुना च द्रवीकृतेन श्रोत्रे प्रतिपूरयितव्ये । स चेद् द्विजातिभिः सह वेदाक्षराण्युदाहरेदुच्चरेत्, तस्य जिह्वा छेद्या। धारणे सति यदाऽन्यत्र गतोऽपि स्वयमुच्चारयितुं शक्नोति, ततः परश्वादिना शरीरमस्य भेद्यम् ।

(गौतम धर्म सूत्र अ ३, सू ४ टीका पृ ८९-९० पूना संस्करण, वर्ष १९३१)

उसका कल्याण किया, दु:ख-संत्रस्त जीवों का दु:खों से विमोचन किया और स्वर्ग-मुक्ति का मार्ग दिखाकर उसकी ओर उन्हें अग्रसर किया ।

प्रस्तुत काव्य में भ. महावीर के मुख्य उपदेशों को चार भागों में विभाजित किया गया है -१ साम्यवाद, २ अहिंसावाद, ३. स्याद्वाद और सर्वज्ञतावाद । इन चारों ही वादों का ग्रन्थकार ने बहुत ही सरल और सयुक्तिक रीति से ग्रन्थ के अन्तिम अध्यायों में वर्णन किया है, जिसे पढ़कर पाठकगण भगवान् महावीर की सर्वहितकारिणी देशना से परिचित होकर अपूर्व आनन्द का अनुभव करेंगे ।

भ. महावीर ने 'कर्मवाद' सिद्धान्त का भी बहुत विशद उपदेश दिया था, जिसका प्रस्तुत काव्य में यथास्थान 'स्वकर्मतोऽङ्गी परिपाकभर्ता' (सर्ग १६ श्लो. १०) आदि के रूप में वर्णन किया ही गया है ।

भ. महावीर का गर्भ-कल्याणक

जैन मान्यता है कि जब किसी भी तीर्थंकर का जन्म होता है, तब उसके गर्भ में आने के छह मास पूर्व ही इन्द्र की आज्ञा से कुबेर आकर जिस नगरी में जन्म होने वाला है, उसे सुन्दर और सुव्यवस्थित बनाता है और श्री ह्री आदि ५६ कुमारिका देवियां आकर होने वाले भगवान् की माता की सेवा करती हैं । उनमें से कितनी ही देवियां माता के गर्भ का शोधन करती हैं, जिसका अभिप्राय यह है कि जिस कुक्षि में एक महापुरुष जन्म लेने वाला है, उस कुक्षि में यदि कोई रोग आदि होगा, तो उत्पन्न होने वाले पुत्र पर उसका प्रभाव अवश्य पड़ेगा । आज की भाषा में ऐसी देवियों को लेडी डाक्टर्स या नर्सेज कह सकते हैं । यत बाहिरी वातावरण का गर्भस्थ शिशु पर प्रभाव पड़ता है, अत: वे कुमारिका देवियां भगवान् के जन्म होने तक माता के चारों ओर का वातावरण ऐसा सुन्दर और नयन-मन-हारी बनाती हैं कि जिससे किसी भी प्रकार का क्षोभ या संक्लेश माता के मन में उत्पन्न न होने पावे । इसी सब सावधानी का यह सुफल होता है कि उस माता के गर्भ से उत्पन्न होने वाला बालक अतुल बली, तीन ज्ञान का धारक और महा प्रतिभाशाली होता है ।

साधारणत यह नियम है कि किसी भी महापुरुष के जन्म लेने के पूर्व उसकी माता को कुछ विशिष्ट स्वप्न आते हैं, जो कि किसी महापुरुष के जन्म लेने की सूचना देते हैं । स्वप्न शास्त्रों में ३० विशिष्ट स्वप्न माने गये हैं । जैन शास्त्रों के उल्लेखानुसार तीर्थङ्कर की माता उनमें से १६, चक्रवर्ती की माता १४, वासुदेव की माता ७ और बलदेव की माता ४ स्वप्न देखती हैं । यहां यह ज्ञातव्य है कि श्वे. परम्परा में तीर्थङ्कर की माता के १४ ही स्वप्न देखने का उल्लेख मिलता है[१] ।

दोनों परम्पराओं के अनुसार स्वप्नावली इस प्रकार है-

दिगम्बर परम्परा	श्वेताम्बर परम्परा
१ गज	१ गज
२ वृषभ	२. वृषभ
३ सिंह	३. सिंह
४. लक्ष्मी	४. श्री अभिषेक
५. माल्यद्विक	५. दाम (माला)

---

१. सुमिणसत्थे वायालीसं सुमिणा, तीसं महासुमिणा, बावत्तरि सव्वसुमिणा दिट्ठा । तत्थ णं देवाणुप्पिया, अरहंतमायरो वा चक्कवट्टिमायरो वा × × × चउदस महासुमिणे पासित्ता णं पडिबुज्झंति । × × × वासुदेवमायरो वा महासुमिणाणं अण्णयरे सत्त महासुमिणे । बलदेवमायरो वा महासुमिणाणं अण्णयरे चत्तारि ।

(भगवती सूत्र शतक १६, उद्देश ६ सूत्र ५८१)

६. शशि	६. शशि
७. सूर्य	७. दिनकर
८ कुम्भद्विक	८ कुम्भ
९. झषयुगल	९ झय (ध्वजा)
१०. सागर	१०. सागर
११ सरोवर	११ पद्मसर
१२. सिंहसन	-
१३. देव-विमान	१२ विमान
१४. नाग-विमान	१३. -
१५. रत्न-राशि	१३. रत्न-उच्चय
१६. निर्धूम अग्नि	शिखि (अग्नि)

दोनों परम्पराओं में तेरह स्वप्न तो एकसे ही हैं। किन्तु दि. परम्परा में जहां झष (मीन) का उल्लेख है, वहां श्वे परम्परा में झय (ध्वज) का उल्लेख है। ज्ञात होता है कि किसी समय प्राकृत के 'झस' के स्थान पर 'झय' या झय के स्थान पर झस पाठ के मिलने से यह मत भेद हो गया। इन चौदह स्वप्नों के अतिरिक्त दि परम्परा ये २ स्वप्न और अधिक माने जाते हैं, उनमें एक हैं सिंहासन और दूसरा है भवनवासी देवों का नाग-मन्दिर या नाग-विमान।

श्वे परम्परा के भगवती सूत्र आदि में माता के चौदह स्वप्नों का स्पष्ट उल्लेख होने से उंनके यहां १४ स्वप्नों की मान्यता स्वीकार की गई। पर आश्चर्य तो यह है कि उन चौदह स्वप्नों के लिए 'तंजहा'- कह कर जो गाथा दी गई है, उसमें १५ स्वप्नों का स्पष्ट निर्देश है। वह गाथा इस प्रकार है-

गय[१]-वसह[२]-सीह[३]-अभिसेय[४]-दाम[५]-ससि[६]-दिणयरं[७] झयं[८] कुम्भं[९]।

पउमसर[१०]-सागर[११]-विमाण[१२]-भवण[१३]-रयणुच्चय[१४]-सिहिं च[१५]॥

इस गाथोक्त स्वप्नों के ऊपर दिये गये अंकों से स्वप्नों की संख्या १५ सिद्ध होती है। विमलसूरि के पउमचरिउ में दी गई गाथा में भी स्वप्नों की संख्या १५ ही प्रमाणित होती है। वह गाथा इस प्रकार है -

वसह[१] गय[२] सीह[३] वरसिरि[४] दामं[५] ससि[६] रवि[७] झय[८] च कलसं च[९]। सर[१०] सायरं[११] विमाणं[१२] वरभवणं[१३] रयण[१४] कूडग्गी[१५]॥

(पउमचरिउ, तृव्उद्देश, गा ६२)

समझ में नहीं आता कि जब दोनों ही गाथाओं में 'भवन' या 'वर भवन' का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है, तब श्वे आचार्यों ने उसे क्यों छोड़ दिया। ऐसा प्रतीत होता है, कि भगवती सूत्र आदि में १४ स्वप्नों के देखने का स्पष्ट विधान ही इसका प्रमुख कारण रहा है।*

मेरे विचार से दि परम्परा में १६ स्वप्न-सूचक गाथा इस प्रकार रही होगी-

---

* श्वे शास्त्रों के विशिष्ट अभ्यासी श्री प शोभाचन्द्र जी भारिल्ल से ज्ञात हुआ है कि गाथा-पठित १५ स्वप्नो में से तीर्थंकर की माता केवल १४ ही स्वप्न देखती है। स्वर्ग से आने वाले तीर्थंकर की माता को देव-विमान स्वप्न में दिखता है, नाग-भवन नहीं। इसी प्रकार नरक से आने वाले तीर्थंकर की माता को स्वप्न में नाग-भवन दिखता है, देव-विमान नहीं। उक्त दोनों का समुच्चय उक्त गाथा में किया गया है। पर दि. परम्परानुसार देव-विमान ऊर्ध्व लोक के अधिपतित्व का, सिंहासन मध्यलोक के स्वामित्व का और नाग-विमान या भवन अधोलोक के आधिपत्य का सूचक है। जिसका अभिप्राय है कि गर्भ में आने वाला जीव तीनों लोकों के अधिपतियों द्वारा पूज्य होगा।

- सम्पादक

वसह[१] गय[२] सीह[३] वरसिरि[४] दामं[५] ससि[६] रवि[७] झयं[८] च कुम्भजुगं[९] । सर[१०] सागर[११] विमाणं[१२] भवण[१३] रयण[१४] कुढग्गी[१५] ॥

गाथा के पदों पर दिये गये अंको के अनुसार तीर्थंकर की माता को दीखने वाले स्वप्नों की संख्या १६ सिद्ध हो जाती है ।

चक्रवर्ती से तीर्थंकर का पद दोनों ही सम्प्रदायों में बहुत उच्च माना गया है, ऐसी स्थिति में चक्रवर्ती के गर्भागम-काल में दिखाई देने वाले १४ स्वप्नों से तीर्थंकर की माता को दीखने वाले स्वप्नों की संख्या अधिक होनी ही चाहिए। जैसे कि बलदेव की माता को दिखने वाले ४ स्वप्नों की अपेक्षा वासुदेव की माता को ७ स्वप्न दिखाई देते हैं ।

दि. मान्यतानुसार सिद्धार्थ राजा की रानी त्रिशला देवी ने ही १६ स्वप्न देखे और भ. महावीर उनके ही गर्भ में आये । छप्पन कुमारिका देवियों ने त्रिशला की ही सेवा की । इन्द्रादिक ने भी भगवान् का गर्भावतरण जानकर सिद्धार्थ और त्रिशला की ही पूजा की । इन्हीं के घर पर पन्द्रह मास तक रत्न-सुवर्णादिक की वर्षा हुई । किन्तु श्वे. मान्यता है कि भ महावीर ब्राह्मण-कुण्ड नामक ग्राम के कोडाल गोत्रीय ऋषभदत्त ब्राह्मण की जालंधर गोत्रीया पत्नी देवानन्दा की कुक्षि में अवतरित हुए । वे जिस रात्रि को गर्भ में आये, उसी रात्रि के अन्तिम पहर में देवानन्दा ने चौदह स्वप्न देखे । उसने वे स्वप्न अपने पति से कहे । उसके पति ने स्वप्नों का फल कहा-

"हे देवानुप्रिये, तुमने उदार, कल्याण-रूप, शिव-रूप मंगलमय और शोभा-युक्त स्वप्नों को देखा है । ये स्वप्न आरोग्य-दायक, कल्याणकर और मंगलकारी हैं । तुम्हें लक्ष्मी का, भोग का, पुत्र का और सुख का लाभ होगा । ९ मास और ७॥ दिवस-रात्रि बीतने पर तुम पुत्र को जन्म दोगी ।"

देवानन्दा के गर्भ बढ़ने लगा और ८२ दिन तक भ. महावीर भी उसी के गर्भ में वृद्धिंगत हुए। तब अचानक इन्द्र के मन में विचार आया कि तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि शलाका पुरुष शूद्र, अधम, तुच्छ, अल्प, निर्धन, कृपण भिक्षुक या ब्राह्मण कुल में जन्म नहीं लेते, वरन् राजन्य कुल में, ज्ञातृ वंश में, क्षत्रिय वंश में, इक्ष्वाकु वंश में और हरिवंश में ही जन्म लेते हैं । अतः उसने हिरणेगमेसी देव को गर्भ-परिवर्तन की आज्ञा दी और कहा कि 'तुम इसी समय भरत क्षेत्र के ब्राह्म-कुण्ड ग्राम में जाओ और वहां देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में से भावी तीर्थङ्कर महावीर के जीव को निकाल कर क्षत्रिय-कुण्ड के राजवंशी क्षत्रियाणी त्रिशला के गर्भ में जाकर रख दो । तथा त्रिशला के गर्भ में जो लड़की है, उसे वहां से निकाल कर देवानन्दा के गर्भ में ले जाकर रख दो । इन्द्र की आज्ञानुसार हिरणेगमेसी देव ने देवानन्दा के गर्भ से भ महावीर को निकालकर त्रिशलादेवी के गर्भ में रख दिया और उसके गर्भ से कन्या को निकाल कर देवानन्दा के गर्भ में रख दिया । जिस रात्रि को यह गर्भापहरण किया गया और भ महावीर त्रिशला के गर्भ में पहुँचे, उसी आसोज कृष्णा १३ की रात्रि के अन्तिम पहर में त्रिशला ने १४ स्वप्न देखे । प्रातःकाल उसने जाकर अपने पति सिद्धार्त राजा से सब स्वप्न कहे । उन्होंने स्वप्न-शास्त्र के कुशल विद्वानों को बुलाकर उन स्वप्नों का फल पूछा और स्वप्न शास्त्र-वेत्ताओं ने कहा कि इन महा स्वप्नों के फल से तुम्हारे तीन लोक का स्वामी और धर्म-तीर्थ का प्रवर्तक तीर्थङ्कर पुत्र जन्म लेगा* ।

इस गर्भापहरण पर अनेक प्रश्न उठते हैं, जिनका कोई समुचित समाधान प्राप्त नहीं होता है । प्रथम तो यह बात बड़ी अटपटी लगती है कि पहिले देवानन्दा ब्राह्मणी उन्हीं स्वप्नों को देखती है, और उनका फल उसे बताया जाता है, कि तेरे एक भाग्यशाली पुत्र होगा । पीछे ८२ दिन के बाद त्रिशला उन्हीं स्वप्नों को देखती है । स्वप्नशास्त्र-वेत्ता जिन स्वप्नों का फल अवश्यम्भावी और उत्तम बतलाते हैं, वह देवानन्दा को कहां प्राप्त हुआ ? दूसरे ८२ दिन तक इन्द्र कहां सोता रहा ? जो बात उसे इतने दिनों के बाद याद आई, वह गर्भावतरण के समय ही क्यों याद नहीं आई ?

तीसरे यह बात भी अटपटी लगती है कि गर्भकल्याणक कहीं अन्यत्र हो और जन्मकल्याणक कहीं अन्यत्र हो। गर्भकल्याणक के समय ऋषभदत्त ब्राह्मण और देवानन्दा ब्राह्मणी की पूजा इन्द्रादिक करें और जन्म कल्याणक के समय वे ही सिद्धार्थ और त्रिशला रानी की पूजा करें ।

---

* समवायांग सूत्र, भगवती सूत्र और कल्पसूत्र के आधार पर । —सम्पादक

चौथे यह बात विचारणीय है कि गर्भ-शोधनादि किसी और का किया जाय और भगवान् का जन्म किसी और के गर्भ से होवे ।

पांचवें-कुबेर-द्वारा रत्न-सुवर्ण की वृष्टि प्रारम्भ में ८ मास २२ दिन तक किसी और के घर पर हो, पीछे ६ मास और ८ दिन किसी और के यहां हो, तथा छप्पन कुमारिका देवियां भी इसी प्रकार प्रारम्भ में किसी और की सेवा करें और पीछे किसी और की ।

इन सभी बातों से भी अधिक अनुचित बात तो यह है कि भले ही ब्राह्मण के याचक कुल से गर्भापहरण करके क्षत्रियाणी के गर्भ में भ. महावीर को रख दिया गया हो, पर वस्तुतः उनके शरीर का निर्माण तो ब्राह्मण-ब्राह्मणी के रज और वीर्य से ही प्रारम्भ हुआ कहलायगा । यह बात तो तीर्थङ्कर जैसे महापुरुष के लिए अत्यन्त ही अपमानजनक है ।

इस सन्दर्भ में एक बात खास तौर से विचारणीय है कि जब तीर्थङ्करों के गर्भादि पांचों ही कल्याणकों में देव-देवेन्द्रादिकों के आसन कम्पायमान होते हैं और दि. श्वे. दोनों ही परम्पराओं के अनुसार वे अपना-अपना नियोग पूरा करने आते हैं, तब दि परम्परा में एक स्वरूप से स्वीकृत कुमारिका देवियों के गर्भावतरण से पूर्व ही आने के नियोग का श्वे परम्परा में क्यों उल्लेख नहीं मिलता है ? यदि श्वे. परम्परा की ओर से कहा जाय कि उन कुमारिका देवियों का कार्य जन्मकालीन क्रियाओं को करना मात्र है, तो यह उत्तर कोई महत्त्व नहीं रखता, क्योंकि भगवान् के जन्म होने से पूर्व अर्थात् गर्भकाल में आकर माता की नौ मास तक सेवा करना और उनके चारों ओर के वातावरण को आनन्दमय बनाना अधिक महत्त्व रखता है और यही कारण है कि दि. परम्परा में उन देवियों का कार्य गर्भागम के पूर्व से लेकर जन्म होने तक बतलाया गया है । इस विषय में गहराई से विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि यतः श्वे परम्परा में जब भगवान् महावीर का पहिले देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में आने और पीछे गर्भापहरण करा के त्रिशला देवी के गर्भ में पहुँचाने की मान्यता स्वीकार कर ली गई, तो उससे कुमारिका देवियों के गर्भागम-समय में आने की बात असंगत हो जाती है कि पहिले वे देवानन्दा की सेवा-टहल करें और पीछे त्रिशला देवी की सेवा को जावें । अतः यही उचित समझा गया कि उन कुमारिका देवियों के गर्भ-कल्याणक के समय आने का उल्लेख ही न किया जाय । जिससे कि उक्त प्रकार की कोई विसंगति नहीं रहने पावे ।

ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय ब्राह्मणों का प्रभाव बहुत अधिक था और जैनों के साथ उनका भंयकर संघर्ष चल रहा था । अतएव ब्राह्मणों को नीचा दिखाने के लिए यह गर्भापहरण की कथा कल्पित की गई है । यद्यपि आज का शल्य-चिकित्सा विज्ञान गर्भपरिवर्तन के कार्य प्रत्यक्ष करता हुआ दिखाई दे रहा है, तथापि तीर्थङ्कर जैसे महापुरुष का किसी अन्य स्त्री के गर्भ में आना और किसी अन्य स्त्री के उदर से जन्म लेना एक अपमान-जनक एवं अशोभनीय ही है ।

भ. महावीर का जन्म

भ. महावीर का जन्म ईसवी सन् से ५९९ वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के अपराह्न में हुआ । उस समय उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के साथ चन्द्र का योग था, एवं शेष ग्रहों की उच्चता कल्पसूत्र की टीका के अनुसार इस प्रकार थी-

मेषे सूर्य १० । वृषे सोमः ३ । मृगे मंगलः २८ । कन्यायां बुधः १५ । कर्के गुरुः ५ । मीने शुक्रः २७ । तुलायां शनिः २०।

तदनुसार भ. महावीर की जन्मकुण्डली यह है-

भ महावीर का जन्म होते ही सौधर्मेन्द्र का आसन कम्पायमान हुआ । शेष कल्पवासी देवों के यहाँ घंटा बजने लगे, ज्योतिषी देवों के यहां सिंहनाद होने लगा । भवनवासी देवों के यहां शंख-नाद और व्यन्तरों के यहां भेरी-निनाद होने लगा । सभी ने उक्त चिन्हों से जाना कि भगवान् का जन्म हो गया है, अतः वे सब अपने-अपने परिवार के साथ कुण्डलपुर पहुँचे । इन्द्राणी ने प्रसूति-गृह में जाकर माता की तीन प्रदक्षिणा की और उन्हें नमस्कार कर तथा अवस्वापिनी निद्रा से सुला कर और एक मायामयी बालक को उनके समीप रख कर भगवान् को उठा लाई और इन्द्र को सौंप दिया । वह सर्व देवों के साथ सुमेरु पर्वत पर पहुँचा और ज्यों ही १००८ कलशों से स्नान कराने को उद्यत हुआ कि उसके मन में यह शंका उठी- 'यह बालक इतने जल का प्रवाह कैसे सहन कर करेगा'' ? भगवान् ने अवधि ज्ञान से इन्द्र के मन की शंका जान ली और उसके निवारणार्थ अपने बायें पांव के अंगूठे से मेरु-पर्वत को जरा सा दबाया कि सारा मेरु पर्वत हिल उठा[२] । इन्द्र को इसका कारण अवधि ज्ञान से ज्ञात हुआ कि मेरे मन की शंका को दूर करने के लिए ही भगवान् ने पांव के अंगूठे से इसे दबाया है, तब उसे भगवान् के अतुल पराक्रमी होने का भान हुआ और उसने मन ही मन भगवान् से क्षमा मांगी[३] ।
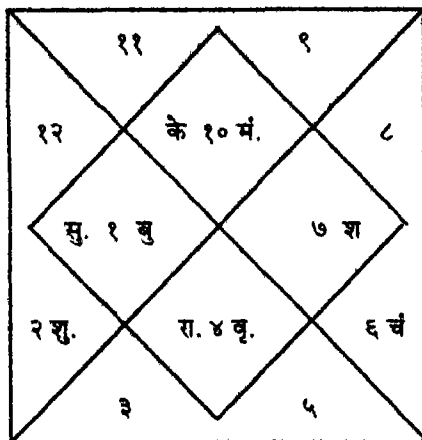
---

१. पादाङ्गुष्ठेन यो मेरुमनायासेन कम्पयन् ।
लेभे नाम महावीर इति नाकालयाधिपात् ॥ (पद्मपुराण, पर्व २ श्लो १)

२. लहुअसरीरत्तणओ कहेस तित्थेसरो जलुप्पीलं ।
सहिही सुरसत्थेणं समकालमहो खिविज्जंते ॥१॥
इय एवं कयसंकं ओहीए जिणवरो णाउं ।
चालइ मेरुं चलणंगुलीए बल-दंसणट्ठाए ॥३॥ (महावीर-चरिउ, पत्र १२०)

३. तओ दिव्वनाण-मुणिय जिणबलण-चंपणुक्कंपिय मेरुवइयरो तक्खणं संहरियकोवुग्गमो निदियनियकुवियप्पो खामिऊण बहुप्पयारं जिणेसरं भगवंते... ...भणिउमाढत्तो । (महावीर-चरिउ, पत्र १२१)

इस सन्दर्भ में कुछ बातें उल्लेखनीय है- जिस प्रकार दि.

परम्परा में तीर्थंकर के गर्भ में आने के भी छह मास पूर्व से नगरी की रचना, रत्न-सुवर्ण की वर्षा और छप्पन कुमारिका देवियों का आकर भगवान् भी माता की सेवा आदि का विधान पाया जाता है[1], वैसा श्वे. परम्परा में नहीं मिलता। उनसे शास्त्रों के अनुसार उक्त सर्व कार्य तीर्थङ्कर के जन्म लेने पर ही प्रारम्भ होते हैं[2] उसके पूर्व नहीं।

दि. परम्परा के अनुसार तीर्थङ्कर की माता को दिखाई देने वाले स्वप्नों का फल तीर्थङ्कर के पिता ही उसे बतलाते हैं[3], किन्तु श्वे. परम्परा में दो मत पाये जाते हैं-कल्प सूत्र के अनुसार तो स्वप्नों का फल स्वप्नशास्त्र के वेत्ता ज्योतिषी लोग कहते हैं[4]। किन्तु हेमचन्द्राचार्य के मतानुसार इन्द्र आकर उनका फल कहते हैं[5]।

इसी प्रकार एक बात और भी ज्ञातव्य है कि दि. परम्परा के अनुसार सौधर्मेन्द्र ऐरावत हाथी पर चढ़ कर तीर्थङ्करों के जन्माभिषेक के समय आता है[6]। किन्तु श्वे. परम्परा के अनुसार वह पालक विमान पर बैठ कर आता है[7]।

इस सन्दर्भ में एक बात और भी ज्ञातव्य है कि दि परम्परा के अनुसार सौधर्मेन्द्र की इन्दराणी ही प्रसुति स्थान में जाकर और मायामयी बालक को रखकर भगवान् को बाहिर लाती है और अपने पति इन्द्र को सौंपती है[8]। किन्तु

---

१ सुराः ससंभ्रमाः सद्यः पाकशासन-शासनात्। तां पुरी परमानन्दाद व्यधुः सुर-पुरीमिव ॥७०॥
विश्वदृश्वैतयोः पुत्रो जनितेति शतक्रतुः। तयोःपूजां व्यधत्तोच्चैरभिषेकपुरस्सरम् ॥८३॥
षड्भिर्मासैरथैतस्मिन् स्वर्गादवतरिष्यति। रत्नवृष्टिं दिवो देवाः पातयामासुरदरात् ॥८४॥
षण्मासानिति सामसत् पुण्ये नाभिनृपालये। स्वर्गावतरणाद् भर्तुः प्राक्तरा द्युम्नसन्ततिः ॥९६॥
पश्चाच्च नवमासेषु वसुधारा तदा मता। अहो महान् प्रभावोऽस्य तीर्थकृत्त्वस्य भाविनः ॥९७॥
तदा प्रभृति सुत्रामशासनात्ताः सिषेविरे। दिक्कुमार्योऽनुचारिण्यस्तत्कालोचितकर्मभिः ॥१६३॥
(महापुराण, पर्व १२)

२ अथाऽधोलोक-वासिन्यः सद्यः प्रचलितासनाः। दिक्कुमार्यः समाजग्मुरष्टौ तत्सूतिवेश्मनि ॥२७३॥ इत्यादि।
(त्रिषष्टिशलाका-पुरुष-चरित, पर्व १, सर्ग २)

३. मङ्गलैश्च प्रबुद्ध्याशु स्नात्वा पुण्य-प्रसाधना। सा सिद्धार्थ-महाराजमुपागम्य कृतानतिः ॥२५८॥
सम्प्राप्तार्धासना स्वप्नान् यथाक्रममुदाहरत्। सोऽपि तेषां फलं भावि यथाक्रममबूबुधत् ॥२५९॥
(उत्तर पुराण, पर्व ७४)

४. तए णं ते सुविण-लक्खण-पाढगा सिद्धत्थस्स खत्तियस्स अंतिए एयमट्ठे सुच्चा निसम्म हट्ठ तुट्ठ जाव हियया ते सुमिणे सम्मं ओगिणहंति, ओगिण्हत्ता × × × सुमिणसत्थाइं उच्चारेण्णा २ सिद्धत्थं खत्तियं एवं वयासी ॥७२॥ (कल्पसूत्र)

५ तत्कालं भगवन्मातुः स्वप्नार्थमभिशंसितुम्। सुहृदः कृतसङ्केता इवेन्द्रास्तुल्यमाययुः ॥२३२॥
ततस्ते विनयान्मूर्ध्नि घटिताञ्जलिकुड्मला)। स्वप्नार्थं स्फुटयामासुः सूत्रं वृत्तिकृतो यथा ॥२३३॥
(त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित, पर्व १, सर्ग २)

६. अथ सौधर्मकल्पेशो महैरावतदन्तिनम्। समारुह्य समं शच्या प्रतस्थे विबुधैर्वृतः ॥१७॥
(आदि पुराण, पर्व १३)

७ आदिशत्पालकं नाम वासवोऽप्याभियोगिकम्। असम्भाव्य-प्रतिमानं विमानं क्रियतामिति ॥२५३॥
पञ्चयोजनशत्युच्चं विस्तारे लक्षयोजनम्। इच्छानुमानगमनं विमानं पालकं व्यधात् ॥२५६॥
दिङ् मुखप्रतिकलितैर्द्यो दारयदिवाऽभितः। सौधर्ममध्यतोऽचालीत तद-विमानं हरीच्छया ॥३९२॥
(त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित, पर्व १, सर्ग २)

८ प्रसवागारमिन्द्राणी ततः प्राविशदुत्सवात्। तत्रापश्यत् कुमारेण सार्धं तां जिनमातरम् ॥२७॥
इत्यभिष्टुत्य गुढाङ्गी तां मायानिद्रयाऽयुजत्। पुरो विधाय सा तस्या मायाशिशुमथापरम् ॥३१॥
ततः कुमारमादाय व्रजन्ती सा बभौ भृशम्। द्यौरिवार्कमभिव्याप्तनभसं भासुरांशुभिः ॥३५॥
ततः करतले देवी देवराजस्य तं न्यधात्। बालार्कमौदये सानौ प्राचीव प्रस्फुरन्मणी ॥३६॥
(आदि पुराण, पर्व १३)

श्वे. मान्यता है कि स्वयं सौधर्मेन्द्र ही प्रसूति गृह में आकर, माता की स्तुति कर और उन्हें निद्रित कर के मायामयी शिशु को रखकर भगवान् को बाहिर ले आता है[1]।

माता के प्रसूति-गृह में इन्द्र का जाना एक लोक-विरुद्ध बात है, खास कर तत्काल ही जन्म के समय । किन्तु इन्द्राणी का स्त्री होने के नाते प्रसूति-गृह में जाना और भगवान् को बाहिर लाना आदि कार्य लोक-मर्यादा के अनुकूल ही है । श्वे. शास्त्रों में इस समय इन्द्राणी के कार्य का कोई उल्लेख नहीं मिलता है ।

वीर का बाल–काल

भ. महावीर के गर्भ में आने के पूर्व छह मास से लेकर जन्म होने तक की विशेष क्रियाओं एवं घटनाओं का वर्णन, तथा भगवान् की बाल-क्रीड़ाओं का उल्लेख प्रस्तुत काव्य में चौथे सर्ग से लेकर आठवें सर्ग तक किया गया है, अतः उनकी चर्चा करने की यहां आवश्यकता नहीं है । प्रकृत में इतना ही ज्ञातव्य है कि इन्द्र ने जन्माभिषेक के समय भगवान् का 'वीर' यह नाम रखा । भगवान् के गर्भ में आने के बाद से ही उनके पिता के यहां सर्व प्रकार की श्री समृद्धि बढ़ी, अतः उन्होंने उनका नाम 'श्री वर्धमान' रखा ।

भगवान् जब बालक थे और अपने साथियों के साथ एक समय आमलकी-क्रीड़ा कर रहे थे, उस समय एक संगमक देव ने आकर उनके धीर-वीर पने की परीक्षा के लिए उस वृक्ष के तने को सर्प का रूप धारण कर घेर लिया, तब सभी साथी बालक तो भय से भाग खड़े हुए, किन्तु बालक वीर कुमार निर्भय होकर उसके मस्तक पर पैर रखते हुए वृक्ष पर सी नीचे उतरे और उसे हाथ से पकड़कर दूर फैंक आये ।

तत्पश्चात् बालकों ने घुड़-सवारी का खेल खेलना प्रारंभ किया । इस खेल में हारने वाला बालक घोड़ा बनता और जीतने वाला सवार बनकर उसकी पीठ पर चढ़कर उसे इधर-उधर दौड़ाता । वह देव भी सर्प का रूप छोड़कर और एक बालक का रूप रखकर उनके खेल में जा मिला । देव के खेल में हार जाने पर उसे घोड़ा बनने का अवसर आया । यतः वीर कुमार विजयी हुए थे, अतः वे ही उस पर सवार हुए । उनके सवार होते ही वह देव उन्हें ले भागा और दौड़ते हुए ही उसने विक्रिया से अपने शरीर को उत्तरोत्तर बढ़ाना शुरु कर दिया । वीर कुमार उस देव की चालाकी को समझ गये । अतः उन्होंने उसकी पीठ पर जोर से एक मुट्ठी मारी, जिससे उस छद्मवेषी का गर्व खर्व हो गया । उसने अपना रूप संकुचित किया । वीर कुमार नीचे उतरे और उस छद्मवेषी ने अपना यथार्थ रूप प्रकट कर, उनसे क्षमा-याचना कर तथा उनका नाम 'महावीर' रखकर उनकी स्तुति की और अपने स्थान को चला गया । तब से भगवान् का यह नाम सर्वत्र प्रचलित हो गया[2] ।

वीर का विद्यालय–प्रवेश

श्वे. शास्त्रों के अनुसार वीर कुमार को आठ वर्ष का होने पर उनके पिता ने विद्याध्ययन के लिए एक विद्यालय में भेजा । अध्यापक जो कुछ उन्हें याद करने के लिए देवे, उससे अधिक पाठ वीर कुमार तुरन्त सुना देवें । आश्चर्य-चकित होकर अध्यापक ने प्रति दिन नवीन-नवीन विषय पढ़ाये और उन्होंने तत्काल ही सर्व पठित विषयों को ज्यों कात्यों ही नहीं सुनाया, बल्कि अध्यापक को भी अज्ञात-ऐसी विशेषताओं के साथ सुना दिया । यथार्थ बात यह थी

---

१. ततो विमाना दुत्तीर्य मानादिव महामुनिः । प्रसन्नमानसः शक्रो जगाम स्वामिसन्निधौ ॥४०७॥
अहं सौधर्मदेवेन्द्रो देवि त्वत्तनु-जन्मनः । अर्हतो जन्ममहिमोत्सवं कर्तुमिहाऽऽगम् ॥४१४॥
भवत्या नैव भेतव्यमित्युदीर्य दिवस्पतिः । अवस्वापनिकां देव्यां मरुदेव्यां विनिर्ममे ॥४१५॥
नाभिसूनोःप्रतिच्छन्दं विदधे मघवा ततः । देव्याः श्री मरूदेवायाः पार्श्वे तं च न्यवेशयत् ॥४१६॥
(त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरितं पर्व १, सर्ग २)

२. यह कथानक श्वे. ग्रन्थों में पाया जाता है । -सम्पादक

कि वीर कुमार तो जन्म से ही मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञान के धारी थे । पर भगवान् के पिता को यह पता नहीं था । जब कुछ दिनों के भीतर ही अध्यापक वीर कुमार को लेकर राजा सिद्धार्थ के पास पहुँचा और उनसे निवेदन किया-महाराज, ये राजकुमार तो इतने प्रखर बुद्धि और अतुल ज्ञानी हैं कि उनके सामने मैं स्वयं भी नगण्य हूँ । महाराज सिद्धार्थ यह सुन कर अत्यन्त प्रसन्न हुए और अध्यापक को यथोचित पारितोषिक देकर विदा किया । दि. मान्यता के अनुसार तीर्थङ्कर किसी गुरु के पास पढ़ने को नहीं जाते हैं ।

वीर के सम्मुख विवाह-प्रस्ताव

जब वीर कुमार ने यौवन अवस्था में पदार्पण किया, तो चारों ओर से उनके विवाह के लिए प्रस्ताव आने लगे। कहा जाता है कि राजा सिद्धार्थ की महारानी प्रियकारिणी और उनकी बहिन यशोदया जो कि-कलिंग-देश के महाराज जितशत्रु को ब्याही थी- एक साथ ही गर्भवती हुईं । दानों साले-बहनोई महाराजों में यह तय हुआ कि यदि एक के गर्भ से कन्या और दूसरे के गर्भ से पुत्र उत्पन्न हो, तो उनका परस्पर में विवाह कर देंगे । यथा समय सिद्धार्थ के यहां वीर कुमार ने जन्म लिया और जितशत्रु के यहां कन्या ने जन्म लिया, जिसका नाम यशोदा रखा गया । जब वीर कुमार के विवाह के प्रस्ताव आने लगे, तब भ. महावीर की वर्ष गांठ के अवसर पर जीतशत्रु अपनी कन्या को लेकर राज-परिवार के साथ कुण्डनगर आये और महाराज सिद्धार्थ को पूर्व प्रतिज्ञा की याद दिलाकर यशोदा के साथ वीर कुमार के विवाह का प्रस्ताव रखा[1] ।

महाराज सिद्धार्थ और रानी त्रिशला राजकुमारी यशोदा के रूप-लावण्य, सौन्दर्य आदि गुणों को देखकर उसे अपनी पुत्र-वधू बनाने के लिए उत्सुक हुए और उन्होंने अपने ह्रदय की बात राजकुमार महावीर से कही । सिद्धार्थ के इस विवाह प्रस्ताव को महावीर ने बड़ी ही युक्तियों के साथ अस्वीकार कर दिया ।

किन्तु श्वे मान्यता है कि महावीर का विवाह यशोदा के साथ हुआ और उससे एक लड़की भी उत्पन्न हुई, जिसका नाम प्रियदर्शना रखा गया और उसका विवाह महावीर की बहिन सुदर्शना के पुत्र जमालि से हुआ ।

दि परम्परा में पांच तीर्थंकर बाल-ब्रह्मचारी और कुमार-काल में दीक्षित हुए माने गये हैं-१ वासुपूज्य, २ मल्लिनाथ, ३ अरिष्टनेमि, ४ पार्श्वनाथ और ५ महावीर । श्वे परम्परा में भी इन पांचों को कुमार-श्रमण और अविवाहित माना गया है, जिसका प्रमाण आवश्यक-निर्युक्ति की निम्न लिखित गाथाएं हैं-

वीरं अरिट्ठनेमिं पासं मल्लिं च वासुपुज्जं च ।
एते मोत्तूण जिणे अवसेसा आसि रायाणो ॥२२१॥
रायकुलेसु वि जाया विसुद्धवंसेसु खत्तियकुलेसु ।
न य इत्थियाभिसेया कुमार-वासम्मि पव्वइया ॥२२२॥

आगमोदय समिति से प्रकाशित आवश्यक निर्युक्ति में 'इत्थियाभिसेया' ही पाठ है जिसके कि सम्पादक सागरानन्द सूरि है । टीकाकारों ने इसके स्थान पर 'इच्छियाभिसेया' पाठ मानकर 'ईप्सिताभिषेका:' अर्थ किया है और उसके आधार पर श्वे विद्वान् कहते हैं कि इन दोनों गाथाओं में उक्त पांचो तीर्थंकरों के बिना राज्य-सुख भोगे ही कुमारकाल में दीक्षा लेने का उल्लेख है । विवाह से उनका संबंध नहीं है । यदि ऐसा है, तो वे उन प्रमाणों को प्रकट करें- जिनमें कि

---

१ भवान्न किं श्रेणिक वेत्ति भूपतिं नृपेन्द्रसिद्धार्थकनीयसीपतिम् ।
इमं प्रसिद्धं जितशत्रुमाख्यया प्रतापवन्तं जितशत्रुमण्डलम् ॥
जिनेन्द्रवीरस्य समुद्भवोत्सवे तदाऽऽगत: कुण्डपुरं सुहृत्पर: ।
सुपूजित: कुण्डपुरस्य भूभृता नृपोऽयमाखण्डलतुल्यविक्रम: ॥
यशोदयायां सुतया यशोदया पवित्रया वीरविवाहमङ्गलम् ।
अनेककन्यापरिवारयारुहत्समीक्षितुं तुङ्गमनोरथं तदा ॥

हरिवंश पुराण, सर्ग ६६, श्लो. ६-८ ।

आदि के चार तीर्थङ्करों का बाल-ब्रह्मचारी रहना बतलाया गया हो । वास्तव में ये दोनों ही गाथाएं पांचों ही तीर्थङ्करों के बाल-ब्रह्मचारी और कुमार-दीक्षितपने का ही प्रतिपादन करती हैं । किन्तु पीछे से जब महावीर के विवाह की बात स्वीकार कर ली गई, तो उक्त गाथा-पठित 'इत्थियाभिसेया' पाठ को 'इच्छियाभिसेया' मानकर 'ईप्सिताभिषेका:' अर्थ किया जाने लगा ।

श्री कल्याण विजयजी अपने द्वारा लिखित 'श्रमण भगवान् महावीर' नामक पुस्तक में महावीर के विवाह के बारे में संदिग्ध हैं । उन्होंने लिखा है कि- "कल्पसूत्र के पूर्ववर्ती किसी सूत्र में महावीर के गृहस्थाश्रम का अथवा उनकी भार्या यशोदा का वर्णन हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ । (श्रमण भगवान् महावीर, पृ. १२) दूसरे एक बात खास तौर से विचारणीय है कि जब महावीर घर त्याग कर दीक्षित होने के लिए चले, तो श्वे. शास्त्रों में कहीं भी तो यशोदा के साथ महावीर के मिलने और संसार के छोड़ने की बात का उल्लेख होना चाहिए था । नेमिनाथ के प्रव्रजित हो जाने पर राजुल के दीक्षित होने का जैसा उल्लेख मिलता है, वैसा उल्लेख यशोदा के दीक्षित होने या न होने आदि का कहीं पर भी दृष्टिगोचर नहीं होता । इसके विपरीत दि ग्रन्थों में स्पष्ट उल्लेख है कि महावीर के द्वारा विवाह-प्रस्ताव अस्वीकार कर दिये जाने पर यशोदा और उसके पिता को बहुत आघात पहुँचा और वे दोनों ही दीक्षित होकर तप करने चले गये । जितारि तो कलिंग (वर्तमान उड़ीसा) देश-स्थित उदयगिरि पर्वत से मुक्ति को प्राप्त हुए और यशोदा जिस पर्वत पर दीर्घकाल तक तपस्या करके स्वर्ग को गई, वह पर्वत ही कुमारी पर्वत' के नाम से प्रसिद्ध हुआ । खारवेल के शिलालेख में इस कुमारी पर्वत का उल्लेख है[1] ।

सन्मति-नाम

विजय और संजय नामक दो चारण मुनियों को किसी सूक्ष्मतत्त्व के विषय में कोई सन्देह उत्पन्न हो गया, पर उसका समाधान नहीं हो रहा था । भ. महावीर के जन्म के कुछ दिन बाद ही वे उनके समीप आये कि दूर से ही उनके दर्शन मात्र से उनका सन्देह दूर हो गया और वे उनका 'सन्मति देव' नाम रखते हुए चले गये[2] ।

भ. महावीर का छद्मस्थ या तपस्या-काल

भ महावीर ने तीस वर्ष की अवस्था में मार्गशीर्ष १० के दिन जिन-दीक्षा ली और उग्र तपश्चरण में संलग्न हो गये । दि ग्रन्थों उनके इस जीवन-काल की घटनाओं का बहुत कम उल्लेख पाया जाता है । किन्तु श्वे ग्रन्थों में इस १२ वर्ष के छद्मस्थ और तपश्चरण काल का विस्तृत विवरण मिलता है । यहां पर उपयोगी जानकर उसे दिया जाता है ।

प्रथम वर्ष

भ. महावीर ने ज्ञातृखण्डवन में दीक्षा लेने के बाद आगे को विहार किया । एक मुहूर्त दिन के शेष रहने पर वे कर्मार गांव जा पहुँचे और कायोत्सर्ग धारण कर ध्यान में संलग्न हो गये । इसी समय कोई ग्वाला जंगल से अपने

---

१ तेरसमे च वसे सुपवत विजय चके कुमारी पवते अरहयते...

(खारवेल शिलालेख पंक्ति १४)

२. सञ्जयस्यार्थ-सन्देहे सञ्जाते विजयस्य च ।
जन्मानन्तरमेवेनमभ्येत्यालोकमात्रत: ॥२८२॥
तत्सन्देहे गते ताभ्यां चारणाभ्यां स्वभक्तित: ।
अस्त्वेष सन्मतिर्देवो भावीति समुदाहृत: ॥२८३॥

(उत्तर पुराण, पर्व ७४)

बैलों को लेकर घर लौट रहा था । वह उन्हें चरने के लिए भ. महावीर के पास छोड़ कर गायें दुहने के लिए घर चला गया । बैल घास चरते हुए जंगल में दूर निकल गये । ग्वाला ने घर से वापिस आकर देखा कि मैं जहां बैल छोड़ गया था, वे वहां नहीं है, तब उसने भगवान् से पूछा कि मेरे बैल कहां गये ? जब भगवान् की ओर से कोई उत्तर नहीं मिला, तो वह समझा कि इन्हें मालूम नहीं है, अतः उन्हें ढूंढने के लिए जंगल की ओर चल दिया । रात भर वह ढूंढता रहा, पर बैल उसे नहीं मिले । प्रातःकाल लौटने पर उसने बैलों को भगवान् के पास बैठा हुआ पाया। ग्वाला ने क्रोधित होकर कहा - बैलों की जानकारी होते हुए भी आपने मुझे नहीं बतलाया? और यह कह कर हाथ में ली हुई रस्सी से उन्हें मारने को झपटा । तभी किसी भद्र पुरुष ने आकर ग्वाले को रोका कि अरे, यह क्या कर रहा है ? क्या तुझे मालूम नहीं, कि कल ही जिन्होंने दीक्षा ली है ये वे ही सिद्धार्थ राजा के पुत्र महावीर है, यह सुन कर ग्वाला नत-मस्तक होकर चला गया।

दूसरे दिन महावीर ने कर्मार ग्राम से विहार किया और कोल्लागसन्निवेश पहुँचे । वहां पारणा करके वे मोराक-सन्निवेश की ओर चल दिये । मार्ग में उन्हें एक तापसाश्रम मिला । उसके कुलपति ने उनसे ठहरने और अग्रिम वर्षावास करने की प्रार्थना की । भगवान् उसकी बात को सुनते हुए आगे चल दिये । इस प्रकार अनेक नगर, ग्राम और वनादिक में लगभग ७ मास परिभ्रमण के पश्चात वर्षाकाल प्रारम्भ हो गया । जब महावीर ने अस्थिग्राम में चातुर्मास बिताने के लिए ग्राम के बाहरी अवस्थित शूलपाणि यक्ष के मन्दिर में ठहरने का विचार किया, उन लोगों ने कहा- यहां रहने वाला यक्ष महा दुष्ट है, जो कोई भी भूला भटका इस मन्दिर में आ ठहरता है उसे यह यक्ष मार डालता है । यह सुनकर भी महावीर ठहर गये और कायोत्सर्ग धारण करके ध्यान में तल्लीन हो गये । महावीर को अपने मन्दिर में ठहरा हुआ देख कर यक्ष ने रात भर नाना प्रकार के रूप बना-बनाकर असह्य असंख्य यातनाएं दी, पर महावीर पर उनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा । अन्त में हताश हो कर वह भगवान् के चरणों में पड़ गया, अपने दुष्कृत्य के लिए क्षमा मांगी और उनके गुण-गान करके अन्तर्हित हो गया । कहा जाता है कि उपसर्ग को दूर होने पर भ महावीर को रात्रि के अन्तिम मुहूर्त में कुछ क्षणों के लिए नींद आई और तभी उन्होंने कुछ स्वप्न भी देखे । इसके पश्चात् तो वे सारे जीवन भर जागृत ही रहे और पूरे छद्मस्थकाल के १२ वर्षों में एक क्षण भी नहीं सोये ।*

अपने इस प्रथम चातुर्मास में भगवान् ने २५-१५ दिन के आठ अर्धमासी उपवास किये और पारणा के लिए केवल आठ बार उठे ।

कहा जाता है कि भगवान् महावीर अपर नाम वर्धमान के द्वारा इस असह्य उपसर्ग को जीतने और शूलपाणि यक्ष का सदा के लिए शान्त हो जाने के कारण ही अस्थि-ग्राम का नाम 'वर्धमान नगर' रख दिया गया, जो कि आज 'वर्दवान' नाम से पश्चिमी बंगाल का एक प्रसिद्ध नगर है ।

द्वितीय वर्ष

प्रथम चातुर्मास समाप्त करके महावीर ने अस्थिग्राम से विहार किया और मोराक सन्निवेश पहुँचे । वहां कुछ दिन ठहर कर वाचाला की ओर विहार किया । आगे बढ़ने पर लोगों ने उनसे कहा-'आर्य, यह मार्ग ठीक नहीं है, इसमें

---

* छउमत्थोवि परक्कममाणो छउमत्थकाले विरहंतेणं भगवता जयंतेण धुवंतेणं परक्कमंतेणं ण कयाइ पमाओ कओ। अविसद्दा णवरं एक्कस्सिं एक्को अंतोमुहुत्तं अट्ठियगामे सयमेव अभिसमागाए ।

(आचारंग चूर्णि, रतलाम प्रति, पत्र ३२४)

तत्र च तत्कृतां कदर्थनां सहमानः प्रतिमास्थ एव स्वल्पं निद्राणो भगवान् दश स्वप्नानवलोक्य जजागार।

(कल्पसूत्रार्थप्रबोधिनी टीका पृ १३७)

किन्तु भगवती सूत्र के अनुसार उक्त १० स्वप्न भ महावीर ने छद्मस्थकाल के अन्तिम रात्रि में, अर्थात् केवलोत्पत्ति के पूर्व देखे । यथा-

समणे भगवं महावीरे छउमत्थकालियाए अंतिमराइयंसि इमे दस महासुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धे ।

(भगवती सूत्र. शतक १६ उद्देशक ६, सु १६)

एक भयानक भुजंग रहता है, जो अपनी दृष्टि के विष-द्वारा ही पथिकों को भस्म कर देता है, अतः आप इधर से न आकर अन्य मार्ग से आवें।' महावीर ने उन लोगों की बात सुनकर भी उस पर कुछ ध्यान नहीं दिया और वे उसी मार्ग से चलकर एक यक्ष-मन्दिर में आकर ध्यानारूढ़ हो गये। वहां रहने वाला सांप जब इधर-उधर घूम कर अपने स्थान को वापिस लौट रहा था, तो उसकी दृष्टि ध्यानारूढ़ महावीर पर ज्योंही पड़ी त्यों ही वह क्रोधित होकर फुंकार करते हुए महावीर की ओर बढ़ा और उसने महावीर के पांव में काट खाया। वहां से रक्त के स्थान पर दूध की धारा बह निकली। यह विचित्र बात देख कर पहले तो वह स्तब्ध रह गया। पर जब उसने देखा कि इन पर तो मेरे काटने का कुछ भी असर नहीं हुआ, तो उसने दो बार और भी काटा। मगर तब भी विष का कोई असर न देखकर सर्प का रोष शान्त हो गया। तब भ. महावीर ने उसके पूर्व भव का नाम लेते हुए कहा-चण्डकौशिक, शान्त होओ। अपना नाम सुनते ही उसे जातिस्मरण हो गया और सदा के लिए उसने जीवों को काटना छोड़ दिया

भ. महावीर यहां से विहार करते हुए क्रमशः श्वेताम्बी नगरी पहुँचे। यहां राजा प्रदेशी ने भगवान् की अगवानी की और अत्यन्त भक्ति से उनके चरणों की वन्दना की। वहां से भगवान् ने सुरभिपुर की ओर विहार किया। आगे जाने पर उन्हें गंगा नदी मिली। उसे पार करने के लिए महावीर को नाव पर बैठना पड़ा। नाव जब नदी के मध्य में पहुँची, तब एक भयंकर तूफान आया, नाव भंवर में पड़कर चक्कर काटने लगी। यात्री प्राण-रक्षा के लिए त्राहि-त्राहि करने लगे। पर महावीर नाव के एक कोने में सुमेरुवत् ध्यानस्थ रहे। अन्त में भगवान् के पुण्योदय से कुछ देर बाद तूफान शान्त हो गया और नाव किनारे जा लगी। सब यात्रियों ने अपना-अपना मार्ग पकड़ा और महावीर भी नाव से उतर कर गंगा के किनारे चलते हुए थूणाक पहुँचे। मार्ग में अंकित पद-चिह्नों को देखकर एक सामुद्रिक-वेत्ता आश्चर्य में डूब गया और सोचने लगा कि ये पदचिह्न तो किसी चक्रवर्ती के होना चाहिए। अतः वह पद-चिह्नों को देखता हुआ वहां पहुँचा, जहां पर भगवान् अशोक वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ़ खड़े थे। उनके सर्वाङ्ग में ही चक्रवर्ती के चिह्न देखकर वह बड़ी चिन्ता में पड़ा कि सभी राज-चिह्नों से विभूषित यह पुरुष साधु बनकर जंगलों में क्यों घूम रहा है ? जब उसे किसी भद्र पुरुष से ज्ञात हुआ कि ये तो अपरिमित लक्षण-वाले धर्म-चक्रवर्ती भ. महावीर हैं, तब वह उनकी वन्दना कर अपने स्थान को चला गया।

थूणाक- सन्निवेश से विहार करते हुए भ महावीर नालंदा पहुँचे। वर्षाकाल प्रारम्भ हो जाने से उन्होंने वहीं चातुर्मास बिताने का निश्चय किया और एक मास का उपवास अंगीकार कर ध्यान में अवस्थित हो गये। इस चातुर्मास में मंखली-पुत्र गोशाला की भगवान् से भेंट हुई और वह भी चातुर्मास बिताने के विचार से वहीं ठहर गया। एक मास का उपवास पूर्ण होने पर महावीर गोचरी के लिए निकले और वहां के एक विजय सेठ के यहां उनका निरन्तर आहार हुआ। दान के प्रभाव से हुए पंच[1] आश्चर्यों को देखकर गोशाला ने सोचा-ये कोई चमत्कारी साधु प्रतीत होते हैं, अतः मैं इनका ही शिष्य बनकर इनके सात रहूँगा। गोचरी से लौटने पर उसने भगवान् से प्रार्थना की कि आप मुझे अपना शिष्य बना लेवें। किन्तु भगवान् ने कोई उत्तर नहीं दिया और पुनः एक मास के उपवास का नियम करके ध्यानारुढ़ हो गये। एक मास के बाद पारणा के लिए वे नगर में गये और आनन्द श्रावक के यहां पारणा हुई। पुनः वापिस आकर एक मास का उपवास लेकर ध्यानारुढ़ हो गये। तीसरी पारणा सुनन्द श्रावक के यहां हुई। पुनः एक मास के उपवास का नियम कर भगवान् ध्यानारुढ़ हो गये।

कार्तिकी पूर्णिमा के दिन चौथी पारणा के लिए जाते समय गोशाला ने भगवान् से पूछा कि आज मुझे भिक्षा में क्या मिलेगा ? भगवान् ने उत्तर दिया- 'कोदों का बासा भात, खट्टी छांछ और दक्षिणा में एक खोटा रुपया।' भगवान् के वचनों को मिथ्या करने के उद्देश्य से वह अनेक धनिकों के घर भिक्षा के लिए गया, किन्तु

कहीं पर भी उसे भिक्षा न मिली। अन्त में एक लुहार के यहां से वही कोदों का बासा भात, खट्टी छांछ और एक खोटा रुपया मिला। इस घटना का गोशाला के मन पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। वह 'नियतिवाद' का पक्का समर्थक

---

१. दिव्य गंधोधक वृष्टि, पुष्प वृष्टि, सुरभि वायु-संचार, देव-दुन्दुभि-वादन और अहो दान की ध्वनि, इन पांच आश्चर्य-कारी बातों को 'पंच आश्चर्य कहते हैं। -सम्पादक

हो गया । उसकी यह दृढ़ धारणा हो गई कि जो कुछ जिस समय होने वाला है, वह उस समय होकर के ही रहेगा।

चातुर्मास पूर्ण होते ही महावीर ने नालन्दा से विहार किया और कोल्लाग सन्निवेश पहुँचे । नालंदा से भगवान् ने जब विहार किया, तब गोशाला भिक्षा लेने के लिए गया हुआ था । वापिस आने पर जब उसे महावीर के विहार कर जाने का पता चला, तो वह भी ढूंढते-ढूंढते कोल्लाग-सन्निवेश जा पहुँचा । इसके पश्चात् वह लगातार छह चातुर्मासों तक भगवान् के साथ रहा ।

तीसरा वर्ष

कोल्लाग-सन्निवेश से भगवान् ने सुवर्णखल की ओर विहार किया । मार्ग में उन्हें कुछ ग्वाले मिले, जो मिट्टी की एक हांडी में खीर पका रहे थे । गोशाला ने भगवान् से कहा- जरा ठहरिये, इस खीर को खाकर फिर आगे चलेंगे। भगवान् ने कहा-यह खीर पकेगी ही नहीं । बीच में ही हांडी फूट जायगी और सब खीर नीचे लुढ़क जायगी । वह कहकर भगवान् तो आगे चल दिये । किन्तु खीर खाने के लोभ से गोशाला वहीं ठहर गया । हांडी दूध से भरी हुई थी और उसमें चावल भी अधिक डाल दिये गये थे । अत: जब चावल फूले तो हांडी फट गई और सब खीर नीचे लुढ़क गई । ग्वालों की आशा पर पानी फिर गया और गोशाला अपना मुख नीचा किये हुए वहां से चल दिया । अब उसकी यह धारणा और भी दृढ़ हो गई कि 'जो कुछ होने वाला है, वह अन्यथा नहीं हो सकता ।'

कोल्लाग सन्निवेश से विहार करते हुए भगवान् ब्राह्मण गांव पहुँचे । यहां पर भगवान् की पारणा तो निरन्तराय हुई । किन्तु गोशाला को गोचरी में बासा भात मिला, जिसे लेने से उसने इनकार कर दिया और देने वाली स्त्री से बोला-तुम्हें बासा भात देते लज्जा नहीं आती । यह कह कर और शाप देकर बिना ही भिक्षा लिए वह वापिस लौट आया ।

ब्राह्मण गांव से भगवान् चम्पा नगरी गए और तीसरा चातुर्मास यहीं पर व्यतीत किया । इसमें भगवान् ने दो-दो मास के उपवास किये ।

चौथा वर्ष

चम्पानगरी से भगवान् ने कालायस सन्निवेश की ओर विहार किया । वहां पहुँच कर उन्होंने एक खंडहर में ध्यानावस्थित होकर रात्रि बिताई । एकान्त समझ कर गांव के मुखिया का व्यभिचारी पुत्र किसी दासी को लेकर वहां व्यभिचार करने के लिए आया और व्यभिचार करके वापिस जाने लगा, तो गोशाला ने स्त्री का हाथ पकड़ लिया । यह देखकर उस मनुष्य ने गोशाला की खूब पिटाई की । दूसरे दिन भगवान् ने प्रस्थान किया और पत्रकालय पहुँचे । भगवान् वहां किसी एकान्त स्थान में ध्यानारुढ़ हो गये । दुर्भाग्य से पूर्व दिन जैसी घटना यहां भी घटी और यहां पर भी गोशाला पीटा गया ।

पत्रकालय से भगवान् ने कुमाराक सन्निवेश की ओर विहार किया । वहां पर चम्पक रमणीय उद्यान में पार्श्वस्थ साधुओं को देखा, जो वस्त्र और पात्रादिक रखे हुए थे । गोशाला ने पूछा-आप किस प्रकार के साधु हैं ? उन्होंने उत्तर दिया-हम निर्ग्रन्थ हैं । गोशाला ने कहा-आप कैसे निर्ग्रन्थ हैं, जो इतना परिग्रह रख करके भी अपने आपको निर्ग्रन्थ बतलाते हैं । ज्ञात होता है कि अपनी आजीविका चलाने के लिए आप लोगों ने ढोंग रच रखा है । सच्चे निर्ग्रन्थ तो हमारे धर्माचार्य हैं, जिनके पास एक भी वस्त्र और पात्र नहीं है और वे ही त्याग और तब तपस्या की साक्षात् मूर्ति हैं[१] ।' इस प्रकार उन सग्रन्थी साधुओं की भर्त्सना करके गोशाला वापिस भगवान् के पास आ गया और उनसे सर्व वृत्तान्त कहा ।

---

१ गोशाला का श्वे शास्त्रोल्लिखित यह कथन सिद्ध करता है कि भ. महावीर वस्त्र और पात्रों रे रहित पूर्ण निर्ग्रन्थ थे ।

-सम्पादक

कुमाराक-सन्निवेश से चलकर भगवान् चोराक सन्निवेश गये । वहां के पहरेदार चोरों के भय से बड़े सतर्क रहते थे और वे किसी अपरिचित व्यक्ति को गांव में नहीं आने देते थे । जब भगवान् गांव में पहुँचे तो पहरेदारों ने भगवान् से उनका परिचय पूछा । किन्तु भगवान् ने कोई उत्तर नहीं दिया । पहरेदारों ने उन्हें गुप्तचर समझ कर पकड़ लिया और बहुत सताया । जब सोमा और जयन्ती नामक परिव्राजिकाओं से भगवान् का परिचय मिला, तब उन्होंने उन्हें छोड़ा और अपने दुष्कृत्य के लिए क्षमा मांगी ।

चोराक से भगवान् ने पृष्ठचम्पा की ओर विहार किया और यहीं पर चौथा चातुर्मास व्यतीत किया। इस चतुर्मास में भगवान् ने पूरे चार मास का उपवास रखा और अनेक योगासनों से तपस्या करते रहे । चातुर्मास समाप्त होते ही नगर के बाहिर पारणा करके भगवान् ने कयंगला सन्निवेश की ओर विहार किया ।

पांचवां वर्ष

कंयगला में भ. महावीर ने नगर के बाहिरी भाग के एक उद्यान में बने देवालय में निवास किया। वे उसके एक कोने में कायोत्सर्ग कर ध्यान-मग्न हो गये । उस दिन देवालय में रात्रि-जागरण करते हुए कोई धार्मिक उत्सव मनाया जाने वाला था, अतः रात्रि प्रारम्भ होते ही नगर से स्त्री और पुरुष एकत्रित होने लगे । गाने-बजाने के साथ ही धीरे-धीरे स्त्री और पुरुष मिलकर नाचने लगे । गोशाला को यह सब कुछ अच्छा नहीं लगा और वह उन लोगों की निंदा करने लगा । अपनी निंदा सुनकर गांव वालों ने उसे मन्दिर से बाहिर निकाल दिया । वह रात भर बाहिर ठंड में ठिठुरता रहा ।

प्रातः काल होने पर भगवान् ने वहां से श्रावस्ती की ओर विहार कर दिया । गोचरी का समय होने पर गोशाला ने नगर में चलने को कहा । गोचरी में वहां एक ऐसी घटना घटी कि जिससे गोशाला को विश्वास हो गया कि 'होनहार दुर्निवार है।'

श्रावस्ती से भगवान् हल्लिदुय गांव की ओर गये । वे नगर के बाहिर एक वृक्ष के नीचे ध्यान-स्थित हो गये। रात में वहां कुछ यात्री ठहरे और ठंड से बचने के लिए उन्होंने आग जलाई । प्रातः काल होने के पूर्व ही यात्री लोग तो चल दिये, पर आग बढ़ती हुई भगवान् के पास जा पहुँची, जिससे उनके पैर झुलस गये । भगवान् ने यह वेदना शान्ति-पूर्वक सहन की और आग के बुझ जाने पर उन्होंने नगला गांव की ओर विहार किया । वहां गांव के बाहिर भगवान् तो वासुदेव के मन्दिर में ध्यान-स्थित हो गये, किन्तु वहां खेलने वाले लड़कों को गोशाला ने आंख दिखाकर डरा दिया । लड़के गिरते पड़ते घर को भागे और उनके अभिभावकों ने आकर गोशाला को खूब पीटा ।

नंगला से विहार कर भगवान् आवर्त गांव पहुंचे और वहां नगर से बाहिर बने बलदेव के मन्दिर में रात भर ध्यान-स्थित रहे । दूसरे दिन वहां से चलकर चोराक-सन्निवेश पहुँचे और वहां भी वे नगर से बाहिर ही किसी एकान्त स्थान में ध्यान-स्थित रहे । पर गोशाला गोचरी के लिए नगर की ओर चला और लोगों से उसे गुप्तचर समझकर पकड़ लिया और खूब पीटा ।

चोराक-सन्निवेश से भगवान् जब कलंबुका-सन्निवेश की ओर आ रहे थे तो मार्ग में सीमा-रक्षकों ने उनसे पूछा कि तुम लोग कौन हो ? उत्तर न मिलने पर दोनों को पीटा गया और पकड़ कर वहां के स्वामी के पास भेज दिया गया । उसने भगवान् को पहिचान लिया और उन्हें मुक्त कर अपनी भूल के लिए क्षमा मांगी ।

यहां से भगवान् ने लाढ़ देश की ओर विहार किया । वहां उन्हें ठहरने योग्य स्थान भी नहीं मिलता था, अतः जहां कहीं कंकरीली-पथरीली विषम भूमि पर ठहरना पड़ता था । वहां के लोग भगवान् को मारते और उन पर कुत्ते छोड़ देते थे । वहां आहार भी जब कभी कई-कई दिनों के बाद रूखा-सूखा मिलता था पर भगवान् ने उस देश में परिभ्रमण करते हुए इन सब कष्टों को बड़ी शान्ति से सहन किया । जब भगवान् वहां से लौट रहे थे, तब सीमा पर मिले हुए दो चोरों ने उन्हें बड़ा कष्ट पहुँचाया।

वहां से आकर भगवान् ने भद्दिया नगरी में पांचवा चातुर्मास किया । यहां पूरे चार मास का उपवास अंगीकार कर विविध आसनों से ध्यान-स्थित रहे और आत्म-चिन्तन करते रहे । चातुर्मास समाप्त होते ही नगर के बाहिर पारणा करके भगवान ने कदली समागम की ओर विहार किया ।

छठा वर्ष

कदली-समागम से भगवान् जम्बूखंड गये और वहां से तम्बाय सन्निवेश गये और गांव के बाहिर ध्यान-स्थित हो गये । यहां पार्श्व-सन्तानीय नन्दिषेण आचार्य रात्रि में किसी चौराहे पर ध्यान-स्थित थे, तब वहां के कोट्टपाल के पुत्र ने उन्हें चोर समझ कर भाले से मार डाला । गोशाला ने इसकी सूचना नगर में दी और वापिस भगवान् के पास आ गया ।

तम्बाय-सन्निवेश से भगवान् कूपिय-सन्निवेश गये । यहां के लोगों ने उन्हें गुप्तचर समझ कर पकड़ लिया और खूब पीटा । बाद में उन्हें कैद करके कारागृह में डाल दिया । इस बात की सूचना जब पार्श्वनाथ-सन्तानीय विजया और प्रगल्भा साध्वियों को मिली, तो उन्होंने कारागृह के अधिकारियों से आकर कहा- 'अरे यह क्या किया ? क्या तुम लोग सिद्धार्थ के पुत्र भ महावीर को नहीं पहिचानते हो ? इन्हें शीघ्र मुक्त करो । भगवान् का परिचय पाकर उन्होंने अपने दुष्कृत्य का पश्चात् किया, भगवान् से क्षमा मांगी और उन्हें कैद से मुक्त कर दिया ।

कूपिय-सन्निवेश से भगवान् ने वैशाली की ओर विहार किया । इस समय गोशाला ने भगवान् से कहा-'भगवान्, न तो आप मेरी रक्षा करते हैं और न आपके साथ रहने में मुझे कोई सुख है । प्रत्युत कष्ट ही भोगना पड़ते हैं और भोजन की भी चिन्ता बनी रहती है ।' यह कहकर गोशाला राजगृह की ओर चला गया । भगवान् वैशाली पहुँच कर एक कम्मारशाला में ध्यान-स्थित हो गये । दूसरे दिन जब उसका स्वामी आया और उसने भगवान् को वहां खड़ा देखा तो हथोड़ा लेकर उन्हें मारने के लिए झपटा, तब किसी भद्र पुरुष ने आकर उन्हें बचाया ।

वैशाली से विहार कर भगवान् ग्रामक-सन्निवेश आये और गांव के बाहिरी यक्ष-मन्दिर में ध्यान-स्थित रहे । वहां से चलकर भगवान् शालीशीर्ष आये और यहां पर भी नगर के बाहिर ही किसी उद्यान में ध्यान-स्थित हो गये । माघ का महीना था, कड़ाके की ठंड पड़ रही थी और भगवान् तो नग्न थे ही । ऐसी अति भंयकर शीत वेदना को सहते समय ही वहां की अधिष्ठात्री कोई व्यन्तरी आई और संन्यासिनी का रूप बनाकर अपनी बिखरी हुई जटाओं में जल भर कर भगवान् के ऊपर छिड़कने लगी और उनके कन्धे पर चढ़ कर अपनी जटाओं से हवा करने लगी । इस भंयकर शीत-वेदना को भगवान् ने रात भर परम शान्ति से सहा । प्रात: होते ही वह अपनी हार मान कर वहां से चली गई और उपसर्ग दूर होने पर भगवान् ने वहां से भद्दिया नगरी की ओर विहार किया । छठा चातुर्मास भगवान् ने भद्दिया में ही बिताया । इस चौमासे भर भी भगवान् ने उपवास ही किया और अखण्ड रूप से आत्म-चिन्तन में निरत रहे। इधर गोशाला छह मास तक इधर-उधर घूम कर और अनेक कष्ट सहन करके भगवान् के पास पुन: आ गया ।

चातुर्मास समाप्त होने पर पारणा करके भगवान् ने मगध देश की ओर विहार किया ।

सातवां वर्ष

भगवान् शीत और ग्रीष्म ऋतु के पूरे आठ मास तक मगध के अनेक ग्रामों में विचरते रहे । गोशाला भी साथ रहा । वर्षा-काल समीप आने पर चातुर्मास के लिए भगवान् आलंभिया पुरी आये । यहां पर भी उन्होंने चार मास का उपवास अङ्गीकार किया और आत्म-चिन्तन में निरत रहे । चौमासा पूर्ण होने पर पारणा करके भगवान् ने कुंडाक-सन्निवेश की ओर विहार किया ।

आठवां वर्ष

कुंडाक-सन्निवेश में भगवान् वासुदेव के मन्दिर में कुछ समय तक रहे । पुन: वहां से विहार कर मद्दन्न-सन्निवेश के बलदेव-मन्दिर में ठहरे । पश्चात् वहां से चल कर बहुसालग गांव में पहुँचे और शालवन में ध्यान-स्थित हो गये । यहां पर भी एक व्यन्तरी ने भगवान् के ऊपर घोरातिघोर उपसर्ग किये और अन्त में हार कर वह अपने स्थान को चली गई । उपसर्ग दूर होने पर भगवान् ने भी वहां से विहार किया और लोहार्गला पहुँचे । वहां के पहरेदारों ने इनका

परिचय पूछा, कुछ उत्तर न मिलने पर उन्होंने गुप्तचर जानकर उन्हें पकड़ लिया और राजा के पास ले गये । वहां पर भगवान् का पूर्व परिचित उत्पल ज्योतिषी बैठा हुआ था, वह भगवान् को देखते ही उठ खड़ा हुआ और भगवान् को नमस्कार कर राजा से बोला- राजन् ये तो राजा सिद्धार्थ के पुत्र धर्म-चक्रवर्ती तीर्थङ्कर भगवान् महावीर हैं, गुप्तचर नहीं हैं । तब राजा ने उनके बन्धन खुलवाये और क्षमा मांग कर उनका आदर-सत्कार किया ।

लोहार्गला से भगवान् ने पुरिमतालपुर की ओर विहार किया और नगर के बाहिरी उद्यान में कुछ समय तक ठहरे। पुरिमताल से भगवान् उन्नाग और गोभूमि होकर राजगृह पहुँचे और वहीं आठवां चातुर्मास किया । इस चौमासे भर भी भगवान् ने उपवास ही रखकर आत्म-चिन्तन किया । चातुर्मास के समाप्त होने पर पारणा करके भगवान् ने वहां से विहार कर दिया ।

नवां वर्ष

राजगृह से भगवान् ने पुनः लाढ देश की ओर विहार किया और वहां के वज्र-भूमि, सुम्ह-भूमि जैसे अनार्य प्रदेश में पहुँचे । यहां पर ठहरने योग्य स्थान न मिलने से वे कभी किसी वृक्ष के नीचे और कभी किसी खंडहर में ठहरते हुए विचरने लगे । यहां के लोग भगवान् की हंसी उड़ाते, उन पर धूलि और पत्थर फैंकते, गालियां देते और उन पर शिकारी कुत्ते छोड़ते थे । पर इन सारे कष्टों को सहते हुए कभी भी भगवान् के मन में किसी प्रकार कोई का रोष या आवेश नहीं आया ।

चातुर्मास आ जाने पर भी भगवान् को ठहरने योग्य कोई स्थान नहीं मिला, अतः पूरा चौमासा उन्होंने वृक्षों के नीचे या खंडहरों में रहकर ही बिताया । चातुर्मास समाप्त होने पर भगवान् ने वहां से विहार कर दिया । यहां यह ज्ञातव्य है कि भगवान् इस अनार्य देश में छह मास तक विचरण करते हुए रहे, पर एक भी दिन आहार नहीं लिया, अर्थात छह मास के लगातार उपवास किये ।

दशवां वर्ष

अनार्य देश से निकल कर भगवान् ने सिद्धार्थपुर की ओर विहार किया और क्रमशः विचरते हुए वैशाली पहुँचे। एक दिन नगर के बाहिर आप कायोत्सर्ग से ध्यानावस्थित थे कि वहां के लड़कों ने आपको पिशाच समझ कर बहुत परेशान किया । जब वहां के राजा को इस बात का पता चला, तो वह भगवान् के पास आया और पहिचान कर उनसे लड़कों के दुष्कृत्यों की क्षमा मांगी और वन्दना की ।

वैशाली से भगवान् ने वाणिज्य ग्राम की ओर विहार किया । मार्ग में गण्डकी नदी मिली । भगवान् ने नाव-द्वारा उसे पार किया । नदी के उस पार पहुँचने पर नाविक ने उतराई मांगी । जब कुछ उत्तर या उतराई नहीं मिली, तो उसने भगवान् को रोक लिया । भाग्य से एक परिचित व्यक्ति तभी वहां आया । उसने भगवान् को पहिचान कर नाविक को उतराई दी और भगवान् को मुक्त कराया ।

वहां से विहार कर भगवान् वाणिज्यग्राम के बाहिर में स्थित हो गये। जब वहां के निवासी श्रमणोपासक आनन्द को भगवान् के पधारने का पता चला, तो उसने आकर भगवान् की वन्दना की । वहां से विहार कर भगवान् श्रावस्ती पधार और दशवां चातुर्मास आपने यहीं पर बिताया ।

यहां यह ज्ञातव्य है कि गोशाला ने चातुर्मास के पूर्व ही भगवान् का साथ छोड़ दिया था और तेजोलेश्या की साधना कर स्वयं नियतिवाद का प्रचारक बन गया था ।

ग्यारहवां वर्ष

श्रावस्ती से भगवान् ने सानुलट्ठिय सन्निवेश की ओर विहार किया । इस समय आपने भद्र, महाभद्र और सर्वतोभद्र तपस्याओं को करते हुए सोलह उपवास किये । तपका पारणा भगवान् ने आनन्द उपासक के यहां किया और दृढ़भूमि

की ओर विहार कर दिया । मार्ग में पेढाल-उद्यान के चैत्य में जाकर तेला का उपवास ग्रहण कर एक शिला पर ही ध्यान-स्थित हो गये । एक रात्रि को जब भगवान् ध्यानारूढ़ थे, तब संगमक देव ने रात भर भयंकर से भयंकर नाना प्रकार के उपसर्ग किये । पर वह भगवान् को ध्यान से विचलित न कर सका । प्रातः काल होने पर वह अन्तर्धान हो गया और भगवान् ने वालुका की ओर विहार किया । वहां से सुयोग, सुच्छेत्ता, मलय और हस्तिशीर्ष आदि गांवों में विचरते हुए तोसलि गांव पहुँचे । मार्ग में वह संगमक देव कुछ न कुछ उपद्रव करता ही रहा, मगर भगवान् निर्विकार रहते हुए सर्वत्र विजय पाते रहे ।

तोसलि् गांव से भगवान् मोसलि गांव पहुँचे और वहां के उद्यान में कायोत्सर्ग लगाकर ध्यान-स्थित हो गये । यहां संगमक ने उपद्रव करना प्रारंभ किया और चोर कह कर राज्याधिकारियों से पकड़वा दिया । वहां के राजा ने आपसे कई प्रश्न पूछे । पर जब कोई उत्तर नहीं मिला, तब उसने क्रोध में आकर आपको फांसी लगाने का हुक्म दे दिया । भगवान् के गले में फांसी का फंदा लगाया गया और ज्यों ही नीचे का तख्ता हटाया गया, त्यों ही फंदा टूट गया । इस प्रकार सात बार फांसी लगायी गयी और सातों ही बार फंदा टूटता गया यह देख कर सभी अधिकारी आश्चर्य-चकित होकर राजा के पास पहुँचे । राजा इस घटना से बड़ा प्रभावित हुआ और उसने भगवान् के पास जाकर क्षमा मांगी और उन्हें बन्धन से मुक्त कर दिया ।

मोसलिग्राम स भगवान् सिद्धार्थपुर गये । वहां पर भी भगवान् को चोर समझ कर पकड़ लिया गया । किन्तु एक परिचित व्यक्ति ने उन्हें छुड़वा दिया । वहां से भगवान् वज्रग्राम गये । जब वे पारणा के लिए नगर में विचर रहे थे, तो वहां भी संगमक ने आहार में अन्तराय किया । तब भगवान् आहार लिए बिना ही वापिस चले आये । इस प्रवास में पूरे छह मास के पश्चात् भगवान् की पारणा वज्रग्राम में एक वृद्धा के यहां हुई ।

वज्रग्राम से भगवान् आलंभिया, सेयविया आदि ग्रामों में विचरते हुए श्रावस्ती पहुँचे और नगर के बाहरी उद्यान में ध्यानस्थित हो गये । पुनः वहां से विहार कर कौशाम्बी, वाराणसी, राजगृह, मिथिला आदि नगरों में विहार करते हुए वैशाली पहुँचे और ग्यारहवां चातुर्मास आपने यहीं पर व्यतीत किया और पूरे चातुर्मास भर भगवान् ने उपवास किये।

बारहवां वर्ष

वैशाली से भगवान् ने सुंसुमारपुर की ओर विहार किया और क्रमशः भोगपुर और नन्दग्राम होते हुए मेढियग्राम पधारे । यहां पर भी एक गोपालक ने भगवान् को कष्ट देने का प्रयास किया ।

मेढियग्राम से भगवान् कौशाम्बी गये और पौष कृष्णा प्रतिपदा के दिन भगवान् ने गोचरी को जाते समय यह अभिग्रह लिया कि "यदि शिर से मुंडित, पैरों में बेड़ी, तीन दिन की उपासी, पके हुए उड़द के वाकुल सूप के कोने में लेकर द्वार के बीच में खड़ी हुई, दासीपने को प्राप्त हुई किसी राजकुमारी के हाथ से भिक्षा मिलेगी, तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं।" ऐसे अटपटे अभिग्रह को लेकर भगवान् लगातार चार मास तक नगर में गोचरी को जाते रहे । मगर अभिग्रह पूरा नहीं हुआ । सारे नगर में चर्चा फैल गई कि भगवान् भिक्षा के लिए आते तो हैं, परन्तु बिना कुछ लिए ही लौट जाते हैं । वहां के निवासियों ने और राजा ने भी अभिग्रह जानने के लिए अनेक प्रयत्न किये, पर कोई सफलता नहीं मिली । इस प्रकार पांच दिन कम छह मास बीत गये । इस दिन सदा की भांति भगवान् गोचरी को आये कि अभिग्रह के अनुसार चन्दना को पड़िगाहते हुए देखा और अपना अभिग्रह पूरा होता देखकर उसके हाथ से आहार ले लिया । भगवान् के आहार ग्रहण करते ही चन्दना की सब बेड़ियां खुल गईं और आकाश में जय-जय कार ध्वनि गूंजने लगी। भगवान् आहार करके इधर वापिस चले आये और उधर राजा शतानिक को जब यह बात ज्ञात हुई, तो वह चन्दना के समीप पहुँचे । चन्दना को देखते ही रानी मृगावती ने उसे पहिचान लिया और बोली-'अरे यह तो मेरी बहिन है' ऐसा कह कर उसे वहां से राज-भवन ले आई । पुनः उसने अपने पिता के यहां यह समाचार भेजा और राजा चेटक वैशाली से चन्दना को अपने घर लिवा ले गये । कालान्तर में यही चन्दना भगवान् के संघ की प्रथम साध्वी हुई ।

कौशाम्बी से विहार कर भगवान् सुमंगल, सुच्छेता, पालक ग्रामों में विचरते हुए चम्पापुरी पहुँचे और चार मास के उपवास का नियम लेकर वहीं चौमासा पूर्ण किया । चातुर्मास के पश्चात् विहार करके जंभियग्राम गये ।

तेरहवां वर्ष

जंभियग्राम में कुछ दिन रहने के पश्चात् भगवान् वहां से मेढियाग्राम होते हुए छम्माणि गये और गांव के बाहिर ही ध्यान में स्थित हो गये। रात के समय कोई गुवाला भगवान् के पास बैल छोड़कर गांव में चला गया और जब वापिस आया तो उसे बैल वहां नहीं मिले। उसने भगवान् से पूछा-देवार्य, मेरे बैल कहां गये ? भगवान् की ओर से कोई उत्तर नहीं मिलने पर क्रोधित होकर उसने कांस की शलाकाएं दोनों कानों में घुसेड़ दी और पत्थर से ऐसा ठोका कि कान के भीतर वे आपस में मिल गई। कान से बाहिर निकली शलाकाओं को उसने तोड़ दिया, ताकि कोई उनको देख न सके।

श्वे. शास्त्रों में इस उपसर्ग का कारण यह बतलाया गया है कि जब महावीर का जीव त्रिपृष्ठ नारायण के भव में था, तब एक दिन रात्रि के समय वह सुख से अपनी शय्या पर लेटे थे और उनके सामने अनेक संगीतज्ञ सुन्दर संगीत-गान कर रहे थे। नारायण ने शय्या-पाल से कहा कि जब मुझे नींद आ जाय, तो इन गायकों को विदा कर देना। संगीत की सुरीली तान के सुनने में वह शय्या-पाल इतना तन्मय हो गया कि नारायण के सो जाने पर भी गायकों को विदा करना भूल गया और सारी रात गायक गाते रहे। नारायण जागे और गायकों को गाते हुए देखकर शय्या-पाल पर आग-बबूला होकर उससे पूछा कि गायकों को अभी तक विदा क्यों नहीं किया ? उसने विनम्र होकर उत्तर दिया-महाराज, मैं संगीत सुनने में तन्मय हो गया और आपका आदेश भूल गया। शय्या-पाल के उत्तर से नारायण और भी क्रुद्ध हुए और अधिकारियों को आदेश दिया कि इसके दोनों कानों में पिघला हुआ गर्म शीशा भर दिया जाय। बेचारा शय्या-पाल गर्म शीशे के कानों में पड़ते ही छटपटा कर मर गया। उस समय का बद्ध वह निकाचित कर्म महावीर के इस समय उदय में आया और अनेक योनियों में परिभ्रमण के बाद उसी शय्यापाल का जीव गुवाला बना और पूर्व भव के वैर से बैलों का निमित्त पाकर उसका रोष इतना बढ़ा कि उसने महावीर के दोनों कानों में शालकाएं ठोक दी।

छम्माणि से विहार करते हुए भगवान् मध्यमपावा पधारे और गोचरी के लिए घूमते हुए सिद्धार्थ वैश्य के घर पहुँचे। आहार करते समय वहां उपस्थित खरक वैद्य ने भांपा कि भगवान् के शरीर में कोई शल्य है। आहार कर भगवान् गांव के बाहिर चले गये और उद्यान में पहुँच कर ध्यानारुढ़ हो गये। सिद्धार्थ भी वैद्य को लेकर वहां पहुँचा और शरीर की परीक्षा करने पर उसे कान में ठोकी हुई कीलें दिखाई दी। तब उसने संडासी से पकड़ कर दोनों शलाकाएं कानों से खींचकर बाहिर निकाल दी और कानों में घाव भरने वाली औषधि डाली। पुनः वन्दना करके वे दोनों वापिस गांव में लौट आये।

इस प्रकार भयानक उपसर्ग और परीषह सहन करते हुए, तथा नाना प्रकार के तपश्चरण करते हुए भगवान् ने साढ़े बारह वर्ष व्यतीत किये।

इस छद्मस्थ काल में भगवान् के द्वारा किये गये तपश्चरण का विवरण इस प्रकार है-

छह मासी अनशन तप	१	पक्षोपवास	७२
पांच दिन कम छह मासी तप	१	भद्र प्रतिमा २ दिन	१
चातुर्मासिक तप	९	महाभद्रप्रतिमा ४ दिन	१
त्रैमासिक तप	२	सर्वतोभद्र प्रतिमा १० दिन	१
अढ़ाई मासिक तप	२	षष्ठोपवास (बेला)	२२९
दो मासी तप	६	अष्टमभक्त (तेला)	१२
डेढ मासी तप	२	पारणा के दिन	३४९
एक मासी तप	१२	दीक्षा का दिन	१

उस उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भ. महावीर ने अपने छद्मस्थ जीवन के इन १२ वर्ष ६ मास और १५ दिन के तपश्चरण काल में केवल ३५० दिन ही भोजन किया और शेष दिनों में उन्होंने निर्जल ही उपवास किये हैं[1]।

भ. महावीर के छद्मस्थकाल के तपश्चरण और उपसर्ग आदि का उक्त वर्णन श्वे. आगमों के आधार पर दिया है। इससे पाठक जान सकेंगे कि साढ़े बारह वर्ष के लम्बे समय में कैसे-कैसे उपसर्ग और कष्ट भ. महावीर को सहन करना पड़े थे। दि. जैन पुराणों में एक और उपसर्ग का वर्णन मिलता है। वह इस प्रकार है-

एक समय भगवान् विहार करते हुए उज्जयिनी नगरी पहुँचे और वहां के अतिमुक्तक नामक स्मशान भूमि में रात्रि के समय प्रतिमा योग धारण करके खड़े हो गये। अपनी स्त्री के साथ घूमता हुआ भव नामक रुद्र वहां आया और भगवान् को ध्यानस्थ देखकर आग-बबूला हो गया। उसने रात भर अनेक प्रकार के उपसर्ग किये, भयावने रूप बना कर भगवान् को डराना चाहा, उन्हें ध्यान से विचलित करने के लिए अप्सराओं का नृत्य दिखाया गया। इस प्रकार सारी रात्रि भर उपद्रव करने पर भी जब भगवान् विचलित नहीं हुए और सुमेरुवत् अडोल-अकम्प बने रहे, तब वह भी भगवान् के चरणों में नत-मस्तक हो गया। उसने अपने दुष्कृत्यों के लिए भगवान् से क्षमा मांगी, नाना प्रकार के स्तोत्रों से उनका गुण-गान किया और 'अतिवीर या महति महावीर' कहकर उनके नाम का जयघोष किया।

भगवान् के चार नामों की चर्चा पहिले कर आये हैं। यह भगवान् का पांचवां नाम रखा गया। इस प्रकार भगवान् के ५ नाम तभी से प्रचलित हैं- वीर, श्रीवर्धमान, महावीर, अतिवीर या महति महावीर और सन्मति। प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् श्री सिद्ध सेनाचार्य को 'सन्मति' यह नाम बहुत प्रिय रहा और इसी से उन्होंने अपने दार्शनिक ग्रन्थ का नाम ही सन्मति सूत्र रखा। स्वामी समन्तभद्र और अकलंकदेव ने श्री वर्धमान नाम से ही भगवान् की स्तुति की है। वीर और महावीर नाम से तो सर्व साधारण जन भली भांति परिचित ही हैं।

भ. महावीर के केवल ज्ञान की उत्पत्ति और गणधर-समागम

वैशाख शुक्ला दशमी के दिन भ. महावीर को जंभिय ग्राम के बाहिर ऋजुवालुका नदी के उत्तर तटपर श्यामाक नामक किसान के खेत वर्ती शालवृक्ष के नीचे चौथे पहर में केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ। उस समय इन्द्र का आसन कम्पायमान

---

१ जो अ तवो अणुचिन्नो वीर-वरेणं महाणुभावेणं। छउमत्थ-कालियाए अहक्कमं कित्तइस्सामि ॥१॥
नव किर चाउम्मासे छ क्किर दो मासिए ओवासी अ। बारस य मासियाइं बावत्तरि अद्धमासाइं ॥२॥
इक्कं किर छम्मासं दो किर तेमासिए उवासी अ। अड्ढाइज्जाइं दुवे दो चे वर दिवड्ढमासाइं ॥३॥
भद्दं च महाभद्दं पडिमं तत्तो अ सव्वओ भद्दं। दो चत्तारि दसेव य दिवसे ठासी यमणुबद्धं ॥४॥
गोअरमभिग्गहजुअं खमणं छम्मासियं च कासी अ। पंच दिवसेहिं ऊणं अव्वहिओ वच्छनयरीए ॥५॥
दस दो किर महप्पा ठाइ मुणी एगराइयं पडिमं। अट्ठम-भत्तेण जई इक्कक्कं चरमराई अं ॥६॥
दो चेव य च्छट्ठसए अउणातीसे उ वासिओ भयवं। न कयाइ निच्चभत्तं चउत्थभत्तं च से आसि ॥७॥
बारस वासे अहिए छट्ठं भत्तं जहन्नयं आसि। सव्वं च तवोकम्मं अपाणयं आसि वीरस्स ॥८॥
तिन्नि सए दिवसाणं अउणापन्ने य पारणाकालो ॥ उक्कुडुअ निसिज्जाए ठिय पडिमाणे सए बहुए ॥९॥
पव्वज्जाए दिवसं पढमं इत्थं तु पक्खिवित्ता णं। संकलियम्मि उ संते जं लद्धं तं निसामेह ॥१०॥
बारस चेव य वासा मासा छच्चेव अद्धमासो य। वीर-वरस्स भगवओ एसो छउमत्थ-परियाओ ॥११॥
(आवश्यक - निर्युक्ति पृ. १००-१०१)

२ किरात-सैन्यरूपाणि पापोपार्जन-पण्डितः। विद्या-प्रभावसम्भावितोपसर्गैर्भयावहैः ॥३३५॥
स्वयं स्खलयितुं चेतः समाधेरसमर्थकः। स महति-महावीराख्यां कृत्वा विविधाः स्तुतीः॥३३६॥
उमया सममाख्याय नर्तित्वागादमत्सरः ॥३३७ पूर्वार्ध॥
(उत्तरपुराण, पर्व ७४)

हुआ । उसने अवधि ज्ञान से जाना कि भ. महावीर को केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ है, अतएव तुरन्त ही सब देवों के साथ भगवान् की वन्दना के लिए आया । इन्द्र के आदेश से कुबेर ने एक विशाल सभा-मण्डप रचा, जिसे कि जैन शास्त्रों की परिभाषा में समवसरण या समवशरण कहते हैं । इस पद का अर्थ है सर्व ओर से आने वाले लोगों को समान रूप से शरण देने वाला स्थान ।

जिस दिन भ. महावीर को केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ, उसके कुछ समय पूर्व से ही मध्यम पावापुरी में सोमिल नाम के ब्राह्मण ने अपनी यज्ञशाला में एक बहुत बड़े यज्ञ का आयोजन किया था और उसमें सम्मिलित होने के लिए उसने उस समय के प्राय: सभी प्रमुख एवं प्रधान ब्राह्मण विद्वानों को अपनी शिष्य-मण्डली के साथ आमन्त्रित किया था ।

उस यज्ञ में भाग लेने के लिए इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति ये तीनों ही गौतमगोत्री विद्वान्-जो कि सगे भाई थे-अपने-अपने पांच पांचसौ शिष्यों के साथ आये हुए थे । ये मगध देश के गोबर ग्राम के निवासी थे और इनके पिता का नाम वसुभूति और माता का नाम पृथ्वी था । यद्यपि ये तीनों ही विद्वान् वेद-वेदांगादि चौदह विद्याओं के ज्ञाता थे, तथापि इन्द्रभूति को जीव के विषय में, अग्निभूति को कर्म के विषय में और वायुभूति को जीव और शरीर के विषय में शंका थी ।

उसी यज्ञ-समारोह में कोल्लाग-सन्निवेश-वासी आर्यव्यक्त नाम के विद्वान् भी सम्मिलित हुए थे । इनके पिता नाम धनमित्र और माता का नाम वारुणी था । इनका गोत्र भारद्वाज था । इन्हें पंचभूतों के विषय में शंका थी, अर्थात् ये जीव की उत्पत्ती पृथ्वी, जल, अग्नि वायु और आकाश इन पंच भूतों से ही मानते थे । जीव की स्वतन्त्र सत्ता है कि नहीं, इस विषय में इन्हें शंका थी । इनके भी पांच सौ शिष्य थे । उनके साथ ये यज्ञ में आये थे ।

उसी कोल्लाग-सन्निवेश के सुधर्मा नाम के विद्वान् भी यज्ञ में आये थे, जो अग्निवैश्यायनगोत्री थे। इनके पिता का नाम धम्मिल्ल था और माता का नाम भद्दिला था । इनका विश्वास था कि वर्तमान में जो जीव जिस पर्याय (अवस्था) में है, वह मर कर भी उसी पर्याय में उत्पन्न होता है । पर आगम-प्रमाण न मिलने से वे अपने मत में सन्दिग्ध थे। इनके भी पांच सौ शिष्य उनके साथ यज्ञ-समारोह में शामिल हुए थे ।

उसी यज्ञ में मौर्य-सन्निवेश के निवासी मण्डिक और मौर्य पुत्र नामक विद्वान् भी अपने साढ़े तीन-तीन सौ शिष्यों के साथ सम्मिलित हुए । मण्डिक वशिष्ठ-गौत्री थे, इनके पिता का नाम धनदेव और माता का नाम विजया था । इन्हें बन्ध और मोक्ष के विषय में शंका थी । मौर्य-पुत्र कश्यप-गोत्री थे। इनके पिता का नाम मौर्य और माता का नाम विजया था, इन्हें देवों के अस्तित्व के विषय में शंका थी ।

उस यज्ञ में भाग लेने के लिए अकम्पित, अचलभ्राता, मेतार्य, और प्रभास नाम के चार अन्य विद्वान भी आये थे, (इनके पिता-मातादि के नाम चौदहवें सर्ग में दिये हुए हैं ।) इनमें से प्रत्येक का शिष्य-परिवार तीनसौ शिष्यों का था । अकम्पित को नरक के विषय में, अचलभ्राता को पुण्य के सम्बन्ध में, मेतार्य को परलोक के संबंध में और प्रभास को मुक्ति के सम्बन्ध में शंका थी । अकम्पित मिथिला के थे और उनका गौतम गोत्र था । अचल भ्राता कौशल के थे और उनका गोत्र हारित था । मेतार्य कौशाम्बी के समीपवर्ती तुंगिकग्राम के थे और उनका गोत्र कौण्डिन्य था । प्रभास राजगृह के थे, उनका भी गौत्र कौण्डिन्य था । वे सभी विद्वान् ब्राह्मण थे और वेद-वेदाङ्ग के पारगामी थे । परन्तु अभिमान-वश ये अपनी शंकाओं को किसी अन्य के सम्मुख प्रकट नहीं करते थे ।

जिस समय इधर समवशरण में आकाश से देवगण आ रहे थे उसी समय उधर सोमिल ब्राह्मण के यहां यज्ञ भी हो रहा था और उपर्युक्त विद्वान अपने-अपने शिष्य परिवार के साथ वहां उपस्थित थे, अत: उन्होंने उपस्थित लोगों से कहा- देखो हमारे मंत्रों के प्रभाव से देवगण भी यज्ञ में शामिल होकर अपना हव्य-अंश लेने के लिए आ रहे हैं । पर जब उन्होंने देखा कि ये देवगण तो उनके यज्ञस्थल पर न आकर दूसरी ही ओर जा रहे हैं, तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ । मनुष्यों को भी जब उसी ओर को जाते हुए देखा, तो उनके विस्मय का ठिकाना न रहा और जाते हुए लोगों से पूछा कि तुम लोग कहां जा रहे हो ? लोगों ने बताया कि महावीर, सर्वज्ञ तीर्थंकर यहां आये हुए हैं, उनका धर्मोपदेश सुनने के लिए हम लोग जा रहे हैं और हम ही क्या, ये देव लोग भी स्वर्ग से उतर कर उनका उपदेश सुनने के

लिए जा रहे हैं । उनका यह उत्तर सुनकर इन्द्रभूति गौतम विचारने लगा- क्या वेदार्थ से शून्य यह महावीर सर्वज्ञ हो सकता है ? जब मैं इतना बड़ा विद्वान होने पर भी आज तक सर्वज्ञ नहीं हो सका तो यह वेद-बाह्य महावीर कैसे सर्वज्ञ हो सकता है ? चलकर इसकी परीक्षा करना चाहिए और ऐसा सोच कर वह भी उसी ओर चल दिया जिस ओर कि सभी नगर-निवासी जा रहे थे ।

भ. महावीर के समवशरण में गौतम इन्द्रभूति और उनके अन्य साथी विद्वान् किस प्रकार पहुँचे, इसका ऊपर जो उल्लेख किया गया है, वह श्वे. शास्त्रों के आधार पर किया गया है । दि शास्त्रों के अनुसार भगवान् को कैवल्य की प्राप्ति हो जाने के पश्चात् समवशरण की रचना तो इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने वैशाख शुक्ला १० के दिन ही कर दी । सपरिवार चतुर्निकाय देवों के साथ आकर के इन्द्र ने केवल-कल्याणक भी मनाया और भगवान् की पूजा करके अपने प्रकोष्ठ में जा बैठा तथा भगवान् के मुखारविन्द से धर्मोपदेश सुनने की प्रतीक्षा करने लगा । प्रतीक्षा करते-करते दिन पर दिन बीतने लगे। तब इन्द्र बड़ा चिन्तित हुआ कि भगवान् के उपदेश नहीं देने का क्या कारण है ? जब उसने अपने अवधिज्ञान से जाना कि 'गणधर' के न होने से भगवान् का उपदेश नहीं हो रहा है, तब वह गणधर के योग्य व्यक्ति के अन्वेषण में तत्पर हुआ- और उस समय के सर्व श्रेष्ठ विद्वान् एवं वेद-वेदांग के पारगामी इन्द्रभूति गौतम के पास एक शिष्य का रूप बना कर पहुँचा और बोला कि एक गाथा[1] का अर्थ पूछने को आपके पास आया है । इन्द्रभूति इस शर्त पर गाथा का अर्थ बताने के लिए राजी हुए कि अर्थ जानने के बाद वह उनका शिष्य बन जायगा। जब इन्द्रभूति गौतम ने उससे पूछा कि वह गाथा तूने कहां से सीखी है ? तब उसने उत्तर दिया-मैंने यह अपने गुरु महावीर से सीखी है, किन्तु उन्होंने कई दिनों से मौन धारण कर लिया है[2], अतः उसका अर्थ जानने के लिए मैं आपके पास आया हूँ । वे गाथा सुनकर बहुत चकराये । और समझ न सके कि पंच अस्तिकाय क्या हैं, छह जीवनिकाय कौन से हैं, आठ प्रवचन मात्रा कौनसी हैं ? इन्द्रभूति जीव के अस्तित्व के विषय में स्वयं ही शंकित थे[3], अतः और

---

१. षट्खंडागमकी धवला टीका में वह गाथा इस प्रकार दी है-
पंचेव अत्थिकाया, छज्जीवणिकाया महव्वया पंच ।
अट्ठ य पवयणमादा, सहेउओ बंध-मोक्खो य ॥

(षट्खंडागम, पु ९, पृ १२९)

संस्कृत ग्रन्थों में उक्त गाथा के स्थान पर यह श्लोक पाया जाता है-
त्रैकाल्यं द्रव्यषटकं नवपदसहितं जीवषट्कायलेश्याः,
पञ्चान्ये चास्तिकाया व्रतसमितिगतिज्ञानचारित्रभेदाः ।
इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवनमहितैः प्रोक्तमर्हद्भिरीशैः,
प्रत्येति श्रद्दधाति स्पृशति च मतिमान् यः स वै शुद्धदृष्टिः ।

(तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतभक्तिः)

कुछ अन्य ग्रन्थों में यही श्लोक कुछ पाठ-के साथ भी मिलता है । -सम्पादक

२ अहुणा गुरु सो मउणे संठिउ, कहइ ण किंपि ज्झाणपरिट्ठिउ ।
एव्वहिं तुम्ह पयडमई णिसुणिय सत्थत्थहं अइ कुसल वियाणिय ।
तहो कव्वहु अत्थथिउ आयउ, कहहु तंपि महु वियलिय मायउ । (रयधुकृत-महावीर चरित-पत्र ४९)
मुझ गुरु मौंन लीयुं, वर्धमान तेह नाम ।
तेह भणी तुझ पूछिवा, आव्युं अर्थ गुणग्राम ॥ (महावीर रास, पत्र १२० A)

३ खओवसमजणिद-चउरमलबुद्धिसंपण्णेण बम्हणेण गोदमगोदेण सयलदुस्सुदिपारएण जीवाजीव-विसयसंदेह-विणासणट्ठ मुवगय-वड्ढमाणपादमूलेण इंदभूदिणावहारिदो ।

(षट्खंडागम, पुस्तक १, पृ. ६४)

भी असमंजस में पड़कर उससे बोले-चल, तेरे गुरु के ही सामने इसका अर्थ बताऊंगा । यह कह कर इन्द्रभूति उस छद्मरूप-धारी शिष्य के साथ भ. महावीर के पास पहुँचे । भगवान् ने आते ही उनका नाम लेकर कहा- 'अहा इन्द्रभूति तुम्हारो हृदय में जो यह शंका है कि जीव है, या नहीं ? सो जो ऐसा विचार कर रहा है, निश्चय से वही जीव है, उसका सर्वथा अभाव न कभी हुआ है और न होगा । 'भगवान् के द्वारा अपनी मनोगत शंका का उल्लेख और उसका समाधान सुनकर इन्द्रभूति ने भक्ति से विह्वल होकर तत्काल उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया और दीक्षा लेकर दिगम्बर साधु बन गये । गौतम इन्द्रभूति का निमित्त पाकर इस प्रकार ६६ दिन के बाद श्रावण-कृष्णा प्रतिपदा को भगवान् का प्रथम धर्मोपदेश हुआ[१] ।

वीरसेनाचार्य ने जयधवला टीका में इस विषय पर कुछ रोचक प्रकाश डाला है, जो इस प्रकार है-

शंका-केवल ज्ञानोत्पत्ति के बाद ६६ दिन तक दिव्यध्वनि क्यों प्रकट नहीं हुई ?

समाधान-गणधर के अभाव से ।

शंका-सौधर्म इन्द्र ने तत्काल ही गणधर को क्यों नहीं ढूंढा ?

समाधान-काल-लब्धि के बिना असहाय देवेन्द्र भी गणधर को ढूंढने में असमर्थ रहा ।

शंका- अपने पादमूल में आकर महाव्रतों को स्वीकार करने वाले पुरुष को छोड़कर अन्य के निमित्त से दिव्यध्वनि क्यों नहीं प्रवृत होती हैं ।

समाधान- ऐसा ही स्वभाव है और स्वभाव में प्रश्न नहीं किया जा सकता है, अन्यथा फिर कोई व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी[२] ।

गुण भद्राचार्य ने भी अपने उत्तर पुराण में यह उल्लेख किया है कि गौतम-द्वारा जीव के अस्तित्व के विषय में प्रश्न किये जाने पर भगवान् का उपदेश प्रारम्भ हुआ[३] ।

इन्द्र ने ब्राह्मण वेष में जाकर जिस गाथा का अर्थ गौतम से पूछा था, उसमें निर्दिष्ट तत्त्वों के क्रम से भगवान् की वाणी प्रकट हुई । सर्व प्रथम सब द्रव्यों के लक्षण-स्वरूप "उवज्जेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा" (प्रत्येक वस्तु प्रति समय नवीन पर्याय रूप से उत्पन्न होती है, पूर्व पर्याय रूप से विनष्ट होती है और अपने मूल स्वभाव रूप से ध्रुव रहती है ।) यह मातृका-पद दिव्यध्वनि से प्रकट हुआ। पुनः "जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो । भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई" (जीव ज्ञान-दर्शनरूप उपयोगमय है, अमूर्त्त है, कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता है, स्वदेह-परिमाण है, संसारी रूप भी है और सिद्ध-स्वरूप भी है, तथा स्वभाव से ऊर्ध्वगति-स्वभावी है ।) ये सत तत्त्व नव पदार्थ-सूचक बीज पद प्रकट हुए । इसी प्रकार गाथोक्त गति, लेश्या आदि के प्रतिपादक बीजपद दिव्यध्वनि से प्रकट हुए । इन मातृका या बीज पदों को सुनते ही गौतम एवं उमके अन्य साथी विद्वानों की समस्त शंकाओं का समाधान हो गया । तभी उन सब ने भगवान् से जिन-दीक्षा ग्रहण कर ली । भ महावीर के दिव्य सान्निध्य से गौतम के श्रुत ज्ञानावरण कर्म का विशिष्ट क्षयोपशम प्रकट हुआ और वे द्वादशाङ्ग श्रुत के वेत्ता हो गये । उसी दिन अपराह्न में उन्होंने भगवान् की वाणी का द्वादशाङ्ग रूप से विभाजन किया ।

---

१. वासस्स पढममासे सावणणामम्मि बहुल पडिवाए ।
अभिजीणक्खत्तम्मि य उप्पत्ती धम्मतित्थस्स ॥(तिलोयप., १६८)

२. केवलणाणे समुप्पण्णे वि दिव्वज्झुणीए किमट्ठं तत्थापउत्ती ? गणिंदाभावादो । सोहम्मिंदेण तक्खणे चेव गणिंदो किरण ढोइदो ? ण, काललद्धीए विणा असहेज्जस्स, देविंदस्स तड्ढोयण
सत्तीए अभावादो । सगपादमूलम्मि पडिवण्णमहव्वयं मोत्तूणण अण्णमुद्दिसिय दिव्वज्झुणी किण्ण पयट्टदे ? साहावियादो।
ण च सहाओ परपज्जणिओगारुहो, अव्ववत्थापत्तीदो । (कसाय. पुस्तक १. पृ. ७६)
अस्ति किं नास्ति वा जीवस्तत्स्वरूपं निरूप्यताम् ।
इत्यप्राक्षमतो मह्यं भगवान् भक्तवत्सल: ॥३६०॥ (उ. पु. प. ७४)

श्वे. शास्त्रों के आधार पर

गणधरों का जीवन–परिचय

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
गणधर नाम	पिता का नाम	माता का नाम	गोत्र नाम	जन्म नक्षत्र	जन्म स्थान	गृहस्थ जीवन	दीक्षा स्थान	शिष्य संख्या	छद्मस्थ काल वर्ष	केवलि का वर्ष	सर्व आयु वर्ष	निर्वाण काल वर्ष	निर्वाण स्थान
१ इन्द्रभूति	वसुभूति ब्राह्मण	पृथ्वी	गौतम	ज्येष्ठा	गोबर ग्राम (मगध) ग्राम	५० वर्ष	मध्यम पावा	५००	३०	१२	९२	४२	वैभार गिरि (राजगृह)
२ अग्निभूति	वसुभूति ब्राह्मण	पृथ्वी	गौतम	कृतिका	(मगध) ग्राम	४६ वर्ष	मध्यम पावा	५००	१२	१६	७४	२८	
३ वायुभूति	वसुभूति ब्राह्मण	पृथ्वी	गौतम	स्वाति	(मगध) ग्राम	४२ वर्ष	मध्यम पावा	५००	१०	१८	७०	२८	
४ व्यक्त	धनमित्र ब्राह्मण	वारुणी	भारद्वाज	श्रवण	कोल्लाग (मगध)	५० वर्ष	मध्यम पावा	५००	१२	१८	८०	३०	
५ सुधर्मा	धम्मिल्ल ब्राह्मण	भद्दिला	अग्निवैश्यायन	उत्तराफाल्गुनी	कोल्लाग (मगध)	५० वर्ष	मध्यम पावा	५००	४२	८	१००	५०	
६ मंडिक	धनदेव ब्राह्मण	विजया	वशिष्ठ	मघा	मौर्य सन्निवेश	५३ वर्ष	मध्यम पावा	३५०	१४	१६	८३	३०	
७ मौर्यपुत्र	मौर्य ब्राह्मण	विजया	काश्यप	रोहिणी	मौर्य सन्निवेश	६५ वर्ष	मध्यम पावा	३५०	१४	१६	९५	३०	
८ अकम्पित	वसु ब्राह्मण	नन्दा	हारीत	मृगेशिरा	मिथिला	४६ वर्ष	मध्यम पावा	३००	१२	१४	७२	३०	
९ अचल	देव ब्राह्मण	जयन्ती	गौतम	उत्तराषाढ़ा	कोशल	४८ वर्ष	मध्यम पावा	३००	९	२१	७८	१६	
१० मेतार्य	दत्त ब्राह्मण	वरुणा	कौडिन्य	अश्विनी	तुंगिक सन्निवेश	३६ वर्ष	मध्यम पावा	३००	१०	१६	६२	२६	
११ प्रभास	बल ब्राह्मण	अतिभद्रा	कौडिन्य	पुष्य	राजगृह	१६ वर्ष	मध्यम पावा	३००	८	१६	४०	२४	

(स्तम्भ १३: प्र. महावीर के केवलोत्पत्ति के पश्चात)

महावीर–कालिक मत–मतान्तर

भ. महावीर के समय अजितकेश कंबल, प्रकुध कात्यायन, मंखलि गोशाल, पूरण काश्यप, गौतम बुद्ध और संजय वेलट्ठि-पुत्त, ये अपने को तीर्थंकर कह कर अपने अपने मतों का प्रचार कर रहे थे।

इनके अतिरिक्त श्वे. औपपातिक सूत्र की टीका में तथा अन्य शास्त्रों में भ. महावीर के समय में निम्न लिखित तापसों का उल्लेख मिलता है-

१ होत्तिय-अग्निहोत्र करने वाले
२ पोत्तिय-वस्त्रधारी तापस
३ कोत्तिय-भूमि पर सोने वाले
४ जण्णई-यज्ञ करने वाले
५ सड्ढई-श्रद्धा रखने वाले
६ सालई-अपना सामान साथ लेकर घुमने वाले
७ हुँबउट्ठा-कुण्डिक साथ में लेकर भ्रमण करने वाले
८ दंतुक्खलिया-फल खाकर रहने वाले
९ उम्मज्जका-उन्मज्जन मात्र से स्नान करने वाले
१० सम्मज्जका-कई बार गोता लगाकर स्नान करने वाले
११ निम्मज्जका-क्षण मात्र में स्नान कर लेने वाले
१२ संपक्खला-मिट्टी घिस कर स्नान करने वाले
१३ दक्खिण-कूलगा-गंगा के दक्षिण किनारे पर रहने वाले
१४ उत्तर-कूलगा-गंगा के उत्तर किनारे पर रहने वाले
१५ संख-धम्मका-शंख बजाकर भोजन करने वाले
१६ कूल-धम्मका-तट पर शब्द करने के भोजन करने वाले
१७ मिगलुद्धका-पशुओं की शिकार करने वाले
१८ हत्थितावसा-हाथी मारकर अनेक दिनों तक उसके मांस-भोजी
१९ उद्दण्डका-दण्ड ऊपर करके चलने वाले
२० दिसापोक्खिणा-चारों दिशाओं में जल छिड़क कर फल-फूल एकत्र करने वाले
२१ वाकवासिण-बल्कलधारी
२२ अंबुवासिण-जल में रहने वाले
२३ बिलवासिण-बिल-गुफादि में रहने वाले
२४ जलवासिण-जल में डूब कर रहने वाले
२५ वेलवासिण-समुद्र-तट पर रहने वाले
२६ रुक्खमूलिया-वृक्षों के नीचे रहने वाले
२७ अंबुभक्खिण-केवल जल पीकर रहने वाले
२८ वायुभक्खिण-पवन भक्षण कर रहने वाले
२९ सेवालभक्खिण-सेवाल (काई) खाकर रहने वाले
३० मूलाहार-केवल मूल खाने वाले
३१ कंदाहार-केवल कन्द खाने वाले
३२ तयाहार-केवल वृक्ष की छाल खाने वाले
३३ पत्ताहारा-केवल पत्र खाने वाले

३४ पुप्फाहार-केवल पुष्प खाने वाले

३५ बीयाहार-केवल बीज खाने वाले

३६ परिसड्डियकंदमूलतयपत्तपुप्फफलाहार-कंद, मूल, छाल, पत्र, पुष्प, फल-भोजी

३७ जलाभिसेयकढिणगायभूया-विना स्नान के भोजन न करने वाले

३८ आयावणाहिं-थोड़ा आताप सहने करने वाले

३९ पंचग्गितावेहिं-पंचाग्नि तपने वाले

४० इंगालसोल्लिया-अंगार पर सेंक कर खाने वाले

४१ कंडुसोल्लिया-तवे पर सेंक कर खाने वाले

४२ कट्ठसोल्लिया-लकड़ी पर पकाकर भोजन करने वाले

४३ अत्तुक्कोसिया-आत्मा में ही उत्कर्ष मानने वाले

४४ भूइकम्मिया-ज्वर आदि के दूर करने के लिए भूति (राख, भस्म) देने वाले

४५ कोउयकारया-कौतुक करने वाले

४६ धम्मचिंतका-धर्म शास्त्र को पढ़ा कर भिक्षा लेने वाले

४७ गोव्वइया-गोव्रत-धारक, गाय के पालने वाले

४८ गोअम्मा-छोटे बैलों का चलना सिखा कर भिक्षा मांगने वाले

४९ गीतरई-गा-गाकर लोगों को मोहने वाले

५०चंडिदेवगा-चक्र को धारण करने वाले, चंडी देवी के भक्त

५१ दगसोयारिय-पानी से भूमि को सींच कर चलने वाले

५२ कम्मारभिक्खु-देवताओं की द्रोणी लेकर भिक्षा मांगने वाले

५३ कुव्वीए-दाढ़ी रखने वाले

५४ पिंडोलवा-भिक्षा-पिण्ड पर जीवन-निर्वाह करने वाले

५५ ससरक्खा-शरीर को धूलि लगाने वाले

५६ वणीमग-याचक, घर-घर से चुटकी आटा आदि मांगने वाले

५७ वारिभद्रक-सदा ही जल से हाथ-पैर आदि के धोने में कल्याण मानने वाले

५८ वारिखल-मिट्टी से वार-वार मार्जन कर पात्रादि की शुद्धि करने वाले ।

इनके अतिरिक्त बौद्ध-भिक्षु, वैदिक, वेदान्ती, आजीवक, कापालिक, गैरुक, परिव्राजक, पांडुरंग, रक्तपट, वनवासी भगवी आदि अनेक प्रकार के अन्य भी साधुओं के होने का उल्लेख मिलता है ।

दि और श्वे दोनों ही परम्पराओं के सास्त्रों में ३६३ मित्यावादियों का भी भेद-प्रभेद सहित वर्णन मिलता है, जो कि इस प्रकार है-

(१) क्रियावादियों के १८० भेद- जो क्रिया-काण्ड में ही धर्म मानते थे ।

(२) अक्रियावादियों के ८४ भेद-जो क्रिया-काण्ड को व्यर्थ मानते थे ।

(३) अज्ञानवादियों के ६७ भेद-जो कि अज्ञानी बने रहने में धर्म मानते थे ।

(४) विनयवादियों के ३२ भेद-जो कि हर एक देवी-देवता की विनय करने को धर्म मानते थे।

इन सब का विगतवार वर्णन दोनों परम्पराओं के शास्त्रों में उपलब्ध है ।

भ महावीर के समय में अनेक प्रकार के मिथ्यात्व-वर्धक पाखण्डी पूजा-पाठ भी प्रचलित थे । यहां पर उनमें से कुछ का दिग्दर्शन इस प्रकार है-

(१) इन्द्रमह-इन्द्र को प्रसन्न करने वाली पूजन

(२) रुद्रमह-महादेव को प्रसन्न करने वाली पूजन

(३) स्कन्दमह-महादेव के पुत्र गणेश की पूजन

(४) मुकुन्दमह या वासुदेवमह-श्री कृष्ण की पूजन

(५) नागमह-सर्पों की पूजन

(६) वैश्रमणमह-कुबेर की पूजन

(७) यक्षमह-यक्ष देवताओं की पूजन

(८) भूतमह-भूत पिशाचों की पूजन ।

भ. महावीर को इन सैंकड़ों प्रकार के पाखण्डों और पाखण्डियों के मतों का सामना करना पड़ा और अपनी दिव्य देशना के द्वारा उन्होंने इन सबका निरसन करके और शुद्ध धर्म का उपदेश देकर भूले-भटके असंख्य प्राणियों को सन्मार्ग पर लगाया ।

भ. महावीर और महात्मा बुद्ध

भ. महावीर के समकालीन प्रसिद्ध पुरुषों में शाक्यश्रमणगौतम बुद्ध का नाम उल्लेखनीय है । आज संसार में बौद्ध धर्मानुयायियों की संख्या अत्यधिक होने से महात्मा बुद्ध का नाम विश्वविख्यात है । चीन, जापान, श्रीलंका आदि अनेक देश आज उनके भक्त हैं । किन्तु एक समय था जब भ. महावीर का भक्त भी अगणित जन-समुदाय था । आज चीनी और जापानी बौद्ध होते हुए भी आमिष-(मांस) भोजी हैं । बौद्ध धर्म की स्थापना तो शाक्य पुत्र गौतम बुद्ध ने की, परन्तु जैन धर्म तो युग के आदि काल से ही चला आ रहा है ।

दि जैन शास्त्रों के उल्लेखों के अनुसार बुद्ध का जन्म महावीर से कुछ पहिले कपिल-वस्तु के महाराज शुद्धोदन के यहां हुआ था । जब उनका जन्म हुआ, उस समय भारत में सर्वत्र ब्राह्मणों का बोल बाला था और वे सर्वोपरि माने जा रहे थे, तथा वे ही सर्व परिस्थितियां थी, जिनका कि पहिले उल्लेख किया जा चुका है । बुद्ध का हृदय उन्हें देखकर द्रवित हो उठा और एक वृद्ध पुरुष की जराजर्जरित दशा को देखकर वे संसार से विरक्त हो गये । उस समय भ पार्श्वनाथ का तीर्थ चल रहा था, अतः पिहितास्रव नामक गुरु के पास पलास नगर में सरयू नदी के तीर पर आकर उन्होंने दैगम्बरी दीक्षा ले ली[1] और बहुत दिनों तक उन्होंने जैन साधुओं के कठिन आचार का पालन किया। उन्होंने एक स्थल पर स्वयं ही कहा है-

"मैं वस्त्र-रहित होकर नग्न रहा, मैंने अपने हाथों में भोजन किया, मैं अपने लिए बना हुआ उद्दिष्ट भोजन नहीं करता था, निमन्त्रण पर नहीं जाता था । मैं शिर और दाढ़ी के बालों का लोंच करता था । मैं आगे भी केशलुंच करता रहा । मैं एक जल-बिन्दु पर भी दया करता था। मैं सावधान रहता था कि सूक्ष्म जीवों का भी घात न होने पावे[2] ।"

"इस प्रकार मैं भयानक वन में अकेला गर्मी और सर्दी में भी नंगा रहता था । आग से नहीं तापता था और मुनि-चर्या में लीन रहता था[3] ।"

लगभग छह वर्ष तक घोर तपश्चरण करने और परीषह-उप-सर्गों को सहने पर भी जब उन्हें न कैवल्य की प्राप्ति न हुई और न कोई ऋद्धि-सिद्धि ही हुई, तब वे उग्र तपश्चरण छोड़कर और रक्ताम्बर धारण करके मध्यम मार्ग का उपदेश देने लगे । यद्यपि वे जीवघात को पाप कहते थे और उसके त्याग का उपदेश देते थे । तथापि स्वयं मरे हुए प्राणी का मांस खाने को बुरा नहीं समझते थे । मांस को वे दूध-दही की श्रेणी में और मद्यादिक को जल की श्रेणी

---

१. सिरिपासणाह-तित्थे सरयूतीरे पलासणयरत्थो ।
पिहियासवस्स सिस्सो महासुदो बुद्धकित्तिमुणी ॥६॥ (दर्शनसार)

२. अचेलको होमि...हत्थापलेखनो होमि......नाभिहितं न उद्दिस्सकतं न निमत्तण सादि यामि, केस-मस्सुलोचकोवि होमि, केसमस्सुलोचनानुयोगं अनुयुक्ते । यात उद-बिन्दुम्मि पिये दया पच्च पट्टिता होमि, याहं खुद्दके पाणो विसमगते संघात आयदिस्संति ।

३. सो तत्तो सो सो ना एको तिंसतके वने ।
नग्गो न च अग्नि असीनो एसना पसुतो मुनीति॥ (महासीहनादसुत्त)

में मानने लगे और उनका उपयोग स्वयं भी करने लगे[1] । फल यह हुआ कि उनके धर्म का अनुयायी वर्ग भी धीरे-धीरे मद्य-पायी और मांस-भोजी हो गया ।

खान-पान की शिथिलता रखने पर भी उन्होंने लोगों में मित्ती (मैत्री) मुदिता (प्रमोद) करुणा और मध्यस्थता रूप चार प्रकार की धार्मिक भावनाएं रखने का उपदेश दिया । उस समय जो ब्राह्मणों का प्राबल्य था और जिसके कारण वे स्वयं हीनाचारी पापी जीवन बिताते हुए अपने को सर्वोच्च मानते थे, उसके विरुद्ध बड़े जोर-शोर के साथ अपनी आवाज बुलन्द की । उनके इन धार्मिक प्रवचनों का संग्रह 'धम्मपद' (धर्मपद) के नाम से प्रसिद्ध है और जिसे आज बुद्ध-गीता भी कहा जाता है । यह धम्मपद बुद्ध की वाणी के रूप में प्रख्यात है । उसमें के ब्राह्मण-वर्ग का यहां उद्धरण दिया जाता है । ब्राह्मण को लक्ष्य करके बुद्ध कहते हैं-

हे[2] ब्राह्मण, विषय-विकार के प्रवाह को वीरता से रोक और कामनाओं को दूर भगा । जब तुम्हें उत्पन्न हुई नाम रूप वाली वस्तुओं के नाश का कारण समझ में आ जायगा, तब तुम अनुत्पन्न वस्तु को जान लोगे ॥१॥

जिस समय ब्राह्मण ध्यान और संयम इन दो मार्गों में व्युत्पन्न हो जाता है, उस समय उस ज्ञान-सम्पन्न पुरुष के सब बन्धन कट जाते हैं ॥२॥

जिस पुरुष के लिए आर-पार कुछ भी नहीं रहा, अर्थात् भीतरी और बाहिरी इन्द्रियों से उत्पन्न हुए सुख-दुख में राग-द्वेष नहीं है, उस निर्भय और विमुक्त पुरुष को मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥३॥

जो विचारशील, निर्दोष, स्थिर-चित्त, कर्त्तव्य-परायण एवं कृतकृत्य है, विषय-विकार से रहित है और जिसने उच्चतम आदर्श की प्राप्ति कर ली है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥४॥

जिसने पाप का त्याग कर दिया है, वह ब्राह्मण है । जो समभाव से चलता है वह श्रमण है और जिसने अपनी मलिनता को दूर कर दिया है वह प्रव्रजित कहलाता है ॥५॥

मैं उसी को ब्राह्मण कहता हूँ जो शरीर, वाणी और मन से किसी का जी नहीं दुखाता और जो इन तीनों ही बातों में संयमी है ॥६॥

मनुष्य अपने जटा-जूट, जन्म और गोत्र के कारण ब्राह्मण नहीं बन जाता, किन्तु जिसमें सत्य और धर्म है, वही पवित्र है, और वही ब्राह्मण है ॥७॥

ओ मूर्ख, जटा-जूट रखने से और मृग-चर्म धारण करने से क्या लाभ ? भीतर तो तेरे तृष्णारूपी गहन वन है। किन्तु तू बाहिरी शुद्धि करता है ॥८॥

जिसने धूमिल वस्त्र पहिने हैं, शरीर की कृशता से जिसकी नसें दिखाई पड़ती हैं और वन में एकाकी ध्यान करता है, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूँ ॥९॥

---

१ तिमिपूरणासणेहिं अहिगय-पवज्जाओ परिब्भट्टो । रत्तं बरं धरित्ता पवट्टियं तेण एयतं ॥७॥
मंसस्स णत्थि जीवो जहा फले दहिय-दुद्ध-सक्करए । तम्हा तं वंछित्ता तं भक्खं तो ण पाविट्ठो ॥८॥
मज्जं ण वज्जणिज्जं दवदव्वं जह जलं तहा एदं । इदि लोए घोसित्ता पवट्टियं सव्व सावज्जं ॥९॥ (दर्शनसार)

२ छिन्द सोतं परक्कम्म काये पनुद ब्राह्मण । संखारानं खयं ञत्वा अकतञ्जूसि ब्राह्मण ॥१॥
यदा द्वयेसु धम्मेसु पारगू होति ब्राह्मणो । अथस्स सव्वे संयोगा अत्थं गच्छंति जानतो ॥२॥
यस्मं पारं अपारं वा परापारं न विज्जति । वीतद्दरं विसंयुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३॥
झायिं विरजमासीनं कतकिच्चं अनासवं । उत्तमत्थमनुप्पत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥४॥
बाहितपापो ति ब्राह्मणो समचरिया समणो त्ति वुच्चति । पव्वाजयमत्तनो मलं तस्मा पव्वजितो ति वुच्चति ॥५॥
यस्स कायेन वाचा य मनसा नत्थि दुक्कतं । संवुतं तीहि ठानेहि तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥६॥
न जटाहि न गोत्तेन न जच्चा होति ब्राह्मणो । यम्हि सच्चं च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो ॥७॥
किं ते जटाहि दुम्मेध किं ते अजिनसाटिया । अब्भन्तरं ते गहनं बाहिरं परिमज्जसि ॥८॥
पंसु कूलधरं जन्तुं किसं धमनिसन्थतं । एकं वनस्मिं झायन्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥९॥

अमुक माता-पिता से उत्पन्न होने के कारण पुरुष ब्राह्मण नहीं होता। किन्तु चाहे वह अकिंचन (दरिद्र हो या संकिंचन (धनिक), पर जो सर्व प्रकार की मोह-माया से रहित हो, मैं उसे ही ब्राह्मण कहता हूं ॥१०॥

जिसने सर्व प्रकार के बन्धन काट दिये हैं, जो निर्भय है, जो स्वाधीन है और बन्धन-रहित है मैं उसी को ब्राह्मण कहता हूं ॥११॥

जिसने द्वेषरूपी, रागरूपी डोरी, अश्रद्धारूपी जंजीर और उसके साथ सम्बन्ध रखने वाली अन्य वस्तुओं को एवं अज्ञानरूपी अर्गला (सांकल) को तोड़ डाला है, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूं ॥१२॥

जो आक्रोश (गाली-गलौज) वध और बन्धन को द्वेष किये बिना मैत्री-भाव से सहन करता है, क्षमा के बलवाली ही जिसकी सेना है, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूं ॥१३॥

जो क्रोध-रहित है, व्रतवान् है, शीलवान् है, तृष्णा-रहित है, संयमी है और जो अन्तिम शरीर-धारी है, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूं ॥१४॥

जैसे कमल-पत्र पर जल-बिन्दु नहीं ठहरता और सूई की नोक पर सरसों का दाना नहीं टिकता, उसी प्रकार जो काम-भोगों में लिप्त नहीं होता है, मैं उसे ही ब्राह्मण कहता हूं ॥१५॥

जो यहां पर ही अपने दुःख का अन्त जानता है, ऐसे भार-विमुक्त और विरक्त पुरुष को मैं ब्राह्मण कहता हूं ॥१६॥

जिसका ज्ञान गम्भीर है, जो मेधावी है, सुमार्ग और कुमार्ग को जानता है और जिसने उत्तमार्थ को प्राप्त कर लिया है, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूं ॥१७॥

जो गृहस्थ और अनगार भिक्षुओं से अलग रहता है, जो घर-घर भीख नहीं मांगता, अल्प इच्छा वाला है, उसी को मैं ब्राह्मण कहता हूं ॥१८॥

जो विरोधियों पर भी अविरोध-भाव रखता है, जो दण्ड-धारियों में भी दण्ड-रहित है और जो ग्रहण करने वालों में भी आदान-रहित है मैं उसी को ब्राह्मण कहता हूं ॥१९॥

जो त्रस और स्थावर प्राणियों पर डंडे से प्रहार नहीं करता, न स्वयं मारता है और न दूसरों से घात कराता है, मैं उसी को ब्राह्मण कहता हूं ॥२०॥

जिसके राग, द्वेष, मान और मत्सर भाव इस प्रकार से नष्ट हो गये हैं जिस प्रकार से कि सूई की नोक से सरसों का दाना सर्वथा दूर हो जाता है, मैं उसी को ब्राह्मण कहता हूं ॥२१॥

जो कठोरता-रहित, सत्य एवं हितकारी मधुर वचन बोलता है और किसी का अपने कटु सत्य से जी भी नहीं दुखाता है, मैं उसी को ब्राह्मण कहता हूं ॥२२॥

न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि योनिजं मत्तिसंभवं ।
भोवादी नाम सो होति स चे होति संकिचनो । अकिंचनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१०॥
सव्वसंजोयनं छेत्वा यो वे न परितस्सति । संगातिगं विसंयुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥११॥
छेत्वा नन्धि वरत्तं च सन्दानं सहनुक्कमं । उक्खित्तपलिघं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मण ॥१२॥
अक्कोसं बध बधं च अदुट्ठो यो तितिक्खति । खंतीबलं बलानीकं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१३॥
अक्कोधनं वतवंतं सीलवंतं अनुस्सदं । दंतं अंतिम सारीरं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१४॥
वारि पोक्खर-पत्तेव आरग्गेरिव सासपो । यो न लिंपति कामेसु तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१५॥
यो दुक्खस्स पजानाति इधेव खयमत्तनो । पन्नभारं विसंयुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१६॥
गंभीरपञ्ञं मेधावी मग्गामग्गस्स कोविदं । उत्तमत्थं अनुप्पत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१७॥
असंसट्ठं गहट्ठेहि अनागारेहि चूभयं । अनोकसारि अप्पिच्छं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१८॥
अविरुद्धं विरुद्धेसु अत्तदंडेसु निब्बुतं । सादानेसु अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१९॥
निधाय दंडं भूतेसु तसेसु थावरेसु च । यो न हंति न घातेति तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२०॥
यस्स रागो च दोसो च मानो मक्खो च पातितो । सासपोरिव आरग्गा तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२१॥
अककर्कस विञ्ञापनिं गिरं सच्चं उदीरये । याय नाभिसजे किंचि तमहं ब्रूमि ब्राह्मण ॥२२॥

जो इस संसार में बड़ी या छोटी, सूक्ष्म या स्थूल, और शुभ या अशुभ किसी भी प्रकार की पर-वस्तु को बिना दिये नहीं लेता है, मैं उसी को ब्राह्मण कहता हूँ ॥२३॥

जिसे इस लोक या परलोक-सम्बन्धी किसी भी प्रकार की लालसा नहीं रही है, ऐसे वासना-रहित विरक्त पुरुष को ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥२४॥

जिसके पास रहने को घर-मकान आदि किसी भी प्रकार का आलय नहीं है, जो स्त्रियों की कथा भी नहीं कहता है, जिसे सन्तोष रूप अमृत प्राप्त है और जिसे किसी भी प्रकार की इच्छा तृष्णा उत्पन्न नहीं होती है, मैं उसी को ब्राह्मण कहता हूँ ॥२५॥

जो पुण्य और पाप इन दोनों के संग से रहित है, शोक-रहित कर्म-रज से रहित और शुद्ध है, मैं ऐसे ही पुरुष को ब्राह्मण कहता हूँ ॥२६॥

जो चन्द्रमा के समान विमल है, शुद्ध है, सुप्रसन्न है और कलंक-रहित है, जिसकी सांसारिक तृष्णाएं बिलकुल नष्ट हो गई हैं, मैं ऐसे ही पुरुष को ब्राह्मण कहता हूँ ॥२७॥

मोह से रहित होकर जिसने तृष्णा-रूपी कीचड़ से लथपथ, दुर्गम संसार समुद्र को तिर कर पार कर लिया है, जो आत्म-ध्यानी है, पाप-रहित है, कृत-कृत्य है, जो कर्मों के उपादान (ग्रहण) से रहित होकर निवृत्त (मुक्त) हो चुका है, मैं ऐसे ही मनुष्य को ब्राह्मण कहता हूँ ॥२८॥

जो काम-भोगों को परित्याग करके अनगार बनकर परिव्रजित हो गया है ऐसे काम-विजयी मनुष्य को ही मैं ब्राह्मण कहताहूँ ॥२९॥

जो तृष्णा का परिहार करके गृह-रहित होकर परिव्राजक बन गया है, ऐसे तृष्णा-विजयी पुरुष को ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥३०॥

जो मानवीय बन्धनों का त्याग कर और दिव्य (देव-सम्बन्धी) भोगों के संयोग को भी त्याग कर सर्व प्रकार के सभी सांसारिक बन्धनों से विमुक्त हो गया है, मैं उसी पुरुष को ब्राह्मण कहता हूँ ॥३१॥

जो रति (राग) और अरति (द्वेष) भाव को त्याग कर परम शान्त दशा को प्राप्त हो गया है, सर्व प्रकार की उपाधियों से रहित है, ऐसे सर्व लोक-विजयी वीर पुरुष को मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥३२॥

जो सर्व सत्त्वों (प्राणियों) के च्युति (मरण) और उत्पत्ति को जानता है, जो सर्व पदार्थों की आसक्ति से रहित है, ऐसे सुगति और बोधिको प्राप्त सुगत बुद्ध पुरुष को ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥३३॥

जिसकी गति (ज्ञानरूप दशा) को देव, गन्धर्व और मनुष्य नहीं जान सकते, ऐसे क्षीण-आस्रव वाले अरहन्त को ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥३४॥

योध दीघं रहस्सं वा अणुं थूलं सुभासुभ । लोके अदिन्नं नादियति तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२३॥
आसा यस्स न विज्जंति अस्मिं लोके परम्हि च । निरासयं विसंयुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२४॥
यस्सालया न विज्जंति अञ्जाय अकथंकथी । अमतोगदं अनुप्पत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२५॥
योध पुञ्ञं च पाप च संगं उपच्चगा । अशोकं विरजं सुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२६॥
चंदं व विमलं सुद्धं विप्पसन्नमनाविलं । नंदी भवपरिक्खीण तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२७॥
यो मं पलिपथं दुग्गं संसारं मोहमच्चगा ।
तिण्णो पारगतो झायी अनेजो अकथंकथी । अनुपादाय निब्बुतो तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२८॥
योध कामे पहत्वानं अनगारो परिव्वजे । काम-भवपरिक्खीणं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२९॥
योध तणहं पहत्वानं अनगारो परिव्वजे । तण्हाभवपरिक्खीणं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३०॥
हित्वा मानुसकं योगं दिव्वं योगं उपच्चगा । सव्वयोग-विसंयुत्त तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३१॥
हित्वा रतिं च अरतिं च सीतीभूतं निरुपधिं । सव्वलोकाभिभुं वीरं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३२॥
चुतिं यो वेदि सत्तानं उपपत्तिं च सव्वसो । असत्तं सुगतं बुद्धतमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३३॥
यस्स गतिं न जानंति देवा गंधव्व-मानुसा । खीणासवं अरहंतं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३४॥

जिसके आगे, पीछे या मध्य में (वर्तमान में, सामने) कुछ भी नहीं है, ऐसे अकिंचन और अनादान (आसक्ति-रहित होकर कुछ भी ग्रहण नहीं करने वाले) पुरुष को ही मैं ब्राह्मण कहताहूँ ॥३५॥

जो वृषभ (धर्म का धारक) है, सर्व श्रेष्ठ है, वीर है, महर्षि है, विजेता है, निष्कम्प है, निष्पाप है, स्नातक है, बुद्ध है, ऐसे पुरुष को ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥३६॥

जो पूर्व निवास अर्थात् पूर्व-जन्मों को जानता है, जो स्वर्ग और नरक को देखता है, जो जन्म-मरण के चक्र का क्षय कर चुका है, जो पूर्ण ज्ञानवान् है, ध्यानी है, मुनि है और ध्येय को प्राप्त कर सर्व प्रकार से परिपूर्ण है, ऐसे पुरुष को ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥३७॥

श्वेताम्बरी उत्तराध्ययन सूत्र में भी पच्चीसवें 'जन्नइज्ज' अध्ययन के अन्तर्गत 'ब्राह्मण' के स्वरूप पर बहुत अच्छा प्रकाश डाला गया है, उससे भी यह सिद्ध होता है कि भ. महावीर के समय में यद्यपि ब्राह्मणों का बहुत प्रभाव था, तथापि वे यथार्थ ब्राह्मणत्व से गिरे हुए थे। श्वे. मान्यता के अनुसार उत्तराध्ययन में भ. महावीर के अन्तिम समय के प्रवचनों का संग्रह है। भ महावीर ब्राह्मणों को लक्ष्य कहते हैं-

जो आने वाले स्नेही जनों में आसक्ति नहीं रखता, प्रव्रजित होता हुआ शोक नहीं करता और आर्य पुरुषों के वचनों में सदा आनन्द पाता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ॥१॥

जो यथाजात-रूप का धारक है, जो अग्नि में डाल कर शुद्ध किये हुए और कसौटी पर कसे हुए सोने के समान निर्मल है, जो राग, द्वेष और भय से रहित है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ॥२॥

जो तपस्वी है, जो शरीर से कृश (दुबला-पतला) है, जो इन्द्रियनिग्रही है, उग्र तपःसाधना के कारण जिसका रक्त और मांस भी सूख गया है, जो शुद्ध व्रती है, जिसने आत्म-शान्ति रूप निर्वाण पा लिया है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ॥३॥

जो त्रस और स्थावर सभी प्राणियों को भली-भाँति जानकर उनकी मन, वचन और काय से कभी हिंसा नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ॥४॥

जो क्रोध से, हास्य से, लोभ से अथवा भय से असत्य नहीं बोलता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ॥५॥

जो अल्प या बहुत, सचित्त या अचित्त वस्तु को मालिक के दिए बिना चोरी से नहीं लेता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ॥६॥

जो देव, मनुष्य एवं तिर्यञ्च-सम्बन्धी सभी प्रकार के मैथुन का मन वचन और काय से कभी सेवन नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ॥७॥

जिस प्रकार कमल जल में उत्पन्न होकर भी जल से लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार जो संसार में रहकर भी काम-भोगों से सर्वथा अलिप्त रहताहै, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ॥८॥

जस्स पुरे च पच्छा च मज्झे च नत्थि किंचन । अकिंचनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३५॥
उसभं पवरं वीरं महेसिं विजिताविनं । अनेजं न्हातकं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३६॥
पुब्बनिवास यो वेदि सग्गापायं च पस्सति ।
अथो जातिक्खयं पत्तो अभिञ्जा वोसिता मुनी । सव्व-वोसित-वोसानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३७॥
(धम्मपद, ब्राह्मण-वर्ग)

जो न सज्जइ आगंतुं पव्वयंतो न सोयई । रमइ अज्ज-वयणम्मि तं वयं बूम माहणं ॥१॥
जायरुवं जहामट्ठं निद्धं तमलपावगं । राग-दोस-भयाईयं तं वयं बूम माहणं ॥२॥
तवस्सियं किसं दंतं अवचिय-मंस-सोणियं । सुव्वयं पत्तनिव्वाणं तं वयं बूम माहणं ॥३॥
तस पाणे वियाणित्ता संगहेण य थावरे । जो न हिंसइ तिविहेणं स्वयं बूम माहणं ॥४॥
कोहा वा जइ वा हासा लोहा वा जइ वा भया । मुसं न वयई जो उतं वयं बूम माहणं ॥५॥
चित्तमंतं[illegible] वा अप्पं वा जइ वा बहु । न गिण्हइ अदत्तं जे तं वयं बूम माहणं ॥६॥
[illegible]-माणुस-तेरिच्छं जो न सेवइ मेहुणं । मणसा काय-वक्केण तं वयं बूम माहणं ॥७॥
पोम्मं जले जायं नोवलिप्पइ वारिणा । एवं अलित्तं कामेहिं तं वयं बूम माहणं ॥८॥

जो अलोलुप है, अनासक्त जीवी है, अनगार (गृह-रहित) है, अकिंचन है और गृहस्थों से अलिप्त रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ॥९॥

जो स्त्री-पुत्रादि के स्नेह-वर्धक पूर्व सम्बन्धों को, जाति-बिरादरी के मेल-जोल को, तथा बन्धुजनों को त्याग कर देने के बाद फिर उनमें किसी प्रकार की आसक्ति नहीं रखता और पुनः काम-भोगों में नहीं फंसता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ॥१०॥

सिर मुंडा लेने मात्र से कोई श्रमण नहीं होता, 'ओम्' का जाप कर लेने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता, निर्जन वन में रहने

मात्र से कोई मुनि नहीं होता, और न कुशा से बने वस्त्र पहिन लेने मात्र से कोई तपस्वी ही हो सकता है ॥११॥

किन्तु समता को धारण करने से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य को धारण करने से ब्राह्मण होता है, ज्ञान से मुनि होता है और तपश्चरण से तपस्वी बनता है ॥१२॥

मनुष्य उत्तम कर्म करने से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय होता है, कर्म से ही वैश्य होता है और शूद्र भी कर्म से ही होता है । अर्थात् वर्ण भेद जन्म से नहीं होता है, किन्तु जो मनुष्य जैसा अच्छा या बुरा कार्य करता है, वह वैसा ही ऊंच या नीच कहलाता है ॥१३॥

इस भांति पवित्र गुणों से युक्त जो द्विजोत्तम (श्रेष्ठ ब्राह्मण) हैं, वास्तव में वे ही अपना तथा दूसरों का उद्धार कर सकने में समर्थ होते हैं ॥१४॥

भ. महावीर और महात्मा बुद्ध के द्वारा निरुपित उक्त ब्राह्मण के स्वरूप में से कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्रकट होते हैं । यथा-

(१) जैन शास्त्रों की मान्यता है कि पंच याम (महाव्रत) का उपदेश आदि और अन्तिम तीर्थंकरों ने ही दिया है । शेष मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों ने तो चातुर्यामि का ही उपदेश दिया है । तदनुसार भ. पार्श्वनाथ ने भी अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह इन चार यम धर्मों का उपदेश दिया था । उन्होंने स्त्री को परिग्रह मानकर अपरिग्रह महाव्रत में ही उसका अन्तर्भाव किया है । यत: जैन मान्यता के अनुसार बुद्ध ने पहिले जैन दीक्षा ली थी, (यह पहिले बतला आये हैं ।) अत: वे स्वयं भी चातुर्याम के धारक प्रारम्भ में रहे हैं । यह बात उनके द्वारा निरूपित ब्राह्मण वर्ग में भी दृष्टिगोचर होती है । ऊपर जो ब्राह्मण का स्वरूप बतलाया है, उनमें से गाथाङ्क २० में ब्राह्मण के लिए द्रव्यहिंसा का और गा. २१ में भावहिंसा का त्याग आवश्यक बतलाया है, इस प्रकार दो गाथाओं में अहिंसा महाव्रत का विधान किया गया है । इसके आगे गा २२ में सत्य महाव्रत का गा. २३ से अचौर्य व्रत का और २४-२५ वीं गाथाओं में अपरिग्रह महाव्रत का विधान है । कहने का भाव यह- कि यहां पर ब्रह्मचर्य माहव्रत का कोई उल्लेख नहीं है ।

किन्तु भ. महावीर ने ब्रह्मचर्य को एक स्वतंत्र यमरूप महाव्रत कहा और पांचवें यमरूप से उसका प्रतिपादन किया। ऊपर उत्तराध्ययन की जो ब्राह्मण-स्वरूप वाली गाथाएं दी हैं उनमें यह स्पष्ट दिखाई देता है । वहां गाथाङ्क ६ में अचौर्य महाव्रत का निर्देश कर गा. ७ में ब्रह्मचर्य नाम के एक यमव्रत या महाव्रत का स्पष्ट विधान किया गया है ।

(२) उक्त निष्कर्ष से बुद्ध का पार्श्वनाथ की परम्परा में दीक्षित होना और चातुर्याम धर्म से प्रभावित रहना भी सिद्ध होता है ।

अलोलुयं मुहाजीवि अणगारं अकिंचणं । असंसत्तं गिहत्थेसु तं वयं बूम माहणं ॥९॥
जहित्ता पुव्वसंजोगं नाइसंगे य बंधवे । जो न सज्जइ भोगेसु तं वयं बूम माहणं ॥१०॥
न वि मुंडिएण समणो न ओंकारेण बंभणो । न मुणी रण्णवासेण कुसचीरेण ण तावसो ॥११॥
समयाए समणो होइ बंभचेरेण बंभणो । नाणेन मुणी होइ तवेण होइ तावसो ॥१२॥
कम्मुणा बंभणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ । वइसो कम्मुणा होइ सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥१३॥
एवं गुण-समाउत्ता जे भवंति दिउत्तमा । ते समत्था समुद्धत्तुं परमप्पाणमेव य ॥१४॥

(उत्तराध्ययनसूत्र, अ. १५)

(३) महावीर की ब्राह्मण-स्वरूप प्रतिपादन करने वाली केवल १५ ही गाथाएं उत्तराध्ययन में मिलती हैं, किन्तु धम्मपद में वैसी गाथाएं ४१ हैं । उनमें से केवल ३७ ही ऊपर दी गई हैं । गाथाओं की यह अधिकता दो बातें सिद्ध करती है एक-उस समय ब्राह्मणवाद बहुत जोर पर था । दो-ब्राह्मण अपने पवित्र कर्तव्य से गिरकर हीनाचरणी हो गये थे ।

(४) उक्त चातुर्यामवली गाथाएं दोनों ही ग्रन्थों में प्रायः शब्द और अर्थ की दृष्टि से तो समान हैं ही, किन्तु अन्य गाथाएं भी दोनों की बहुत कुछ शब्द और अर्थ की दृष्टि से समानता रखती हैं ।

यथा-

१ धम्मपद - बाहित-पापो ति ब्राह्मणो समचरिया समणोत्ति वुच्चति ।
पव्वाजयमत्तनो मलं तस्मा पव्वजितो त्ति वुच्चति ॥५॥

उत्तराध्ययन- समयाए समणो होइ बंभचेरेण बंभणो ।
नाणेण मुणी होइ तवेण होइ तापसो ॥१२॥

२. धम्मपद- वारि पोक्खर-पत्ते व आरग्गोरिव सासपो ।
यो न लिंपति कम्मेसु तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१५॥

उत्तराध्ययन- जहा पोम्मं जले जायं नोवलिप्पइ वारिणा ।
एवं अलित्तं कम्मेहिं तं वयं बूम माहणं ॥८॥

३ धम्मपद - छेत्वा नन्धि वरत्तं च सन्दानं सहनुक्कमं ।
उक्खित्त पलिघं बुद्ध तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१२॥

उत्तराध्ययन- जहित्ता पुव्वसंजोगं नाइसंगे य बंधवे ।
जो न सज्जइ भोगेसु तं वयं बूम माहण ॥१०॥

४. धम्मपद - असंसट्ठं गहट्ठेहि अणागारेहि चभूयं ।
अनोकसारि अप्पिच्छं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१८॥

उत्तराध्ययन- अलोलुयं मुहाजीविं अणगारं अकिंचणं ।
असंसत्तं गिहत्थेसु तं वयं बूम माहणं ॥९॥

५ ब्राह्मणों के हीनाचारी जीवन को देखकर बुद्ध और महावीर ने अपनी उक्त देशनाएं की यह बात दोनों के उक्त प्रवचनों से स्पष्ट ज्ञात होती है । फिर भी बुद्ध के ब्राह्मण-सन्दर्भ में किये गये प्रवचनों से एक बात भली-भांति परिलक्षित होती है कि वे ब्राह्मण को एक ब्रह्म-निष्ठ, शुद्धात्म-स्वरूप को प्राप्त और राग-द्वेष-भयातीत वीतराग, सर्वज्ञ और पुण्य-पाप-द्वयातीत नीरज, शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध परमात्मा के आदर्श रूप को प्राप्त आत्मा को ही ब्राह्मण कहना चाहते हैं, जैसा कि 'ब्रह्मणि शुद्धात्म-स्वरूपे निरतो ब्राह्मणः' इस निरुक्ति से अर्थ प्रकट होता है । (देखो ऊपर दी गई धम्मपद की २१, २६, २८, ३१, ३३ आदि नम्बर वाली गाथाएं ।)

महावीर ब्राह्मणवाद के विरोध में बुद्ध के साथ रहते हुए भी अहिंसावाद में उनसे अनेक कदम आगे बढ़ जाते हैं । यद्यपि बुद्ध ने त्रस-स्थावर के घात का निषेध ब्राह्मण के लिए आवश्यक बताया है, तथापि स्वयं मरे हुए पशु के मांस खाने को अहिंसक बतला कर अहिंसा के आदर्श से वे स्वयं गिर गये हैं, और उनकी उस जरा-सी छूट देने का यह फल हुआ है कि आज सभी बौद्ध धर्मानुयायी मांसभोजी दृष्टिगोचर हो रहे हैं । किन्तु महावीर की अहिंसा-व्याख्या इतनी विशद और करुणामय थी कि आज एक भी अपने को जैन या महावीर का अनुयायी कहने वाले व्यक्ति प्राणि-घातक और मांस-भोजी नहीं मिलेगा ।

महाभारत के शान्ति पर्व में ब्राह्मण का स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है-

"जो सदा अपने सर्वव्यापी स्वरूप से स्थित होने के कारण अकेले ही सम्पूर्ण आकाश में परिपूर्ण सा हो रहा है और जो असंग होने के कारण लोगों से भरे हुए स्थान को भी सूना समझता है, उसे ही देव-गण ब्राह्मण मानते हैं ॥१॥

येन पूर्णमिवाऽऽकाशं भवत्येकेन सर्वदा । शून्यं येन जनाकीर्णं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥१॥

जो जिस किसी भी (वस्त्र-वल्कल) आदि वस्तु से अपना शरीर ढक लेता है, समय पर जो भी रूखा-सूखा मिल जाय, उसी से भूख मिटा लेता है और जहां कहां भी सो जाता है, उसे ही देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं ॥२॥

जो जन-समुदाय को सर्प-सा समझकर उसके निकट जाने से डरता है, स्वादिष्ट भोजन-जनित तृप्ति को नरक सा मानकर उससे दूर रहता है, और स्त्रियों को मुर्दों के समान समझकर उनसे विरक्त रहता है, उसे ही देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं ॥३॥

जो सम्मान प्राप्त होने पर हर्षित नहीं होता, अपमानित होने पर कुपित नहीं होता, और जिसने सर्व प्राणियों को अभयदान दिया है, उसे ही देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं ॥४॥

जो सर्व प्रकार के परिग्रह से विमुक्त मुनि-स्वरूप है, आकाश के समान निर्लेप और स्थिर है, किसी भी वस्तु को अपनी नहीं मानता, एकाकी विचरण करता हुआ शान्त भाव से रहता है, उसे ही देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं ॥५॥

जिसका जीवन धर्म के लिए है और धर्म-सेवन भी भगवद् भक्ति के लिए है, जिसके दिन और रात धर्म पालन में ही व्यतीत होते हैं, उसे ही देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं ॥६॥

जो कामनाओं से रहित है, सर्व प्रकार के आरम्भ से रहित है, नमस्कार और स्तुति से दूर रहता है, तथा सभी जाति के बन्धनों से निर्मुक्त है, उसे देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं ॥७॥

जो पवित्र आचार का पालन करता है, सर्व प्रकार से शुद्ध सात्त्विक भोजन को करता है, गुरुजनों का प्यारा है, नित्य व्रत का पालन करता है और सत्य-परायण है, वही निश्चय से ब्राह्मण कहलाता है ॥८॥

जिस पुरुष मे सत्य निवास करता है, दान देने की प्रवृत्ति है, द्रोह-भाव का अभाव है, क्रूरता नहीं है, तथा लज्जा, दयालुता और तप से गुण विद्यमान हैं, वही ब्राह्मण माना गया है ॥९॥

हे ब्राह्मण, जिसके सभी कार्य आशाओं के बन्धनों से रहित हैं, जिसने त्याग की आग में अपने सभी बाहिरी और भीतरी परिग्रह और विकार होम दिये हैं, वही सच्चा त्यागी और बुद्धिमान् ब्राह्मण है ॥१०॥

महाभारत के उपर्युक्त उल्लेख से भी यही सिद्ध होता है कि उक्त गुण-सम्पन्न ब्राह्मण को एक आदर्श पुरुष के रूप में माना जाता था। किन्तु जब उनमें आचरण-हीनता ने प्रवेश कर लिया, तब भ. महावीर और भ बुद्ध को उनके विरुद्ध अपना धार्मिक अभियान प्रारम्भ करना पड़ा।

भ. महावीर का निर्वाण

इस प्रकार भ. महावीर अहिंसा मूलक परम धर्म का उपदेश सर्व-संघ-सहित सारे भारत वर्ष में विहार करते हुए अपने जीवन के अन्तिम दिनों तक देते रहे। उनके लगभग तीस वर्ष के इतने दीर्घ काल तक के उपदेशों का यह प्रभाव हुआ कि हिंसा-प्रधान यज्ञ-यगादि का होना सदा के लिए बन्ध हो गया। देवी-देवताओं के नाम पर होने वाली

येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः। यत्र क्वचन शायी च तं देवा ब्राह्मण विदुः ॥२॥
अहेरिव गणाद् भीतः सौहित्यान्नरकादिव। कुपणादिव च स्त्रीभ्यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥३॥
न क्रुध्येन्न प्रहृष्येच्च मानितोऽमानितश्चच यः। सर्वभूतेष्वभयदस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥४॥
विमुक्तं सर्वसङ्गेभ्यो मुनिमाकाशवत् स्थितम्। अस्वमेकचरं शान्तं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥५॥
जीवितं यस्य धर्मार्थं धर्मो हर्यर्थमेव च। अहोरात्राश्च पुण्यार्थं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥६॥
निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम्। निर्मुक्तं बन्धनैः सर्वैस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥७॥
(महाभारत, शान्तिपर्व, अ. २६५, श्लो. १०-१४, २२-२४)

शौचाचारस्थित सम्यग्विघसाशी गुरुप्रियः। नित्यव्रती सत्परः स वै ब्राह्मण उच्यते ॥८॥
सत्यं दानमथाद्रोहः आनृशंस्यं त्रपा घृणा। तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥९॥
यस्य सर्वे समारम्भा निराशीर्बन्धना द्विज। त्यागे यस्य हुतं सर्वं स त्यागी च स बुद्धिमान् ॥१०॥
(महाभारत, शान्तिपर्व, अ. १८९, श्लो. ३, ४, ११)

पशु-बलि की कुप्रथा भी अनेक देशों से उठ गई, मूढ़ताओं एवं पाखण्डों से लोगों को छुटकारा मिला और लोग सत्य धर्म के अनुयायी बने ।

जब भ. महावीर के जीवन के केवल दो दिन शेष रह गये, तब उन्होंने विहार-रूप काय-योग की और धर्मोपदेश-रूप वचनयोग की क्रियाओं का निरोधकर[1] पावापुर के बाहिर अवस्थित सरोवर के मध्यवर्ती उच्च स्थान पर पहुँच कर प्रतिमा-योग धारण कर लिया और कार्त्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के अन्तिम और अमावस्या के प्रभात काल में निर्वाण प्राप्त किया[2] ।

किन्तु श्वे. मान्यता है कि भ. महावीर पावा-नगरी के राजा हस्तिपाल के रज्जुग सभा-भवन में अमावस्या की सारी रात धर्म-देशना करते हुए मोक्ष पधारे[3] ।

कुछ अप्रकाशित ग्रन्थों का परिचय

यहां पर भ. महावीर का चरित्र-चित्रण करने वाले कुछ अप्रकाशित संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी भाषा में रचे गये ग्रन्थों का परिचय देकर तद्-गत विशेषताओं का उल्लेख किया जाता है, जिससे कि पाठक उनसे परिचित हो सकें ।

(१)
असग–कवि–विरचित– श्री वर्धमानचरित

जहां तक मेरा अनुसन्धान है, भगवद्-गुणभद्राचार्य के पश्चात् भ. महावीर का चरित-चित्रण करने वालों में असग-कवि का प्रथम स्थान है । इन्होंने श्री वर्धमान चरित के अन्त में अपना जो बहुत संक्षिप्त परिचय दिया है, उससे ज्ञात होता है कि इसकी रचना सं. ९१० में भावकीर्त्ति मुनि-नायक के पादमूल में बैठकर चौड देश की वि..ला नगरी में हुई है। ग्रन्थ का परिमाण लगभग तीन हजार श्लोक प्रमाण है । प्रशस्ति के अन्तिम श्लोक के अन्तिम चरण से यह भी ज्ञात होता है कि उन्होंने आठ ग्रन्थों की रचना की है । दुःख है कि आज उनके शेष सात ग्रन्थों का कोई पता नहीं है। उनकी ग्रन्थ के अन्त में दी गई प्रशस्ति इस प्रकार है-

वर्धमान चरित्रं यः प्रव्याख्याति श्रृणोति च ।
तस्येह परलोकस्य सौख्यं संजायते तराम् ॥१॥

संवत्सरे दशनवोत्तर-वर्षयुक्ते भावादिकीर्त्तिमुनिनायक-पादमूले ।
मौद्गल्यपर्वतनिवासवनस्थसम्पत्सच्छ्राविकाप्रजनिते सति वा ममत्वे ॥२॥
विद्या मया प्रपठितेत्यसगाह्वकेन श्री नाथराज्यमखिलं जनतोपकारि ।
प्राप्यैव चौडविषये वि.....लानगर्यो ग्रन्थाष्टकं च समकारि जिनोपदिष्टम् ॥३॥
इत्यसगकृते वर्धमानचरिते महापुराणोपनिषदि भगवन्निर्वाण गमनो नामाष्टादशः सर्ग समाप्त ॥१८॥

---

१. 'षष्ठेन निष्ठितकृतिर्जिनवर्धमानः' । टीका-षष्ठेन दिनद्वयेन परिसंख्याते आयुषि सति निष्ठितकृतिः निष्ठिता विनष्टा कृतिः द्रव्य मनोवाक्कायक्रिया यस्यासौ निष्ठितकृति, जिनवर्धमानः ।

(पूज्यपादकृत सं निर्वाण-भक्ति श्लो. २६)

२. पावापुरस्य बहिरुन्नतभूमिदेशे पद्मोत्पलाकुलवतां सरसां हि मध्ये ।
श्रीवर्धमानजिनदेव इतिप्रतीतो निर्वाणमाप भगवान् प्रविधूतपाप्मा ॥

(सं. निर्वाण भक्ति, श्लो. २४)

३. देखो- पं. कल्याणविजयगणि-लिखित 'श्रमण भगवान् महावीर'

(पृ. २०६-२०७)

अन्तिम पुष्पिका के 'महापुराणोपनिषदि' पद से यह स्पष्ट है कि सं. ९१० में चरित की रचना महापुराण के उत्तर खण्ड रूप उत्तर पुराण के आधार पर की गई है । उत्तर पुराण में भ. महावीर के चरित का चित्रण पुरुरवा भील के भव से लेकर अन्तिम भव तक एक ही सांस (सर्ग) में किया गया है । वह वर्णन शुद्ध चरित रूप ही है । पर असग ने अपना वर्णन एक महाकाव्य के रूप में किया है । यही कारण है कि इसमें चरित-चित्रण की अपेक्षा घटना-चक्रों के वर्णन का आधिक्य दृष्टिगोचर होता है । इसका आलोड़न करने पर यह भी प्रतीत होता है कि इस पर आ. वीरनन्दि चन्द्रप्रभचरित का प्रभाव है ।

असग ने महावीर के पूर्व भवों का वर्णन पुरुरवा भील से प्रारम्भ न करके इकतीसवें नन्दन कुमार के भव से प्रारम्भ किया है ।

नन्दन कुमार के पिता जगत् से विरक्त होकर जिन-दीक्षा ग्रहण करने के लिये उद्यत होते हैं और पुत्र का राज्याभिषेक कर गृह-त्याग की बात उससे कहते हैं, तब वह कहता है कि जिस कारण से आप संसार को बुरा जानकर उसका त्याग कर रहे हैं, उसे मैं भी नहीं लेना चाहता और आपके साथ ही संयम धारण करुंगा । इस स्थल पर पिता-पुत्र की बात-चीत का कवि ने बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है । अन्त में पिता के यह कहने पर कि तू अपने उत्तराधिकारी को जन्म देकर और उसे राज्य-भार सौंप कर दीक्षा ले लेना । इस समय तेरे भी मेरे साथ दीक्षा लेने पर कुलस्थिति नहीं रहेगी और प्रजा निराश्रय हो जायगी- वह राज्य-भार स्वीकार करता है । पुनः आचार्य के पास जाकर धर्म का स्वरूप सुनता है और गृहस्थ धर्म स्वीकार राज-पाट संभालता है ।

किसी समय नगर के उद्यान में एक अवधि-ज्ञानी साधु के आने का समाचार सुनकर राजा नन्द पुर-वासियों के साथ दर्शनार्थ जाता है और धर्म का उपदेश सुनकर उनसे अपने पूर्व भव पूछता है । मुनिराज कहते हैं कि हे राजेन्द्र, तू आज से पूर्व नवें भव में एक अति भयानक सिंह था । एक दिन किसी जंगली हाथी को मार कर जब तू पर्वत की गुफा में पड़ा हुआ था, तो आकाश-मार्ग से विहार करते दो चारण मुनि उधर से निकले । उन्होंने तुझे प्रबोधित करने के लिए मधुर ध्वनि से पाठ करना प्रारम्भ किया । जिसे सुन कर तू अपनी भयानक क्रूरता छोड़कर शान्त हो उनके समीप जा बैठा । तुझे लक्ष्य करके उन्होंने धर्म का तात्त्विक उपदेश देकर पुरुरवा भील के भव से लेकर सिंह तक के भवों का वर्णन किया, जिसे सुनकर तुझे जाति-स्मरण हो गया और अपने पूर्व भवों की भूलों पर आंसू बहाता हुआ मुनि-युगल के चरण-कमलों को एकाग्र हो देखने लगा । उन्होंने तुझे निकट भव्य जानकर धर्म का उपदेश दे सम्यक्त्व और श्रावक-व्रतों को ग्रहण कराया । शेष कथानक उत्तर पुराण के समान ही है ।

यहां यह बात उल्लेखनीय है कि असग कवि ने सिंह के पूर्व भवों का वर्णन सर्ग ३ से ११वें तक पूरे ९ सर्गों में किया है । उसमें भी केवल त्रिपृष्ठ नारायण के भव का वर्णन ५ सर्गों में किया गया है । पांचवें सर्ग में त्रिपृष्ठ नारायण का जन्म, छठे में प्रतिनारायण की सभा का क्षोभ, सातवें में युद्ध के लिए दोनों की सेनाओं का सन्निवेश, आठवें में दोनों का दिव्यास्त्रों से युद्ध, और नवें में त्रिपृष्ठ की विजय, अर्धचक्रित्व का वर्णन और मर कर नरक जाने तक की घटनाओं का वर्णन है । असग ने समग्र चरित के १०० पत्रों में से केवल त्रिपृष्ठ के वर्णन में ४० पत्र लिखे हैं।

त्रिपृष्ठ के भव से लेकर तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध करने वाले नन्द के भव तक का वर्णन आगे के ५ सर्गों में किया गया है, इसमें भी पन्द्रहवें सर्ग में धर्म का विस्तृत वर्णन ग्रन्थ के १३ पत्रों में किया गया जो कि तत्त्वार्थ सूत्र के अध्याय ६ से लेकर १० तक के सूत्रों पर आधारित है ।

सत्तरहवें सर्ग में भ. महावीर के गर्भ, जन्म, दीक्षा कल्याणक का वर्णन - कर उनके केवल ज्ञान-उत्पत्ति तक का वर्णन है । दीक्षार्थ उठते हुए महावीर के सात पग पैदल चलने का उल्लेख भी कवि ने किया है ।

अठारहवें सर्ग में समवशरण का विस्तृत वर्णन कर उनके धर्मोपदेश, विहार संघ-संख्या और निर्वाण का वर्णन कर ग्रन्थ समाप्त होता है ।

असग कवि ने भ. महावीर के पांचो ही कल्याणों का वर्णन यद्यपि बहुत ही संक्षेप में दिगम्बर-परम्परा के अनुसार ही किया है, तथापि दो-एक घटनाओं के वर्णन पर श्वेताम्बर-परम्परा का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । यथा-

(१) जन्म कल्याणक के लिए आता हुआ सौधर्मेन्द्र माता के प्रसूति-गृह में आकर उन्हें मायामयी नींद से सुलाकर और मायामय शिशु को रख कर भगवान् को बाहिर लाता है और इन्द्राणी को सौंपता है :-

मायार्भकं प्रथमकल्पपतिर्विधाय
मातु पुरोऽथ जननाभिषवक्रियायै ।
बालं जहार जिनमात्मरुचा स्फुरन्त
कार्यान्तराननु बुधोऽपि करोत्यकार्यम् ॥७२॥

शच्या धृतं करयुगे नतमब्जभासा
निन्ये सुरैरनुगतो नभसा सुरेन्द्रः ।
स्कन्धे निधाय शरदभ्रसमानमूर्ते-
रैरावतस्य मदगन्धहतालिपङ्क्तेः ॥७३॥

(सर्ग १७, पत्र ९० B)

(२) जन्माभिषेक के समय सुमेरु के कम्पित होने का उल्लेख भी कवि ने किया है । यथा-

तस्मिंस्तदा क्षुवति कल्पितशैलराजे
घोणाप्रविष्टसलिलात्पृथुकेऽप्यजस्रम ।
इन्द्रा जरत्तृणमिवैकपदे निपेतु-
र्वीर्यंनिसर्गजमनन्तमहो जिनानाम् ॥८२॥

(सर्ग १७, पत्र ९० B)

दि. परम्परा में पद्मचरित के सिवाय अन्यत्र कहीं सुमेरु के कम्पित होने का यह दूसरा उल्लेख है जो कि विमलसूरि के प्राकृत पउमचरिठ का अनुकरण प्रतीत होता है । पीछे के अपभ्रंश चरित-रचयिताओं में से भी कुछ ने इनका ही अनुसरण किया है ।

ग्रन्थ के अन्त में उपसंहार करते हुए असग कवि कहते हैं-

कृतं महावीरचरित्रमेतन्मया परस्य प्रतिबोधनाय ।
सप्ताधिकत्रिंशभवप्रबन्धं पुरूरवाद्यंतिमवीरनाथम् ॥१०२॥

अर्थात् पुरुरवा भील के आदि भव से लेकर वीरनाथ के अन्तिम भव तक के सैंतीस भवों का वर्णन करने वाला यह महावीर चरित्र मैंने अपने और पर के प्रतिबोध के लिए बनाया ।

इस उल्लेख में महावीर के सैंतीस भवों के उल्लेख वाली बात विचारणीय है । कारण कि स्वयं असगने उन्हीं तेतीस ही भवों का वर्णन किया है, जिन्हें कि उत्तर पुराणकार आदि अन्य दि. आचार्यों ने भी लिखा है । सैंतीस भव तो होते ही नहीं हैं । श्वे. मान्यता के अनुसार २७ भव होते हैं, परन्तु जब असग ने ३३ भव गिनाये हैं, तो २७ भवों की संभावना ही नहीं उठती है । उपलब्ध पाठ को कुछ परिवर्तन करके 'सप्ताधिक-विंशभवप्रबन्ध' मानकर २७ भवों की कल्पना की जाय, तो उनके कथन में पूर्वापर-विरोध आता है । ऐसा प्रतीत होता है कि असगने भवों को एक-एक करके गिना नहीं है और श्वेताम्बर सम्प्रदाय की प्रचलित मान्यता को ध्यान में रख कर वैसा उल्लेख कर दिया है । जो कुछ भी हो, पर यह बात विचारणीय अवश्य है ।

(२)

भट्टारक श्री सकलकीर्ति ने संस्कृत भाषा में 'वीर-वर्धमान चरित्र' की रचना की है । ये विक्रम की १५वीं शताब्दी के आचार्य हैं । इनका समय वि. सं. १४४३ से १४९९ तक रहा है । इन्होंने संस्कृत में २८ और हिन्दी में ७ ग्रन्थों की रचना की है । यहां उनमें से उनके 'वर्धमान चरित्र का कुछ परिचय दिया जाता है ।

इस चरित्र में कुल १९ अध्याय हैं । प्रथम अध्याय में सर्व तीर्थंकरों को पृथक-पृथक श्लोकों में नमस्कार कर, त्रिकाल-वर्ती तीर्थंकरों और विदेहस्थ तीर्थंकरों को भी नमस्कार कर गौतम गणधर से लगाकर सभी अंग-पूर्वधारियों को उनके नामोल्लेख-पूर्वक नमस्कार किया है । अन्त में कुन्दकुन्दादि मुनीश्वरों को और सरस्वती देवी को नमस्कार कर वक्ता और श्रोता के लक्षण बतलाकर योग्य श्रोताओं को सम्बोधित करते हुए सत्कथा सुनने की प्रेरणा की है ।

दूसरे अध्याय में भगवान् महावीर के पूर्व भवों में पुरुरवा भील से लेकर विश्वनन्दी तक के भवों का वर्णन है। इस सर्ग में देवों का जन्म होने पर वे क्या-क्या विचार और कार्य करते हैं, यह विस्तार से सा ाया गया है। मरीचि के जीव ने चौदहवें भव के बाद मिथ्यात्व कर्म के परिपाक से जिन असंख्य योनियों में परिभ्रमण किया उन्हें लक्ष्य में रखकर ग्रन्थकार अपना दुःख प्रकट करते हुए कहते हैं-

> वरं हुताशने पातो वर हालाहलाशनम् ।
> अब्धौ वा मज्जनं श्रेष्ठं मिथ्यात्वाञ्च जीवितम् ॥३२॥

अर्थात्-अग्नि में गिरना अच्छा है, हालाहल विष का खाना उत्तम है और समुद्र में डूब मरना श्रेष्ठ है, परन्तु मिथ्यात्व के साथ जीवित रहना अच्छा नहीं है ।

इससे आगे अनेक दुःखदायी प्राणियों के संगम से भी भयानक दुःखदायी मिथ्यात्व को बतलाये हुए कहते हैं-

> एकतः सकलं पाप मिथ्यात्वमेकतस्तयोः ।
> वदन्त्यत्रान्तरं दक्षा मेरु-सर्षपयोरिव ॥३४॥

अर्थात् - एक ओर सर्व पापों को रखा जाय और दूसरी ओर अकेले मिथ्यात्व को रखा जाय, तो दक्ष पुरुष इन दोनों का अन्तर मेरु पर्वत और सरसों के दाने के समान बतलाते हैं । भावार्थ- मिथ्यात्व का पाप मेरु-तुल्य महान् है ।

तीसरे अध्याय में भ. महावीर के बीसवें भव तक का वर्णन है, जहां पर कि त्रिपृष्ट नारायण का जीव सातवें नरक का नारकी बनकर महान् दुःखों को सहता है । इस सर्ग में नरकों के दुःखों का विस्तृत वर्णन किया गया है। मध्यवर्ती भवों का वर्णन भी कितनी ही विशेषताओं को लिए हुए है ।

चौथे अध्याय में भ महावीर के हरिषेण वाले सताईसवें भव तक का वर्णन है । इसमें तेईसवें भव वाले मृग-भक्षण करते हुए सिंह को सम्बोधन करके चारण मुनियों के द्वारा दिया गया उपदेश बहुत ही उद्-बोधक है । उनके उपदेश को सुनते हुए सिंह को जाति-स्मरण हो जाता है और वह आंखो से अश्रुधारा बहाता हुआ मुनिराजों की ओर देखता है, उसका ग्रन्थकार ने बड़ा ही सजीव वर्णन किया है । यथा-

> गलद्बाष्पजलोऽतीवशान्तचित्तो भगवत्तराम् ।
> अश्रुपातं शुचा कुर्वन् पश्चात्तापमयेन च ॥२४॥
> पुनर्मुनिर्हरिं वीक्ष्य स्वस्मिन् बद्धनिरीक्षणम् ।
> शान्तान्तरंगमभ्येत्य कृपयैवमभाषत ॥२५॥

पुनः मुनि के दिये गये धर्मोपदेश को सिंह हृदय में धारण करता है और मिथ्यात्व को महान् अनर्थ का करने वाला जानकर उसका परित्याग करता है । कवि कहते हैं-

> मिथ्यात्वेन समं पापं न भूतं न भविष्यति ।
> न विद्यते त्रिलोकेऽपि विश्वानर्थनिबन्धनम् ॥४४॥

अन्त में निराहार रहकर सिंह संन्यास के साथ मरकर दसवें स्वर्ग में उत्पन्न होता है और वहां से चय कर प्रियमित्र राजा का भव धारण करता है । पांचवें अध्याय में भ. महावीर के नन्द नामक इकतीसवें भव तक का वर्णन है । इस में भगवान् के उत्तीसवें भव वाले प्रियमित्र चक्रवर्ती की विभूति का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है । जब चक्रवर्ती अपने वैभव का परित्याग करके मुनि बनकर मुनिधर्म का विधिवत् पालन करते हैं, तब कवि कहते हैं-

सुखिना विधिना धर्मः कार्यः स्वसुख-वृद्धये ।
दुःखिना दुःख-घाताय सर्वथा वेतरैःजनैः ॥९०॥

अर्थात् सुखी जनों को अपने सुख की और भी वृद्धि के लिए, दुखी जनों को दुःख दूर करने के लिए, तथा सर्व साधारण जनों को दोनों ही उद्देश्यों से धर्म का पालन करना चाहिए ।

चक्रवर्ती द्वारा किये गये दुर्धर तपश्चरण का भी बहुत सुन्दर एवं विस्तृत वर्णन किया गया है ।

छठे अध्याय में भगवान् के उपान्त्य भव तक का वर्णन किया गया है । भगवान् का जीव इकतीसवें भव में दर्शन-विशुद्धि आदि षोडश कारण भावनाओं का चिन्तवन करके तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करता है । इस सन्दर्भ में षोडश भावनाओं का , साथ ही सोलहवें स्वर्ग में उत्पन्न होने पर वहां के सुख, वैभव आदि का भी विस्तृत वर्णन किया गया है ।

सातवें अध्याय में भ महावीर के गर्भावतार का वर्णन है । गर्भ में आने के छह मास पूर्व ही सौधर्मेन्द्र भगवान् के गर्भावतरण को जानकर कुबेर को आज्ञा देता है-

अथ सौधर्मकल्पेशो ज्ञात्वाऽच्युतसुरेशिनः ।
षण्मासावधिशेषायुः प्राहेति धनदं प्रति ॥४२॥
श्रीदात्र भारते क्षेत्रे सिद्धार्थनृप-मन्दिरे ।
श्रीवर्धमानतीर्थेशश्चरमोऽवतरिष्यति ॥४३॥
अतो गत्वा विधेहि त्वं रत्नवृष्टिस्तदालये ।
शेषाश्चर्याणि पुण्याय स्वाल्पशर्माकराणि च ॥४४॥

अर्थात्-अच्युतेन्द्र की छह मास आयु के शेष रह जाने की बात जानकर सौधर्मेन्द्र ने कुबेर को आदेश दिया कि भरत क्षेत्र में जाकर सिद्धार्थ राजा के भवन में रत्नवृष्टि आदि सभी आश्चार्यकारी अपने कर्त्तव्यों को करो, क्योंकि अन्तिम तीर्थङ्कर वहां जन्म लेने वाले हैं ।

कुबेर को आज्ञा देकर इन्द्र पुनः माता की सेवा के लिए दिक्कुमारिका देवियों को भेजता है और वे आकर त्रिशला देवी की भली-भांति सेवा करने में संलग्न हो जाती हैं । इसी समय त्रिशला देवी सोलह स्वप्नों को देखती हैं, तभी प्रभातकाल होने के पूर्व ही वन्दारु पाठक वादित्रों की ध्वनि के साथ जिन शब्दों का प्रयोग करते हुए माता को जगाते हैं, वह समग्र प्रकरण तो पढ़ने के योग्य ही है । माता जाग कर शीघ्र प्राभातिक क्रियाओं को करती हैं, पति के पास जाती है और स्वप्न कह कर फल पूछती है । त्रिज्ञानी पति के मुख से फल सुन कर परम हर्षित हो अपने मन्दिर में आती है । तभी स्वर्गादि से चतुर्निकाय के देव आकर गर्भ-कल्याणक महोत्सव करते हैं और भगवान् के माता-पिता का अभिषेक कर एवं उन्हें दिव्य वस्त्राभरण देकर उनकी पूजा कर तथा गर्भस्थ भगवान् को नमस्कार कर अपने-अपने स्थान को वापिस चले जाते हैं-

जिनेन्द्र-पितरौ भक्त्या ह्यारोप्य हरिविष्टिरे ।
अभिषिच्य कनत्काञ्चनकुम्भैः परमोत्सवैः ॥२०॥
प्रपूज्य दिव्यभूषास्रग्वस्त्रैः शक्राः सहामरैः ।
गर्भान्तस्थं जिनं स्मृत्वा प्रणेमुस्त्रिपरीत्य ते ॥२१॥
इत्याद्यं गर्भकल्याणं कृत्वा संयोज्य सद्-गुरोः ।
अम्बायाः परिचर्यायां दिक्कुमारी रनेकशः ॥२२॥
आदिकल्पाधिपो देवैः समं शक्रैरपार्ज्य च ।
परं पुण्यं सुचेष्टाभिर्नाकलोकं मुदा ययौ ॥२३॥

आठवें अध्याय में दिक्कुमारिका देवियों द्वारा भगवान् की माता की विविध प्रकारों से की गई सेवा-सुश्रूषा का और उनके द्वारा पूछे गये अनेकों शास्त्रीय प्रश्नों के उत्तरों का बहुत ही सुन्दर और विस्तृत वर्णन है । पाठकों की जानकारी के लिए चाहते हुए भी विस्तार के भय से यहां उसे नहीं दिया जा रहा है । इस विषय के जानने की इच्छा रखने वाले पाठकों से निवेदन है कि वे इस स्थल को संस्कृतज्ञ विद्वानों से अवश्य सुनने या पढ़ने का प्रयत्न करें ।

क्रमशः गर्भ-काल पूर्ण होने पर चैत सुदी १३ के दिन भगवान् का जन्म होता है, चारों जाति के देवों के आसन कम्पित होते हैं, अवधिज्ञान से भगवान् का जन्म हुआ जानकर वे सपरिवार आते हैं और शची प्रसूति गृह में जाकर माता की स्तुति करके माता को मायावी निद्रा से सुलाकर एवं मायामयी बालक को रखकर और भगवान् को लाकर इन्द्र को सौंप देती हैं । इस प्रसंग में ग्रन्थकार ने शची के प्रच्छन्न रहते हुए ही सर्व कार्य करने का वर्णन किया है। यथा-

इत्यभिस्तुत्य गूढाङ्गी तां मायानिद्रयान्विताम् ।
कृत्वा मायामय बालं निधाय तत्पुरोद्गुरम् ॥८०॥

जब इन्द्राणी भगवान् को प्रसूति-गृह से लाती है, तो दिक्कुमारियां अष्ट मंगल द्रव्यों को धारण करके आगे-आगे चलती हैं । इन्द्र भगवान् को देखते ही भक्ति से गद्-गद होकर स्तुति कर अपने हाथों में लेता है और ऐरावत पर बैठकर सब देवों के साथ सुमेरु पर्वत पर पहुँचता है । इस स्थल पर सकलकीर्ति ने देवी-देवताओं के आनन्दोद्रेक का और सुमेरु पर्वत का बड़ा विस्तृत वर्णन किया है ।

नवें अध्याय में भगवान् के अभिषेक का वर्णन है । यहां बताया गया है कि भगवान् के अभिषेक-समय इन्द्र के आदेश से सर्व दिग्पाल अपनी-अपनी दिशा में बैठते हैं । पुनः क्षीर सागर से जल भरकर लाये हुए १००८ कलशों को इन्द्र अपनी तत्काल ही विक्रियानिर्मित १००८ भुजाओं में धारण करके भगवान् के शिर पर जलधारा छोड़ता हैं । पुनः शेष देव भी भगवान् के मस्तक पर जलधारा करते हैं । इस स्थल पर सकलकीर्ति ने गन्ध, चन्दन एवं अन्य सुगन्धित द्रव्यों से युक्त जल भरे कलशों से भगवान् का अभिषेक कराया है । यथा-

पुनः श्रीतीर्थकर्तारमभ्यसिञ्चच्छताध्वरः ।
गन्धाम्बुचन्दनाद्यैश्च विभूत्याऽमा महोत्सवैः ॥२९॥
सुगन्धिद्रव्यसम्मिश्रसुगन्धजलपूरितैः ।
गन्धोदकमहाकुम्भैर्मणिकाञ्चननिर्मितैः ॥३०॥

यहां यह बात फिर भी उल्लेखनीय है कि उन्होंने दही-घी आदि से भगवान् का अभिषेक नहीं कराया है ।

यहां पर सकलकीर्त्ति ने भगवान् के इस अभिषेक की जलधारा का कई श्लोकों में माहात्म्य वर्णन किया है और भावना की है कि वह पवित्र जलधारा हमारे मन को भी दुष्कर्मों के मैल से छुड़ाकर पवित्र करे । पुनः सर्व देवों ने जगत् की शान्ति के लिए शान्ति पाठ पढ़ा । पुनः इन्द्राणी ने भगवान् को वस्त्राभूषण पहिनाये । कवि ने इन वस्त्र और सभी आभूषणों का काव्यमय विस्तृत आलङ्कारिक वर्णन किया है । तत्पश्चात इन्द्र ने भगवान् की स्तुति की, जिसका वर्णन कवि ने पूरे २० श्लोकों में किया है । पुनः भगवान् का नाम संस्कार कर वीर और श्री वर्धमान नाम रखकर जय-जयकार करते हुए सर्व देव-इन्द्र के साथ कुण्डनपुर आये और भगवान् माता-पिता को सौंप कर तथा उनकी स्तुति कर और आनन्द नाटक करके अपने स्थान को चले गये । कवि ने इस आनन्द नाटक का बड़ा विस्तृत एवं चमत्कारी वर्णन किया है ।

दशवें अध्याय में भगवान् की बाल-क्रीड़ा का सुन्दर वर्णन किया है । जब महावीर कुमारावस्था को प्राप्त हुए, तो उनके जन्म-जात मति, श्रुत और अवधिज्ञान सहज में ही उत्कर्ष को प्राप्त हो गये । उस समय उन्हें सभी विद्याएं और कलाएं स्वयं ही प्राप्त हो गईं, क्योंकि तीर्थङ्कर का कोई गुरु या अध्यापन कराने वाला नहीं होता है । सकलकीर्ति लिखते हैं-

तेन विश्वपरिज्ञानकला-विद्यादयोऽखिलाः ।
गुणा धर्मा विचाराद्याश्चागुः परिणतिं स्वयम् ॥१४॥

ततोऽयं नृसुरादीनां बभूव गुरुरर्चितः ।
नापरो जातु देवस्य गुरुर्वाऽध्यापकोऽस्त्यहो ॥१५॥

आठ वर्ष के होने पर महावीर ने स्वयं ही श्रावक के व्रत ग्रहण कर लिये । महावीर के क्रीड़ा-काल में संगमक देव के द्वारा सर्परूप बनकर आने और भगवान् के निर्भयपने को देखकर 'महावीर' नाम रखकर स्तुति करके जाने का भी उल्लेख है ।

इस स्थल पर ग्रन्थकार ने भगवान् के शरीर में प्रकट हुए १०८ लक्षणों के भी नाम गिनायें हैं । पुनः कुमार-कालीन क्रीड़ाओं का वर्णन कर बताया गया है कि भगवान् का हृदय जगत् की स्थिति को देख-देखकर उत्तरोत्तर वैराग्य की ओर बढ़ने लगा और अन्त में तीस वर्ष की भरी-पूरी युवावस्था में वे घर-परित्याग को उद्यत हो गये । यहां माता-पिता के विवाह-प्रस्ताव आदि की कोई चर्चा नहीं है ।

ग्यारवें अध्याय में १३५ श्लोकों के द्वारा बारह भावनाओं का विशद वर्णन किया गया है, इनका चिन्तवन करते हुए महावीर का वैराग्य और दृढ़तर हो गया ।

बराहवें अध्याय में बताया गया है कि महावीर के संसार, देह और भोगों से विरक्त होने की बात को जानते ही लौकान्तिक देव आये और स्तवन-नमस्कार करके भगवान् के वैराग्य का समर्थन कर अपने स्थानं को चले गये । तभी घण्टा आदि के बजने से भगवान् को विरक्त जानकर सभी सुर और असुर अपने-अपने वाहनों पर चढ़कर कुण्डनपुर आये और भगवान् के दीक्षा कल्याणक करने के लिए आवश्यक तैयारी करने लगे । इस समय भगवान् ने वैराग्य उत्पादक मधुर-संभाषण से अपने दीक्षा लेने का भाव माता, पिता और कुटुम्बी जनों को अवगत कराया । इस अवसर पर लिखा है-

तदा स मातरं स्वस्य महामोहात्मानसाम् ।
बन्धूंश्च पितरं दक्षं महाकष्टेन तीर्थकृत् ॥४१॥
विविक्तैर्मधुरालापैरुपदेशशतादिभिः ।
वैराग्यजनकैर्वाक्यैः स्वदीक्षायै ह्यबोधयत् ॥४२॥

इधर तो भगवान् ने घर-बार छोड़कर देव-समूह के साथ वन को गमन किया और उधर माता प्रियकारिणी पुत्र-वियोग से पीड़ित होकर रोती-विलाप करती हुई वन की ओर भागी । इस स्थल पर कवि ने माता के करुण विलाप का जो चित्र खींचा है, उसे पढ़ कर प्रत्येक माता रोये बिना नहीं रहेगी । माता का ऐसा करुण आक्रन्दन सुन कर महत्तर देवों ने किसी प्रकार समझा बुझा करके उन्हें राज-भवन वापिस भेजा ।

भगवान् ने नगर के बाहिर पहुँच कर खंका नामक उद्यान में पूर्व से ही देवों द्वारा तैयार किये गये मण्डप में प्रवेश किया और वस्त्राभूषण उतार कर, पांच मुट्ठियों के द्वारा सर्व केशों को उखाड़ कर एवं सिद्धों को नमस्कार करके जिन-दीक्षा ग्रहण कर ली । देव-इन्द्रादिक अपना-अपना नियोग पूरा करके यथा-स्थान चले गये ।

इस स्थल पर भगवान् के दीक्षा ग्रहण कर लेने पर इन्द्र ने जिन सुसंस्कृत प्राञ्जल शब्दों में उनकी स्तुति की है, वह उसके ही योग्य है । कवि ने पूरे ३२ श्लोकों में इस का व्याज-स्तुति रूप से वर्णन किया है ।

तेरहवें अध्याय में भगवान् की तपस्या का, उनके प्रथम पारणा का, ग्रामानुग्राम विहार का और सदा काल जागरुक रहने का बड़ा ही मार्मिक एवं विस्तृत वर्णन किया है । इस प्रकार विचरते हुए भगवान् उज्जयिनी के श्मशान में पहुँचे। यथा-

विश्वोत्तरगुणैः सार्धं सर्वान् मूलगुणान् सुधीः ।
अतन्द्रितो नयन्नैव स्वप्नेऽपि मलसन्निधिम् ॥५८॥
इत्यादिपरमाचाराऽलङ्कृतो विहरन् महीम् ।
उज्जयिन्याः श्मशानं देवोऽतिमुक्ताख्यमागमत् ॥५९॥

वहां पहुँच कर भगवान् रात्रि में प्रतिमायोग धारण करके ध्यानावस्थित हो गये । तात्कालिक अन्तिम रुद्र को ज्यों ही इसका पता चला - कि वह ध्यान से विचलित करने के लिए अपनी प्रिया के साथ जा पहुँचा और उसने जो नाना प्रकार के उपद्रव रात्रि भर किये, वह यद्यपि वर्णनातीत हैं, तथापि सकल कीर्ति ने उनका बहुत कुछ वर्णन १५

श्लोकों में किया है। रात्रि के बीत जाने पर और घोरातिघोर उपद्रवों के करने पर भी जब रुद्र ने भगवान् को अविचल देखा, तो लज्जित होकर अपनी स्त्री के साथ उनकी स्तुति करके तथा आप महति महावीर हैं ऐसा नाम कह कर अपने स्थान को चला गया।

पुनः भगवान् उज्जयिनी से विहार करते हुए क्रमशः कौशाम्बी पहुँचे और दुर्धर अभिग्रह के पूरे होते ही चन्दना के द्वारा प्रदत्त आहार से पारणा की, जिससे वह बन्धन-मुक्त हुई। चन्दना की विशेष कथा दि. श्वे. शास्त्रों में विस्तार से वर्णित है, विशेष जिज्ञासु पाठकों को वहां से जानना चाहिए।

पुनः विहार करतेहुए भगवान् जृम्भिका ग्राम के बाहिर बहने वाली ऋजुकूला नदी के किनारे षष्ठोपवास का नियम लेकर एक शिला पर ध्यानस्थ हो गये और वैशाख शुक्ल दशमी के अपराह्न में क्षपक श्रेणी मांडकर और अन्तर्मुहूर्त में घातिया कर्मों का विनाश कर केवल ज्ञान को प्राप्त किया।

चौदहवें अध्याय में भगवान् के ज्ञान कल्याणक का ठीक वैसा ही वर्णन किया गया है, जैसा कि पुराणों में प्रत्येक तीर्थङ्कर का किया गया है। किन्तु सकल कीर्ति ने कुछ नवीन बातों का भी इस प्रकरण में उल्लेख किया है -

(१) भगवान् के ज्ञान कल्याणक को मनाने के लिए जाते समय इन्द्र के आदेश से बलाहक देव ने जम्बू द्वीप प्रमाण एक लाख योजन विस्तार वाला विमान बनाया। यथा-

तदा बलाहकाकारं विमानं कामकाभिधम्।
जम्बूद्वीपप्रमं रम्यं मुक्तालम्बनशोभितम् ॥१३॥
नानारत्नमयं दिव्यं तेजसा व्याप्त दिग्मुखम्।
किङ्किणीस्वनवाचाल चक्रे देवो बलाहकः ॥१४॥

इसी प्रकार के पालक विमान का विस्तृत वर्णन श्वे प्राकृत जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति और संस्कृत त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित में मिलता है, जिस पर कि बैठ करके सपरिवार इन्द्र भगवान् के जन्म कल्याणादि के करने को आता है। यथा-

आदिशत्पालकं नाम वासवोऽप्याभियोगिकम।
असम्भाव्यप्रतिमानं विमानं क्रियतामिति ॥३५३॥
तत्कालं पालकोऽपीशनिदेशपरिपालकः।
रत्नस्तम्भसहस्रांशुपूरपल्लविताम्बरम् ॥३५४॥
गवाक्षैरक्षिमादेव दीर्घैर्दोष्मदिव ध्वजैः।
वेदीभिर्दन्तुरमिव कुम्भै पुलकभागिव ॥३५५॥
पञ्चयोजनशत्युच्चं विस्तारे लक्षयोजनम्।
इच्छानुमानगमनं विमानं पालकं व्यधात् ॥३५६॥

(त्रिषष्ठि पुरुषचरितं पर्व १, सर्ग २)

जहां तक मेरा अध्ययन है, किसी अन्य दि. ग्रन्थ में मुझे इस प्रकार के पालक या बलाहक विमान के बनाने और उस पर इन्द्र के आने का उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं हुआ है। ये पालक या बलाहक विमान दो नहीं, वस्तुतः एक ही हैं यह उद्धृत श्लोकों से पाठक स्वंय ही समझ जायंगे।

(२) श्वे. शास्त्रों के अनुसार सौधर्मेन्द्र उस विमान में अपनी सभी परिषदों के देवों, देवियों और अन्य परिजनों के साथ बैठकर आता है। किन्तु सकलकीर्त्ति ने इसका कुछ उल्लेख नहीं किया है।

(३) सकलकीर्त्ति ने यह भी वर्णन किया है कि कौन सा इन्द्र किस वाहन पर सवार होकर आता है। यथा-

(१) सौधर्मेन्द्र-ऐरावत गजेन्द्र पर। (२) ईशानेन्द्र-अश्व वाहन पर। (३) सनत्कुमारेन्द्र-मृगेन्द्र वाहन पर। (४) माहेन्द्र-वृषभ वाहन पर। (५) ब्रह्मेन्द्र-सारस वाहन पर। (६) लान्तवेन्द्र-हंस वाहन पर। (७) शुक्रेन्द्र-गरुड़ वाहन पर। (८) शतारेन्द्र-मयूर वाहन पर। (९) आनतेन्द्र-पुष्पक विमान पर। (१०) प्राणतेन्द्र-पुष्पक विमान पर (११) आरणेन्द्र-पुष्पक विमान पर। (१२) अच्युतेन्द्र-पुष्पक विमान पर।

इस प्रकार इस अध्याय में देवों के आने का और समवशरण की रचना का विस्तार से वर्णन किया गया है ।

पन्द्रहवें अध्याय में बताया गया है कि सभी देव-देवियां, मनुष्य और तिर्यंच समवशरण के मध्यवर्ती १२ कोठों में यथा स्थान बैठे । इन्द्र ने भगवान् की पूजा-अर्चा कर विस्तार से स्तुति की और वह भी अपने स्थान पर जा बैठा। सभी लोग भगवान् का उपदेश सुनने के लिए उत्सुक बैठे थे, फिर भी दिव्य ध्वनि प्रकट नहीं हुई । धीरे धीरे तीन पहर बीत गये[1] तब इन्द्र चिन्तित हुआ । अवधिज्ञान से उसने जाना कि गणधर के अभाव से भगवान् की दिव्यध्वनि नहीं प्रकट हो रही है । तब वह वृद्ध विप्र का रूप बना कर गौतम के पास गया और वही प्रसिद्ध श्लोक कह कर अर्थ पूछा । शेष कथानक वही है, जिसे पहले लिखा जा चुका है । अन्त में गौतम आते हैं, मानस्तम्भ देखते ही मान-भंग होता है और भगवान् के समीप पहुँच कर बड़े भक्ति भाव से भगवान् की स्तुति करते हैं । सकलकीर्ति ने इस स्तुति को १०८ नामों के उल्लेखपूर्वक ५० श्लोकों में रचा है ।

सोलहवे अध्याय में गौतम के पूछने पर भगवान् के द्वारा षट्द्रव्य, पंचास्तिकाय, सप्त तत्त्व और नव पदार्थों का विस्तार से वर्णन किया गया है ।

सत्रहवें अध्याय में गौतम-द्वारा पूछे गये पुण्य-पाप विपाक-सम्बन्धी अनेकों प्रश्नों का उत्तर दिया गया है, जो कि मनन के योग्य हैं ।

अठारहवें अध्याय में भगवान् के द्वारा दिये गृहस्थ-धर्म, मुनिधर्म, लोक-विभाग, काल-विभाग आदि उपदेश का वर्णन है । गौतम भगवान् के इस प्रकार के दिव्य उपदेश को सुनकर बहुत प्रभावित होते हैं, और अपनी निन्दा करते हुए कहते हैं- हाय, हाय! आज तक का समय मैंने मिथ्यात्व का सेवन करते हुए व्यर्थ गंवा दिया । फिर भगवान् के मुख कमल को देखते हुए कहते हैं-आज मैं धन्य हुआ, मेरा जन्म सफल हुआ, क्योंकि महान् पुण्य से मुझे जगद्-गुरु प्राप्त हुए हैं । इस प्रकार परम विशुद्धि को प्राप्त होते हुए गौतम ने अपने दोनों भाइयों और शिष्यों के साथ जिन-दीक्षा ग्रहण कर ली । यथा-

> अहो मिथ्यात्वमार्गोऽयं विश्वपापाकरोऽशुभः ।
> चिरं वृथा मया निंद्यः सेवितो मूढचेतसा ॥१३३॥
> अद्याहमेव धन्योऽहं सफलं जन्म मेऽखिलम् ।
> यतो मयातिपुण्येन प्राप्तो देवो जगद्-गुरुः ॥१४४॥
> त्रिशुद्ध्या परया भक्त्याऽर्हती मुद्रां जगन्नुताम् ।
> भ्रातृभ्यां सह जग्राह तत्क्षणं च द्विजोत्तमः ॥१४९॥

गौतम के दीक्षित होते ही इन्द्र ने उनकी पूजा की और उनके गणधर होने की नामोल्लेख-पूर्वक घोषणा की । तभी गौतम को सप्त ऋद्धियां प्राप्त हुईं । उन्होंने भगवान् के उपदेशों को-जो श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के प्रातःकाल अर्थ रूप से प्रकट हुए थे- उसी दिन अपराह्न में अंग-पूर्व रूप से विभाजित कर ग्रन्थ रूप से रचना की ।

उन्नीसवें अध्याय में सौधर्मेन्द्र ने भगवान् की अर्थ-गम्भीर और विस्तृत स्तुति करके भव्यलोकों के उद्धारार्थ विहार करने का प्रस्ताव किया और भव्यों के पुण्य से प्रेरित भगवान् का सर्व आर्य देशों में विहार हुआ । अन्त में वे विपुलाचल पर पहुँचे । राजा श्रेणिक ने आकर वन्दना-अर्चना करके धर्मोपदेश सुना और अपने पूर्व भव पूछे, साथ ही अपने व्रतादि-ग्रहण के भाव न होने का कारण भी पूछा । भगवान् के द्वारा सभी प्रश्नों का उत्तर सुनकर श्रेणिक ने सम्यक्त्व ग्रहण किया और तत्पश्चात् सोलह कारण भावनाओं को भाते हुए तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध किया ।

अन्त में भगवान् पावा नगरी के उद्यान में पहुँचे और योगनिरोध करके अघाति कर्मों का क्षय करते हुए मुक्ति को प्राप्त हुए । देव-इन्द्रादिकों ने आकर निर्वाण कल्याणक किया । गौतम को केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ और उसी की स्मृति में दीपावली का पर्व प्रचलित हुआ ।

---

१. यामत्रये गतेऽप्यस्यार्हतो न ध्वनिनिर्गमः ।
हेतुना केन जायेतादीन्द्रो हृदीत्यचिन्तयत् ॥७॥ (श्री वर्धमान चरित, अ १५)

इस प्रकार समग्र चरित्र-चित्रण पर सिंहावलोकन करने से यह बात पूर्व-परम्परा से कुछ विरुद्ध-सी दिखती है कि भ. महावीर के द्वारा सभी तत्त्वों का विस्तृत उपदेश दिये जाने पर गौतम के दीक्षा लेने का इसमें उल्लेख किया गया है, जब धवला-जयधवलाकार जैसे आचार्य समयशरण में पहुँचते ही उनके दीक्षित होने का उल्लेख करते हैं । पर इसमें विरोध की कोई बात नहीं है बल्कि सुसंगत ही कथन है । कारण कि इन्द्र ने विप्र वेष में जिस श्लोक का अर्थ गौतम से पूछा था, उसे वे नहीं जानते थे, अत: यह कह कर ही वे भगवान् के पास आये थे कि चलो- तुम्हारे गुरु के सामने ही अर्थ बताऊंगा । सकलकीर्ति ने इन्द्र-द्वारा जो श्लोक कहलाया, वह इस प्रकार है-

त्रैकाल्यं द्रव्यषटकं सकलगणितगणा: सत्पदार्था नवैव,
विश्वं पंचास्तिकाय-व्रत-समितिविद: सप्त तत्त्वानि धर्म: ।
सिद्धे: मार्गस्वरूपं विधिजनितफलं जीवषट्कायलेश्या,
एतान् य श्रद्धाति जिनवचनरतो मुक्तिगामी स भव्य ॥

इस श्लोक में जिस क्रम से जिस तत्त्व का उल्लेख है, उसी क्रम से गौतम ने भगवान् से प्रश्न पूछे थे और भगवान् के द्वारा उनका समुचित समाधान होने पर पीछे उनका दीक्षित होना भी स्वाभाविक एवं युक्ति-संगत है ।

(३)
रयधु-विरचित महावीर-चरित

रयधू कवि ने अपभ्रंश भाषा में अनेक ग्रन्थों की रचना की है । उनका समय विक्रम की १५ वीं शताब्दि है। यद्यपि अपने पूर्व रचे गये महावीर चरितों के आधार पर ही उन्होंने अपने चरित की रचना की है, तथापि उनके विशिष्ट व्यक्तित्व का उनकी रचना में स्थान-स्थान पर प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । यहाँ पर उनके चरित से कुछ विशिष्ट स्थलों के उद्धरण दिये जाते हैं-

(१) भ ऋषभदेव के द्वारा अपने अन्तिम तीर्थङ्कर होने की बात सुनकर मरीचि विचारता है-

घत्ता-णिसुणिवि जिणवुत्तउ मुणिवि णिरुत्तउ, संतुट्ठउ मरीइ समणी ।
जिण-भणिओ ण वियलइ, कहमवि ण चलइ, हं होसमि तित्थय जणी ॥१५॥
जहिं ठाणहु वियलइ कणयायलु, जइ जोइस गणु छंडइ णहयलु ।
जइ सत्तच्चिसिहा हुइ सीयल, जइ पण्णय हवंति गय बिस-मल ॥
एयहं कहमवि पुणु चल चित्तउ, णउ अण्णारिसु जिणहं पउत्तउ ।
किं कारणिं इंदियगणु सोसमि, किं कारणिं उववासें सोसमि ॥
किं कारणिं उड्ढुउ अच्छमि, किं कारणि जय तू उण पेच्छमि ।
किं कारणिं लुचंमि सिर-केसइ, किं कारणिं छुह-तणह किलेसइं ॥
किं कारणिं णग्गउ जणि वियरमि, किं विणु जलिण भहाणइ पइरमि ।
जेण कालि भवियत्थु हवेसइ, तेण समइं तं सइ णिरु होसइ ॥
जिहं रवि उयउं ण कोवि णिवारइ, अणुंहुतउ णउ केणवि कीरइ ।
जिंह फल कालवसेणं पक्व हिं, णिय कालहु परिपुण्णइ थक्कहिं ॥
तेम जीउ पुणु सइं सिज्झेसइ, मुहु णिरत्थउ देहु किलेसइ ।
इय भासिवि समवसरणहु बाहिरि, णिग्गउ जडु खणि छंडेप्पिणु हिरि ॥
जणि अणाय पक्खिविहि दंसिय, कुमयपसर बहुभेएं भासिय ।
घत्ता-णवि कम्मह कत्त णवि पुणु भुत्त, णउ कम्मेहि जि छिप्पइ ॥
णिच्चु जि परमप्पउ अत्थि अदप्पउ, एम संखु मउ थप्पइ ॥१६॥

(पत्र१७)

जिनेन्द्र-भाषित बात कभी अन्यथा नहीं हो सकती है, सो मैं निश्चय से आगे तीर्थङ्कर होऊँगा । यदि कदाचित् कनकाचल (सुमेरु) चलायमान होजाय, ज्योतिषगण नभस्तल छोड़ दें, अग्नि-शिखा शीतल हो जाय, सर्प विष-रहित हो जायें, ये सभी अनहोनी बातें भले ही सम्भव हो जों, पर जिन भगवान् का कथन कभी अन्यथा नहीं हो सकता । फिर मैं क्यों उपवास करके शरीर और इन्द्रियों को सुखाऊं, क्यों कायोत्सर्ग करुं, क्यों वन में रहूँ क्यों केशों का लोंच करुं, क्यों भूख-प्यास की वेदना सहूँ, क्यों नग्न होकर विचरुं, और क्यों बिना शरीर-सन्ताप के महानदियों में रमूं? जिस समय जो होने वाला शरीर-सन्ताप के महानदियों में रमूं ? जिस समय जो होने वाला है वह होकर के ही रहेगा । उदय होते सूर्य को कौन रोक सकता है ? जैसे फल समय आने पर स्वयं पक जाता है, वैसे ही समय आने पर जीव भी स्वयं सिद्ध हो जायगा । ऐसा कह कर मरीचि समवशरण से बाहिर निकल कर कुमतों का प्रचार करने लगा और कहने लगा कि न कोई कर्ता है, न कोई कर्म ही है और न कोई भोक्ता ही है । जीव कभी भी कर्मों से स्पृष्ट नहीं होता है, वह तो सदा ही निर्लेप परमात्मा बना हुआ रहता है । इस प्रकार मरीचि ने सांख्य मत की स्थापना की।

(२) रयधू ते त्रिपृष्ठ के भव का वर्णन करते समय युद्ध का और उसके नरक में पहुँचने पर यहां के दु:खों का बहुत विस्तार से वर्णन किया है ।

(३) मृग-घात करते सिंह को देख कर चारण मुनि-युगल उसे सम्बोधन करते हुए कहते हैं -

जग्गु जग्गु रे केत्तउ सोवहि, तउ पुण्णे मुणि आयउ जोवहि ।
एक्क जि कोडाकोडी सायर, गयउ भमंते कालु जि भायर ॥

(पत्र २५)

अर्थात्- हे भाई, जाग-जाग । कितने समय तक और सोवेगा ? पूरा एक कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण काल तुझे परिभ्रमण करते हुए हो गया है । आज तेरे पुण्य से यह मुनि-युगल आये हैं, सो देखो और आत्म-हित में लगो ।

इस स्थल पर रयधू ने चारण-मुनि के द्वारा सम्यक्त्व की महिमा का विस्तृत वर्णन कराबा है और कहा है कि अब हे मृगराज, इस हिंसक प्रवृति को छोड़ कर सम्यक्तव और व्रत को ग्रहण कर ।

(४) भ महावीर का जीव स्वर्ग से अवतरित होते हुए संसार के स्वरूप का विचार कर परम वैराग्य भावों की वृद्धि के साथ त्रिशला देवी के गर्भ में आया, इसका बहुत ही मार्मिक चित्रण रयधू ने किया है । (पत्र ३)

(५) जन्माभिषेक के समय सौधर्म इन्द्र दिग्पालों को पांडुक शिला के सर्वं ओर प्रदक्षिणा क्रम से अपनी-अपनी दिशा में बैठा कर कहता है:-

णिय णिय दिस रक्खहु सावहाण, मा को वि विसउ सुरु मज्झठाण ।

(पत्र ३६ A)

अर्थात् - हे दिग्पालो, तुम लोग सावधान होकर अपनी-अपनी दिशा का संरक्षण करो और इस मध्यवर्ती क्षेत्र में किसी को भी प्रवेश मत करने दो ।

इस उक्त उद्देश्य को भूल कर लोग आज पंचामृताभिषेक के समय दिग्पालों का आह्वानन करके उनकी पूजा करने लगे हैं ।

(६) रयधू ने भी जन्माभिषेक के समय सुमेरु के कम्पित होने का उल्लेख किया है । साथ ही अभिषेक से पूर्व कलशों में भरे जल को इन्द्र के द्वारा मंत्र बोल कर पवित्र किये जाने का भी वर्णन किया है । (पत्र ३६ B)

इस प्रकरण में गन्धोदक के माहात्म्य का भी सुन्दर एवं प्रभावक वर्णन किया है (पत्र ३७ A)

(७) जन्माभिषेक से लौटने पर इन्द्राणी तो भगवान् को ले जाकर माता को सौंपती है और इन्द्र राजसभा में जाकर सिद्धार्थ को जन्माभिषेक के समाचार सुनाता है । (पत्र ३८ B)

भगवान् के श्री वर्धमान, सन्मति, महावीर आदि नामों के रखे जाने का वर्णन पूर्व परम्परा के ही अनुसार है ।

(८) महावीर जब कुमार काल को पार कर युवावस्था से सम्पन्न हो जाते हैं तब उनके पिता विचार करते हैं-

अज्जवि विसय आलि ण पयासइ, अज्ज सकामालाव ण भासइ ।
अज्जवि तिय तूवें ण उ भिज्जइ, अज्ज अणंग कणिहि ण दलिज्जइ ।।
णारि-कहा-रसि मणु णउ ढोवइ, णउ सवियारउ कहव पलोवइ ।
घत्ता- इस चिंतिवि णिवेण जिणु भणिउ, सहहि परिट्ठिउ णिय भवणि ।
तउ पुरउ भणमि हउं पुत्त किंहा, तुहु पवियाणहि सयलु मणि ।।२५।।
किं पाहणि ण कणउ णोवज्जइ, कद्दमि कमलु किण्ण संपज्जइ ।
वप्प पुत्त को अंतरु दिज्जइ, परइं मोहें किंपि भणिज्जइ ।।
तिहं करि जिहं कुल-संतति वड्ढइ, तिहं करि सुरा-वंसु पवट्टइ ।
तिहं करि जिहं सुय मज्झु मणोरह, हुंति य पुण्ण तियस वइ सय मह ।।

(पत्र ४१ A)

महावीर युवा हो गये हैं, तथापि आज भी उनके हृदय में विषयों की अभिलाषा प्रकट नहीं हो रही है, वे आज भी काम-युक्त आलाप नहीं बोलते हैं, आज भी उनका मन स्त्रियों के कटाक्षों से नहीं भिद रहा है, आज भी कामकी कणिका उन्हें दलन नहीं कर रही है, स्त्रियों की कथाओं में उनका मन रस नहीं ले रहा है और न वे विकारी भाव से किसी स्त्री आदि की ओर देखते ही हैं । ऐसा विचार कर सिद्धार्थ राजा भ महावीर के पास पहुंचते हैं, जहां पर कि वे अपने सखाओं से घिरे हुए बैठे थे, और उनसे कहते हैं - हे पुत्र, मैं तुम्हारे सामने अपने मन की क्या बात कहूं, तुम तो सब कुछ जानते हो । देखो- क्या पाषाणों में सुवर्ण नहीं उत्पन्न होता और क्या कीचड़ में कमल नहीं उपजता ? पिता और पुत्र में क्या अन्तर किया जा सकता है ? (कभी नहीं) फिर भी मैं मोह-वश कुछ कहता हूँ सो तुम ऐसा काम करो कि जिससे कुल-सन्तान बढ़े और पुत्र का वंश प्रवर्तमान रहे । हे इन्द्र-शत-वंद पुत्र, तुम ऐसा भाव करो कि मेरा मनोरथ पूर्ण हो ।

पिता के ऐसे अनुराग भरे वचनों को सुन कर अवधि-विलोचन भगवान् उत्तर देते हैं -

तं णिसुणेप्पिण अवहि-विलोयण पडिउत्तरु भासइ मल-मोयणु ।
ताय ताय जं तुम्ह पउत्तं, मण्णमि त णिरु होइ ण जुत्तं ।।
चउ गई पह व विहिय संसारं, मोख-महापह तुं धियदारं ।
दुत्तर दुग्गइं पारावारं, कवणु ताय बहु वछइ दारं ।।
सव्वत्थ वि अयणेण विछण्णं, संधि बंध विसमहि विच्छिण्णं ।
सव्वत्थि जि किमिउलसंपुण्ण, सव्वत्थ जि णव दारहिं जुण्णं ।।
सव्वकाल पयडिय णिरु मुत्तं, सव्वकाल वस-मंस-विलित्तं ।
सव्वकाल लालरस-गिल्लं, सव्वत्थ जि रुहिरोह जलुल्लं ।।
सव्वकाल बहुमल कयकबुसं, सव्वकाल धारिय जि पुरीसं ।
सव्वकाल बहुकुच्छियगंध, सव्वकाल अतावलिबधं ।।
सव्वकाल मह भुक्खारोण . ... ।
एरिस अंग सेयंताण, होई ण मोक्खु, दुक्खु धुव ताणं ।।
घत्ता- पर संभउ पवहिय संभउ, खण-खण बाहासय-सहिउ ।
आरंभे महुरउ इंदिय-सुहु घुउ, को णरु सेवइ गुण अहिउ ।।
संसारि भमंतई जाइं जाइं, गिण्हियइं पमेल्लिय ताइं ताइं ।
केत्तियइं गणेसमि आसि वंस, णिच्च खाजि जगि लद्ध संस ।।
केत्तियइं भणमि कुल-संतईउ, जण्णी-जणणइ पिय सामिणीउ ।
पूरेमि मणोरह कासु कासु, त णिसु णिवि णिउ मेल्लिवि उसासु ।।
होएवि विलक्खउ मोणि थक्कु, जाए णउ पडिउत्तरु असक्कु ।

अर्थात्- हे तात, हे पिता, तुमने जो कहा, सो वह युक्त नहीं है । यह दार-परिग्रह (स्त्री-विवाह) चतुर्गति रूप संसार-मार्ग का बढ़ाने वाला है और मोक्ष महान् पन्थ का रोकने वाला है । यह संसार रूप सागर दुस्तर दुर्गति रूप है, इसका कोई आदि अन्त नहीं है । कौन बुद्धिमान इसमें डूबना चाहेगा ? यह सर्वत्र अज्ञान से विस्तीर्ण है और विषम सन्धि-बन्धों से व्याप्त है । यह मानव-देह-कृमि कुल से भरा हुआ है नौ द्वारों से निरन्तर मल-स्राव होता रहता है, सदा ही, मल-मूत्र प्रकट होता है, सदा ही यह वसा (चर्बी) और मांस से लिप्त रहता है, मुख से सदा ही लार बहती रहती है और सर्वांग रक्त-पुंज से प्रवाहित रहता है । सदा ही यह नाना प्रकार के मलों से कलुषित रहता है, सदा ही विष्टा को धारण किये रहता है । इससे सदा ही दुर्गन्ध आती रहती है और सदा ही यह आंतों की आवली से बंधा हुआ है । सदा ही यह भूख-प्यास से पीड़ित रहता है । ऐसे अनेक आपदामय शरीर का सेवन करने वालों को कभी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता । हां, उनको दुःखों की प्राप्ति तो निश्चय से होती ही है । पर से उत्पन्न होने वाले, मल-मूत्रादि को प्रवाहित करने वाले, क्षण-क्षण में सैकड़ों बाधाओं से व्याप्त और प्रारम्भ में मधुर दिखने वाले इस इन्द्रय-सुख को कौन गुणी पुरुष सेवन करना चाहेगा ? संसार में परिभ्रमण करते हुए इसने अनन्त जन्म, जाति और वंशों को ग्रहण कर-कर के छोड़ा है । जगत् में कौनसा वंश सदा नित्य रहा है और कौन से कुल की सन्तान, माता, पिता और प्रिय जन नित्य बने रहे हैं । मनुष्य किसी किसके मनोरथों को पूरा कर सकता है । इसलिए इस दार-परिग्रह को स्वीकार नहीं करना ही अच्छा है । पिता महावीर का यह उत्तर सुनकर और दीर्घ श्वाँस छोड़ कर चुप हो प्रत्युत्तर देने में अशक्य हो गये ।

(९) महावीर के वैराग्य उत्पन्न होने के अवसर पर रयधू ने बारह भावनाओं का बहुत सुन्दर एवं विस्तृत वर्णन किया है ।

(१०) रयधू ने दीक्षार्थ जाते हुए भगवान् के सात पग पैदल चलने का वर्णन इस प्रकार किया है ।

ता उट्ठिवि सिंहासणहु जिणु चल्लिउ पय धरंतु धरहिं ।
पय सत्त महीयलि चलियउ जाम, इंदे पणवेप्पिण देउ ताम ।
ससिपह सिवियहिं मंडिवि जिणिंदु, आरोविवि उच्चायउ अणिंदु ॥

(पत्र ४६ A)

अर्थात् - भगवान् सिंहासन से उठकर जैसे ही भूतल पर सात पग चले, त्यों ही इन्द्र ने शशिप्रभा पालकी में भगवान् को उठाकर बैठा दिया ।

(११) इन्द्र जब गौतम को साथ लेकर भगवान् के समवशरण में आने लगे, तो उनके दोनों भाई भी अपे शिष्यों के साथ पीछे हो लिये । तब उनका पिता शांडिल्य ब्राह्मण चिल्ला करके कहता है - अरे, तुम लोग कहां जा रहे? क्या ज्योतिषी के ये वचन सत्य होंगे कि ये तीनों पुत्र जिन-शासन की महती प्रभावना करेंगे । हाय, हाय, यह मायावी महावीर यहां कहां से आ गया ?

ता संडिल्ले विप्पे सिद्धउ, हा हा हउ कहु काजु विणट्ठउ ।
एयहिं जम्मण दिणि मइंलक्खिउ, णेमित्तिएण मज्झु णिउ अक्खहु ॥
ए तिण्णि वि जिणसमय-पहावण, पयड करेसहिं सुहगइ दावण ।
तं अहिहाणु एहु पुणु जायउ, कुवि मायावी इहु णिरु आयउ ॥

(पत्र ५० A)

(१२) गौतम के दीक्षित होते ही भगवान् की दिव्यध्वनि प्रकट हुई । इस प्रसंग पर रयधू ने षट-द्रव्य और सप्त-तत्त्वों का तथा श्रावक और मुनिधर्म का विस्तृत वर्णन किया है ।

अन्त में रयधू ने भगवान् के निर्वाण कल्याण का वर्णन कर के गौतम के पूर्व भव एवं भद्रबाहु स्वामी का चरित्र भी लिखा है ।

(४)

सिरिहर–विरचित–वड्ढमाणचरिउ

कवि श्रीधर ने अपने वर्धमान चरित की रचना अपभ्रंश भाषा में की है। यद्यपि भ. महावीर का कथानक एवं कल्याणक आदि का वर्णन प्रायः वही है, जो कि दि. परम्परा के अन्य आचार्यों ने लिखा है, तथापि कुछ स्थल ऐसे हैं, जिनमें कि दि परम्परा से कुछ विशेषता दृष्टिगोचर होती है। जैसे-

(१) त्रिपृष्ठनारायण के भव में सिंह के मारने की घटना का वर्णन प्रस्तुत ग्रन्थकार ने किया है। सिंह के उपद्रव से पीड़ित प्रजा राजा से जाकर कहती है-

पीडइ पंचाणणु पउर सत्तु, बलवंतु भुवणे भो कम्मसत्तु ।
किं जम्मु जणवय-मारण कएण, सइं हरि-मिसेण आयउरवेण ॥
अह असुरु, अहव तुव पुव्ववेरि, दुद्धरु दुव्वारु वहंतु खेरि ।
तारिसु वियारु साहहो ण देव, दिट्ठउ कयावि णर-णियर-सेव ॥
घत्ता-पिययम पुत्ताइं गुण जुत्ताइं परितजे वि जणु जाइ ।
जीविउ इच्छंतु लहु भज्जंतु, भय वसु को वि ण ठाइ ॥२१॥

(पत्र २३ B)

अर्थात्- हे महाराज, एक बलवान महान शत्रु सिंह हम लोगों को अत्यन्त सता रहा है, ऐसा प्रतीत होता है कि मानों सिंह के मिष से मारने के लिए यम ही आ गया है अथवा कोई असुर या कोई तुम्हारा पूर्व भव का वैरी देव-दानव है। आप शीघ्र उससे हमारी रक्षा करें, अन्यथा अपने गुणी प्रियजनों और पुत्रादिकों को भी छोड़कर सब लोग अपने प्राणों की रक्षा के लिये यहां से जल्दी भाग जावेंगे। भय के कारण यहां कोई भी नहीं ठहरेगा।

प्रजाजनों के उक्त वचन-सुनकर सिंह मारने को जाने के लिए ज्यों ही राजा उद्यत होता है, त्यों ही त्रिपृष्ठ उन्हें रोक कर स्वयं अपने जाने की बात कहते हुए उन्हें रोकते हैं। वे कहते हैं-

जइ मह संतेवि असि वरु लेवि, पसु-णिग्गह-कएण ।
उट्ठिउ करि कोउ वइरि विलोउ, ता किं मइ तणएण ॥

(पत्र २४ B)

अर्थात्-यदि मेरे होते संते भी आप खड्ग लेकर एक पशु का निग्रह करने के लिए जाते हैं, तो फिर मुझ पुत्र से क्या लाभ ?

ऐसा कह कर त्रिपृष्ठ सिंह को मारने के लिए स्वयं जंगल में जाता है और विकराल सिंह को दहाड़ते हुए सामने आता देखकर उसके खुले हुए मुख में अपना वाम हस्त देकर दक्षिण हाथ से उसके मुख को फाड़ देता है और सिंह का काम तमाम कर देता है। इस घटना को कवि के शब्दों में पढ़िये -

हरिणा करेण णियमिवि थिरेण, णिहमणेण पुणु तक्खणेण ।
दिढु इयरु हत्थु संगरे समत्थु वयणंतराले पेसिवि विकराले ॥
पीडियउ सीहु लोलंत जीहु, लोयणजुवेण लोहियजुवेण ।
दावग्गिजाल अविरल विसाल, धुवमंत भाइ कोवेण णाइ ।
पवियारुओण हरि मारिऊणं तहो लोयहिं एहिं तणु णिसामएहिं ॥

(पत्र ३५ B)

सिंह के मारने की इस घटना का वर्णन श्वे. ग्रन्थों में भी पाया जाता है।

(२) भ महावीर के जन्म होने के दिन से ही सिद्धार्थ के घर श्री लक्ष्मी दिन-दिन बढ़ने लगी। इस कारण दसवें दिन पिता ने उनका श्री वर्धमान नाम रखा। कवि कहते हैं-

जिण जम्महो अणु दिणु सोहमाण, पियकुल सिरि देक्खेवि वड्ढमाण,
सियं भाणुकलाइ सहुँ सुरेहिं, सिरि सेहर-रयणहि भासुरेहिं ।
दहमें दिणि तहो भव बहुणिवेण, किउ बड्ढमाण इउ णाम तेण ॥

(पत्र ६७ A)

(२) सन्मति-नाम रखे जाने का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है-
अण्णहिं दिणे तहो तिजएसरासु, किउ सम्मइ णामु जिणेसरासु ।
चारण मुनि विजय-सुसंजएहिं, तहंसणणिग्गयसंसएहि ॥

(पत्र ६७ A)

इसी प्रकार भगवान् के शेष नामों के रखने का भी सुन्दर वर्णन कवि ने किया है।

(४) गौतम को इन्द्र समवशरण में ले जाते हैं । वे भगवान् से अपनी जीव-विषयक शंका को पूछते हैं, भगवान् की दिव्य ध्वनि से उनका सन्देह दूर होता है और वे जिन-दिक्षा ग्रहण करते हैं । इसका वर्णन कवि के शब्दों में पढे -

पुच्छिउ जीवट्ठिदि परमेसरु, पयणिय परमाणंदु जिणेसरु ।
सो वि जाय दिव्वज्झुणि भासइ, तहो संदेहु असेसु विणासइ ॥
पंच सयहिं दिय-सुएहि समिल्लें, लइय दिक्ख विप्पेण समिल्लें ।

(पत्र ७० A)

(५) गौतम ने पूर्वाह्न में दीक्षा ली और अपराह्न में द्वादशांग की रचना की । इसका वर्णन करते हुए कवि कहते हैं-
पुव्वणहइं लहु दिक्खए जायउ लद्धिउ सत्त णामु विक्खायउ ।
तम्मि दिवसे अवरण्हए तेण वि, सोवंगा गोत्तमणामेण वि ।
जिणमुह-णिगाय अत्थालंकिय, बारहंग सुय पयरयणंकिय ।

(पत्र ७० A)

इस वर्धमान चरित की रचना बहुत सुन्दर और स्वाध्याय योग्य है इसके प्रकाशित होने से अपभ्रंश साहित्य की समृद्धि प्रकट होगी ।

(५)
जयमित्तहल्ल—विरचित वर्धमान काव्य

जय मित्तहल्ल ने भी अपभ्रंश भाषा में वर्धमान काव्य रचा है जो कवित्व की दृष्टि से बहुत उत्तम है । इसमें भगवान् का चरित दिगम्बरीय पूर्व परम्परानुसारी ही है । हां, कुछ स्थलों पर अवश्य कुछ वर्णन विशेषताओं को लिये हुए हैं ।

कवि ने जन्माभिषेक के समय मेरु-कम्पन की घटना का इस प्रकार वर्णन किया है-

लइवि करि कलसु सोहम्म तियसाहिणा,
पेक्खि जिणदेहु संदेहु किउ णियमणा ।
हिमगिरिंदत्थ सरसरिसु गंभीरओ,
गंगमुह पमुह सुपवाह बहुणीरओ ॥
खिवमि किम कुंभु गयदंतु कहि लब्भई,
सूरबिंबुव्व आवरिउ णह अब्भई ।
सक्कु संकंतु तयणाणि संकप्पिओ,
कणयगिरि सिहरु चरणंगुलचप्पिओ ॥

टलिउ गिरिराउ खरहडिय सिलसंचया,
पडिय अमरिंद धरहरिय सपवंचया ।
रडिय दक्करिण गुञ्जरिय पंचाणणा,
तसिय किडि कुम्भ उव्वसिय तरु काणणा ।।
भरिय सरि विवर झलहलिय जलणिहिसरा,
हुवउ जग खोहु बहु मोक्खु मोहियधरा ।
ताम तियसिंदु णिइंतु अप्पउ घणं,
वीर जय वीर जंपंतु कयवंदणं ।।
घत्ता- जय जय जय वीर वीरिय णाण अणंत सुहा ।
महु खमहि भडारा तिहुअणसारा कवणु परमाणु तुहा ।।१८।।

अर्थात्-जैसे ही सौधर्मेन्द्र कलशों को हाथों में लेकर के अभिषेक करने के लिए उद्यत हुआ, त्यों ही उसे यह शंका मन में उत्पन्न हुई कि भगवान् तो बिल्कुल बालक हैं और इतने विशाल कलशों के जल के प्रवाह को मस्तक पर कैसे सह सकेंगे ? तभी तीन ज्ञानधारी भगवान् के इन्द्र की शंका के समाधानार्थ चरण की एक अंगुली से सुमेरु को दबा दिया । उसको दबाते ही शिलाएं गिरने लगी, वनों में निर्द्वन्द्व बैठे गज चिंघाड़ उठे, सिंह गर्जना करने लगे और सारे देवगण भय से व्याकुल होकर इधर-उधर देखने लगे । सारा जगत् क्षोभ को प्राप्त हो गया । तब इन्द्र को अपनी भूल ज्ञात हुई और अपनी निन्दा करता हुआ तथा भगवान् की जय-जयकार करता हुआ क्षमा मांगने लगा कि हे अनन्त वीर्य और सुख के भण्डार ! मुझे क्षमा करो, तुम्हारे बल का प्रमाण कौन जान सकता है ।

(२) कवि ने इस बात का उल्लेख किया है कि ६६ दिन तक दिव्य ध्वनि नहीं खिरने पर भी भगवान् भूतल पर विहार करते रहे । यथा-

णिग्गंथाइय समउ भरंतह, केवलि किरणहो धर विहरंतह ।
गय छासट्ठि दिणंतर जामहि, अमराहिउमणि चिंतइ तामहि ।।
इय सामग्गि सयल जिणणाहहो , पंचमणाणुग्गम गयवाहहो ।
किं कारणु णउ वाणि पयासइ, जीवाइय तच्चाइण भासइ ।।

(पत्र ८३ B)

अर्थात- केवल ज्ञान प्राप्त हो जाने पर निर्ग्रन्थ मुनि आदि के साथ धरातल पर विहार करते हुए छयासठ दिन बीत जाने पर भी जब भगवान् की दिव्य वाणी प्रकट नहीं हुई । तब इन्द्र के मन में चिन्ता हुई कि दिव्य ध्वनि प्रगट नहीं होने का क्या कारण है ?

अन्य चरित वर्णन करने वालों ने भगवान् के विहार का इस प्रकार का उल्लेख नहीं किया है ।

(३) कवि ने इस बात का भी उल्लेख किया है कि भगवान् अन्तिम समय पावापुरी के बाहिरी सरोवर के मध्य में स्थित शिलातल पर जाकर ध्यानारुढ़ हो गये और वहीं से योग-निरोध कर अघाति कर्मों का क्षय करते हुए निर्वाण को प्राप्त हुए ।

समग्र ग्रन्थ में दो प्रकरण और उल्लेखनीय हैं- सिंह को संबोधन करते हुए 'जिन रत्ति विधान' तप का तथा दीक्षा कल्याणक के पूर्व भगवान् द्वारा १२ भावनाओं के चिन्तवन का विस्तृत वर्णन किया गया है । बीच में श्रेणिक, अभयकुमारादि के चरित्र का भी विस्तृत वर्णन है ।

(६)

श्री कुमुदचन्द्रकृत महावीर रास

श्री कुमुदचन्द्र ने अपने महावीर रास की रचना राजस्थानी भाषा में की है । कथानक में प्रायः सकलकीर्ति के महावीर चरित्र का आश्रय लिया गया है । इसमें भी भ महावीर के पूर्वभव पुरुरवा भील से वर्णन कियेगये हैं । इसकी

कुछ विशेषताएं इस प्रकार हैं-

(१) भगवान् का जीव जब विश्वनन्दी के भव में था और उस समय मुनि पद में रहते हुए विशाखनन्दी को मारने का निदान किया, उस स्थल पर कवि ने निदान के दोषों का बहुत वर्णन किया है ।

(२) भ. महावीर का जीव इकतीसवें नन्दभव में जब षोड़श कारण भावनाओं को भाता है, तब उनका बहुत विस्तृत एवं सुन्दर वर्णन कवि ने किया है ।

(३) श्री ह्री आदि षट्कुमारिका देवियों के कार्य का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है-

आहे श्री देवी शोभा करि, लज्जा भरि ह्री नाम कुमारि ।
आहे धृति देवी संतोष बोलि, जस कीर्ति सुरनारि ।
आहे बुद्धि देवी आपी बहु बुद्धि, रिद्धि-सिद्धि लक्ष्मी संग ।
आहे देवी तणु ण्हवु नियोग, शुभोपयोग प्रसंग ॥७॥

(४) कुमारिका देवियों द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर भी माता के द्वारा अनुपम ढंग से कवि ने प्रस्तुत किया है।

(५) जन्माभिषेक के समय पाण्डुकशिला पर भगवान् को विराजमान करने आदि का वर्णन कवि ने ठीक उस प्रकार से किया है, जिस प्रकार से कि आज पंचामृताभिषेक के समय किया जाता है ।

(६) सौधर्म इन्द्र के सिवाय अन्य देवों के द्वारा भी भगवान् के अभिषेक का वर्णन कवि ने किया है । यथा-

अवर देव असंख्य निज शक्ति लेइ कुंभ ।
जथा जोगि जल धार देई देव बहु रंभ ॥

जल से अभिषेक के बाद सर्वौषधि आदि से भी अभिषेक का वर्णन कवि ने किया है ।

(७) वीर भगवान् के आठ वर्ष का होने पर क्षायिक सम्यक्त्व और आठ मूल गुणों के धारण करने का उल्लेख कवि ने किया है ।

(८) भगवान् के दीक्षार्थ चले जाने पर त्रिशला माता के करुण विलाप का भी वर्णन किया गया है ।

(९) जिस स्थान पर भगवान ने दीक्षा ली उस स्थान पर इन्द्राणी द्वारा पहिले से ही साँथिया पूर देने का भी उल्लेख किया गया है ।

शेष कथानक पूर्व परम्परानुसार ही है ।

७
कवि नवलशाह का वर्धमान पुराण

श्री सकल कीर्ति के संस्कृत वर्धमान चरित के आधार पर कवि नवलशाह ने छन्दो-बद्ध हिन्दी वर्धमान पुराण की रचना की है । इसमें कथानक तो वही हैं । हां कुछ स्थलों पर कवि ने तात्त्विक चर्चा का विस्तृत वर्णन किया है । और कुछ स्थलों का पद्यानुवाद भी नहीं किया है । ग्रन्थ की रचना दोहा, चौपाई, सोरठा, गीता, जोगीरासा, सवैया, आदि अनेक छंदों में की गई है जो पढ़ने में रोचक और मनोहर है । कवि ने इसकी रचना वि. सं. १८२५ के चैत सुदी १५ को पूर्ण की है । यह दिगम्बर जैन पुस्तकालय सूरत से वी. नि. २४६८ में मुद्रित हो चुका है ।

❀ ❀ ❀

विषय–सूची

परिशिष्ट –

नम्र–निवेदनम्

मतिमन्दत्वादथवाऽऽलस्या –
च्चेदन्यथापि लिखितमिह स्यात् ।
शोधयन्तु सुधियस्तं दोषं

श्री 108 मुनि श्री ज्ञानसागर विरचित

श्री वीरोदय काव्य

श्रिये जिनः सोऽस्तु यदीयसेवा समस्तसंश्रोतृजनस्य मेवा ।
द्राक्षेव मृद्वी रसने हृदोऽपि प्रसादिनी नोऽस्तु मानक् श्रमोऽपि ॥१॥

वे जिन भगवान् हम सबके कल्याण के लिये हों, जिनकी कि चरण-सेवा समस्त श्रोता जनों को और मेरे लिए मेवा के तुल्य है । तथा जिनकी सेवा द्राक्षा (दाख) के समान आस्वादन में मिष्ट एवं मृदु हैं और हृदयको प्रसन्न करने वाली है । अतएव उनकी चरण-सेवा के प्रसाद से इस काव्य-रचना में मेरा जरा-सा भी श्रम नहीं होगा । अर्थात् श्री जिनदेव की सेवा से मैं इस आरम्भ किये जाने वाले काव्य की सहज में ही रचना सम्पन्न कर सकूंगा ॥१॥

कामारिता कामितसिद्धये नः समर्थिता येन महोदयेन ।
सैवाभिजातोऽपि च नाभिजातः समाजमान्यो वृषभोऽभिधातः ॥२॥

जिस महोदय ने कामारिता-काम का विनाश-हमारे वांछित सिद्धि के लिए समर्थन किया है, वे अभिजात-उत्कृष्ट कुलोत्पन्न होकर के भी नाभिजात-नाभिसूनु हैं और समाज-मान्य होकर के भी संज्ञा से वृषभ हैं ॥२॥

भावार्थ - इस श्लोक में विरोधालङ्कार से कथन किया गया है कि जो अभिजात अर्थात् कुलीन है, वह नाभिजात-अकुलीन कैसे हो सकता है ? इसका परिहार किया गया है कि वे वृषभदेव उत्तम कुल में उत्पन्न होकर के भी नाभि नामक चौदहवें कुलकर से उत्पन्न हुए हैं । इसी प्रकार जो वृषभ (बैल) है, वह समाज (मनुष्य-समुदाय) में मान्य कैसे हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि वे आदि तीर्थंकर वृष अर्थात् धर्म के भरण-पोषण करने वाले होने से वृषभ कहलाते थे और इसी कारण समस्त मानव-समाज में मान्य थे ।

चन्द्रप्रभं नौमि यदङ्गसारस्तं कौमुदस्तोममुरीचकार ।
सुखञ्जनः संलभते प्रणश्यत्तमस्तयाऽऽत्मीयपदं समस्य ॥३॥

मैं चन्द्रप्रभ भगवान् को नमस्कार करता हूँ, जिनका अंगसार (शारीरिक-[illegible]-पुञ्ज) पृथ्वी मण्डल में हर्ष-समूह को बढ़ाने वाला था । चन्द्र के पक्ष में उसकी चन्द्रिका कौमुद[illegible] र्थात् श्वेत कमलों को विकसित करने वाली होती है । जिन चन्द्रप्रभ भगवान् के आत्मीय पद का स्वीकार कर अन्तरंग के अज्ञान अन्धकार के दूर होने से सर्व जन सुख को प्राप्त करते हैं और चन्द्र के पक्ष में उत्तम खंजन (चकोर) पक्षी चन्द्र की चांदनी में अपनी आत्मीयता को प्राप्त करता है ॥३॥

पार्श्वप्रभोः सन्निधये सदा वः समस्तु चित्ते बहुलोहभावः ।
भो भो जनाः संलभतां प्रसत्तिं धृत्वा यतः काञ्चनसंप्रवृत्तिम् ॥४॥

भो भो जनो ! तुम श्रोताओं और पा[illegible] के हृदय में पार्श्व प्रभु का निरन्तर चिन्तवन सन्निधि-उत्तम निधि प्राप्त करने के लिए सहायक होवे । जिससे कि तुम्हारा मन उस अनिर्वचनीय सत्प्रवृत्ति को धारण करके प्रसन्नता को प्राप्त हो । यहां पार्श्व और लोह पद श्लेषात्मक है । जिस प्रकार पार्श्वपाषाण के योग से लोहा भी सोना बन जाता है, इसी प्रकार तुम लोग भी पार्श्व प्रभु के संस्मरण से उन जैसी ही अनिर्वचनीय शान्ति को प्राप्त होओ ॥४॥

वीर ! त्वमानन्दभुवामवीरः मीरो गुणानां जगताममीरः ।
एकोऽपि सम्पातितमामनेक-लोकाननेकान्तमतेन नेक ॥५॥

हे वीर भगवन् ! तुम आनन्द की भूमि होकर के भी अवीर हो और गुणों के मीर होकर के भी जगत के अमीर हो । हे नेक-भद्र ! तुम अकेले ने ही एक हो करके भी अनेकान्त मत से अनेक लोकों को (परस्पर विरोधियों को) एकता के सूत्र में सम्बद्ध कर दिया है ॥५॥

भावार्थ - श्लोक से पूर्वार्ध में विरोधालङ्कार से वर्णन किया गया है कि भगवान् तुम वीर होकर के भी अवीर-वीरता रहित हो, यह कैसे संभव हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि तुम 'अ' अर्थात् विष्णु के समान वीर हो। दूसरे पक्ष में अबीर गुलाल जैसे होली आदि आनन्द के अवसर पर अति प्रसन्नता का उत्पादक होता है, उसी प्रकार हे वीर भगवन् तुम भी आनन्द उत्पन्न करने के लिए अवीर हो । मीर होकर के भी अमीर हो, इसका परिहार यह है कि आप गुणों के मीर अर्थात् समुद्र हो करके भी जगत् के अमीर अर्थात् सबसे बड़े धनाढ्य हो । मीर और अमीर ये दोनों ही शब्द फारसी के हैं । यहां यमकालङ्कार के साथ विरोधालङ्कार कवि ने प्रकट किया है । इसी पद्य के अन्त में पठित 'नेक' पद भी फारसी का है, जो कि भद्रार्थ के लिए कवि ने प्रयुक्त किया है ।

ज्ञानेन चानन्दमुपाश्रयन्तश्चरन्ति ये ब्रह्मपथे सजन्तः ।
तेषां गुरूणां सदनुग्रहोऽपि कवित्वशक्तौ मम विघ्नलोपी ॥६॥

जो ज्ञान के द्वारा आनन्द का आश्रय लेते हुए और ब्रह्म-पथ अर्थात् आत्म कल्याण के मार्ग में अनुरक्त होते हुए आचरण करते हैं, ऐसे ज्ञानानन्द रूप ब्रह्म-पथ के पथिक गुरुजनों का सत् अनुग्रह भी मेरी कवित्व शक्ति में विघ्नों का लोप करने वाला हो ॥६॥

विशेष- इस पद्य के पूर्वार्ध में प्रयुक्त पदों के द्वारा कवि ने अपने ज्ञान-गुरु श्री ब्रह्मचारी ज्ञानानन्दजी महाराज का स्मरण किया है ।

वीरोदयं यं विदधातुमेव न शक्तिमान् श्रीगणराजदेवः ।
दधाम्यहं तम्प्रति बालसत्त्वं वहन्निदानीं जलगेन्दुतत्त्वम् ॥७॥

श्री वीर भगवान् के जिस उदय रूप माहात्म्य के वर्णन करने के लिए श्री गणधर देव भी समर्थ नहीं है ऐसे वीरोदय के वर्णन करने के लिए मैं जल-प्रतिबिम्बित चन्द्र मण्डल को उठाने की इच्छा करने वाले बालक के समान बाल भाव (लड़कपन) को धारण कर रहा हूँ ॥७॥

शक्तोऽथवाऽहं भविताऽस्म्युपायाद्भवन्तु मे श्रीगुरवः सहायाः ।
पितुर्विलब्धांगुलिमूलतातिर्यथेष्टदेशं शिशुकोऽपि याति ॥८॥

अथवा मैं उपाय से (प्रयत्न करके) वीरोदय के कहने में समर्थ हो जाऊंगा श्री गुरुजन मेरे सहायक होवें । जैसे बालक अपने पिता की अंगुलियों के मूल भाग को पकड़ कर अभीष्ट स्थान को जाता है, उसी प्रकार मैं भी गुरुजनों के साहाय्य से वीर भगवान् के उदयरूप चरित्र को वर्णन करने में समर्थ हो जाऊंगा ॥८॥

मनोऽङ्गिनां यत्पदचिन्तनेन समेति यत्रामलतामनेनः ।
तदीयवृत्तैकसमर्थना वाक् समस्तु किन्नात्तसुवर्णभावा ॥९॥

जिन वीर भगवान् के चरणों का चिन्तवन करने से प्राणियों का मन पापों से रहित होकर निर्मलता को प्राप्त हो जाता है, तो फिर उन्हीं वीर भगवान् के एकमात्र चरित्र का चित्रण करने में समर्थ मेरी वाणी सुवर्ण भाव को क्यों नहीं प्राप्त होगी ? अर्थात् वीर भगवान के चरित्र का वर्णन करने के लिए मेरी वाणी भी उत्तम वर्ण पद-वाक्य रूप से अवश्य ही परिणत होगी ॥९॥

रजो यथा पुष्पसमाश्रयेण किलाऽऽविलं मद्वचनं च येन ।
वीरोदयोदारविचारचिह्नं सतां गलालङ्करणाय किन्न ॥१०॥

जैसे मलिन भी रज (धूलि) पुष्पों के आश्रय से माला के साथ लोगों के गले का हार बनकर अलङ्कार के भाव को प्राप्त होती है, उसी प्रकार मलिन भी मेरे वचन वीरोदय के उदार विचारों से चिह्नित अर्थात् अङ्कित होकर सज्जनों के कण्ठ के अलङ्कार के लिए क्यों नहीं होंगे ? अर्थात् अवश्य हो होंगे ॥१०॥

लसन्ति सन्तोऽप्युपयोजनाय रसैः सुवर्णत्वमुपैत्यथायः ।
येनार्हतो वृत्तविधानमापि निःसारमस्मद्वचनं तथापि ॥११॥

सज्जन पुरुष भी लोगों के इष्ट प्रयोजन के लिए साधक रूप से शोभायमान होते ही हैं । जैसे रसायन के योग से लोहा सुवर्ण पने को प्रा। होता है, उसी प्रकार निःसार भी मेरे वचन अर्हन्तदेव के चरित्र-चित्रण से सार पने को प्राप्त होंगे और सज्जन पुरुष उसे आदर से अपनावेंगे ॥११॥

सतामहो सा सहजेन शुद्धिः परोपकारे निरतैव बुद्धिः ।
उपद्रुतोऽप्येष तरू रसालं फलं श्रणत्यङ्गभृते त्रिकालम् ॥१२॥

अहो, सज्जनों की चित्त-शुद्धि पर आश्चर्य है कि उनकी बुद्धि दूसरों के उपकार करने में सहज स्वभाव से ही निरत रहती है । देखो-लोगों के द्वारा पत्थर आदि मार कर के उपद्रव को प्राप्त किया गया भी वृक्ष सदा ही उन्हें रसाल (सरस) फल प्रदान करता है ॥१२॥

यत्रानुरागार्थमुपैति चेतो हारिद्रवत्वं समवायहेतोः ।
सुधेव साधो रुचिराऽथ सूक्तिः सदैव यस्यान्यगुणाय युक्तिः ॥१३॥

जिस प्रकार हल्दी का द्रव-रस चूने के साथ संयुक्त होकर लालिमा को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार साधु-जन के सत्संग को पाकर मेरी उक्ति (कविता) भी रुचिर सूक्ति को प्राप्त हो लोगों के, चित्त को हरण करके उनके हृदय में सदैव अनुराग उत्पन्न करेगी । क्योंकि सज्जनों का संयोग सदा दूसरों की भलाई के लिये ही होता है ॥१३॥

सुवृत्तभावेन समुल्लसन्तः मुक्ताफलत्वं प्रतिपादयन्तः ।
गुणं जनस्यानुभवन्ति सन्तस्तत्रादरत्वं प्रवहाम्यहं तत् ॥१४॥

जिस प्रकार उत्तम गोल आकार रूप से परिणत मौक्तिक (मोती) सूत्र का आश्रय पाकर अर्थात् सूत में पिरोये जाकर शोभा को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार सज्जन पुरुष भी उत्तम सम्यक् चारित्र को धारण करके जीवन की निष्फलता को छोड़कर अर्थात् उसे सार्थक कर मनुष्यों के गुणों का अनुभव करते हैं । मैं ऐसे उन सन्त जनों में आदर के भाव को धारण करता हूँ ॥१४॥

साधोर्विनिर्माणविधौ विधातुश्च्युताः करादुत्करसंविधा तु ।
तयैव जाता उपकारिणोऽन्ये श्रीचन्दनाद्या जगतीति मन्ये ॥१५॥

साधुजनों को निर्माण करते हुए विधाता के हाथ से जो थोड़ी सी कणिका रूप रचना-सामग्री नीचे गिर गई, उसी के द्वारा ही श्री चन्दन आदिक अन्य उपकारी पदार्थ इस जगत् में उत्पन्न हुए हैं, ऐसा मैं मानता हूँ ॥१५॥

भावार्थ - कवि ने यहां यह उत्प्रेक्षा की है कि सज्जनों को बनाने के पश्चात् विधाता को चन्दनादिक वृक्षों के निर्माण की वस्तुतः कोई आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि चन्दनादि के सुगन्ध-प्रदानादि के कार्य करने को तो सज्जन पुरुष ही पर्याप्त थे ।

साधुर्गुणग्राहक एष आस्तां श्लाघा ममारादसतस्तु तास्ताः ।
सर्वप्रियप्रायतयोदितस्य दोषं समुद्घाट्य वरं करस्य ॥१६॥

साधु जन गुण-ग्राहक होते हैं, यह बात तो ठीक ही है । किन्तु सर्वजनों के लिए प्रिय रूप से कहे गये मेरे इस काव्य के दोषों का उद्घाटन (प्रकाशन) करके उसे निर्दोष उत्तम करने वाले असाधुजनों की ही मेरे हृदय में बार-बार श्लाघा है । अर्थात् मेरे काव्य के दोषों का अन्वेषण करके जो असाधुजन उन्हें प्रकट कर उसे निर्दोष बनावेंगे, मैं उनका बहुत आभार मानते हुए उनकी प्रशंसा करता हूँ ॥१६।

संदकुराणां समुपायने नुः पुष्टा यथा गीरिह कामधेनुः ।
पयस्विनी सा खलशीलनेन तस्योपयोगोऽस्तु महाननेन ॥१७॥

जिस प्रकार इस लोक में उत्तम दूर्वांकुरों के चरने पर कामधेनु पुष्ट होती है और खल खिलाने से वह खूब दूध देती है, उसी प्रकार सज्जनों के उत्तम दया भाव से तो मेरी वाणी विकसित हो रही है और खलजनों के द्वारा दोष प्रदर्शन कर देने से अर्थात् निकाल देने से मेरी यह कविता रूप वाणी भी निर्दोष होकर सरस बन जायगी एवं खूब पुष्ट होगी और इस प्रकार दुर्जनों का सम्पर्क भी हमारे लिए परमोपयोगी होगा ॥१७॥

कर्णेजपं यत्कृतवानभूस्त्वं तदेतदप्यस्ति विधे ! पटुत्वम् ।
अनेन साधोः सफलो नृभाव ऋते तमःस्यात्क्व रवेः प्रभावः ॥१८॥

हे विधाता ! तुमने जो दोष देखने वाले पिशुनों को उत्पन्न किया है सो यह भी तुम्हारी पटुता (चतुराई) ही है, क्योंकि इससे साधु का मनुष्यपना सफल होता है । अन्धकार न हो, तो सूर्य का प्रभाव कहां दृष्टि-गोचर होगा ॥१८॥

भावार्थ- जैसे यदि अन्धकार न हो, तो सूर्य के प्रभाव का महत्त्व कैसे प्रकट हो सकता है, उसी प्रकार यदि दुर्जन लोग न हों, तो सज्जनों की सज्जनता का प्रभाव भी कैसे जाना जा सकता है।

अनेकधान्येषु विपत्तिकारी विलोक्यते निष्कपटस्य चारिः ।
छिद्रं निरूप्य स्थितिमादधाति स भाति आखोः पिशुनः सजातिः ॥१९॥

दुर्जन मनुष्य चूहे के समान होते हैं । जिस प्रकार मूषक (चूहा) नाना जाति की धान्यों का विनाश करने वाला है, निष्क अर्थात् बहुमूल्य पटों (वस्त्रों) का अरि है, उन्हें काट डालता है और छिद्र (बिल) देखकर उसमें अपनी स्थिति को कायम रखता है । ठीक इसी प्रकार पिशुन पुरुष भी मूषक के सजातीय प्रतीत होते हैं क्योंकि पिशुन पुरुष भी नाना प्रकार से अन्य सर्व साधारण जनों के लिए विपत्ति-कारक है, निष्कपट जनों के शत्रु हैं और लोगों के छिद्रों (दोषों) को देखकर अपनी स्थिति को दृढ़ बनाते हैं ॥१९॥

योऽभ्येति मालिन्यमहो न जाने काव्ये दिने वा प्रतिभासमाने ।
दोषानुरक्तस्य खलस्य चेश ! काकारिलोकस्य च को विशेषः ॥२०॥

हे ईश ! काकारिलोक (उलूक-समूह) और खल जन में क्या विशेषता है, यह मैं नहीं जानता। अर्थात् मुझे तो दोनों समान ही दृष्टि गोचर होते हैं, क्योंकि दिन (सूर्य) के प्रतिभासमान होने पर उलूक लोक मलिनता को प्राप्त होते हैं और दोषा (रात्रि) में अनुरक्त हैं अर्थात् रात्रि में विचरण करते हैं। इसी प्रकार उत्तम काव्य के प्रकाशमान होने पर खल जन भी मलिन-वदन हो जाते हैं और उसके दोषान्वेषण में ही तत्पर रहते हैं । इस प्रकार से मुझे तो उलूक और खल जन में समानता ही दिखती है ॥२०॥

खलस्य हृन्नक्तमिवाघवस्तु प्रकाशकृद्वासरवत्सतस्तु ।
काव्यं द्वयोर्मध्यमुपेत्य सायमेतज्जनानामनुरञ्जनाय ॥२१॥

खल जनों का हृदय तो रात्रि के समान अघ-स्वरूप है और सज्जनों का हृदय दिन के समान प्रकाश-रूप है। इन सज्जन और दुर्जन जनों के मध्य में प्राप्त होकर मेरा यह काव्य सांयकाल की लालिमा के समान जन-साधारण के अनुरंजन के लिए ही होगा ॥२१॥

रसायनं काव्यमिदं श्रयामः स्वयं द्रुतं मानवतां नयामः ।
पीयूषमीयुर्विबुधा बुधा वा नाद्याप्युपायान्त्यनिमेषभावात् ॥२२॥

हम इस काव्य रूप रसायन का आश्रय लेते हैं अर्थात् उसका पान करते हैं और रसायन-पान के फल-स्वरूप स्वयं ही हम शीघ्र मानवता को प्राप्त होते हैं । जो विबुध अर्थात् देवता हैं, वे भले ही अमृत को पीवें, या जो विगत बुद्धि होकर के भी अपने आपको विद्वान् मानते हैं, वे पीयूष अर्थात् जल को पीवें, परन्तु वे अनिमेष भाव होने से काव्य रसायन का पान नहीं कर सकते, अतः मानवता को भी प्राप्त नहीं हो सकते ॥२२॥

भावार्थ - देव अमृत-पायी और निमेष- (टिमकार) रहित लोचन वाले माने जाते हैं, अतः उनको तो काव्य रूप रसायन-पान का अवसर ही नहीं और इसलिए वे अमृत-पान करते हुए भी मनुष्यता को नहीं पा सकते । तथा जो बुद्धि-विहीन हैं ऐसे जड़ लोग भी काव्य-रसायन का पान नहीं कर सकते । अनिमेष नाम मछली का भी है और पीयूष नाम जल का भी है । मछली अनिमेष होकर के भी जल का ही पान कर सकती है, उसके काव्य-रसायन के पान की संभावना ही कहां है ? कहने का सार यह है कि मैं काव्य रूप रसायन-को पीयूष से भी श्रेष्ठ मानता हूं क्योंकि इसके पान से साधारण भी मनुष्य सच्ची मानवता को प्राप्त कर लेता है ।

सारं कृतीष्टं सुरसार्थरम्यं विपल्लवाभावतयाऽभिगम्यम् ।
समुल्लसत्कल्पलतैकतन्तु त्रिविष्टपं काव्यमुपैम्यहन्तु ॥२३॥

मैं तो काव्य रूप त्रिविष्टप (स्वर्ग) को प्राप्त होता हूँ, अर्थात् काव्य को ही स्वर्ग समझता हूँ। जैसे स्वर्ग सार रूप है और कृती जनों को इष्ट है, उसी प्रकार यह काव्य भी अलङ्कारों से युक्त है और ज्ञानियों को अभीष्ट है । स्वर्ग सुर-सार्थ अर्थात् देवों के समुदाय से रम्य होता है और यह काव्य शृङ्गार शान्त आदि सुरसों के अर्थ से रमणीक है । स्वर्ग सर्व प्रकार की विपत्ति-आपत्तियों के अभाव होने के कारण अभिगम्य होता है और यह काव्य भी विपद अर्थात् कुत्सित पदों से रहित होने से आश्रय के योग्य है । स्वर्ग कल्पवृक्षों के समूहों से सदा उल्लास-युक्त होता है और यह काव्य नाना प्रकार की कल्पनाओं की उड़ानों से उल्लासमान है । इसलिए मैं तो काव्य को ही साक्षात् स्वर्ग से बढ़कर समझता हूँ ॥२३॥

हारायतेऽथोत्तमवृत्तमुक्ता समन्तभद्राय समस्तु सूक्ता ।
या सूत्रसारानुगताधिकारा कण्ठीकृता सत्पुरुषैरुदारा ॥२४॥

यह सूक्त अर्थात् भले प्रकार कही गई कविता हार के समान आचरण करती है । जैसे हार उत्तम गोल मोतियों वाला होता है उसी प्रकार यह कविता भी उत्तम वृत्त अर्थात् छन्दों में रची गई है । हार सूत्र (डोरे)- से अनुगत होता है और यह कविता भी आगम रूप सूत्रों के सारभूत अधिकारों वाली है । हार को उदार सत्पुरुष कण्ठ में धारण करते हैं और इस उदार कविता को सत्पुरुष कण्ठस्थ करते हैं । ऐसी यह हार-स्वरुप कविता समस्त लोक के कल्याण के लिए होवे ॥२४॥

विशेषार्थ - इस पद्य में प्रयुक्त 'समन्तभद्र' पद से कवि ने यह भाव व्यक्त किया है कि उत्तम कविता तो समन्तभद्र जैसे महान् आचार्य ही कर सकते हैं । हम तो नाम मात्र के कवि हैं । इस प्रकार ग्रन्थ को प्रारम्भ करते हुए कवि ने उनके पवित्र नाम का स्मरण कर अपनी लघुता को प्रकट किया है ।

किलाकलङ्कार्थमभिष्टुवन्ती समन्ततः कौमुदमेधयन्ती ।
जीयात्प्रभाचन्द्रमहोदयस्य सुमञ्जु वाङ् नस्तिमिरं निरस्य ॥२५॥

जो अकलङ्क अर्थ का प्रतिपादन करती है और संसार में सर्व ओर कौमुदी को बढ़ाती है, ऐसी प्रभाचन्द्राचार्य महोदय की सुन्दर वाणी हमारे अज्ञान-अन्धकार को दूर करके चिरकाल तक जीवे, अर्थात् जयवन्ती रहे ॥२५॥

भावार्थ - जैसे चन्द्रमा की चन्द्रिका कलङ्क-रहित होती है, कुमुदों को विकसित करती है और संसार के अन्धकार को दूर करती है, उसी प्रकार प्रभाचन्द्राचार्य के न्यायकुमुदचन्द्रादि ग्रन्थ-रूप सुन्दर वाणी अकलङ्क देव के दार्शनिक अर्थ को प्रकाशित करती है, संसार में हर्ष को बढ़ाती है और लोगों के अज्ञान को दूर करती है । वह वाणी सदा जयवन्त रहे । पद्य के प्रथम चरण में प्रयुक्त 'अकलङ्कार्थ' पद के द्वारा 'आचार्य अकलङ्कदेव' के स्मरण के साथ ही श्लेष रूप से यह अर्थ भी ध्वनित किया गया है कि कुमोदनियों को प्रसन्न करने वाली और कुलटा (व्यभिचारिणी) स्त्रियों के दुराचार को रोकने वाली चन्द्र की चन्द्रिका भी सदा बनी रहे ।

नव्याकृतिर्मे श्रृणु भो सुचित्त्वं कुतः पुनः सम्भवतात्कवित्वम् ।
वक्तव्यतोऽलंकृति दूरवृत्ते वृत्ताधिकारेष्वपि चाप्रवृत्तेः ॥२६॥

भो विद्वज्जनो, तुम मेरी बात सुनो - मुझे व्याकरण का बोध नहीं है, मैं अलङ्कारों को भी नहीं जानता और छन्दों के अधिकार में भी मेरी प्रवृत्ति नहीं है । फिर मेरे से कविता कैसे संभव हो सकती है ? श्लोक का दूसरा अर्थ यह है कि मेरी यह नवीन कृति है । मेरा कृती अर्थात् विद्वज्जनों से और वृत्त अर्थात् चारित्र धारण करने वालों से भी सम्पर्क नहीं है, फिर मेरे कवित्व क (आत्मा) का वित्व अर्थात् सम्यग्ज्ञान और कवित्व-सामर्थ्य कैसे प्रकट हो सकता है? अर्थात नहीं उत्पन्न हो सकता ॥२६।

सुवर्णमूर्तिः कवितेयमार्या लसत्पदन्यासतयेव भार्या ।
चेतोऽनुगृह्णाति जनस्य चेतोऽलङ्कार-सम्भारवतीति हेतोः ॥२७॥

मेरी यह कविता आर्य कुलोत्पन्न भार्या के तुल्य है । जैसे कुलीन भार्या उत्तम वर्णरूप सौन्दर्य की मूर्त्ति होती है, उसी प्रकार यह कविता भी उत्तम वर्णों के द्वारा निर्मित मूर्ति वाली है । जैसे भार्या, पद-निक्षेप के द्वारा शोभायमान होती है, उसी प्रकार यह कविता भी उत्तम-उत्तम पदों के न्यास वाली है । जैसे भार्या उत्तम अलङ्कारों को धारण करती है, उसी प्रकार यह कविता भी नाना प्रकार के अलङ्कारों से युक्त है । इस प्रकार यह कविता आर्या भार्या के समान मनुष्य के चित्त को अनुरंजन करने वाली है ॥२७॥

तमोधुनाना च सुधाविधाना कवेः कृतिः कौमुदमादधाना ।
याऽऽह्लादनायात्र जगज्जनानां व्यथाकरी स्याज्जडजाय नाना ॥२८॥

कवि की यह कृति चन्द्र की चन्द्रिका के समान तम का विनाश करती है, सुधा (अमृत) का विधान करती है, पृथ्वी पर हर्ष को बढ़ाती है, जगज्जनों के हृदय को आह्लादित करती है और चन्द्रिका के समान जलजों-(कमलों) को तथा काव्य के पक्ष में जड़जनों को नाना व्यथा की करने वाली है ॥२८॥

भावार्थ - यद्यपि चन्द्र की चन्द्रिका तमो-विनाश, कुमुद-विकास और जगज्जनाह्लाद आदि करती है, फिर भी वह कमलों को पीड़ा पहुँचाती ही है, क्योंकि रात्रि में चन्द्रोदय के समय कमल संकुचित हो जाते हैं । इसी प्रकार मेरी यह कविता रूपी चन्द्रिका यद्यपि सर्व लोगों को सुख शान्ति-वर्धक होगी, मगर जड़-जनों को तो वह पीड़ा देने वाली ही होगी, क्योंकि वे कविता के मर्म को ही नहीं समझ सकते हैं ।

ग्रन्थकार इस प्रकार मंगल-पाठ करने के पश्चात् प्रकृत विषय का प्रतिपादन करते हैं -

सार्धद्वयाब्दायुतपूर्वमद्य दिनादिहासीत्समयं प्रपद्य ।
भुवस्तले या खलु रूपरेखा जनोऽनुविन्देदमुतोऽथ लेखात् ॥२९॥

आज से अढ़ाई हजार-वर्ष पूर्व इस भूतल पर काल का आश्रय पाकर जो धर्म और समाज की रूप-रेखा थी, उसे सर्व लोग इस आगे वर्णन किये जाने वाले लेख से जानने का प्रयत्न करें ॥२९।

'यज्ञार्थमेते पशवो हि सृष्टा' इत्येवमुक्तिर्बहुशोऽपि भृष्टा ।
प्राचालि लोकैरभितोऽप्यशस्तैरहो रसाशिश्नवशङ्गतैस्तैः ॥३०॥

'ये सभी पशु यज्ञ के लिए विधाता ने रचे हैं', यह और इस प्रकार की बहुत सी अन्य उक्तियां रसना और शिश्न (जनन) इन्द्रिय के वशीभूत हुए उन-उन अप्रशस्त वामपन्थी लोगों ने अहो, चारों ओर प्रचलित कर रखीं थी ॥३०॥

किं छाग एवं महिषः किमश्वः किं गौर्नरोऽपि स्वरसेन शश्वत् ।
वैश्वानरस्येन्धनतामवाप दत्ता अहिंसाविधये किलाऽऽपः ॥३१॥

क्या छाग (बकरा) क्या महिष (भैंसा) क्या अश्व और क्या गाय, यहां तक कि मनुष्य तक भी बल-प्रयोग पूर्वक निरन्तर यज्ञाग्नि के इन्धनपने को प्राप्त हो रहे थे और धर्म की अहिंसा-विधि के लिए लोगों ने जलाञ्जलि दे दी थी ॥३१॥

धूर्तैः समाच्छादि जनस्य सा दृक् वेदस्य चार्थः समवादि तादृक् ।
सर्वत्र पैशाच्यमितस्ततोऽभूदहो स्वयं रक्तमयी यतो भूः ॥३२॥

धूर्त लोगों ने वेद के वाक्यों का हिंसा-परक अर्थ कर-करके जन साधारण की आंखों को असद् अर्थ की प्ररूपणा के द्वारा आच्छादित कर दिया था और जिधर देखो उधर ही पैशाची और राक्षसी प्रवृत्तियां दृष्टि-गोचर होती थीं । अधिक क्या कहें, उनके पैशाचिक कर्मों से यह सारी पृथिवी स्वयं रक्तमयी हो गयी थी ॥३२॥

परोऽपकारेऽन्यजनस्य सर्वः परोपकारः समभूत्तु खर्वः ।
सम्माननीयत्वमवाप वर्वः किमित्यतो वच्म्यधिकं पुनर्वः ॥३३॥

मैं तुम लोगों से और अधिक क्या कहूँ- सभी लोग एक दूसरे के अपकार करने में लग रहे थे और परोपकार का तो एक दम अभाव सा ही हो गया था । तथा धूर्तजन सम्माननीय हो रहे थे अर्थात् लोगों में प्रतिष्ठा पा रहे थे ॥३३॥

श्मश्रूं स्वकीयां वलयन् व्यभावि लोकोऽस्य दर्पो यदभूदिहाविः ।
मनस्यनस्येवमनन्यताया न नाम लेशोऽपि च साधुतायाः ॥३४॥

लोगों में उस समय जाति-कुल आदि का मद इस तेजी से प्रकट हो रहा था कि वे अपने जातीय अहंकार के वशीभूत होकर अपनी मूंछों को बल देते हुए सर्वत्र दिखाई दे रहे थे । लोगों के मन में

एकान्त स्वार्थ - परायणता और पाप की प्रवृत्तियाँ ही जोर पकड़ रही थी, तथा उनमें साधुता का लेश भी नहीं रह गया था ॥३४॥

समक्षतो वा जगदम्बिकायास्तत्पुत्रकाणां निगलेऽप्यपायात् ।
अविभ्यताऽसिस्थितिरङ्किताऽऽसीज्जनेन चानेन धरा दुराशीः ॥३५॥

उस समय पाप से नहीं डरने वाले लोगों के द्वारा जगदम्बा के समक्ष ही उसके पुत्रों के (अज महिष) के गले पर छुरी चलाई जाती थी, अर्थात् उनकी बलि दी जाती थी (सारी सामाजिक और धार्मिक स्थिति अति भयङ्कर हो रही थी) और उनके इन दुष्कर्मों से यह वसुंधरा दुराशीष दे रही थी अर्थात् त्राहि-त्राहि कर रही थी ॥३५॥

परस्परद्वेषमयी प्रवृत्तिरेकोऽन्यजीवाय समात्तकृत्तिः ।
न कोपि यस्याथ न कोऽपि चित्तं शान्तं जनः स्मान्वयतेऽपवित्तम् ।

उस समय लोगों में परस्पर विद्वेषमयी प्रवृत्ति फैल रही थी और एक जीव दूसरे जीव के मारने के लिए खड्ग हाथ में लिए हुए था । ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं दिखाई देता था जिसका चित्त क्रोध से भरा हुआ न हो । उस समय लोग शान्त पुरुष को मूर्खों का मुखिया मानने लगे थे ॥३६॥

भूयो भुवो यत्र हृदा विभिन्नं स्वपुत्रकाणां तदुदीक्ष्य चिह्नम् ।
इवान्धकारानुगता दिशस्ता गन्तुंनभोऽवाञ्छदितोऽप्यधस्तात् ॥३७॥

अपने पुत्रों के ऐसे खोटे चिह्न देखकर पृथिवी माता का हृदय वार-वार विदीर्ण हो जाता था, अर्थात् वार-वार भूकम्प आने से पृथिवी फट जाती थी । सभी दिशाएं अन्धकार से व्याप्त हो रही थीं और लोगों के ऐसे दुष्कृत्य देखकर मानों आकाश नीचे रसातल को जाना चाहता था ॥३७॥

मनोऽहिवद्वक्रिमकल्पहेतुर्वाणी कृपाणीव च मर्म भेत्तुम् ।
कायोऽप्यकायो जगते जनस्य न कोऽपि कस्यापि बभूव वश्यः ॥३८॥

उस समय के लोगों का मन सर्प के तुल्य कुटिल हो रहा था, उनकी वाणी कृपाणी (छुरी) के समान दूसरों के मर्म को भेदने वाली थी और काय भी पाप का आय (आगम-द्वार) बन रहा था । उस समय कोई भी जन किसी के वश में नहीं था, अर्थात् लोगों के मन-वचन काय की क्रिया अति कुटिल थी और सभी स्वच्छन्द एवं निरङ्कुश हो रहे थे ॥३८॥

इति दुरितान्धकारके समये नक्षत्रौघसङ्कुलेऽघमये ।
अजनि जनाऽऽह्लादनाय तेन वीराह्वयवरसुधास्पदेन ॥३९॥

इस प्रकार पापान्धकार से व्याप्त, दुष्कृत-मय, अक्षत्रिय जनों के समूह से संकुल समय में, अथवा नक्षत्रों के समुदाय से व्याप्त समय में उस वीर नामक महान् चन्द्र ने जनों के कल्याण के लिए जन्म लिया ॥३९॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं -
वाणीभूषण-वर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
श्रीवीराभ्युदयेऽमुना विरचिते काव्येऽधुना नामत -
स्तस्मिन् प्राक्कथनाभिधोऽयमसकौ सर्गः समाप्तिं गतः ॥१॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भुजजी और घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए वाणीभूषण, बाल-ब्रह्मचारी पं. भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर-द्वारा विरचित इस वीरोदय नामक काव्य में प्राक्कथन रूप यह प्रथम सर्ग समाप्त हुआ ॥१॥

द्वीपोऽथ जम्बूपपद: समस्ति स्थित्यासकौ मध्यगतप्रशस्ति: ।
लक्ष्म्या त्वनन्योपमयोपविष्ट: द्वीपान्तराणामुपरिप्रतिष्ठ: ॥१॥

इस असंख्यात द्वीप और समुद्र वाली पृथ्वी पर सबके मध्य में 'जम्बू' इस उपपद से युक्त द्वीप है, जो अपनी स्थिति से पृथ्वी पर मध्यगत प्रशस्ति को प्राप्त होकर अवस्थित है । यह अनन्य उपमा वाली लक्ष्मी से संयुक्त है और सभी द्वीपान्तरों के ऊपर प्रतिष्ठित है ॥१॥

भावार्थ - जो मध्यस्थ भाग होता है,सो सर्वोपरि प्रतिष्ठित कैसे हो सकता है, यह विरोध है। परन्तु जम्बूद्वीप मध्य भागस्थ हो करके भी शोभा में सर्व शिरोमणि है ।

सम्विद्धि सिद्धिं प्रगुणामितस्तु पाथेयमाप्तं यदि वृत्तवस्तु ।
इतीव यो वक्ति सुराद्रिदम्भोदस्तस्वहस्तांगुलिरङ्गिनम्भो: ॥२॥

इस जम्बूद्वीप के मध्य में एक लाख योजन की ऊंचाई वाला जो सुमेरु पर्व है । उसके बहाने से मानों यह जम्बू द्वीप लोगों को सम्बोधन कर सुमेरु पर्वत रूप अपने हाथ को ऊंचा उठा करके यह कह रहा है कि ओ मनुष्यों, यदि तुमने चारित्र वस्तु रूप पाथेय (मार्ग भोजन) प्राप्त कर लिया है अर्थात् चारित्र को धारण कर लिया है, तो फिर सिद्धि (मोक्ष लक्ष्मी) को सरलता से प्राप्त हुई ही समझो ॥२॥

अधस्थविस्फारिफणीन्द्रदण्डश्छत्रायते वृत्ततयाऽप्यखण्ड: ।
सुदर्शनेत्युत्तमशैलदम्भं स्वयं समाप्नोति सुवर्णकुम्भम् ॥३॥

अधोलोक में अवस्थित और फैलाया है अपने फणा मण्डल को जिसने ऐसा शेषनाग रूप जिसका दण्ड है, उसका वृत्ताकार से अखण्ड जम्बू द्वीप छत्र के समान प्रतीत हो रहा है । तथा सुदर्शन नाम का जो यह सुमेरु पर्वत है यह स्वयं उसके स्वर्ण कुम्भ की उपमा को धारण कर रहा है ॥३॥

सुवृत्तभावेन च पौर्णमास्य-सुधांशुना सार्धमिहोपमाऽस्य ।
विराजते यत्परितोऽम्बुराशि: समुल्लसत्कुण्डिनवद्विलासी ॥४॥

सुवर्तुलाकार रूप.से पूर्णमासी के चन्द्रमा के साथ पूर्ण उपमा रखने वाले इस जम्बूद्वीप को सर्व ओर से घेर करके उल्लसित कुण्डल के समान विलास (शोभा) को धारण करने वाला (लवण) समुद्र अवस्थित है ॥४॥

भावार्थ - यह जम्बूद्वीप गोलाकार है और इसको घेरे हुये लवण समुद्र है । अतः इसे पूर्णमासी के चन्द्रमा की उपमा दी गई है ।

तत्त्वानि जैनाऽऽगमवद्बिभर्ति क्षेत्राणि सप्तायमिहाग्रवर्ती ।
सदक्षिणो जीव इवाऽऽसंहर्षस्तत्राऽसकौ भारतनामवर्षः ॥५॥

यह जम्बूद्वीप जैन-आगम के समान सात तत्त्व रूप सात ही क्षेत्रों को धारण करता है । उन सात तत्त्वों में जैसे सुचतुर और हर्ष को प्राप्त जीव तत्त्व प्रधान है, उसी प्रकार उन सातों क्षेत्रों में दक्षिण दिशा की ओर अति समृद्धि को प्राप्त भारतवर्ष नाम का देश अवस्थित है ॥५॥

श्रीभारतं सम्प्रवदामि शस्त-क्षेत्रं सुदेवागमवारितस्तत् ।
स्वर्गापवर्गाद्यभिधानशस्यमुत्पादयत्पुण्यविशेषमस्य ॥६॥

मैं श्री भारतवर्ष को प्रशस्त क्षेत्र (खेत) कहता हूँ, क्योंकि जैसे उत्तम क्षेत्र जल-वर्षा से सिंचित होकर नाना प्रकार के उत्तम धान्यों को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार यह भारतवर्ष भी उत्तम-तीर्थङ्कर देवों के आगमन के समय जन्माभिषेक जल से अथवा तीर्थङ्कर देव के आगम (सदुपदेश) रूप जल से प्लावित होकर स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष) आदि नाम वाले अनेक पुण्य विशेष रूप धान्य को उत्पन्न करता है ॥६॥

हिमालयोल्लासि गुणः स एष द्वीपाधिपस्येव धनुर्विशेषः ।
वाराशिवंशस्थितिराविभाति भोः पाठका क्षात्रयशोऽनुपाती ॥७॥

हे पाठकों ! उस द्वीपाधिप अर्थात् सर्व द्वीपों के स्वामी जम्बू द्वीप का यह भारतवर्ष धनुर्विशेष के समान प्रतिभासित होता है । जैसे धनुष में डोरी होती है उसी प्रकार इस भारतवर्ष के उत्तर दिशा में पूर्व से लेकर पश्चिम तक अवस्थित हिमालय नाम का पर्वत ही डोरी है । जैसे धनुष का पृष्ठ भाग बांस का बना होता है, उसी प्रकार इस भारतवर्ष के पृष्ठ भाग में समुद्र रूप बांस की स्थिति है। जिस प्रकार धनुर्धारी मनुष्य क्षात्र यश को प्रकट करता है, उसी प्रकार यह भारतवर्ष भी क्षत्रिय कुलोत्पन्न तीर्थङ्करादि महापुरुषों के महान् यश को प्रकट करता हुआ शोभायमान हो रहा है ॥७॥

श्रीसिन्धु-गङ्गान्तरतः स्थितेन पूर्वापराम्भोनिधिसंहितेन ।
शैलेन भिन्नेऽत्र किलाऽऽर्यशस्तिः षड्वर्गके स्वोच्च इवायमस्ति ॥८॥

पूर्व से लेकर पश्चिम समुद्र तक और श्री गङ्गा, सिन्धु नदियों के अन्तराल से अवस्थित ऐसे विजयार्ध शैल से भिन्न हुआ यह भारतवर्ष षट् खण्ड वाला है । उसमें यह आर्य खण्ड षड् वर्ग में स्वस्थानीय और उच्च ग्रह के समान सर्व श्रेष्ठ है । (शेष पांच तो म्लेच्छ खण्ड होने से अप्रशस्त हैं) ॥८॥

तस्मिन् वपुष्येव शिरः समानः विदेहदेशेत्युचिताभिधानः ।
स्वमुत्तमत्वं विषयो दधानः स चाधुना सत्क्रियते गिरा नः ॥९॥

जैसे शरीर में शिर सर्वोपरि, अवस्थित है उसी प्रकार इस भारतवर्ष के आर्य खण्ड में 'विदेह' इस समुचित नाम वाला और उत्तमता को धारण करने वाला देश है । अब हम अपनी वाणी से उसकी सुन्दरता का वर्णन करते हैं ॥९॥

अनल्पपीताम्बरधामरम्याः पवित्रपद्माप्सरसोऽप्यदम्याः ।
अनेककल्पद्रुमसम्विधाना ग्रामा लसन्ति त्रिदिवोपमानाः ॥१०॥

उस विदेह देश में विशाल पीताम्बर अर्थात् आकाश को स्पर्श करने वाले प्रासादों से रमणीक, पवित्र कमलों और जलों से भरे हुए सरोवरों से युक्त, अदम्य (पर-पराभव-रहित) और अनेक प्रकार वाले कल्पवृक्षों से (वन-उपवनों से) व्याप्त ऐसे पुर-ग्रामादिक स्वर्गलोक के समान शोभित हैं ॥१०।

भावार्थ - उस देश के नगर-ग्रामादिक स्वर्ग-सदृश प्रतीत होते हैं, क्योंकि जैसे स्वर्ग में पीत-वस्त्र-धारी इन्द्र के धाम हैं । उसी प्रकार यहां पर भी अम्बर अर्थात् आकाश को छूने वाले बड़े-बड़े मकान हैं । स्वर्ग में पद्मा (लक्ष्मी) अप्सरा आदि रहती है, यहां पर कमलों से सुशोभित जल-भरे सरोवर हैं । स्वर्ग के भवन किसी से कभी पराभाव को प्राप्त नहीं होते, वैसे ही यहां के प्रासाद भी दूसरों से अदम्य हैं । और जैसे स्वर्ग में अनेक जाति के कल्पवृक्ष होते हैं, उसी प्रकार यहां पर भी लोगों को मनोवांछित फल देने वाले अनेक वृक्षों से युक्त वन-उपवनादिक हैं । इस प्रकार इस भारतवर्ष के ग्रामनगरादिक पूर्ण रूप से स्वर्ग की उपमा को धारण करते हैं ।

शिखावलीढाभ्रतयाऽप्यटूटा बहिःस्थिता नूतनधान्यकूटाः ।
प्राच्याः प्रतीचीं व्रजतोऽब्जपस्य विश्रामशैला इव भान्ति तस्य ॥११॥

उन ग्राम-नगरादिकों के बाहिर अवस्थित, अपनी शिखाओं से व्याप्त किया है आकाश को जिन्होंने ऐसे अटूट (विशाल एवम् विपुल परिमाण वाले) नवीन धान्य के कूट पूर्व दिशा से पश्चिम दिशा को जाने वाले सूर्य के विश्राम शैल (क्रीड़ा-पर्वत) के समान प्रतिभासित होते हैं ॥११॥

उर्वी प्रफुल्लत्स्थलपद्मनेत्र-प्रान्तेऽञ्जनौघं दधती सखेऽत्र ।
निरन्तरात्तालिकुलप्रसक्तिं सौभाग्यमात्मीयमभिव्यनक्ति ॥१२॥

हे सखे, इस विदेह देश में प्रफुल्लित स्थल पद्म (गुलाब के फूल) रूप नेत्रों के प्रान्त भाग में अञ्जन (काजल) को धारण करने वाली पृथ्वी निरन्तर व्याप्त भ्रमर-समूह की गुञ्जार से मानों अपने सौभाग्य को अभिव्यक्त कर रही है ॥१२॥

धान्यस्थली पालक-बालिकानां गीतश्रुतेर्निश्चलतां दधानाः ।
चित्तेऽध्वनीनस्य विलेप्यशङ्कामुत्पादयन्तीह कुरङ्गरङ्काः ॥१३॥

उस देश में धान्य के खेतों को रखाने वाली बालाओं के गीतों को सुनने से खेत खाने के लिए आये हुए दीन कुरंग (हरिण) निश्चलता को प्राप्त होकर पथिक जनों के चित्त में चित्रोल्लिखित जैसी भ्रान्ति को उत्पन्न करते हैं । अर्थात् वे खेत को चरना भूलकर गाना सुनने के लिए निश्चल हो चित्र-लिखित से प्रतीत होते हैं ॥१३॥

सम्पल्लवत्वेन हितं जनानामुत्पादयन्तो विनयं दधानाः ।
स्वजन्म वृक्षाः सफलं ब्रुवाणा लसन्ति यस्मिन् सुपथैकशाणाः ॥१४॥

उस देश के वृक्ष विनय अर्थात् पक्षियों के निवास को, तथा नम्रता को धारण करने वाले हैं और उत्तम हरे-भरे पत्तों से युक्त किंवा सम्पदा वाले होने से आने वाले लोगों का हित सम्पादन करते हैं । *अत एव सन्मार्ग को प्रकट करने वाले होकर अपने जन्म की सफलता सिद्ध करते हुए शोभायमान* हो रहे हैं ॥१४॥

निशासु चन्द्रोपलभित्ति-निर्यज्जलप्लवा श्रीसरितां ततिर्यत् ।
निदाघकालेऽप्यतिकूलमेव प्रसन्नरूपा वहतीह देव ॥१५॥

हे देव, वहां पर रात्रि में चन्द्रकान्त मणियों की भित्तियों से निकलने वाले जल से परिपूर्ण उत्तम सरिताओं की श्रेणी ग्रीष्म ऋतु में भी अतिकूल अर्थात् दोनों तटों से बाहिर पूर वाली होकर के भी प्रसन्न रूप को धारण करती हुई बहती है ॥१५॥

भावार्थ - जब नदी वर्षा ऋतु में किनारे को उल्लघंन करके बहती है तो उसका जल गंदला होता है । किन्तु इस विदेह देश में बहने वाली नदियां अतिकूल होकर के भी प्रसन्न (स्वच्छ) जल वाली थी और सदा ही जल से भरी हुई प्रवाहित होती रहती थी ।

यदीयसम्पत्तिमनन्यभूतां भूर्वीक्षितुं विश्वहितैकपूताम् ।
उत्फुल्लनीलाम्बुरुहानुभावा विभाति विस्फालितलोचना वा ॥१६॥

विश्व का हित करने वाली, और अद्वितीय जिस देश की सम्पत्ति को देखने के लिये पृथ्वी खिले हुए नील कमलों के बहाने से मानों अपनी आंखों को खोलकर शोभायमान हो रही है ॥१६॥

यतोऽतिवृद्धं जड्धीश्वरं सा सरित्ततिर्याति तदेकवंशा ।
संपल्लवोद्धत्तरुणावरुद्धा न निम्नगात्वप्रतिबोधनुद्धा ॥१७॥

उस देश की नदियों की पंक्ति सम्पत्ति के मद से उद्धत तरुण जनों के द्वारा, दूसरे पक्ष में उत्तम

पल्लव वाले वृक्षों से अवरोध् किये जाने पर तथा उसी के वंश वाली होते हुए भी अति वृद्ध जलधि रूप पति के पास जाती हैं और इस प्रकार हा-दुःख है कि वे अपने निम्नगापने का प्रतिषेध नहीं कर रही हैं, अर्थात् निम्नगा (नीचे की ओर बहना या नीच के पास जाना) इस नाम को सार्थक कर रही हैं, यह महान् दुःख की बात है ॥१७॥

भावार्थ - यदि कोई नवयौवना स्त्री अच्छे-अच्छे नवयुवक जनों के द्वारा संवरण के लिए रोके जाने पर भी किसी मूर्ख और अपने ही वंश वाले वृद्ध पुरुष को स्वीकार करे, तो उसका यह कार्य लोक में अनुचित ही गिना जायगा और सब लोग उसकी निन्दा करेंगे । इसी भाव को लक्ष्य में रख कर कवि ने नदियों के निम्नगापने को व्यक्त किया है कि नदी सदा नीचे की ओर बहती हुई और मार्ग में अनेक तरुण-स्थानीय तरुओं (वृक्षों) से रोकी जाने पर भी वृद्ध एवं जड़ समुद्र से जा मिलती है, तो उसके इस निम्नगापने पर धिक्कार है ।

वणिक्पथस्तूपितरत्नजूटा हरि-प्रियाया इव केलिकूटाः ।
बहिष्कृतां सन्ति तमां हसन्तस्तत्राऽऽपदं चाऽऽपदमुल्लसन्तः ॥१८॥

उस विदेह देश के नगरों के वणिक पथों (बाजारों) में दुकानों के बाहिर पद-पद पर लगाये गये स्तूपाकार रत्नों के जूट (ढेर) मानों बहिष्कृत आपदाओं का उपहास-सा करते हुए हरि-प्रिया (लक्ष्मी) के केलिकूट अर्थात् क्रीड़ा पर्वतों के समान प्रतीत होते हैं ॥१८॥

पदे पदेऽनल्पजलास्तटाका अनोकहा वा फल-पुष्पपाकाः ।
व्यर्थानि तावद् धनिनामिदानीं सत्रप्रपास्थापनवांछितानि ॥१९॥

जिस देश में पद-पद पर गहरे जलों से भरे हुए विशाल सरोवर और पुष्प-फलों के परिपाक वाले वृक्ष आज भी धनी जनों के सत्र (अन्न क्षेत्र) और प्रपा (प्याऊ) स्थापन के मनोरथों को व्यर्थ कर रहे हैं ॥१९॥

विस्तारिणी कीर्तिरिवाथ यस्यामृतस्रवेन्दो रुचिवत्प्रशस्या ।
सुदर्शना पुण्यपरम्परा वा विभ्राजते धेनुततिः स्वभावात् ॥२०॥

उस देश की गाएं चन्द्रमा की चांदनी के समान अमृत (दूध) को वर्षा ने वाली, कीर्ति के समान उत्तरोत्तर बढ़ने वाली और पुण्य परम्परा के समान स्वभाव से ही दर्शनीय शोभित हो रही हैं ॥२०॥

अस्मिन् भुवो भाल इयद्विशाले समादधच्छ्रीतिलकत्वमाले ।
समङ्कितं वक्ति मदीयभाषा समेहि तं कुण्डपुरं समासात् ॥२१॥

हे मित्र ! पृथ्वी के भाल के समान इतनी विशाल उस देश में श्री तिलकपने को धारण करने वाले और जिसे लोग कुण्डनपुर कहते हैं, ऐसे उस नगर का अब मेरी वाणी वर्णन करती है सो सुनो ॥२१॥

नाकं पुरं सम्प्रवदाम्यहं तत्सुरक्षणा यत्र जना वसन्तः ।
सुरीतिसम्बुद्धिमितास्तु रामा राजा सुनाशीर–पुनीत–धामा ॥२२॥

यह कुण्डनपुर नगर स्वर्ग है, क्योंकि वहां रहने वालों को कोई कष्ट नहीं है । वहां के सभी लोग सुलक्षण देवों के सदृश हैं। स्त्रियां भी देवियों के समान सुन्दर चेष्टा वाली हैं और राजा तो सुनाशीर पुनीत-धाम है, अर्थात् उत्तम पुरुष होकर सूर्य जैसा पवित्र तेज वाला है, जैसे कि स्वर्ग में इन्द्र होता है ॥२२॥

अहीन–सन्तान–समर्थितत्वात्पुन्नागकन्याभिरथाञ्चितत्वात् ।
विभात्यनन्तालयसंकुलं यन्निरन्तरं नागकुलैकरम्यम् ॥२३॥

यह कुण्डनपुर नगर निरन्तर नाग (सर्प) देवाताओं के कुलों से अद्वितीय रमणीयता को प्राप्त होकर नागपुरी सा प्रतीत होता है । जैसे नागपुरी अहि अर्थात् सर्पों की सन्तान से समर्थित है, उसी प्रकार यह कुण्डनपुर भी अहीन अर्थात् हीन-कुल से रहित उच्च कुलोत्पन्न सन्तान से संयुक्त है । तथा जैसे नागपुरी पुन्नाग-उत्तम वर्ण वाले नागों की कन्याओं से अञ्चित (संयुक्त) है, उसी प्रकार यह कुण्डनपुर नगर भी उत्तम वंश में उत्पन्न हुई कन्याओं से संयुक्त है । और जैसे नागपुरी अनन्त अर्थात् शेषनाग के आलय (भवन) से युक्त है, उसी प्रकार यह नगर भी अनन्त (अगणित) उत्तम विशाल आलयों से संकुल है ॥२३॥

समस्ति भोगीन्द्रनिवास एष वप्रच्छलात्तत्परितोऽपि शेषः ।
समास्थितोऽतो परिखामिषेण निर्भीक एवानु बृहद्विषेण ॥२४॥

यह कुण्डनपुर भोगीन्द्र अर्थात् अति भोग-सम्पन्न जनों के, तथा दूसरे पक्ष में शेषनाग के निवास जैसा शोभित होता है, क्योंकि कोट के छल से चारों ओर स्वयं शेषनाग समुपस्थित हैं, तथा परिखा (खाई) के बहाने कोट के चारों ओर बढ़े हुए जल रूपी शेषनाग के द्वारा छोड़ी गई कांचली ही अवस्थित है ॥२४॥

लक्ष्मीं मदीयामनुभावयन्तः जना इहाऽऽगत्य पुनर्वसन्तः ।
इतीव रोषादुपरुद्धच वारि–राशिः स्थितोऽसौ परिखोपचारी ॥२५॥

मेरी लक्ष्मी को लाकर उसे भोगते हुए लोग सर्व ओर से आ-आकर यहां निवास कर रहे हैं, यह देखकर ही मानों रोष से परिखा के बहाने वह समुद्र उस पुर को चारों ओर से घेर कर अवस्थित है ॥२५॥

वणिक्पथः काव्यतुलामपीति श्रीमानसङ्कीर्णपदप्रणीतिः ।
उपैत्यनेकार्थगुणैः सुरीतिं समादधन्निष्कपटप्रतीतिम् ॥२६॥

उस नगर का बाजार एक उत्तम काव्य की तुलना को धारण कर रहा है । जैसे काव्य श्री अर्थात् शृङ्गारादि रसों की शोभा से युक्त होता है, उसी प्रकार वहां के बाजार श्रीमान् (लक्ष्मी-सम्पत्ति वाले) हैं । जैसे काव्य में असंकीर्ण (स्पष्ट) पद-विन्यास होता है, वैसे ही वहां के बाजार संकीर्णता-रहित खूब चौड़ी सड़कों वाले हैं । जैसे काव्य-गत शब्द अनेक अर्थ वाले होते हैं, वैसे ही वहां के बाजार अनेक प्रकार के पदार्थों से भरे हुए हैं । और जैसे काव्य के शब्द अपना अर्थ छल-रहित निष्कपट रूप से प्रकट करते हैं, वैसे ही वहां के बाजार में भी निष्क अर्थात् बहुमूल्य पट (वस्त्र) मिलते हैं। इस प्रकार वहां के बाजार काव्य जैसे ही प्रतीत होते हैं ॥२६॥

रात्रौ यदभ्रंलिहशालश्रृङ्ग-समङ्कितः सन् भगणोऽप्यभङ्गः ।
स्फुरत्प्रदीपोत्सवतानुपाति सम्वादमानन्दकरं दधाति ॥२७॥

रात्रि में जिस नगर के गगनचुम्बी शाल (कोट) के शिखरों पर आश्रित और अपना गमन भूलकर चित्राङ्कित के समान अभङ्ग (निश्चल) रूप से अवस्थित होता हुआ नक्षत्र मण्डल प्रकाशमान प्रदीपोत्सव (दीपावली) के भ्रम से लोगों में आनन्द उत्पन्न कर रहा है ॥२७॥

अधः कृतः सन्नपि नागलोकः कुतोऽस्त्वहीनाङ्गभृतामथौकः ।
इतीव तं जेतुमहो प्रयाति तत्खातिकाम्भश्छविदम्भजाति ॥२८॥

अधःकृत अर्थात् तिरस्कृत होने के कारण नीचे पाताल लोक में अवस्थित होता हुआ भी यह नागलोक अहीन (उच्च कुलोत्पन्न) देहधारियों का निवास स्थान कैसे बन रहा है, मानों इसी कारण उसे जीतने के लिए वह नगर खाई के जल में प्रतिबिम्बित हुई अपनी परछाई के बहाने से नीचे नागलोक को जा रहा है ॥२८॥

समुल्लसन्नीलमणिप्रभाभिः समङ्किते यद्वरणेऽथवा भीः ।
राहोरनेनैव रविस्तु साचि श्रयत्युदीचीमथवाऽप्यवाचीम् ॥२९॥

अत्यन्त चमकते हुए नीलमणि की प्रभाओं से व्याप्त जिस नगर के कोट पर राहु के विभ्रम से डरा हुआ सूर्य उसके ऊपर न जाकर कभी उत्तर एवम् कभी दक्षिण दिशा का आश्रय कर तिरछा गमन करता है ॥२९॥

यत्खातिकावारिणि वारणानां लसन्ति शङ्कामनुसन्दधानाः ।
शनैश्चरन्तः प्रतिमावतारान्निनादिनो वारिमुचोऽप्युदाराः ॥३०॥

उदार, गर्जनायुक्त एवं धीरे-धीरे जाते हुए मेघ जिस नगर की खाई के जल में प्रतिबिम्बत अपने रूप से हाथियों की शंका को उत्पन्न करते हुए शोभित होते हैं ॥३०॥

तत्रत्यनारीजनपूतपादैस्तुला रतेर्मूर्ध्नि लसत्प्रसादैः ।
लुठन्ति तापादिव वारि यस्याः पद्मानि यस्मात्कठिना समस्या ॥३१॥

रति के सिर पर रहने का जिन्होंने प्रसाद (सौभाग्य) प्राप्त किया है ऐसे, वहां की नारी जनों के पवित्र चरणों के साथ तुलना (उपमा) की समता प्राप्त करना कठिन समस्या है, यही सोचकर मानों कमल सन्ताप से सन्तप्त होकर वहां की खाई के जल में लोट-पोट रहे हैं, ऐसा प्रतीत होता है । ॥३१॥

भावार्थ - वहां की स्त्रियां रति से भी अधिक सौन्दर्य को धारण करती हैं, अतएव उनके सौन्दर्य को प्रकट करके के लिए किसी भी उपमा का देना एक कठिन समस्या है ।

एतस्य वै सौधपदानि पश्य सुरालय त्वं कथमूर्ध्वमस्य ।
इतीव वप्रः प्रहसत्यजस्रं शृङ्गाग्ररत्नप्रभवद् विस्रक् ॥३२॥

हे सुरालय ! तुम इस कुण्डनपुर के सौधपदों (भवनों) को निश्चय से देखो, फिर तुम क्यों इनके ऊपर अवस्थित हो ? मानों यही कहता हुआ और अपने शिखरों के अग्र भाग पर लगे हुए रत्नों से उत्पन्न हो रही कांति रूप माला को धारण करने वाला उस नगर का कोट निरन्तर देव-भवनों की हंसी कर रहा है ॥३२॥

भावार्थ - सुरालय नाम सुर+आलय ऐसी सन्धि के अनुसार देव-भवनों का है और सुरा+आलय ऐसी सन्धि के अनुर . मदिरालय (शराब घर) का भी है । सौध-पद यह नाम सुधा (अमृत) के स्थान का भी है और चूने से बने भवनों का भी है । यहां भाव यह है कि कुण्डनपुर के सुधा-निर्मित भवन सुरालय को लक्ष्य करके कह रहे हैं कि तुम लोग मदिरा के आवास हो करके भी हमारे अर्थात् सुधा-भवनों के ऊपर रहते हो, मानों इसी बहाने से शिखर पर के रत्नों की कान्ति रूप माला धारण करने वाला कोट उनकी हंसी उडा रहा है ।

सन्धूपधूमोत्थितवारिदानां शृङ्गाग्रहेमाण्डकसम्विधाना ।
आतोद्यनादैः कृतगर्जितानां शम्पेव सम्भाति जिनालयानाम् ॥३३॥

भेरी आदि वादित्रों के शब्दों से किया है गर्जन को जिन्होंने, और उत्तम धूप के जलने से उठे हुए धूम्र-पटल रूप बादलों के मध्य में जिनालयों के शिखरों के अग्रभाग पर लगे हुए सुवर्ण कलशों की कांतिरूप माला मानों शम्पा (बिजली) की भ्रान्ति को ही उत्पन्न कर रही है ॥३३॥

गत्वा प्रतोलीशिखराग्रलग्नेन्दुकान्त निर्यज्जलमापिपासुः ।
भीतोऽथ तत्रोल्लिखितान्मृगेन्द्रादिन्दोर्मृगः प्रत्यपयात्यथाऽऽशु ॥३४॥

उन जिनालयों की प्रतोली (द्वार के ऊपरी भाग) के शिखर के अग्र भाग पर लगे चन्द्रकांत मणियों से निकलते हुए जल को पीने का इच्छुक चन्द्रमा का मृग वहां जाकर और वहां पर उल्लिखित (उत्कीर्ण, चित्रित) अपने शत्रु मृगराज (सिंह) को देखकर भयभीत हो तुरन्त ही वापिस लौट आता है ॥३४॥

वात्युच्चलत्केतुकरा जिनाङ्का ध्वजा क्वणत्किङ्किणिकापदेशात् ।
आयात भो भव्यजना इहाऽऽशु स्वयं यदीच्छा सुकृतार्जने सा ॥३५॥

वायु के संचार से फड़फड़ा रहे हैं केतु रूप कर (हस्त) जिनके ऐसी जिन-मुद्रा से अङ्कित ध्वजाएं बजती हुई छोटी-छोटी घण्टियों के शब्दों के बहाने से मानों ऐसा कहती हुई प्रतीत होती हैं कि भो भव्यजनो ! यदि तुम्हारी इच्छा सुकृत (पुण्य) के उपार्जन की है, तो तुम लोग शीघ्र ही स्वयं यहां पर आओ ॥३५॥

जिनालयस्फाटिकसौधदेशे तारावतारच्छलतोऽप्यशेषे ।
सुपर्वभिः पुष्पगणस्य तत्रोचितोपहारा इव भान्ति रात्रौ ॥३६॥

उस कुण्डनपुर नगर के जिनालयों के स्फटिक मणियों से निर्मित अतएव स्वच्छ श्वेत वर्ण वाले समस्त सौध- प्रदेश पर अर्थात् छतों पर रात्रि के समय ताराओं के अवतार (प्रतिबिम्ब) मानों देवताओं के द्वारा किये गये पुष्प-समूह के समुचित उपहार (भेंट) से प्रतीत होते हैं ॥३६॥

भावार्थ - स्फटिक-मणि-निर्मित जिनालयों की छत के ऊपर नक्षत्रों का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह ऐसा प्रतीत होता है मानों देवताओं ने पुष्पों की वर्षा ही की है ।

नदीनभावेन जना लसन्ति वारोचितत्वं वनिताः श्रयन्ति ।
समुत्तरङ्गत्वमुपैति कालः स्फुटं द्वयेषां गुणतो विशालः ॥३७॥

उस नगर के मनुष्य दीनता-रहित, समुद्र-समान गम्भीर भाव के धारक हैं और स्त्रियां भी परम सौन्दर्य की धारक एवं जल के समान निर्मल चरित्र वाली हैं । अतएव वहां के लोगों का दाम्पत्य जीवन बड़े ही आनन्द से बीतता है अर्थात् सुख में बीतता हुआ काल उन्हें प्रतीत नहीं होता ॥३७।

नासौ नरो यो न विभाति भोगी भोगोऽपि नासौ न वृषप्रयोगी ।
वृषो न सोऽसख्यसमर्थितः स्यात्सख्यं च तन्नात्र कदापि न स्यात् ॥३८॥

उस कुण्डनपुर नगर में ऐसा कोई मनुष्य नहीं था, जो भोगी न हो, और वहां ऐसा कोई भोग नहीं था जो कि धर्म-संप्रयोगी अर्थात् धर्मानुकूल न हो । वहां ऐसा कोई धर्म नहीं था जो कि असख्य (शत्रुता) समर्थित अर्थात् शत्रुता पैदा करने वाला हो और ऐसी कोई मित्रता न थी, जो कि कादाचित्क हो अर्थात् स्थायी न हो ॥३८॥

निरौष्ठ्यकाव्येष्वपवादवत्ताऽथ हेतुवादे परमोहसत्ता ।
अपाङ्गनामश्रवणं कटाक्षे छिद्राधिकारित्वमभूद् गवाक्षे ॥३९॥

वहां निरौष्ठ्य अर्थात् ओष्ठ से न बोले जाने वाले काव्यों में ही अपवादपना था यानी पकार नहीं बोला जाता था, किन्तु अन्यत्र अपवाद नहीं था अर्थात् कहीं कोई किसी की निन्दा नहीं करता था ।

हेतुवाद (तर्क शास्त्र) में ही परम ऊहपना (तर्क-वितर्क पना) था, अन्यत्र परम (महा) मोह का अभाव था। वहां अपाङ्ग यह नाम स्त्रियों के नेत्रों के कटाक्ष में ही सुना जाता था, अन्यत्र कहीं कोई अपाङ्ग (हीनाङ्ग) नहीं था। वहां छिदर का अधिकारीपना भवनों के गवाक्षों (खिड़कियों) में ही था, अन्य कोई पुरुष वहां पर-छिद्रान्वेषी नहीं था ॥३९॥

विरोधिता पञ्जर एव भाति सरोगतामेति मरालतातिः ।
दरिद्रता स्त्रीजनमध्यदेशे मालिन्यमेतस्य हि केशवेशे ॥४०॥

विरोधपना वहां पिंजरों में ही था, अर्थात् वि (पक्षी) गण पिंजरों में ही अवरुद्ध रहते थे, अन्यत्र कहीं भी लोगों में विरोध भाव नहीं था। सरोगता वहां मराल (हंस) पंक्ति में ही थी, अर्थात् हंस ही सरोवर में रहते थे और किसी में रोगीपना नहीं था। दरिद्रता वहां की स्त्रीजनों के मध्यप्रदेश (कटिभाग) में ही थी, अर्थात् उनकी कमर बहुत पतली थी, अन्यत्र कोई दरिद्र (धन-हीन) नहीं था मलिनता वहां केश-पाश में ही दृष्टिगोचर होती थी, अन्यत्र कहीं पर भी मलिनता अर्थात् पाप-प्रवृत्ति नहीं थी ॥४०॥

स्नेहस्थितिर्दीपकवज्जनेषु न दीनता वारिधिवच्च तेषु ।
युद्धस्थले चापगुणप्रणीतिर्येषां मताऽन्यत्र न जात्वपीति ॥४१॥

वहां दीपक के समान मनुष्यों में स्नेह की स्थिति थी। जैसे स्नेह (तैल) दीपकों में भरा रहता है, उसी प्रकार वहां के मनुष्य भी स्नेह (प्रेम) से भरे हुए थे। वहां मनुष्यों में समुद्र के समान नदीनता थी, अर्थात् जैसे समुद्र नदीन (नदी+इन) नदियों का स्वामी होता है, वैसे ही वहां के मनुष्य न दीन थे, अर्थात् दीन या गरीब नहीं थे। वहां के लोगों का चाप (धनुष) और गुण (डोरी) से प्रेम युद्धस्थल में ही माना जाता था, अन्य कहीं किसी में अपगुण (दुर्गुण) का सद्भाव नहीं था, अर्थात् सभी लोग सद्गुणी थे ॥४१॥

सौन्दर्यमेतस्य निशासु दृष्टुं स्मयं स्वरुत्पन्नरुचोऽपकृष्टुम् ।
विकासिनक्षत्रगणापदेशाद् दृग् देवतानामपि निर्निमेषा ॥४२॥

रात्रि में इस नगर के सौन्दर्य को देखने के लिए और इसके अद्भुत सौन्दर्य को देखकर स्वर्ग में उत्पन्न हुई लक्ष्मी के अहंकार को दूर करने के हेतु ही मानों प्रकाशमान नक्षत्र-समूह के बहाने से देवताओं की आंखें निमेष-रहित रहती हैं ॥४२॥

भावार्थ - वहां के नगर की शोभा स्वर्ग से भी अधिक थी, यह देखकर ही मानों देव-गण निर्निमेष (टिमकार-रहित) नेत्र वाले हो गये हैं।

प्रासादशृङ्गाग्रनिवासिनीनां मुखेन्दुमालोक्य विधुर्जनीनाम् ।
नम्रीभवन्नेष ततः प्रयाति ह्रियेव सल्लब्धकलङ्कजातिः ॥४३॥

अपने-अपने महलों के शिखर के अग्र भाग पर बैठी हुई वहां की स्त्रियों के मुख-चन्द्र को देखकर कलङ्क को प्राप्त हुआ यह चन्द्रमा मानों लज्जा से नम्र होता हुआ अर्थात् अपना सा मुंह लेकर वहां से जाता है ॥४३॥

परार्थनिष्ठामपि भावयन्ती रसस्थितिं कामपि नाटयन्ती ।
कोषैकवाञ्छामनुसन्दधाना वेश्यापि भाषेव कवीश्वराणाम् ॥४४॥

वहां की वेश्या भी कवीश्वरों की वाणी के समान मालूम पड़ती है । जैसे कवियों की वाणी परार्थ (परोपकार) करने में निष्ठ होती है । उसी प्रकार वेश्या भी पराये धन के अपहरण में निपुण होती है । जैसे कवि की वाणी शृङ्गार हास्य आदि रसों की वर्णन करने वाली होती है, उसी प्रकार वहां की वेश्या भी काम-रस का अभिनय करने वाली है । जैसे कवियों की वाणी कोष (शब्द-शास्त्र) की एक मात्र वांछा रखती है । उसी प्रकार वेश्या भी धन-संग्रह रूप खजाने की वांछा रखती है । ।४४॥

सौधाग्रलग्नबहुनीलमणिप्रभाभिर्दोषायितत्वमिह सन्ततमेव ताभिः ।
कान्तप्रसङ्गरहिता खलु चक्रवाकी वापीतटेऽप्यहनि ताम्यति सा वराकी ॥४५॥

वहां के भवनों में लगे हुए अनेक नीलमणियों की प्रभा-समूह से निरन्तर ही यहां पर रात्रि है, इस कल्पना से वापिका के तट पर बैठी हुई वह दीन चकवी दिन में भी पति के संयोग से रहित होकर सन्ताप को प्राप्त होती है ॥४५॥

भावार्थ - चकवा-चकवी रात्रि को बिछुड़ जाते हैं, ऐसी प्रसिद्धि है । सो कुण्डनपुर के भवनों में जो असंख्य नीलमणि लगे हुए हैं उनकी नीली प्रभा के कारण बेचारी चकवी को दिन में भी रात्रि का भ्रम हो जाता है और इसलिए वह अपने चकवे से बिछुड़ कर दुखी हो जाती है ।

उत्फुल्लोत्पलचक्षुषां मुहुरथाकृष्टाऽऽननश्रीर्बला-
त्काराबद्ध तनुस्ततोऽयमिह यद्बिम्बावतारच्छलात् ।
नानानिर्मलरत्नराजिजटिलप्रासादभित्ताविति -
तच्चान्द्राश्मपतत्पयोभरमिषाच्चान्द्रग्रहो रोदिति ॥४६॥

विकसित नील कमल के समान है नयन जिनके ऐसी वहां की स्त्रियों के मुख की शोभा को बार-बार चुराने वाला ऐसा यह चन्द्र ग्रह वहां के अनेक निर्मल रत्नों की पंक्ति से जड़े हुए प्रासादों की भित्ति में अपने प्रतिबिम्ब के पड़ने के बहाने से ही मानों कारागार (जेलखाना) में बद्ध हुआ और उन भवनों में लगे हुए चन्द्रकांत मणियों से गिरते हुए जल पूरके मिष से रोता रहता है ॥४६॥

एतस्याखिलपत्तनेषु सततं साम्राज्यसम्पत्पतेः,

रात्रौ गोपुरमध्यवर्तिसुलसच्चन्द्रः किरीटायते ।

नो चेत्सन्मणिबद्ध भूमिविसरे तारावतारच्छला,

दभ्रादापतिता कुतः सुमनसां वृष्टिः सतीहोज्ज्वला ।।४७।।

समस्त नगरों में निरन्तर चक्रवर्ती की साम्राज्य-सम्पदा के स्वामी रूप इस कुण्डनपुर के गोपुर के ऊपर प्रकाशमान चन्द्रमा रात्रि में मुकुट की शोभा को धारण करता है। यदि ऐसा न माना जाय तो उत्तम मणियों से निबद्ध भवनों के आङ्गण में ताराओं के अवतार के बहाने आकाश से गिरती हुई फूलों की उज्ज्वल वर्षा कैसे सम्भव हो ।।४७।।

काठिन्यं कुचमण्डलेऽथ सुमुखे दोषाकरत्वं परं

वक्रत्वं मृदुकुन्तलेषु कृशता वालावलग्नेष्वरम् ।

उर्वोरिव विलोमताऽप्यधरता दन्तच्छदे केवलं

शंखत्वं निगले दृशोश्चपलता नान्यत्र तेषां दलम् ।।४८।।

वामानां सुबलित्रये विषमता शैथिल्यमङ्घ्रावुता -

प्यौद्धत्यं सुदृशां नितम्बवलये नाभ्यण्डके नीचता ।

शब्देष्वेव निपातनाम यमिनामक्षेषु वा निग्रह -

श्चिन्ता योगिकुलेषु पौण्ड्रनिचये सम्पीडनं चाह ह ।।४९।।

उस नगर में कठिनता (कठोरता) केवल स्त्रियों के स्तन-मंडल में ही पाई जाती है, अन्यत्र कहीं भी कठोरता नहीं है । दोषाकरता सुमुखी स्त्रियों के मुख पर ही है, अर्थात् उनके मुख चन्द्र जैसे है, अन्यत्र कहीं भी दोषों का भण्डार नहीं है । वक्रपना स्त्रियों के सुन्दर बालों में ही है, क्योंकि वे श्यामवर्ण एवं घुंघराले हैं, अन्यत्र कहीं भी कुटिलता नहीं है ।

कृशता (क्षीणता) केवल स्त्रियों के कटि-प्रदेश में ही है, अन्यत्र कहीं भी किसी प्रकार की क्षीणता दृष्टिगोचर नहीं होती । विलोमता (रोम-रहितपना) स्त्रियों की जंगाओं में ही है, अन्यत्र कहीं भी प्रतिकूलता नहीं है। अधरता केवल ओठों में ही है, और किसी व्यक्ति में वहां नीचता नहीं है। शंखपना गले में ही है, अन्यत्र कहीं भी मूर्खपना नहीं है। चपलता आंखों में ही है, अन्यत्र कहीं भी चपलता नहीं है। विषमता स्त्रियों की त्रिबली में ही है, अन्यत्र कहीं विषमता नहीं है। शिथिलता वहां कि स्त्रियों के चरणों में ही है, अन्यत्र शिथिलता नहीं है। उद्धतपना केवल वहां की सुनयनाओं के नितम्ब-मंडल में ही है,

अन्यत्र कहीं पर उद्धतपना नहीं है । नीचता (गहराई) नाभि-मंडल में ही है, अन्यत्र नीचपना नहीं है। निपातपना शब्दों में ही है। अन्यत्र कहीं भी कोई किसी का निपात (घात) नहीं करता है । निग्रहपना संयमी जनों की इन्द्रियों में है, अन्यत्र कहीं भी कोई किसी का निग्रह नहीं करता है। चिन्ता अर्थात् वस्तु-स्वरूप का चिन्तवन वहां योगिजनों के समुदाय में है, अन्यत्र कहीं भी किसी के कोई चिन्ता नहीं है। सम्पीडन या सम्पीलन वहां केवल पौंडों के समूह में ही है । अर्थात् सांटे ही वहां कोल्हू में पेले जाते हैं, अन्यत्र कहां भी कोई किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाता है ॥४८-४९॥

अभ्रं लिहाग्रशिखरावलिसङ्कुलं च,
मध्याह्नकाल इह यद्वरणं समञ्चन् ।
प्रोत्तप्तकाञ्चनरु - चिर्भुवनेऽयमस्मिन्,
कल्याणकुम्भ इव भाति सहस्ररश्मिः ॥५०॥

इस कुण्डनपुर नगर में गगनचुम्बी शिखरावली से व्याप्त कोट को मध्याह्न काल के समय प्राप्त हुआ, तपाये गये सुवर्ण की कांति वाला यह सहस्ररश्मि (सूर्य) सुवर्ण-कुम्भ के समान प्रतीत होता है ॥५०॥

भावार्थ - मध्यान्ह काल में कोट के ऊपर आया हुआ सूर्य उसके सुवर्ण कलश-सा दिखाई देता है ।

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं,
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
श्रीवीराभ्युदयेऽमुना विरचिते काव्येऽधुना नामतः,
द्वीपप्रान्तपुराभिवर्णनकरः सर्गो द्वितीयोऽप्यतः ॥२॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भुजजी और घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए वाणीभूषण बाल-ब्रह्मचारी पं. भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर द्वारा विरचित इस वीरोदय काव्य में जम्बूद्वीप, उसके क्षेत्र, देश और नगरादि का वर्णन करने वाला यह दूसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥२॥

❖ ❖ ❖

अथ तृतीयः सर्गः

नि:शेषनम्रावनिपालमौलि-मालारजः पिञ्जरितांघ्रिपीठिः ।
सिद्धार्थनामाऽस्य बभूव शास्ता कीर्तीः श्रियो यस्य वदामि तास्ताः ॥१॥

समस्त नम्रीभूत भूपालों के मौलियों (मुकुटों) की मालाओं के पुष्प-पराग से पिञ्जरित (विविध-वर्णयुक्त) हो रहा है पाद-पीठ जिसका, ऐसा सिद्धार्थ नाम का राजा इस कुण्डनपुर का शासक हुआ। जिसकी विविध प्रकार की कीर्तियां और विभूतियां थी । मैं उनका वर्णन करता हूँ ॥१॥

सौवर्ण्यमुद्वीक्ष्य च धैर्यमस्य दूरं गतो मेरुरहो नृपस्य ।
मुक्तामयत्वाच्च गभीरभावादेतस्य वार्धिर्गलपितः सदा वा ॥२॥

इस सिद्धार्थ राजा के सौवर्ण्य (सुन्दर रूप और सुवर्ण-भंडार) को, तथा धैर्य को देखकर ही मानों सुमेरू पर्वत, दूर चला गया है । इसी प्रकार इस राजा के मुक्तामयत्व और गम्भीर-भाव से समुद्र सदा के लिए मानों पानी-पानी हो गया है ॥२॥

भावार्थ - सुमेरु को अपने सुवर्णमय होने का, तथा धैर्य का बड़ा अंहकार था । किन्तु जब उसने सिद्धार्थ राजा के अपार सौवर्ण्य एवं धैर्य को देखा, तो मानों स्वयं लज्जित होकर के ही वह इस भरत क्षेत्र से बहुत दूर चला गया है । समुद्र को अपने मुक्तामय (मोती-युक्त) होने का और गम्भीरता का बड़ा गर्व था । किन्तु जब उसने सिद्धार्थ राजा को मुक्त-आमय अर्थात रोग-रहित एवं अगाध गाम्भीर्य वाला देखा, तो मानों वह अपमान से चूर होकर पानी-पानी हो गया । यह बड़े आश्चर्य की बात है।

रवेर्दशाऽऽशापरिपूरकस्य करैः सहस्त्रैर्महिमा किमस्य ।
समक्षमेकेन करेण चाशासहस्त्रमापूरयतः समासात् ॥३॥

अपने सहस्त्र करों (किरणों) से दश दिशाओं को परिपूर्ण करने वाले सूर्य की महिमा इस सिद्धार्थ राजा के समक्ष क्या है ? जो कि एक ही कर (हाथ) से सहस्त्रों जनों की सहस्त्रों आशाओं को एक साथ परिपूर्ण कर देता है ॥३॥

भूमावहो वीतकलङ्कलेशः भव्याब्जवृन्दस्य पुनर्मुदे सः ।
राजा द्वितीयोऽथ लसत्कलाढ्य इतीव चन्द्रोऽपि बभौ भयाढ्यः ॥४॥

अहो ! इस भूतल पर कलङ्क के लेश से भी रहित, भव्य जीव रूप कमल-वृन्द को प्रमुदित करने वाला और समस्त कलाओं से संयुक्त यह सिद्धार्थ राजा तो अद्वितीय चन्द्र है, यह देखकर ही मानों चन्द्रमा भी भयाढ्य अर्थात् भय से युक्त अथवा प्रभा से संयुक्त हो गया है ॥४॥

योगः सदा वेदनया विधेः स शूली किलाभूदपराजितेशः ।
गदाञ्चितो माधव इत्थमस्य निरामयस्य क्व समो नृपस्य ॥५॥

विधि (ब्रह्मा) के तो सदा वेद-ज्ञान या वेदना के साथ संयोग है, और अपराजितेश्वर वह महादेव शूल (उदर-व्याधि, एवं त्रिशूल) से संयुक्त है, तथा माधव (विष्णु) सदा गदाञ्चित गद अर्थात् रोग से एवं गदा (शस्त्रविशेष) से युक्त है । फिर इस निरामय (नीरोग) राजा की समता कहां है ॥५॥

भावार्थ - संसार में ब्रह्मा, महेश और विष्णु ये तीनों देवता ही सर्व श्रेष्ठ समझे जाते हैं । किन्तु वे तीनों तो क्रमशः काम-वेदना, शूल और गदाञ्चित होने से रोग-युक्त ही है और यह राजा सर्व प्रकार के रोगों से रहित पूर्ण नीरोग है। फिर उसकी उपमा संसार में कहां मिल सकती है ?

यत्कृष्णवर्त्मत्वमृते प्रतापवह्निं सदाऽमुष्य जनोऽभ्यवाप ।
ततोऽनुमात्वं प्रति चाद्भुतत्वं लोकस्य नो किन्तु वितर्कसत्त्वम् ॥६॥

इस राजा की प्रताप रूप अग्नि को लोग सदा ही कृष्ण वर्त्मत्व (धूमपना) के बिना ही स्वीकार करते थे । किन्तु फिर भी अनुमान के प्रति यह अद्भुतपना लोक के वितर्कणा का विषय नहीं हुआ ॥६॥

भावार्थ - न्यायशास्त्र की परिभाषा के अनुसार साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहा जाता है । जैसे धूम- को देखकर अग्नि का ज्ञान करना । परन्तु राजा तो कृष्णवर्त्मा अर्थात् पापाचार से रहित था फिर भी लोग कृष्णवर्त्मा (काले मार्ग वाला धूम) के बिना ही इसके प्रताप रूप अग्नि का अनुमान करते थे । इतने पर भी न्यायशास्त्र के उक्त नियमोल्लघंन की लोगों में कोई चर्चा नहीं थी ।

मृत्त्वं तु संज्ञास्विति पूज्यपादः नृपोऽसकौ धातुषु संजगाद ।
ममत्वहीनः परलोकहेतोस्तदस्य धामोज्ज्वलकीर्तिकेतोः ॥७॥

आचार्य पूज्यपाद ने अपने व्याकरण शास्त्र में मृत्त्व (प्रातिपदिकत्व) को संज्ञाओं में कहा (धातु-पाठ में नहीं)। किन्तु ममत्व-हीन इस सिद्धार्थ राजा ने तो मृत्त्व अर्थात् मृत्तिकापन को तो पार्थिव धातुओं में गिना है । यह सब इस उज्ज्वल कीर्तिशाली और परलोक के लिए अर्थात् परभव और अन्य जनों को हितार्थ प्रयत्न करने वाले इस राजा की महत्ता है ॥७॥

भावार्थ - जैनेन्द्र व्याकरण में मनुष्य आदि नामों की मृत्संज्ञा की गई है, भू आदि धातुओं की नहीं । किन्तु सिद्धार्थ राजा ने उसके विपरीत सुवर्णादि धातुओं में मृत्पना (मृत्तिकापन) मानकर मनुष्यों में आदरभाव प्रकट किया है । सारांश - यह राजा अपनी प्रजा की भलाई के लिए सुवर्णादि-धन को मिट्टी के समान व्यय किया करता था ।

सा चापविद्या नृपनायकस्य लोकोत्तरत्वं सखिराज पश्य ।
स मार्गणौघः सविधं गुणस्तु दिगन्तगामीति विचित्रवस्तु ॥८॥

हे मित्रराज, इस राज-राजेश्वर सिद्धार्थ की चापविद्या (धनुर्वेदिता) की लोकोत्तरता तो देखो- कि यह बाण-पुञ्ज तो समीप है और गुण (डोरी) दिगन्तगामी है, यह तो विचित्र बात है ॥८॥

भावार्थ - धनुर्धारी जब धनुष लेकर बाण चलाता है, तब डोरी तो उसके पास ही रहती है और बाण दूर लक्ष्य स्थान पर चला जाता है। किन्तु सिद्धार्थ राजा की विद्या ने यह लोकोत्तरपना प्राप्त किया कि याचक जन तो उसके समीप आते थे और उसके यश आदि गुण दिगन्तगामी हो गये, अर्थात् वे सर्व दिशाओं में फैल गये।

त्रिवर्गभावात्प्रतिपत्तिसारः स्वयं चतुर्वर्णविधिं चकार ।
जनोऽपवर्गस्थितये भवेऽदः स नाऽनभिज्ञत्वममुष्य वेद ॥९॥

यह राजा त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ) में निष्णात था, इसलिए प्रजा में चतुर्वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण) की व्यवस्था स्वयं करता था। अतएव अपवर्ग (मोक्ष नामक चतुर्थ पुरुषार्थ) की प्राप्ति के लिए भी यह अनभिज्ञ नहीं, अपितु अभिज्ञ (जानकार) है, ऐसा उस समय का प्रत्येक जन स्वीकार करता था। इस श्लोक का एक दूसरा भी अर्थ है - यह राजा कवर्गादि पांच वर्गों में से आदि के तीन वर्ग [1]कवर्ग, [2]चवर्ग और [3]टवर्ग पढ़ चुकने पर उसके आगे के तवर्गीय त, थ, द, ध इन चार वर्णों को याद करने में लगा हुआ था, अतः [4]पवर्ग को जानने के पहिले 'न' कार का जानना आवश्यक है, ऐसा लोग कहते थे ॥९॥

भुजङ्गतोऽमुष्य न मन्त्रिणोऽपि असेः कदाचिद्यदि सोऽस्तु कोपी ।
त्रातुं क्षमा इत्यरयोऽनुयान्ति तदंघ्रिचञ्चन्नखचन्द्रकान्तिम् ॥१०॥

यदि कदाचित् (किसी अपराधी के ऊपर) यह राजा कुपित हो गया, तो उसके भुजङ्ग (खड्ग) से रक्षा करने के लिए मंत्रीगण भी समर्थ नहीं थे, ऐसा मानकर अरिगण स्वयं आकर के इस राजा के चरणों की चमकती हुई नख-चन्द्रकान्ति का आश्रय लेते थे ॥१०॥

भावार्थ - इस श्लोक में प्रयुक्त भुजङ्ग और मंत्रीपद द्व्यर्थक हैं, सो दूसरा अर्थ यह है कि यदि कोई भुजङ्ग (काला सांप) किसी व्यक्ति पर कदाचित् क्रोधित हो जाय अर्थात् काट खाय, तो मन्त्री अर्थात् विष-मंत्र के ज्ञाता गारूड़ी लोग भी उसे बचा नहीं सकते हैं। राजा के ऐसे प्रबल प्रताप को देख कर शत्रुगण स्वयं ही आकर उसके चरणों की सेवा करते थे।

हे तात जानूचितलम्बबाहो नाङ्गं विमुञ्चेत्तनुजा तवाहो ।
सभास्वपीत्थं गदितुं नृपस्य कीर्त्तिः समुद्रान्तमवाप तस्य ॥११॥

---

१ कवर्ग - क, ख, ग, घ, ङ । २ चवर्ग - च, छ, ज, झ, ञ । ३ टवर्ग - ट, ठ, ड, ढ, ण । ४ पवर्ग - प, फ, ब, भ, म ।

हे तात ! (जनक समुद्र !) तुम्हारी यह तनुजा (आत्मजा पुत्री लक्ष्मी) आजानुबाहु (घुटनों तक लम्बी भुजाओं वाले) इस राजा के शरीर को सभाओं के बीच में भी (आलिंगन करने से) नहीं छोड़ती है, अर्थात् इतनी अधिक निर्लज्ज है, यह शिकायत करने के लिए ही मानों इस राजा की कीर्ति रूपी दूसरी स्त्री समुद्रान्त को प्राप्त हुई ॥११॥

भावार्थ - अपनी सौत लक्ष्मी की उक्त निर्लज्जता को देख कर ही उसे कहने के लिए राजा की कीर्ति रूपी दूसरी पत्नी समुद्र के अन्त तक गई, अर्थात् इसकी कीर्ति समुद्र-पर्यन्त सर्व ओर फैली हुई थी ।

आकर्ण्य भूपालयशःप्रशस्तिं शिरो धुनेच्चेत्कथमेवमस्ति ।
स्थितिर्भुवोऽपीत्यनुमानजातात्कर्णौ चकाराहिपतेर्न धाता ॥१२॥

इस सिद्धार्थ भूपाल के निर्मल यशोगाथा को सुनकर अहिपति (सर्पराज शेषनाग) कदाचित् अपना शिर धुने, तो पृथ्वी की स्थिति कैसे रहेगी ? अर्थात् पृथ्वी पर सभी कुछ उलट-पुलट हो जायगा, ऐसा (भविष्य कालीन) अनुमान हो जाने से ही मानों विधाता ने नागराज के कानों को नहीं बनाया ॥१२।

भावार्थ - ऐसी लोक-प्रसिद्धि है कि यह पृथ्वी शेषनाग के शिर पर अवस्थित है । उसे ध्यान में रख कर के ही कवि ने सर्पों के कान न होने की उत्प्रेक्षा की है ।

विभूतिमत्त्वं दधताऽप्यनेन महेश्वरत्वं जननायकेन ।
कुतोऽपि वैषम्यमितं न दृष्टेः समुन्नतत्वं व्रजताऽथ सृष्टेः ॥१३॥

विभूतिमत्ता और महेश्वरता को धारण करने वाले इस राजा ने चतुर्वर्ण वाली सृष्टि की रचना रूप समुन्नति को करते हुए भी दृष्टि की विषमता और संहारकता को नहीं धारण किया था ॥१३॥

भावार्थ - महेश्वर (महादेव) की विभूतिमत्ता अर्थात् शरीर में भस्म लगाना और दृष्टि-विषमता (तीन नेत्र का होना) ये दो बातें संसार में प्रसिद्ध है । सो इस राजा में भी विभूतिमत्ता (वैभवशालिता) और महान् ऐश्वर्यपना तो था, किन्तु नेत्रों की विषमता नहीं थी । महादेव की संसार-सहारकता भी प्रसिद्ध है और ब्रह्मा की सृष्टि रचना भी प्रसिद्ध है । यह सिद्धार्थ राजा अपनी प्रजा रूप सृष्टि का ब्रह्मा के समान रचयिता (व्यवस्थापक) तो था, पर महादेव के समान उसका संहारक नहीं था । कहने का सार यह कि इस सिद्धार्थ राजा में ब्रह्मा के गुणों के साथ महेश्वर के गुण तो थे, पर सृष्टि-संहारक रूप अवगुण नहीं था ।

एकाऽस्य विद्या श्रवसोश्च तत्त्वं सम्प्राप्य लेभेऽथ चतुर्दशत्वम् ।
शक्तिस्तथा नीतिचतुष्कसारमुपागताऽहो नवतां बभार ॥१४॥

इस सिद्धार्थ राजा की एक विद्या दोनों श्रवणों के तत्त्व को प्राप्त होकर अर्थात् कर्णगोचर होकर चतुर्दशत्व को प्राप्त हुई । तथा एक शक्ति भी नीति-चतुष्क के सारपने को प्राप्त होकर नवपने को धारण करती थी ॥१४॥

भावार्थ - राजा ने यद्यपि एक राज-विद्या ही गुरु-मुख से अपने दोनों कानों द्वारा सुनी थी, किन्तु इसकी प्रतिभा से वह चौदह विद्या रूप से परिणत हो गई । इसी प्रकार इस राजा की एक शक्ति भी नीतिचतुष्क (आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति) को प्राप्त होकर नवता अर्थात् नव-संख्या को प्राप्त हुई, यह परम आश्चर्य की बात है ? इसका परिहार यह है कि उसकी शक्ति भी नित्य नवीनता को प्राप्त हो रही थी ।

छायेव सूर्यस्य सदाऽनुगन्त्री बभूव मायवे विधेः सुमन्त्रिन् ।
नृपस्य नाम्ना प्रियकारिणीति यस्याः पुनीता प्रणयप्रणीति ॥१५॥

हे सुमन्त्रिन् (मित्र) ! इस सिद्धार्थ राजा की प्रियकारिणी इस नाम से प्रसिद्ध रानी थी, जो कि सूर्य की छाया के समान एवं विधि (ब्रह्मा) की माया के समान पति का सदा अनुगमन करती थी और जिसका प्रणय-प्रणयन अर्थात् प्रेम-प्रदर्शन पवित्र था । अतएव यह अपने प्रिय-कारिणी इस नाम को सार्थक करती थी ॥१५॥

दयेव धर्मस्य महानुभावा क्षान्तिस्तथाऽभूत्तपसः सदा वा ।
पुण्यस्य कल्याणपरम्परेवाऽसौ तत्पदाधीनसमर्थसेवा ॥१६॥

महानुभाव (उदार-हृदय) वाली यह रानी धर्म की दया के समान, तप की क्षमा के समान तथा पुण्य की कल्याणकारिणी परम्परा के समान थी और सदा ही उस राजा के पदाधीन (चरणों के आश्रित) रहकर उनकी समर्थ (तन, मन, वचन के एकाग्र होकर) सेवा करने वाली थी ॥१६॥

हरेः प्रिया सा चपलस्वभावा मृडस्य निर्लज्जतयाऽघदा वा ।
रतिस्त्वदृश्या कथमस्तु पश्य तस्याः समा शीलभुवोऽत्र शस्य ॥१७॥

हे प्रशंसनीय मित्र, बताओ- इस संसार में परम शील वाली उस रानी के लिए किस की उपमा दी जाय ? क्योंकि यदि उसे हरि (विष्णु) की प्रिया लक्ष्मी की उपमा देते हैं, तो वह चपल स्वभाव वाली है, पर यह तो परम शान्त है, अतः लक्ष्मी की उपमा देना ठीक नहीं है । यदि कहो कि उसे शिवजी की स्त्री पार्वती की उपमा दी जाय, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह तो शिवजी के अर्धाङ्ग में निर्लज्ज होकर सदा चिपटी रहती है, अतः अरुचिकारिणी है। किन्तु यह रानी तो सदा सलज्ज होने से प्रियकारिणी है । यदि कहो कि काम की स्त्री रति की उपमा दी जाय, सो वह तो अदृश्य रहती है- आंखों से दिखाई ही नहीं देती है- फिर उसकी उपमा देना कैसे उचित होगा ? अर्थात् मुझे तो यह रानी संसार में उपमा से रहित होने के कारण अनुपम ही प्रतीत होती है ॥१७॥

वाणीव याऽऽसीत्परमार्थदात्री कलेव चानन्दविधा विधात्री ।
वितर्कणावत्परमोहपात्री मालेव सत्कौतुकपूर्णगात्री ॥१८॥

वह रानी वाणी (सरस्वती) के समान परमार्थ की देने वाली है । सरस्वती मुमुक्षु को परमार्थ (मोक्ष) देने वाली है और यह याचकजनों को परम अर्थ (धन) को देने वाली है, चन्द्रमा की कला के समान आनन्द-विधिका विधान करने वाली है, अर्थात् परम आनन्द दायिनी है । वितर्कणा बुद्धि के समान परम ऊहापोह (तर्क-वितर्क) करने वाली है और यह अपने पति के परम स्नेह अनुराग की पात्री (अधिष्ठानवाली) है । तथा पुष्पमाला के समान सत्कौतुकों अर्थात् उत्तम पुष्पों से और यह मनो-विनोदों से परिपूर्ण शरीर वाली है ॥१८॥

लतेव सम्पल्लवभावभुक्ता दशेव दीपस्य विकासयुक्ता ।
सत्तेव नित्यं समवाद-सूक्ता द्राक्षेव याऽऽसीन्मृदुता-प्रयुक्ता ॥१९॥

यह रानी लता के समान सम्पल्लव भाव वाली है । जैसे लता उत्तम पल्लवों (पत्तों) से युक्त होती है, उसी प्रकार यह रानी भी सम्पत्ति से (सर्व प्रकार की समृद्धि भाव से) युक्त है एवं मंजुभाषिणी है । तथा यह रानी दीपक की दशा के समान विकास (प्रकाश) से युक्त है । सत्ता (नैयायिकों के द्वारा माने गये पदार्थ विशेष) के समान यह रानी नित्य ही सामान्य धर्म से युक्त है, अर्थात् सदा ही समदर्शिनी रहती है । तथा यह रानी द्राक्षा के समान मृदुता (कोमलता) से संयुक्त है, अर्थात् परम कोमलाङ्गी है ॥१९॥

इतः प्रभृत्यम्ब तवाननस्य न स्पर्धयिष्ये सुषुमाममुष्य ।
इतीव पादाग्रमितोऽथ यस्या युक्तः सुधांशुः स्वकुलेन स स्यात् ॥२०॥

हे अम्बे ! अब आज से आगे मैं कभी भी तुम्हारे इस मुख की सुषमा (सौन्दर्य) के साथ स्पर्धा नहीं करूंगा, ऐसी प्रतिज्ञा करके ही मानों वह चन्द्रमा अपने तारागण रूप कुल के साथ आकर रानी के पादाग्र (चरण-नखों) को प्राप्त हो गया है ॥२०॥

भावार्थ - रानी के चरणों की अंगुलियों के नखों की कांति चन्द्र, तारादिक के समान प्रकाशमान थी, जिसे लक्ष्य करके कवि ने उक्त उत्प्रेक्षा की है ।

दण्डाकृतिं लोमलतास्वथाऽरं कुलालसत्त्वं स्वयमुज्जहार ।
कुम्भोपमत्वं कुचयोर्दधाना नितम्बदेशे पृथुचक्रमानात् ॥२१॥

यह रानी अपनी लोम-लताओं (रोम-राजिओं) में तो दण्ड की आकृति को धारण करती थी और स्वयं कुलाल (कुम्भकार) के सत्त्व को उद्धृत करती थी अर्थात् कुल (वंश) के अलसत्व (आलसीपन) को दूर करती थी । अथवा पृथ्वी पर सर्व जनता से अपना प्रेम प्रकट करती थी । रानी अपने दोनों कुचों में कुम्भ की उपमा को धारण करती थी एवम् उसके विशाल नितम्ब प्रदेश में स्वयं ही विस्तीर्ण चक्र (बर्तन बनाने के कुम्हार के चाक) का अनुमान होता था ॥२१॥

भावार्थ - उस रानी ने अपने नितम्ब-मण्डल को चाक मान कर और उदर में होने वाली रोमावली को दण्ड मानकर स्वयं को कुम्भकार माना और अपने दोनों स्तन-रूप कलशों का निर्माण किया ।

इस श्लोक से कवि ने यह भाव प्रकट किया है कि अपने इष्ट अनिष्ट का विधाता यह जीव स्वयं ही है ।

मेरोर्यदौद्धत्यमिता नितम्बे फुल्लत्वमब्जादथवाऽऽस्यबिम्बे ।
गाम्भीर्यमब्धेरुत नाभिकायां श्रोणौ विशालत्वमथो धराया ॥२२॥

उस रानी ने अपने नितम्ब भाग में सुमेरु की उद्धतता को, मुख-बिम्ब में कमल की प्रफुल्लता को, नाभि में समुद्र की गम्भीरता को और श्रोणिभाग (नाभि से अधोभाग)में पृथ्वी की विशालता को धारण किया था ॥२२॥

चाञ्चल्यमक्ष्णोरनुमन्यमाना दोषाकरत्वं च मुखे दधाना ।
प्रबालभावं करयोर्जगाद बभूव यस्या उदरेऽपवादः ॥२३॥

वह रानी अपनी दोनों आंखों में चञ्चलता का अनुमान कराती थी, और मुख में दोषाकरत्व को धारण करती थी । दोनों हाथों में प्रबाल भाव को कहती थी और उसके उदर में अपवाद था ॥२३।

भावार्थ - चञ्चलता यद्यपि दोष है, किन्तु रानी की आंखों को प्राप्त होकर वह गुण बन गया था, क्योंकि स्त्रियों के आंखों की चञ्चलता उत्तम मानी जाती है । दोषाकरत्व अर्थात् दोषों की खानि होना दोष है, किन्तु रानी के मुख में दोषाकरत्व अर्थात् चन्द्रत्व था, उसका मुख चन्द्रमा के समान था प्रबालभाव, अर्थात् बालकपन (लड़कपन) यह दोष है, किन्तु रानी के हाथों के प्रबाल भाव (मूंगा के समान लालिमा) होने से वह गुण हो गया था । अपवाद (निन्दा) होना यह दोष है, किन्तु रानी के पेट में कृशता या क्षीणता रूप अपवाद गुण बन गया था ।

महीपतेर्धाम्नि निजेङ्गितेन सुरीति-सम्पत्तिकरी हि तेन ।
कटिप्रदेशेन हृदापि मित्राऽसकौ धरायां समभूत्पवित्रा ॥२४॥

हे मित्र ! वह रानी सिद्धार्थ राजा के घर में अपनी चेष्टा से सुरीति और सम्पत्ति की करने वाली थी । कटिप्रदेश में संकुचित (कृश) हो करके भी हृदय से विशाल थी, इस प्रकार वह धरातल पर पवित्र थी ॥२४॥

भावार्थ - इस श्लोक में सुरीति पद द्व्यर्थक है, तदनुसार वह रानी अपनी चेष्टा से सुरी (देवियों) को भी मात करने वाली थी । और उत्तम रीति से चलने के कारण प्रजा में उत्तम रीति-रिवाजों को चलाने वाली थी । तथा पवित्र पद में भी श्लेष है - रानी का कटि-प्रदेश तो कृश था, किन्तु उसके नीचे का नितम्ब भाग और ऊपर का वक्षःस्थल विस्तीर्ण था, अतएव वह पवित्र अर्थात् पवि (वज्र) के त्र-तुल्य आकार को धारण करता था । फिर भी उसका हृदय पवित्र (निर्मल) था ।

मृगीदृशश्चापलता स्वयं या स्मरेण सा चापलताऽपि रम्या ।
मनोजहाराङ्गभृतः क्षणेन मनोजहाराऽथ निजेक्षणेन ॥२५॥

इस मृगनयनी की जो स्वाभाविक चपलता थी उसी को कामदेव ने अपनी सुन्दर धनुष-लता बनाई, क्योंकि कामदेव को हार के समान हृदय का अंलकार मानने वाली वह रानी अपने कटाक्ष से क्षण मात्र में मनुष्यों के मन को हर लेती थी ॥२५॥

अस्या भुजस्पर्धनगर्द्धनत्वात्कृतापराधं समुपैमि तत्त्वात् ।
अभ्यन्तरुच्छिन्नगुणप्रपञ्चं मृणालकं नीरसमागतं च ॥२६॥

इस रानी की भुजाओं के साथ स्पर्धा करने में निरत होने से किया है अपराध जिसने, ऐसे मृणाल (कमल-नाल) को मैं भीतर से खोखला और गुण-हीन पाता हूँ । साथ ही नीर-समागत अर्थात् पानी के भीतर डूबा हुआ, तथा नीरसं+आगत अर्थात् नीरसपने को प्राप्त हुआ देखता हूँ ॥२६॥

भावार्थ - कवि ने कमल-नाल के पोलेपन और जल-गत होने पर उत्प्रेक्षा की है कि वह रानी की भुजाओं के साथ स्पर्धा करने पर पराजित होकर लज्जा से पानी में डूबा रहता है ।

या पक्षिणी भूपतिमानसस्येष्टा राजहंसी जगदेकदृश्ये ।
स्वचेष्टितेनैव बभूव मुक्ता-फलस्थितिर्या विनयेन युक्ता ॥२७॥

जैसे राजहंसी मान-सरोवर की पक्षिणी अर्थात् उसमें निवास करने वाली होती है, उसी प्रकार यह रानी भूपति के मन का पक्ष करने वाली थी, इसलिए (सर्व रानियों में अधिक प्यारी होने से) पट्टरानी थी । राजहंसी अपनी चेष्टा से मुक्ताफलों (मोतियों) में स्थिति रखने वाली होती है अर्थात् मोतियों को चुगती है और रानी अपनी चेष्टा से मुक्त किया है निष्फलता को जिसने ऐसी थी, अर्थात् सफल जीवन बिताने वाली थी । राजहंसी वि-नय (पक्षियों की रीति) का पालन करने वाली होती है, और यह रानी विनय से संयुक्त थी, अर्थात् विनय गुण-वाली थी ॥२७॥

प्रबालता मूर्ध्न्यधरे करे च मुखऽब्जताऽस्याश्चरणे गले च ।
सुवृत्तता जानुयुगे चरित्रे रसालताऽभूत्कुचयोः कटित्रे ॥२८॥

इस रानी के शिर पर तो प्रबालता (केशों की सघनता) थी, ओठों पर मूंगे के समान लालिमा थी और हाथ में नव-पल्लव की समता थी । रानी के मुख में अब्जता (चन्द्र-तुल्यता) थी, चरणों में कमल-सदृश कोमलता थी और गले में शंख-सदृशता थी । दोनों जंघाओं में सुवृत्तता (सुवर्तुलाकारता) थी और चरित्र में सदाचारिता थी । दोनों स्तनों में रसालता (आम्रफल-तुल्यता) थी और कटित्र (अधोवस्त्र-घांघरा) पर रसा-लता (करधनी) शोभित होती थी ॥२८॥

पूर्वं विनिर्माय विधुं विशेष-यत्नाद्विधिस्तन्मुखमेवमेषः ।
कुर्वंस्तदुल्लेखकरीं चकार स तत्र लेखामिति तामुदारः ॥२९॥

विधाता ने पहले चन्द्र को बनाकर पीछे बड़े प्रयत्न से - सावधानी के साथ इस रानी के मुख को बनाया । इसीलिए मानों उदार विधाता ने चन्द्र-बिम्ब की व्यर्थता प्रकट करने के लिए उस पर रेखा खींच दी है जिसे लोग कलङ्क कहते हैं ॥२९॥

अधीतिबोधाऽऽचरणप्रचारैश्चतुर्दशत्वं गमिताऽत्युदारैः ।
विद्या चतुःषष्ठिरतः स्वभावादस्याश्च जाताः सकलाः कला वा ॥३०॥

इस रानी की विद्या विशद रूप अधीति (अध्ययन), बोध (ज्ञान-प्राप्ति), आचरण (तदनुकूल प्रवृत्ति) और प्रचार के द्वारा चतुर्दशत्व को प्राप्त हुई । पर एक वस्तु को चार के द्वारा गुणित करने पर भी चतुर्दशत्व अर्थात् चौदह की संख्या प्राप्त नहीं हो सकती है, यह विरोध है । उसका परिहार यह किया है कि उसकी एक विद्या ने ही अधीति आदि चार दशाएं प्राप्त की । पुनः वही एक विद्या चौदह प्रसिद्ध विद्याओं में परिणत हो गई । एवं उसकी सम्पूर्ण कलाएं स्वतः स्वभाव से चौसठ हो गईं ॥३०॥

भावार्थ - एक वस्तु की १६ कलाएं मानी जाती हैं, अतएव चार दशाओं की (१६×४=६४) चौंसठ कलाएं स्वतः ही हो जाती हैं । वह रानी स्त्रियों की उन चौंसठ कलाओं में पारंगत थी, ऐसा अभिप्राय उक्त श्लोक से व्यक्त किया गया है ।

यासामरूपस्थितिमात्मनाऽऽह स्वीयाधरे विद्रुमतामुवाह ।
अनूपमत्वस्य तनौ तु सत्त्वं साधारणायान्वभवन्महत्त्वम् ॥३१॥

यह प्रियकारिणी रानी अपनी साम (शान्त) चेष्टा से तो मरु (मारवाड़) देश की उपस्थिति को प्रकट करती थी । क्योंकि इसके अधर पर विद्रुमता (वृक्ष-रहितता) और मूंगा के समान लालिमा थी। तथा इसके शरीर में अनूप-देशता की भी सत्ता थी । अर्थात् अत्यन्त सुन्दरी होने से उसकी उपमा नहीं थी, अतः उसमें अनुपमता थी । एवं वह साधारण देश के लिए महत्त्व को स्वीकार करती थी, अर्थात् उसकी धारणा-शक्ति महान् अपूर्व थी ॥३१॥

भावार्थ - देश तीन प्रकार के होते हैं - एक वे, जिनमें जल और वृक्षों की बहुलता होती है, उन्हें अनूपदेश कहते हैं । दूसरे वे, जहां पर जल और वृक्ष इन दोनों की ही कमी होती है, उन्हें मरुदेश कहते हैं । जहां पर जल और वृक्ष ये दोनों ही साधारणतः हीनाधिक रूप में पाये जाते हैं उन्हें साधारण देश कहते हैं । विभिन्न प्रकार के इन तीनों ही देशों की उपस्थिति का चित्रण कवि ने रानी के एक ही शरीर में कर दिखाया है ।

अक्ष्णोः साञ्जनतामवाप दधती या दीर्घसन्दर्शिता -
मुर्वोराप्य विलोमतां च युवतिर्लेभे सुवृत्तस्थितिम् ।
काठिन्यं कुचयोः समुन्नतिमथो सम्भावयन्ती बभौ -
श्लक्ष्णत्वं कचसंग्रहे समुदितं वक्रत्वमप्यात्मनः ॥३२॥

वह रानी अपने नेत्रों में अञ्जन-युक्तता और साथ ही दीर्घ सन्दर्शिता (दूर-दर्शिता) को भी धारण करती थी। वह अपनी जंघाओं में विलोमता (रोम-रहितता और प्रतिकूलता) को- और साथ ही सुवृत्त की स्थिति को धारण करती थी । अर्थात् जंघा में गोलाई को और उत्तम चारित्र को धारण करती थी। अपने दोनों कुचों में काठिन्य और समुन्नति को धारण करती हुई शोभती थी । तथा केशपाश में सचिक्कणता को और वक्रता को भी धारण करती थी ॥३२॥

भावार्थ - एक वस्तु में परस्पर-विरोधी दो धर्मों का रहना कठिन है, परन्तु वह रानी अपने नेत्रों, जंघाओं, कुचों और केशों में परस्पर-विरोधी दो-दो धर्मों को धारण करती थी ।

अयि जिनपगिरेवाऽऽसीत्समस्तैकबन्धुः,शशधर–सुषुमेवाऽऽह्लाद–सन्दोहसिन्धुः ।
सरससकलचेष्टा सानुकूला नदीव, नरपतिपदपद्मप्रेक्षिणी षट्पदीव ॥३३॥

हे मित्र, वह रानी जिनदेव की वाणी के समान समस्त जीवलोक की एक मात्र बन्धु थी, चन्द्रमा की सुषुमा के समान सब के आह्लाद-पुञ्ज रूप सिन्धु को बढ़ाने वाली थी, उभय-तटानुगामिनी नदी के समान सर्व सरस चेष्टा वाली और पति के अनुकूल आचरण करने वाली थी, तथा भ्रमरी के समान अपने प्रियतम सिद्धार्थ राजा के चरण-कमलों का निरन्तर अवलोकन करने वाली थी ॥३३॥

रतिरिव च पुष्पधनुषः प्रियाऽभवत्साशिका सती जनुषः ।
ईशस्य विभूतिमतः भूमावपराजिता गुणतः ॥३४॥

वह रानी कामदेव को रति के समान, जन-जीवन को शुभाशीर्वाद के समान, विभूतिमान् महेश को अपराजिता (पार्वती) के समान भूमण्डल पर अपने गुणों से पति को अत्यन्त प्यारी थी ॥२४॥

असुमाह पतिं स्थितिः पुनः समवायाय सुरीतिवस्तुनः ।
स मतां ममतामुदाहरदजडः किन्तु समर्थकन्धरः ॥३५॥

वह रानी पति को अपने प्राण समझती थी और निरन्तर सुदृढ़ प्रेम बनाये रखने के लिए उत्तम रीति (रिवाजों) की स्थिति स्वीकार करती थी । तथा राजा उसे स्वयं अपनी ममता-रूप मानता था, क्योंकि वह स्वयं अजड़ अर्थात् मूर्ख नहीं, अपितु विद्वान् था, साथ ही समर्थ कन्धर था, अर्थात् बाहुबल को धारण करता था । विरोध में जड़-रहित होकर के भी पूर्ण जल वाला था ॥३५॥

भावार्थ - दोनों ही राजा-रानी परस्पर अत्यन्त अनुराग रखते थे ।

नरपो वृषभावमाप्तवान् महिषीयं पुनरेतकस्य वा ।
अनयोरविकारिणी क्रिया समभूत्सा द्यु सदामहो प्रिया ॥३६॥

यह सिद्धार्थ राजा वृषभाव (बैलपने) को प्राप्त हुआ और इसकी यह रानी महिषी (भैंस) हुई। पर यह तो विरुद्ध है कि बैल की स्त्री भैंस हो । अतः परिहार यह है कि राजा तो परम धार्मिक था और प्रिय कारिणी उसकी पट्टरानी बनी । इन दोनों राजा-रानी की क्रिया अवि (भेड़) को उत्पन्न करने वाली हो, यह कैसे संभव है ? इसका परिहार यह है कि उनकी मनोविनोद आदि सभी क्रियाएं विकार रहित थी । यह रानी मानुषी होकर के भी देवों की प्रिया (स्त्री) थी । पर यह कैसे संभव है ? इसका परिहार यह है कि वह अपने गुणों द्वारा देवों को अत्यन्त प्यारी थी ॥३६॥

स्फुटमार्त्तवसम्विधानतः स निशा वासरयोस्तयोः स्वतः ।
इतरेतरमानुकूल्यतः समगच्छत्समयः स्वमूल्यतः ॥३७॥

रात्रि और दिन में ऋतुओं के अनुसार आचरण रूप विधि विधान करने से उस राजा-रानी का वह समय परस्पर अनुकूलता को लिए अपनी सफलता के साथ बीत रहा था ॥३७॥

भावार्थ - राजा को वासर (दिन) की और रानी को निशा (रात्रि) की उपमा देकर कवि ने यह प्रकट किया है कि उन दोनों का समय परस्पर में एक दूसरे के अनुकूल आचरण करने से परम आनन्द के साथ व्यतीत हो रहा था ।

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं,
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
श्रीवीराभ्युदयेऽमुना विरचिते काव्येऽधुना नामतः,
श्रीसिद्धार्थ-तदङ्गनाविवरणः सर्गस्तृतीयस्ततः ॥३॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भुजजी और घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए, वाणीभूषण बाल-ब्रह्मचारी पं. भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञान सागर- द्वारा विरचित इस वीरोदय काव्य में सिद्धार्थ राजा और उसकी प्रियकारिणी रानी का वर्णन करने वाला तीसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥३॥

❖ ❖ ❖

अथ चतुर्थः सर्गः

अस्या महिष्या उदरेऽवतार–मस्माकमानन्दगिरोपहारः ।
शुक्तेरिवारात्कुवलप्रकारः वीरः कदाचित्स्वयमाबभार ॥१॥

हमारे आनन्द रूप वाणी के उपहार स्वरूप वीर भगवान् ने सीप में मोती के समान इस प्रियकारिणी पट्टरानी के उदर में (गर्भ में) कदाचित् स्वयं ही अवतार को धारण किया ॥१॥

वीरस्य गर्भेऽभिगमप्रकार आषाढमासः शुचिपक्षसारः ।
तिथिश्च सम्बन्धवशेन षष्ठी ऋतुः समारब्धपुनीतवृष्टिः ॥२॥

जब वीर भगवान् का गर्भ में अवतार हुआ, तब आषाढ़ मास था, शुक्ल पक्ष था, सम्बन्ध के वश तिथि षष्ठी थी और वर्षा ऋतु थी जिसने कि पवित्र वृष्टि को आरम्भ ही किया था ॥२॥

धरा प्रभोर्गर्भमुपेयुषस्तु बभूव सोल्लासविचारवस्तु ।
सन्तापमुज्झित्य गताऽऽर्द्रभावं रोमाञ्चनैरङ्कुरिता प्रजावत् ॥३॥

वीर प्रभु के गर्भ को प्राप्त होने पर यह पृथ्वी हर्ष से उल्लसित विचार वाली हो गई और ग्रीष्म-काल-जनित सन्ताप को छोड़कर आर्द्रता को प्राप्त हुई । तथा इस ऋतु में पृथ्वी रोमाञ्चों से प्रजा के समान अंकुरित हो गई ॥३॥

भावार्थ - वीर भगवान् के गर्भ में आने पर वर्षा से तो पृथ्वी हरी भरी हुई और प्रजा हर्ष से विभोर हो गई ।

नानौषधिस्फूर्त्तिधरः प्रशस्य–वृत्तिर्जगत्तममवेत्य तस्य ।
रसायनाधीश्वर एष कालः प्रवर्तयन् कौशलमित्युदारः ॥४॥

नाना प्रकार की औषधियों को स्फूर्ति देने वाला अर्थात् उत्पन्न करने वाला, प्रशंसनीय प्रवृत्ति वाला और उत्तम धान्यों को उत्पन्न करने वाला अतएव उदार, रस (जल) के आगमन का स्वामी यह रसायनाधीश्वर वर्षाकाल अपने कौशल (चातुर्य) को प्रवर्तन करता हुआ, साथ ही कौ अर्थात् पृथ्वी पर शर (जल) को बरसाता हुआ, तथा सर-काण्डों को उत्पन्न करता हुआ आया ॥४॥

वसन्तसम्राड्–विरहादपर्तुं दिशावयस्याभिरिवोपकर्तुम् ।
महीमहीनानि घनापदेशाद् धृताबि नीलाब्जदलान्यशेषात् ॥५॥

वसन्त रूप सम्राट् के वियोग हो जाने से निष्प्रभ हुई मही (पृथ्वी) का उपकार करने के लिए ही मानों दिशा रूपी सहेलियों ने मेघों के व्याज से चारों ओर विशाल नील कमल-दलों को फैला दिया है ॥५॥

वृद्धिर्जडानां मलिनैर्घनैर्वा लब्धोन्नतिस्त्यक्तपथो जनस्तु ।
द्विरेफसंघः प्रतिदेशमेवं कलिर्नु वर्षावसरोऽयमस्तु ॥६॥

यह वर्षाकाल तो मुझे कलिकाल-सा प्रतीत होता है, क्योंकि इस वर्षा ऋतु में जड़ों अर्थात् जलों की वृद्धि होती है, और कलिकाल में जड़ (मूर्ख) जनों की वृद्धि होती है । वर्षा ऋतु में तो काले बादल उन्नति करते हैं और कलिकाल में पापी लोग प्रचुरता से उत्पन्न होते हैं । वर्षा काल में तो सर्वत्र जलमय पृथ्वी के हो जाने से लोग मार्गों पर आना-जाना छोड़ देते हैं और कलिकाल में लोग धर्म-मार्ग को छोड़ देते हैं । वर्षा काल में प्रति-देश अर्थात् ठौर-ठौर पर सर्वत्र द्विरेफ (सर्प) समूह प्रकट होता है और कलिकाल में पिशुन (चुगलखोर) जनों का समूह बढ़ जाता है ॥६॥

मित्रस्य दुःसाध्यमवेक्षणन्तूद्योगाश्च यूनां विलयं व्रजन्तु ।
व्यर्थं तथा जीवनमप्युपात्तं दुर्दैवतां दुर्दिनमित्यगात्तत् ॥७॥

वर्षाकाल के दुर्दिन (मेघाच्छन्न दिन) मुझे दुर्दैव से प्रतीत होते हैं, क्योंकि वर्षाकाल में मित्र अर्थात् सूर्य का दर्शन दुःसाध्य हो जाता है और दुर्दैव के समय मित्रों का दर्शन नहीं होता । वर्षा में युवक जनों के भी उद्योग व्यापार विलय को प्राप्त हो जाते हैं और दुर्भाग्य के समय नवयुवकों के भी पुरुषार्थ विनिष्ट हो जाते हैं । वर्षाकाल में बरसने वाला जीवन (जल) व्यर्थ जाता है और दुर्दैव के समय उससे पीड़ित जनों का जीवन व्यर्थ जाता है ॥७॥

लोकोऽयमाप्नोति जडाशयत्वं सद्वर्त्म लुप्तं घनमेचकेन ।
वक्तार आरादथवा प्लवङ्गा मौन्यन्यपुष्टः स्वयमित्यनेन ॥८॥

वर्षाकाल में यह सारा लोक (संसार) जलाशय (सरोवर) रूपता को प्राप्त हो जाता है, अर्थात् जिधर देखो, उधर पानी ही पानी भरा हुआ दिखाई देता है और कलिकाल में लोग जड़ाशय (मूर्ख) हो जाते हैं । वर्षाकाल में आकाश घन-मेचक से अर्थात् सघन मेघों के अन्धकार से व्याप्त हो जाता है और कलिकाल में घोर पाप के द्वारा सन्मार्ग लुप्त हो जाता है । वर्षा काल में मेंढ़क वक्ता हो जाते हैं, अर्थात् सर्वत्र टर्र-टर्र करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं, और कलिकाल में उछल कूद मचाने वाले मनुष्य ही वक्ता बन जाते हैं । वर्षा ऋतु में कोयल मौन धारण कर लेती है और कलिकाल में परोपकारी जीव मौन धारण करते हैं । इस प्रकार मुझे वर्षा काल और कलिकाल दोनों ही एक-सदृश प्रतीत होते हैं ॥८॥

रसैर्जगत्प्लावयितुं क्षणेन. सूत्कण्ठितोऽयं मुदिरस्वनेन ।
तनोति नृत्यं मृदु–मञ्जुलापी मृदङ्गनिःस्वानजिता कलापी ॥९॥

रसों (जलों) से जगत को एक क्षण में आप्लावित करने के लिए ही मानों मृदङ्गों की ध्वनि को जीतने वाले मेंघों के गर्जन से अति उत्कण्ठित और मृदु मञ्जुल शब्द करने वाला यह कलापी (मयूर) नृत्य किया करता है ॥९॥

भावार्थ - यह वर्षाकाल एक नाटक घर सा प्रतीत होता है, क्योंकि इस समय मेघों का गर्जन तो मृदङ्गों की ध्वनि को ग्रहण कर लेता है और उसे सुनकर प्रसन्न हो मयूर गण नृत्य करते हुए सरस सङ्गीत रूप मिष्ट बोली का विस्तार करते हैं ।

पयोधरोत्तानतया मुदे वाक् यस्या भृशं दीपितकामदेवा ।
नीलाम्बरा प्रावृडियं च रामा रसौघदात्री सुमनोभिरामा ॥१०॥

यह वर्षा ऋतु पयोधरों (मेघों और स्तनों) की उत्तानता अर्थात् उन्नति से, मेघ-गर्जना से तथा आनन्द-वर्धक वाणी से लोगों में कामदेव को अत्यन्त प्रदीप्त करने वाली, नील वस्त्र धारिणी, रस (जल और शृङ्गार) के पूर को बढ़ा देने वाली और सुमनों (पुष्पों तथा उत्तम मन) से अभिराम (सुन्दरी), रामा (स्त्री) के समान प्रतीत होती है ॥१०॥

भावार्थ - वर्षा ऋतु उक्त वर्णन से एक सुन्दर स्त्री सी दिखाई देती है ।

वसुन्धरायास्तनयान् विपद्य निर्यान्तमारात्खरकालमद्य ।
शम्पाप्रदीपैः परिणामवार्द्राग्विलोकयन्त्यम्बुमुचोऽन्तरार्द्राः ॥११॥

इस वर्षा ऋतु में, वसुन्धरा के तनयों अर्थात् वृक्ष-रूप पुत्रों को जलाकर या नष्ट-भ्रष्ट करके शीघ्रता से लुप्त (छिपे) हुए ग्रीष्म काल को अन्तरङ्ग में आर्द्रता के धारक मेघ, आंसू बहाते हुए से मानों शम्पा (बिजली) रूप दीपकों के द्वारा उसे ढूंढ़ रहे हैं ॥११॥

भावार्थ : यहां कवि ने यह उत्प्रेक्षा की है कि ग्रीष्म काल वृक्षों को जलाकर कहीं छिप गया है, उसे खोजने के लिए दुःखित हुए मेघ वर्षा के बहाने आंसू बहाते हुए तथा बिजली रूप दीपकों को हाथ में लेकर उसे इधर उधर खोज रहे हैं ।

वृद्धस्य सिन्धोः रसमासु हृत्वा शापादिवास्येऽलिरुचिन्तु धृत्वा ।
अथैतदागोहतिनीतिसत्त्वाच्छणत्यशेषं तमसौ तडित्वान् ॥१२॥

मेघ ने वृद्ध सिन्धु के रस (जल वा धन) को शीघ्रता से अपहरण कर लिया, अतएव उसके शाप के भय से ही मानों अपने मुख पर भ्रमर जैसी कान्ति वाली कालिमा धारण करके इस किये हुए अपराध से मुक्त होने के लिए वह अपहृत समस्त जल को वर्षा के बहाने से वापिस छोड़ रहा है ॥१२॥

श्लोकन्तु लोकोपकृतौ विधातुं पत्राणि वर्षा कलमं च लातुम् ।
विशारदाऽभ्यारभते विचारिन् भूयो भवन् वार्दल आशुकारी ॥१३॥

जैसे कोई विशारदा (विदुषी) स्त्री लोकोपकार के हेतु श्लोक की रचना करने के लिए पत्र (कागज) मषिपात्र (दवात) और कलम के लाने को उद्यत होती है, उसी प्रकार यह विशारदा अर्थात् शरद् ऋतु से रहित वर्षा ऋतु लोकोपकार के लिए मानों श्लोक रचने को वृक्षों के पत्र रूपी कागज, बादल रूपी दवात और धान्य रूप कलम को अपना रही है । पुनः हे विचारशील-मित्र, उक्त कार्य को सम्पन्न करने के लिए यह वार्दल (मेघ) बार-बार शीघ्रता कर रहा है । आशु नाम नाना प्रकार के धान्यों का भी है, सो यह मेघ जल-वर्षा करके धान्यों को शीघ्र उत्पन्न कर रहा है ॥१३॥

एकाकिनीनामधुना वधूनामास्वाद्य मांसानि मृदूनि तासाम् ।
अस्थीनि निष्ठीवति नीरदोऽसौ किलात्मसाक्षिन् करकप्रकाशात् ॥१४॥

हे आत्मसाक्षिन् ! यह नीरद (दन्त-रहित, मेघ) पति-विरह से अकेली रहने वाली उन वधुओं (स्त्रियों) के मृदु मांस को खाकर के अब करक अर्थात् ओले या घड़े गिराने के बहाने से मानों उनकी हड्डियों को उगल रहा है ॥१४॥

भावार्थ - वर्षा काल में, पति-विहीन स्त्रियों का जीना कठिन हो जाता है ।

नितम्बिनीनां मृदुपादपद्मैः प्रतारितानीति कुशेशयानि ।
ह्रिया क्रिया स्वीयशरीरहत्यै तेषां विषप्रायरयादिदानीम् ॥१५॥

इस जीवलोक में नितम्बिनी (स्त्री) जनों के कोमल चरण रूप कमलों से जल में रहने वाले कमल छले गये हैं, इसीलिये मानों इस समय लज्जा से लज्जित होकर उनकी क्रिया जल-वेग के बहाने से मानों अपने शरीर की हत्या के लिए उद्यत हो रही है ॥१५॥

भावार्थ - वहां की स्त्रियों के चरण, कमलों से भी सुन्दर हैं, पर वर्षा ऋतु में कमल नष्ट हो जाते हैं । इस बात को लक्ष्य कर उक्त कल्पना की गई है ।

समुच्छलच्छीतलशीकराङ्के वायौ वहत्येष महीमहाङ्के ।
भियेव भूयोविधवान्तरङ्गमुत्तापतप्तं प्रविशत्यनङ्गः ॥१६॥

उछलते हुए शीतल जल-कण जिसके मध्य में है, ऐसे पवन के मही-पृष्ठ के ऊपर बहने पर यह अंग-रहित कामदेव शीत के भय से ही मानों पति-वियोग के सन्ताप से सन्तप्त विधवाओं के अन्तरंग में प्रवेश कर रहा है ॥१६॥

भावार्थ - वर्षा ऋतु में अत्यन्त शीतल समीर से भयभीत होकर अर्थात् शीत से पीड़ित होकर गर्मी पाने के लिए ही मानों पति-वियोगिनी स्त्रियों के सन्तप्त शरीर में कामदेव प्रवेश करता है । इसका अभिप्राय यह है कि वर्षा काल में विधवाओं के शरीर में कामदेव अपना प्रभाव दिखाता है ।

वृथा श्रयन्तः कुकविप्रयातं पङ्कप्लुता कं कलयन्त्युदात्तम् ।
भेकाः किलैकाकितया लपन्तस्तुदन्ति नित्यं महतामुतान्तः ॥१७॥

वृथा ही कुकवि की चेष्टा का आश्रय लेते हुए कीचड़ से व्याप्त (लथ-पथ) हुए ये मेंढक अल्प जल को स्वीकार करते हैं और अकेले होने के कारण टर्र-टर्र शब्द करते हुए नित्य ही महापुरुषों के मन को कचोटते रहते हैं ॥१७॥

भावार्थ - वर्षाकाल में मेंढक, अपने को सब कुछ समझने वाले कुकवियों के समान व्यर्थ ही टर्र-टर्र का राग आलापते रहते हैं ।

चित्तेशयः कौ जयतादयन्तु हृष्टास्ततः श्रीकुटजाः श्रयन्तु ।
सुमस्थवार्बिन्दुदलापदेशं मुक्तामयन्तेऽप्युपहारलेशम् ॥१८॥

'इस वर्षा ऋतु में यह कामदेव पृथ्वी पर विजय प्राप्त करे' यह कहते हुए ही मानों हर्षित कुटज वृक्ष अपने फूलों पर आकर गिरि हुई जल-बिन्दुओं के बहाने से मोतियों का उपहार प्राप्त कर रहे हैं ॥१८॥

कीदृक् चरित्रं चरितं त्वनेन पश्यांशकिन्दारुणमाशुगेन ।
चिरात्पतच्चातकचञ्चुमूले निवारितं वारि तदत्र तूले ॥१९॥

हे अंशकिन् (विचारशील मित्र) ! देखो इस वर्षाकालीन आशुग (पवन) ने कैसा भयानक चरित्र आचरित किया है कि चिरकाल के पश्चात् आकर चातक पक्षी की खुली हुई चोंच में गिरने वाली वर्षा की जल-बिन्दु को इसने निवारण कर दिया है, अर्थात् रोक दिया है ॥१९॥

भावार्थ - वेग से पवन के चलने के कारण चातक की चोंच में गिरने वाली बूंद वहां न गिर कर उड़ के इधर-उधर गिर जाती है ।

घनैः पराभूत इवोडुवर्गः लघुत्वमासाद्य विचित्रसर्गः ।
तुल्यार्थवृत्तिः प्रथितो धराङ्के खद्योतनाम्ना चरतीति शङ्के ॥२०॥

वर्षा ऋतु में रात्रि में चमकते हुए उड़ने वाले खद्योतों (जुगनू या पटवीजनों) को लक्ष्य में रख कर कवि उत्प्रेक्षा करते हुए कहते हैं कि घनों से (मेघों और हथौड़ों से) पराभूत (ताड़ित) हो करके ही मानों लघु तथा विचित्र आकार को प्राप्त हुआ, समान अर्थ वृत्ति वाला उडु वर्ग (नक्षत्र-समूह) खद्योत नाम से प्रसिद्ध होकर भूतल पर इधर-उधर उड़ता हुआ चमक रहा है ॥२०॥

भावार्थ - ख+द्योत अर्थात् आकाश में चमकने के कारण खद्योत यह अर्थ नक्षत्र और जुगनू (पटवीजना) इन दोनों में समान रूप से रहता है इसी कारण कवि ने उक्त कल्पना की है ।

गतागतैर्दोलिककेलिकायां मुहुर्मुहुः प्राप्तपरिश्रमायाम् ।
पुनश्च नैपुण्यमुपैति तेषु योषा सुतोषा पुरुषायितेषु ॥२१॥

हिंडोले में झूलते समय गत और आगत से (बार-बार इधर से उधर या ऊपर और नीचे जाने आने से) प्राप्त हुआ है परिश्रम जिसमें ऐसी दौलिक-क्रीड़ा में अति सन्तुष्ट हुई स्त्री उन पुरुषायितों में (पुरुष के समान आचरण करने वाली रति-क्रीड़ाओं में) निपुणता को प्राप्त कर रही है ॥२१॥

भावार्थ - वर्षाकाल में प्रायः सर्वत्र स्त्रियां हिंडोलों पर झूलती हैं, उसे लक्ष्य में रखकर कवि ने उक्त उत्प्रेक्षा की है ।

मुखश्रियःस्तेयिनमैन्दवन्तु बिम्बं प्रहर्तुं समुदेति किन्तु ।
तत्रापि राहुं मुनयः समाहुर्दोलिन्यपैतीति जवात्सुबाहुः ॥२२॥

झूला पर झूलती हुई स्त्री अपनी मुखश्री के चुराने वाले चन्द्र बिम्ब को प्रहार करने के लिए ही मानों ऊपर की ओर जाती हैं, किन्तु वहां भी (चन्द्र के पास) राहु रहता है ऐसा मुनि जन कहते हैं, सो वह कहीं हमारे मुखचन्द्र को ग्रस न लेवे, इस विचार के आते ही वेग से वह उत्तम भुजा वाली स्त्री शीघ्र लौट आती है ॥२२॥

प्रौढिं गतानामपि वाहिनीनां सम्पर्कमासाद्य मुहुर्बहूनाम् ।
वृद्धो वराको जड़धी रयेण जातोऽधुना विभ्रमसंयुतानाम् ॥२३॥

प्रौढ़ अवस्था को प्राप्त हुई और विभ्रम-विलास से संयुक्त ऐसी बहुत-सी नदियों का संगम पाकर यह दीन, जड़-बुद्धि समुद्र शीघ्रता से अब वृद्ध हो रहा है ॥२३॥

भावार्थ - जैसे कोई मूर्ख युवा पुरुष अनेक युवती स्त्रियों के साथ समागम करे, तो जल्दी बूढ़ा हो जाता है, उसी प्रकार यह जलधि (समुद्र) भी वर्षा के जल से उमड़ती हुई नदियों का संगम पाकर जल्दी से वृद्ध हो रहा है अर्थात् बढ़ रहा है ।

रसं रसित्वा भ्रमतो वसित्वाऽपयजल्पतोऽप्युद्धततां कशित्वा ।
परञ्जपुञ्जोद्गतिमण्डितास्यमेतत्समापश्य सखेऽधुनाऽस्य ॥२४॥

हे मित्र, रस (मदिरा, जल) पीकर विभ्रम (नशा) के वश होकर झूमते हुए और उद्धतपना अंगीकार करके यद्वा-तद्वा बड़बड़ाने वाले ऐसे इस समुद्र के परञ्ज-(फेन) पुञ्ज के निकलने से मंडित मुख को तो देखो ॥२४॥

भावार्थ - जैसे कोई मनुष्य मदिरा को पीकर नशे से झूमने लगता है, उद्धत हो जाता है, यद्वा-तद्वा बकने लगता है और मुख से झाग निकलने लगते हैं, वैसे ही यह समुद्र भी सहस्रों नदियों के रस (जल) को पीकर मदिरोन्मत्त पुरुष के समान सर्व चेष्टाएं कर रहा है ।

अनारताक्रान्तघनान्धकारे भेदं निशा-वासरयोस्तथारे ।
भुर्तुर्युतिञ्चाप्ययुतिं वराकी तनोति सम्प्राप्य हि चक्रवाकी ॥२५॥

निरन्तर सघन मेघों के आच्छादित रहने से घनघोर अन्धकार वाले इस वर्षा काल में रात और दिन के भेद के नहीं प्रतीत होने पर यह वराकी (दीन) चक्रवाकी अपने भर्ता (चक्रवाक) के संयोग को और वियोग को प्राप्त हो कर ही लोगों को दिन और रात का भेद प्रकट कर रही है ॥२५॥

भावार्थ - वर्षा के दिनों में सूर्य के न दिखने से चकवी ही लोगों को अपने पति-वियोग से रात्रि का और पति-संयोग से दिन का बोध कराती है ।

नवाङ्कुरैरङ्कुरिता धरा तु व्योम्नः सुकन्दत्वमभूदजातु ।
निरुच्यतेऽस्मिन् समये मयेह यत्किञ्चिदासीच्छ्रणु भो सुदेह ॥२६॥

वर्षा ऋतु में वसुन्धरा तो नव-दुर्वाङ्कुरों से व्याप्त हो गई और आकाश मेघों से चारों ओर व्याप्त हो गया । ऐसे समय में यहां पर जो कुछ हुआ, उसे मैं कहता हूँ, सो हे सुन्दर शरीर वाले मित्र, उसे सुनो ॥२६॥

स्वर्गादिहायातवतो जिनस्य सोपानसम्पत्तिमिवाभ्यपश्यत् ।
श्रीषोडशस्वप्नततिं रमा या सुखोपसुप्ता निशि पश्चिमायाम् ॥२७॥

एक दिन सुख से सोती हुई उस प्रियकारिणी रानी ने पिछली रात्रि में स्वर्ग से यहा आने वाले जिनदेव के उतरने के लिए रची गई सोपान-सम्पत्ति (सीढ़ियों की परम्परा वाली निःश्रेणी) के समान सोलह स्वप्नों की सुन्दर परम्परा को देखा ॥२७॥

तत्कालं च सुनष्टनिद्रनयना सम्बोधिता मागधै -
र्देवीभिश्च नियोगमात्रमभितः कल्याणवाक्यस्तवैः ।
इष्टाचारपुरस्सरं वरतनुस्तल्पं विहायाऽर्हतां -
प्रातःकर्म विधाय तत्कृतवती द्रव्याष्टकेनार्चनम् ॥२८॥

स्वप्नों को देखने के तत्काल बाद ही मागध जनों (चारणों) एवं कुमारिका देवियों के, सर्व ओर से कल्याणमयी वचन-स्तुति के नियोग मात्र को पाकर नींद के दूर हो जाने से जिसके नेत्र खुल गये हैं, ऐसी उस सुन्दर शरीर वाली प्रियकारिणी रानी ने जाग कर, इष्ट आचरणपूर्वक शय्या को छोड़कर और प्रातः कालीन क्रियाओं को करके अर्हन्त जिनेन्द्रों की अष्ट-द्रव्य से अर्चना (पूजा) की ॥२८॥

तावत्तु सत्तमविभूषणभूषिताङ्गी, साऽऽलीकुलेन कलिता महती नताङ्गी ।
पृथ्वीपतिं परमपूततनुः शुभायां, देवी प्रतस्थ इति कामितया सभायाम् ॥२९॥

तत्पश्चात् उत्तमोत्तम आभूषणों से आभूषित परम पवित्र देह की धारक, महान् विनय से नम्रीभूत प्रियकारिणी देवी ने सहेलियों के समुदाय से संयुक्त होकर स्वप्नों का फल जानने की इच्छा से शोभायमान राजसभा में पृथ्वीपति अपने प्राणनाथ की ओर प्रस्थान किया ॥२९॥

नयनाम्बुजसम्प्रसादिनीं दिनपस्येव रुचिं तमोऽदिनीम् ।
समुदीक्ष्य निजासनार्धके स्म स तां वेशयतीत्यथानके ॥३०॥

उस सिद्धार्थ राजा ने, नेत्र रूप कमलों को प्रसन्न करने वाली और अन्धकार को दूर करने वाली सूर्य की प्रभा के समान आती हुई रानी को देखकर पाप-रहित एवम् पुण्य-स्वरूप ऐसे अपने आसन के अर्ध भाग पर बैठाया ॥३०॥

विशदांशुसमूहाश्रितमणिमण्डलमण्डिते महाविमले ।
सुविशालेऽवनिललिते समुन्नते सुन्दराकारे ॥३१॥

पर्वत इव हरिपीठे प्राणेश्वरपार्श्वसङ्गाता महिषी ।
पशुपति-पार्श्वगताऽपि च बभौ सती पार्वतीव तदा ॥३२॥

निर्मल किरण-समूह से आश्रित मणि-मण्डल से मण्डित महान् निर्मल, सुविशाल, पृथ्वी पर सुशोभित अति उन्नत, सुन्दर आकार वाले पर्वत के समान सिंहासन पर प्राणनाथ सिद्धार्थ के पार्श्व भाग में अवस्थित वह पट्टरानी प्रियकारिणी पशुपति (महादेव) के पार्श्व-गत पार्वती सती के समान उस समय सुशोभित हुई ॥३१-३२॥

उद्योतयत्युदितदन्तविशुद्धरोचि-रंशैर्नृपस्य कलकुण्डलकल्पशोचिः ।
चिक्षेप चन्द्रवदना समयानुसारं – तत्कर्णयोरिति वचोऽमृतमप्युदारम् ॥३३॥

अपने दांतों की निर्मल किरणों द्वारा महाराज सिद्धार्थ के कुण्डलों की कान्ति को बढ़ाने वाली उस चन्द्रमुखी रानी ने समयानुसार अवसर प्राप्त कर राजा के दोनों कर्णों में वक्ष्यमाण प्रकार से उदार वचनामृत छोड़ा, अर्थात् स्वप्नों को कहा ॥३३॥

श्रीजिनपदप्रसादादवनौ कल्याणभागिनी च सदा ।
भगवच्चरणपयोजभ्रमरी या संश्रृणूत तया ॥३४॥

दृष्टा निशावसाने विशदाङ्का स्वप्नषोडशी सहसा ।
यापि मया प्राणेश्वर ! शुभाशुभं यत्फलं तस्याः ॥३५॥

सज्ज्ञानैकविलोचन ! वक्तव्यं श्रीमता च तद्भवता ।
न हि किञ्चिदपि निसर्गादगोचरं ज्ञानिनां भवति ॥३६॥

जो जिनदेव के चरणों के प्रसाद से इस भूतल पर सदा कल्याण की भाजन है और भगवान् के चरण-कमलों की भ्रमरी है, ऐसी मैंने निशा (रात्रि) के अवसान काल में (अन्तिम प्रहर में) शुभ चिह्न वाली सोलह स्वप्नों की परम्परा सहसा देखी है, उसे सुनिये और उसका जो शुभ या अशुभ फल है उसे हे पूज्य श्रीमान्, आप कहिये । क्योंकि हे सज्ज्ञानरूप अद्वितीय नेत्र वाले प्राणनाथ ! ज्ञानियों के लिए स्वभावत कुछ भी अज्ञात नहीं है ॥३४-३५-३६॥

पृथ्वीनाथः पृथुलकथनां फुल्लपाथोजनेत्रो,
वाणीं प्रोक्तां प्रथितसुपृथुप्रोथया तीर्थरूपाम् ।
श्रुत्वा तथ्यामविकलगिरा हर्षणैर्मन्थराङ्ग,
इत्थं तावत्प्रथयति तरां स्माथ सन्मङ्गलार्थाम् ॥३७॥

विशाल नितम्ब-वाली रानी के द्वारा कही गई, विशाल अर्थ को कहने वाली, तीर्थ रूपी यथार्थ तत्त्व वाली वाणी को सुनकर हर्ष से रोमाञ्चित है अङ्ग जिसका, ऐसा वह प्रफुल्लित कमल के समान विकसित नेत्रवाला पृथ्वी का नाथ सिद्धार्थ राजा अपनी निर्दोष वाणी से उत्तम मङ्गल स्वरूप अर्थ के प्रतिपादक वचनों को इस प्रकार से कहने लगा ॥३७॥

त्वं तावदीक्षितवती शययेऽप्यनन्यां –
स्वप्नावलिं त्वनुदरि प्रतिभासि धन्या ।
भो भो प्रसन्नवदने फलितं तथाऽस्याः –
कल्याणिनीह श्रृणु मञ्जुतमं ममाऽऽस्यात् ॥३८॥

हे कृशोदरि, तुमने सोते समय जो अनुपम स्वप्नावली देखी है, उससे तुम अत्यन्त सौभाग्यशालिनी प्रतिभासित होती हो । हे प्रसन्न मुखि, हे कल्याणशालिनि, मेरे मुख से उनका अति सुन्दर फल सुनो ॥३८॥

अकलङ्कालङ्कारा सुभगे देवागमार्थमनवद्यम् ।
गमयन्ती सन्नयतः किलाऽऽप्तमीमांसिताख्या वा ॥३९॥

हे सुभगे, तुम आज मुझे आप्तमीमांसा के समान प्रतीत हो रही हो । जैसे समन्तभद्र स्वामी के द्वारा की गई आप्त की मीमांसा अकलङ्कदेव-द्वारा (रचित अष्टशती वृत्ति से) अलङ्कृत हुई है, उसी प्रकार तुम भी निर्मल आभूषणों को धारण करती हो । आप्तमीमांसा सन्नय से अर्थात् सप्तभङ्गी रूप स्याद्वादन्याय

के द्वारा निर्दोष अर्थ को प्रकट करती है और तुम भी अपनी सुन्दर चेष्टा से निर्दोष तीर्थङ्कर देव के आगमन को प्रकट कर रही हो ॥३९॥

लोकत्रयैकतिलको बालक उत्फुल्लनलिननयनेऽद्य ।
उदरे तवावतरितो ह्रीङ्गितमिति सन्तनोतीदम् ॥४०॥

हे प्रफुल्लित कमलनयने ! तीनों लोकों का अद्वितीय तिलक ऐसा तीर्थङ्कर होने वाला बालक आज तुम्हारे गर्भ में अवतरित हुआ है । ऐसा संकेत यह स्वप्नावली दे रही है ॥४०॥

दानं द्विरद इवाखिल-दिशासु मुदितोऽथ मेदिनीचक्रे ।
मुहुरपि मुञ्चन् विमलः समुन्नताऽऽत्माऽथ सोऽवतरेत् ॥४१॥

तुमने सर्व प्रथम जो ऐरावत हाथी देखा है उसके समान तुम्हारा पुत्र इस मही-मण्डल पर समस्त दिशाओं में दान (मद-जल) को वारंवार वितरण करने वाला, प्रमोद को प्राप्त एवम् निष्पाप महान् आत्मा होगा ॥४१॥

मूलगुणादिसमन्वित-रत्नत्रयपूर्णधर्मशकटन्तु ।
मुक्तिपुरीमुपनेतुं धुरन्धरो वृषभवदयन्तु ॥४२॥

दूसरे स्वप्न में तुमने जो वृषभ (बैल) देखा है, उसके समान तुम्हारा पुत्र धर्म की धुरा को धारण करने वाला, तथा मूलगुण आदि से युक्त औ रत्न-त्रय से परिपूर्ण धर्म रूप शकट (गाड़ी) को मुक्तिपुरी पहुँचाने में समर्थ होगा ॥४२॥

दुरभिनिवेश-मदोद्धुर-कुवादिनामेव दन्तिनामदयम् ।
मदमुद्भेत्तुमदीनं दक्षः खलु केशरीत्थमयम् ॥४३॥

तीसरे स्वप्न में जो केसरी (सिंह) देखा है उसके समान वह पुत्र दुराग्रह रूप मद से उन्मत्त कुवादि-रूप हस्तियों के मद को निर्दयता से भेदन करने में दक्ष होगा ॥४३॥

कल्याणाभिषवः स्यात् सुमेरुशीर्षेऽथ यस्य सोऽपि वरः ।
कमलात्मन इव विमलो गजैर्यथा नाकपतिभिररम् ॥४४॥

चौथे स्वप्न में तुमने हाथियों के द्वारा अभिषेक की जाती हुई लक्ष्मी देखी है वह इस बात की सूचक है कि तुम्हारे पुत्र का सुमेरु के शिखर पर इन्द्रों के द्वारा निर्मल जल से कल्याण रूप अभिषेक होगा ॥४४॥

सुयशःसुरभिसमुच्चय-विजृम्भिताशेषविष्टपोऽयमितः ।
माल्यद्विक इव च भवेद्भव्यभ्रमरैरिहाभिमतः ॥४५॥

पांचवें स्वप्न में तुमने जो भ्रमरों से गुञ्जार करती हुई दो मालाएं देखी हैं, वे यह प्रकट करती हैं कि तुम्हारा पुत्र इस लोक में सुयश की सुगन्धि के समूह से समस्त जगत् को व्याप्त करने वाला, भव्य जीव रूपी भ्रमरों से सेवित और सम्मानित होगा ॥४५॥

निजशुचिगोप्रततिभ्यो वृषामृतस्योरुधारया सिञ्चन् ।
विधुरिव कौमुदमिह वा कलाधरो ह्येधयेत्किञ्च ॥४६॥

छठे स्वप्न में तुमने जो चन्द्रमा देखा है, वह सूचित करता है कि तुम्हारा पुत्र अपनी पवित्र किरणों के समुदाय से धर्म रूप अमृत की विशाल धारा के द्वारा जगत् को सिंचन करता हुआ इस संसार में भव्य जीव रूप कुमुदों के समूह को वृद्धिंगत करेगा और सर्व कलाओं का धारण करने वाला होगा ॥४६॥

विकचितभव्यपयोजो नष्टाज्ञानान्धकारसन्दोहः ।
सुमहोऽभिकलितलोको रविरिव वा केवलालोकः ॥४७॥

सातवें स्वप्न में तुमने जो सूर्य देखा है, उसके समान तुम्हारा पुत्र भव्य जीव रूपी कमलों का विकासक, अज्ञान रूप अन्धकार के समुदाय का नाशक, अपने प्रताप से समस्त लोक में व्यापक और केवल ज्ञान रूप प्रकाश से समस्त जगत् को आलोकित करने वाला होगा ॥४७॥

कलशद्विक इव विमलो मङ्गलकारीह भव्यजीवानाम् ।
तृष्णातुराय वाऽमृतसिद्धिं श्रणतीति संसारे ॥४८॥

आठवें स्वप्न में तुमने जो जल-परिपूर्ण दो कलश देखे हैं, सो तुम्हारा पुत्र कलश-युगल के समान इस संसार में भव्य जीवों का मंगलकारी और तृष्णातुर जीवों के लिए अमृत रूप सिद्धि को देने वाला होगा ॥४८॥

केलिकलामाकलयन् कुर्यात्स हि सकल लोकमतुलतया ।
मुदितमथो मुदितात्मा मीनद्विकवन्महीवलये ॥४९॥

नवें स्वप्न में तुमने जो जल में क्रीड़ा करती हुई दो मछलियां देखी हैं, सो उनके समान ही तुम्हारा पुत्र इस मही-मण्डल पर स्वयं प्रमुदित रहकर अतुल केलि-कलाओं को करता हुआ सकल लोक को प्रसन्न करेगा ॥४९॥

अष्टाधिकं सहस्रं सुलक्षणानां यथैव कमलानाम् ।
द्रह इव दधान एवं सततं क्लमनाश को भविनाम् ॥५०॥

दशवें स्वप्न में तुमने जो अष्ट अधिक सहस्र कमलों से परिपूर्ण सरोवर देखा है, सो उसके समान ही तुम्हारा पुत्र उत्तम एक हजार आठ लक्षणों का धारक, एवम् निरन्तर भव्य जीवों के दुःख और पाप का नाशक होगा ॥५०॥

जलनिधिरिव गम्भीरः प्रभवेदिह पालितस्थितिर्निवहः ।
लब्धीनां तु नवानां केवलजानां निधीनां वा ॥५१॥

ग्यारहवें स्वप्न में जो तुमने समुद्र देखा है, सो उसके समान ही तुम्हारा यह पुत्र गम्भीर, लोक-स्थिति का पालक, नव निधियों और केवल ज्ञान-जनित नव लब्धियों का धारक होगा ॥५१॥

सुपदं समुन्नतेः स्याच्छिवराज्यपदानुराग इह सततम् ।
चामीकर-चारुरुचिः सिंहासनवद्वरिष्ठः सः ॥५२॥

बारहवें स्वप्न में तुमने जो सुन्दर सिंहासन देखा है, उसके समान ही तुम्हारा यह होने वाला पुत्र सदा समुन्नति का सुपद (उत्तम स्थान) होगा, शिव-राज्य के पद का अनुरागी होगा और सन्तप्त सुवर्ण के समान सर्वश्रेष्ठ उत्तम कांति का धारक होगा ॥५२॥

सुरसार्थैः संसेव्यो ह्यभीष्टदेशोपलब्धिहेतुरपि ।
हे देवि तव सुपुत्रः विमानवद्वै भवेत्पूतः ॥५३॥

तेरहवें स्वप्न में तुमने जो सुर-सेवित विमान देखा है, सो हे देवि ! उसके समान ही तुम्हारा यह सुपुत्र सुर-सार्थ (देव-समूह) से अथवा सुरस-अर्थ वाले पुरुषों से संसेवित, अभीष्ट देश मोक्ष की प्राप्ति का हेतु और अति पवित्रात्मा होगा ॥५३॥

सततं सुगीततीर्थो निखिलमहीमण्डले महाविमलः ।
यशसा विश्रुत एवं धवलेन हि नागमन्दिरवत् ॥५४॥

चौदहवें स्वप्न में तुमने जो धवल वर्णमाला नाग-मन्दिर देखा है, उसके समान ही तुम्हारा यह पुत्र समस्त मही मण्डल पर सदा ही सुगीत तीर्थ होगा, अर्थात् जिसके धर्म तीर्थ का गान चिरकाल तक इस संसार में होता रहेगा । वह पुत्र महा विमल एवं उज्ज्वल धवल यश से विश्रुत (विख्यात) होगा ॥५४॥

सुगुणैरमलैर्गुणितो रत्नैरिव रत्नराशिरिह रम्यः ।
लोकानां सकलानां मनोऽनुकूलैरनन्तैः सः ॥५५॥

पन्द्रहवें स्वप्न में तुमने जो निर्मल रत्नों की राशि देखी है, उसके समान ही तुम्हारा पुत्र समस्त लोगों के मनोऽनुकूल आचरण करने वाला, अनन्त निर्मल गुण रूप रत्नों से परिपूर्ण एवं महा रमणीक होगा ॥५५॥

अपि दारुणोदितानां चिरजातानां च कर्मणां निवहम् ।
स नयेद्भस्मीभावं वह्निसमूहो यथा विशदः ॥५६॥

सोलहवें स्वप्न में तुमने जो धूम-रहित निर्मल अग्नि का समूह देखा है, सो हे देवि ! तुम्हारा यह पुत्र भी चिरकालीन, दारुण परिपाकवाले कर्मों का समूह भस्म करके अपने निर्मल आत्म-स्वरूप को प्राप्त करेगा ॥५६॥

समुन्नतात्मा गजराजवत्तथा धुरन्धरोऽसौ धवलोऽवनौ यथा ।
स्वतन्त्रवृत्तिः प्रतिभातु सिंहवद्रमात्मवच्छश्वदखण्डितोत्सवः ॥५७॥

द्विदामवत्स्यात्सुमनःस्थलं पुनः प्रसादभूमिः शशिवत्समस्तु नः ।
दिनेशवद्यः पथदर्शको भवेद् द्विकुम्भवन्मङ्गलकृज्जवञ्जवे ॥५८॥

विनोदपूर्णो झषयुग्मसम्मितिः समः पयोधेः परिपालितस्थितिः ।
तटाकवद्देहभृतां क्लमच्छिदे सुपीठवद् गौरवकारि सम्विदे ॥५९॥

विमानवद्यः सुरसार्थ-संस्तवः सुगीततीर्थः खलु नागलोकवत् ।
गुणैरुपेतो भुवि रत्नराशिवत्पुनीततामभ्युपयातु वह्निवत् ॥६०॥

हे कल्याणभाजिनी प्रिय रानी ! सर्व स्वप्नों का सार यह है कि तुम्हारा यह होने वाला पुत्र संसार में गजराज के समान समुन्नत महात्मा, धवल धुरन्धर (वृषभ) के समान धर्मधुरा का धारक, सिंह के समान स्वतन्त्र वृत्ति, रमा (लक्ष्मी) के समान निरन्तर अखण्ड उत्सवों से मण्डित, माल्यद्विक के समान सुमनों (पुष्पों और सज्जनों) का स्थल, चन्द्र के समान हम सबकी प्रसादभूमि, दिनेश (सूर्य) के समान संसार में मोक्षमार्ग का प्रदर्शक, कलश-युगल के समान जगत् में मङ्गल-कारक, मीन-युगल के समान विनोद-पूर्ण, समुद्र के समान लोक एवं धर्म की मर्यादा का परिपालक, सरोवर के समान संसार ताप-सन्तप्त शरीरधारियों के क्लम (थकान) का छेदक, सिंहासन के समान गौरवकारी, विमान के समान देव-समूह से संस्तुत, नागलोक के समान सुगीत-तीर्थ, रत्नराशि के समान गुणों से संयुक्त और अग्नि के समान कर्मरूप ईंधन का दाहक एवं पवित्रता का धारक होगा ॥५७-५८-५९-६०॥

देवि ! पुत्र इति भूत्रयाधिपो निश्चयेन तव तीर्थनायकः ।
गर्भ इष्ट इह वै सतां 'क्वचित्स्वप्नवृन्दमफलं जायते ॥६१॥

हे देवि ! तुम्हारा गर्भ में आया हुआ यह पुत्र निश्चय से तीनों लोकों का स्वामी और तीर्थ-नायक (तीर्थङ्कर) होगा । क्योंकि सत्-पुरुषों के स्वप्न-समूह कभी निष्फल (फल-रहित) नहीं होते हैं ॥६१॥

वाणीमित्थममोघमङ्गलमयीमाकर्ण्य सा स्वामिनो,
वामोरुश्च महीपतेर्मतिमतो मिष्टामथ श्रीमुखात् ।

अङ्कप्राप्तसुतेव कण्टकितनुर्हर्षाश्रुसम्वाहिनी,
जाता यत्सुतमात्र एव सुखदस्तीर्थेश्वरे किम्पुनः ॥६२॥

वह वामोरु (सुन्दर जंघाओं वाली) प्रियकारिणी रानी अपने मतिमान्, महीपति प्राणनाथ के श्री मुख से इस प्रकार की कभी व्यर्थ नहीं जानेवाली मङ्गलमयी मधुर वाणी को सुनकर हर्षाश्रुओं को बहाती हुई गोद में प्राप्त हुए पुत्र के समान आनन्द से रोमाञ्चित हो गई। पुत्र-मात्र की प्राप्ति ही सुखद होती है, फिर तीर्थेश्वर जैसे पुत्र के प्राप्त होने पर तो सुख का ठिकाना ही क्या है ॥६२॥

तदिह सुर-सुरेशाः प्राप्य सद्धर्मलेशा, वरपटह-रणाद्यैः किञ्चनश्रेष्ठपाद्यैः।
नव-नवमपि कृत्वा ते मुहुस्तां च नुत्वा, सदुदयकलिताङ्गीं जग्मुरिष्टं वराङ्गीम् ॥६३॥

इसी समय भगवान् के गर्भावतरण को जान करके सद्धर्म के धारक देव और देवेन्द्र गण यहां आये और उत्तम भेरी, रण-तूल आदि वाद्यों से तथा पुष्पादि श्रेष्ठ पूजन सामग्री से अभिनव अर्चन पूजन करके और उस सद्भाग्योदय से युक्त देह की धारण करने वाली सुन्दरी रानी को बारंवार नमस्कार करके अपने-अपने इष्ट स्थान को चले गये ॥६३॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं
वाणीभूषण-वर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम्।
वर्षर्तोर्जिनमातुरात्तशयनानन्दस्य संख्यापनं
सर्गस्तुर्य इहैतदुक्त उचितः सन्तोषयन् सन्मनः ॥४॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भुजजी और घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए वाणीभूषण, बाल ब्रह्मचारी पं. भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञान सागर द्वारा विरचित इस वीरोदय काव्य में भगवान् की माता के स्वप्न-दर्शन का वर्णन करने-वाला और देवागमन से मन को सन्तुष्ट करने वाला यह चौथा सर्ग समाप्त हुआ ॥४॥

❖ ❖ ❖

अथ पञ्चमः सर्गः

अथाभवद् व्योम्नि महाप्रकाशः सूर्यातिशायी सहसा तदा सः ।
किमेतदित्थं हृदि काकुभावः कुर्वन् जनानां प्रचलत्प्रभावः ॥१॥

भगवान महावीर के गर्भ में आने के पश्चात् आकाश में सूर्य के प्रकाश को भी उल्लंघन करने वाला और उत्तरोतर वृद्धि को प्राप्त होने वाला महान्-प्रकाश सहसा दिखाई दिया, जिसे देखकर 'यह क्या है' इस प्रकार का तर्क-वितर्क लोगों के हृदय में उत्पन्न हुआ । सभी लोग उस प्रकाश-पुञ्ज से प्रभावित हुए ॥१॥

क्षणोत्तरं सन्निधिमाजगाम श्रीदेवतानां निवहः स नाम ।
तासां किलाऽऽतिथ्यविधौ नरेश उद्बीबभूवोद्यत आदरे सः ॥२॥

इसके एक क्षण बाद ही श्री, ह्री आदि देवताओं का वह प्रकाशमयी समूह लोगों के समीप आया। उसे आता हुआ देखकर वह सिद्धार्थ राजा खड़े होकर उन देवियों के आतिथ्य-सत्कार की विधि में उद्यत हुआ ॥२॥

हेतुर्नरद्वारि समागमाय सुरश्रियः कोऽस्ति किलेतिकायः ।
दुनोति चित्तं मम तर्क एष प्रयुक्तवान् वाक्यमिदं नरेशः ॥३॥

आप देव-लक्ष्मियों का मनुष्य के द्वार पर आगमन का क्या कौनसा कारण है, यह वितर्क मेरे चित्त में उथल-पुथल कर रहा है । ऐसा वाक्य उस सिद्धार्थ नरेश ने कहा ॥३॥

विशेष- श्लोक-पठित 'नर-द्वारि' और सुरश्रियः ये दोनों पद द्व्यर्थक हैं । तदनुसार दूसरा अर्थ यह है कि आप समृद्धिशालियों का मुझ दीन (गरीब) के द्वार पर आने का क्या कारण है, ऐसा राजा ने कहा ।

गुरोर्गुरूणां भवतो निरीक्षाऽस्माकं विभो ! भाग्यविधेः परीक्षा ।
तदर्थमेवेयमिहास्ति दीक्षा न काचिदन्या प्रतिभाति भिक्षा ॥४॥

देवियों ने उत्तर में कहा-हे विभो (स्वामिन्) जगद्-गुरु जिनेन्द्र के गुरु (पिता) ऐसे आपके दर्शनार्थ हम लोगों का आगमन हुआ है । यह हमारे भाग्य का परीक्षा-काल है- पुण्य अवसर है । उसी के लिए हम लोग यहां आईं हैं, और कोई कारण हमारे आने का नहीं है ॥४॥

अन्तः पुरे तीर्थकृतोऽवतारः स्यात्तस्य सेवैव सुरीसुसारः ।
शक्राज्ञया लिप्सुरसौ त्वदाज्ञां सुरीगणः स्यात्सफलोऽपि भाग्यात् ॥५॥

अन्तःपुर में महारानी प्रियकारिणी के गर्भ में तीर्थङ्कर भगवान् का अवतार हुआ है, उनकी सेवा करना ही हम सब देवियों के जन्म का सार (परम लाभ) है । हम सब इन्द्र की आज्ञा से आई हैं और अब हम देवीगण आपकी अनुज्ञा प्राप्त करने के लिए उत्सुक हैं, सौभाग्य से हमारा यह मनोरथ सफल होवे ॥५॥

इत्थं भवन् कञ्चुकिना सनाथः समेत्य मातुर्निकटं तदाऽथ ।
प्रणम्य तां तत्पदयोः सपर्या-परो बभूवेति जगुर्नृवर्याः ॥६॥

इस प्रकार कहकर और राजा की अनुज्ञा प्राप्त कर वह देवियों का समुदाय कञ्चुकी के साथ माता के निकट जाकर और उन्हें प्रणाम कर उनके चरणों की पूजा के लिए तैयार हुआ ऐसा श्रेष्ठ पुराण पुरुष कहते हैं ॥६॥

न जातु ते दुःखदमाचरामः सदा सुखस्यैव तव स्मरामः ।
शुल्कं च तेऽनुग्रहमेव यामस्त्वदिङ्गतोऽन्यत्र मनाग् वदामः ॥७॥

उन देवियों ने कहा- हम सब आपको दुःख पहुँचाने वाला कोई काम नहीं करेंगी, किन्तु आपको सुख पहुँचाने वाला ही कार्य करेंगी । हम आपसे शुल्क (भेंट या वेतन) में आपका केवल अनुग्रह ही चाहती हैं । हम लोग आपके संकेत या अभिप्राय के प्रतिकूल जरासा भी अन्य कुछ नहीं कहेंगी ॥७॥

दत्वा निजीयं हृदयं तु तस्यै लब्ध्वा पदं तद्धृदि किञ्च शस्यैः ।
विनत्युपज्ञैर्वचनैर्जनन्याः सेवासु देव्यो विभवुः सुधन्याः ॥८॥

इस प्रकार विनम्रता से परिपूर्ण प्रशंसनीय वचनों से उस माता को अपना अभिप्राय कह कर और उनके हृदय में अपना स्थान जमा कर वे देवियां माता की सेवा में लग कर अपने आपको सुधन्य मानती हुई ॥८॥

प्रगे ददौ दर्पणमादरेण द्रष्टुं मुखं मञ्जुदृशो रयेण ।
रदेषु कर्तुं मृदु मञ्जनं च वक्त्रं तथा क्षालयितुं जलं च ॥९॥

उन देवियों में से किसी ने प्रातःकाल माता के शयन-कक्ष से बाहिर आते ही उस सुन्दर-नयना को मुख देखने के लिए आदर के साथ दर्पण दिया, तो किसी ने शीघ्र दांतों की शुद्धि के लिए मंजन दिया और किसी अन्य देवी ने मुख को धोने के लिए जल दिया ॥९॥

तनुं परोद्वर्तयितुं गतापि कयाऽभिषेकाय क-क्लृप्तिरापि ।
जडप्रसङ्गोऽत्र कुतः समस्तु कृत्वेति चित्ते किल तर्कवस्तु ॥१०॥

सन्मार्जिता प्रोञ्छनकेन तस्याः कया पुनर्गात्रततिः प्रशस्या ।
दुकूलमन्या समदात्सुशातं समादरोऽस्या गुणवत्स्वथातः ॥११॥

कोई देवी माता के शरीर का उबटन करने लगी, तो कोई स्नान के लिए जल लाने को उद्यत हुई । किसी ने स्नान कराया, तो किसी ने मां के प्रशंसनीय शरीर के ऊपर पड़े हुए जल को यह विचार करके कपड़े से पोछा कि इस पवित्र उत्तम माता के साथ जड़ (मूर्ख, द्वितीय पक्ष में जल) का प्रसंग क्यों रहे ? माता का गुणवानों के प्रति सदा आदर रहता है, ऐसा सोचकर किसी देवी ने पहिनने के लिए माता को उत्तम वस्त्र दिया ॥१०-११॥

बबन्ध काचित्कबरी च तस्या निसर्गतो वक्रिमभावदृश्याम् ।
तस्याः दृशोश्चञ्चलयोस्तथाऽन्याऽञ्जनं चकारातिशितं वदान्या ॥१२॥

किसी देवी ने स्वभाव से उस माता के वक्रिम (कुटिल) भाव रूप दिखने वाले घुंघराने बालों का जूड़ा बांधा, तो किसी चतुर देवी ने माता के चंचल नेत्रों में अत्यन्त काला अंजन लगाया ॥१२।

श्रुती सुशास्त्रश्रवणात् पुनीते पयोजपूजामत एव नीते ।
सर्वेषु चाङ्गेषु विशिष्टताले चकार काचित्तिलकं तु भाले ॥१३॥

दोनों कान उत्तम शास्त्रों के सुनने से पवित्र हुए हैं, अतएव वे कमलों से पूजा को प्राप्त हुए, अर्थात् किसी देवी ने माता के कानों में कमल (कनफूल) लगा दिये । यह भाल (मस्तक) शरीर के सर्व अंगों में विशिष्टता वाला है, अर्थात् उत्तम है, यह विचार कर किसी देवी ने उस पर तिलक लगा दिया ॥१३॥

अलञ्चकारान्यसुरी रयेण पादौ पुनर्नूपुरयोर्द्वयेन ।
चिक्षेप कण्ठे मृदु पुष्पहारं संछादयन्ती कुचयोरिहारम् ॥१४॥

कोई अन्य देवी माता के दोनों चरणों को शीघ्रता से नूपुरों के जोड़े से अलंकृत करती हुई । किसी देवी ने दोनों स्तनों को आच्छादित करते हुए माता के कण्ठ में सुकोमल पुष्पहार पहिनाया । ।१४॥

काचिद् भुजेऽदादिह बाहुबन्धं करे परा कङ्कणमाबबन्ध ।
श्रीवीरमातुर्वलयानि तानि माणिक्य-मुक्तादिविनिर्मितानि ॥१५॥

किसी देवी ने माता की भुजाओं पर बाहुबन्ध बांधा, किसी ने माता के हाथों में कङ्कण बांधा। किसी देवी ने श्री वीर भगवान् की माता के हाथ में माणिक, मोती आदि से रचे हुए कंगनों को पहिनाया ॥१५॥

तत्रार्हतोऽर्चासमयेऽर्चनाय, योग्यानि वस्तूनि तदा प्रदाय ।
तया समं ता जगदेकसेव्यमाभेजुरुत्साहयुताः सुदेव्यः ॥१६॥

उत्साह-संयुक्त वे सुदेवियां भगवान् की पूजन के समय पूजन के लिए योग्य उचित वस्तुओं को दे करके उस माता के साथ ही जगत् के द्वारा परम सेव्य जिनेन्द्र देव की उपासना-पूजा करने लगी ॥१६॥

एका मृदङ्गं प्रदधार वीणामन्या सुमञ्जीरमथ प्रवीणा ।
मातुः स्वरे गातुमभूत् प्रयुक्ता जिनप्रभोर्भक्तिरसेण युक्ता ॥१७॥

किसी एक देवी ने मृदङ्ग लिया, तो किसी दूसरी ने वीणा उठाई, तीसरी कुशल देवी ने मंजीरे उठाये। और कोई जिन भगवान् की भक्ति रूप रस से युक्त होकर माता के स्वर में स्वर मिलाकर गाने के लिए प्रवृत्त हुई ॥१७॥

चकार काचिद् युवतिः सुलास्यं स्वकीयसंसत्सुकृतैकभाष्यम् ।
जगद्विजेतुर्दधदत्र दास्यं पापस्य कुर्वाणमिवाऽऽशु हास्यम् ॥१८॥

कोई युवती अपने पूर्वोपार्जित सुकृत के भाष्य रूप (पुण्य स्वरूप), जगद्-विजयी जिनराज की दासता को करती हुई और पाप की मानों हंसी-सी उड़ाती हुई सुन्दर नृत्य को करने लगी ॥१८॥

अर्चावसाने गुणरूपचर्चा द्वारा समस्तूत विनष्टवर्चाः ।
मतिः किलेतीङ्गितमेत्य मातुर्देव्यो ययुर्जोषमपीह जातु ॥१९॥

पूजन के अन्त में अब भगवान् के गुण रूप चर्चा- द्वारा हम सब लोगों में पाप की नाश करने वाली बुद्धि हो, अर्थात् अब हम सब की बुद्धि भगवद्-गुणों की चर्चा में लगे जिससे कि सब पापों का नाश हो, ऐसा माता का अभिप्राय जानकर सभी देवियां अपने नृत्य आदि कार्यों को छोड़ कर मौन धारण करती हुई ॥१९॥

सदुक्तये दातुमिवायनं सा रदालिरश्मिच्छलदीपवंशा ।
एवं प्रकारा समभूद् रसज्ञा श्रीमातुरेवात्र न चालसज्ञा ॥२०॥

दन्त-पंक्ति की कान्ति के छल से दीपकों के वंश वाली, आलस्य रहित ऐसी श्री जिनराज की माता की रसना (वाणी) उत्तम उक्ति (चर्चा) को अवसर प्रदान करने के लिए ही मानों इस प्रकार प्रकट हुई ॥२०॥

यथेच्छमापृच्छत भोः सुदेव्यः युष्माभिरस्ति प्रभुरेव सेव्यः ।
अहं प्रभोरेवमुपासिका वा सङ्कोचवार्धिः प्रतरेत नावा ॥२१॥

हे देवियो ! तुम लोगों को जो कुछ पूछना हो, अपनी इच्छा के अनुसार पूछो । तुम्हारे भी प्रभु ही उपास्य हैं और मैं भी प्रभु की ही उपासना करने वाली हूँ । तुम सब चर्चा रूप नाव के द्वारा सङ्कोच रूप समुद्र के पार को प्राप्त होओ ॥२१॥

न चातकीनां प्रहरेत् पिपासां पयोदमाला किमु जन्मना सा ।
युष्माकमाशङ्कितमुद्धरेयं तर्के रुचिं किन्न समुद्धरेयम् ॥२२॥

यदि मेघमाला चिरकाल से पिपासाकुलित चातकियों की प्यास को दूर न करे, तो उसके जन्म से क्या लाभ है ? मैं अब तुम लोगों की शंकाओं को क्यो न दूर करूं और तत्त्व के तर्क-वितर्क (ऊहा-पोह रूप विचार) में क्यों न रूचि करूं ॥२२॥

नैसर्गिका मेऽभिरुचिर्वितर्के यथाच्छता सम्भवतीह कर्के ।
विश्वम्भरस्याद्य सती कृपा तु सुधेव साहाय्यकरी विभातु ॥२३॥

तर्क-वितर्क में अर्थात् यथार्थ तत्त्व के चिन्तन करने में मेरी स्वाभाविक अभिरुचि है, जैसे कि दर्पण में स्वच्छता स्वभावतः होती है । फिर तो आज विश्व के पालक तीर्थङ्कर देव की कृपा है, सो वह सुधा (अमृत) के तुल्य सहायता करने वाली होवे ॥२३॥

भावार्थ - सुधा नाम चूना का भी है । जैसे दर्पण चूना की सहायता से एकदम स्वच्छ हो जाता है, उसी प्रकार भगवान् की कृपा से हमारी बुद्धि भी स्वच्छ हो रही है ।

इत्येवमाश्वासनतः सुरीणां बभूव सङ्कोचततिः सुरीणा ।
यथा प्रभातोदयतोऽन्धकार-सत्ता विनश्येदयि बुद्धिधार ॥२४॥

हे बुद्धि धारक ! जैसे प्रभात के उदय से अन्धकार की सत्ता बिलकुल विनष्ट हो जाती है, उसी प्रकार माता के उक्त प्रकार से दिये गये आश्वासन-द्वारा देवियों का संकोचपना बिलकुल दूर हो गया ॥२४॥

शिरो गुरुत्वान्नतिमाप भक्ति-तुलास्थितं चेत्युचितैव युक्तिः ।
करद्वयी कुड्मलकोमला सा समुच्चचालापि तदैव तासाम् ॥२५॥

उसी समय उन देवियों के भक्ति-रूपी तुला (तराजू) के एक पलड़े पर अवस्थित शिर तो भारी होने से नति (नम्रता) को प्राप्त हो गया और दूसरे पलड़े पर अवस्थित पुष्पकलिका से कोमल करयुगल हलके होने से ऊपर चले गये, सो यह युक्ति उचित ही है ॥२५॥

भावार्थ - जैसे तराजू के जिस पलड़े पर भारी वस्तु रखी हो, तो वह नीचे को झुक जाता है और हलकी वजन वाला पलड़ा ऊपर को उठ जाता है, इसी प्रकार माता की उक्त आश्वासन देने वाली वाणी को सुनकर कृतज्ञता एवं भक्ति से देवियों के मस्तक झुक गये और हस्त-युगल ऊपर मस्तक से लग गये । अर्थात् उन्होंने दोनों हाथ जोड़ कर हर्ष से गद्गद् एवं भक्ति से पूरित होकर माता को नमस्कार किया ।

मातुर्मुखं चन्द्रमिवैत्य हस्तौ सङ्कोचमासौ तु सरोजशस्तौ ।
कुमारिकाणामिति युक्तमेव विभाति भो भो जिनराज देव ।।२६।।

हे जिनराज देव ! माता के मुख को चन्द्र के समान देखकर उन कुमारिका देवियों के कमल के समान लाल वर्ण वाले उत्तम हाथ संकोच को प्राप्त हो गये, सो यह बात ठीक ही प्रतीत होती है ।।२६।।

भावार्थ - कमल सूर्य के उदय में विकसित होते हैं और चन्द्र के उदय में संकुचित हो जाते हैं । देवियों के हाथ भी कमल-तुल्य थे, सो वे माता के मुख-चन्द्र को देखकर ही मानों संकुचित हो गये । प्रकृत में भाव यह है कि माता को देखते ही उन देवियों ने अपने-अपने दोनों हाथ जोड़ कर उन्हें नमस्कार किया ।

ललाटमिन्दूचितमेव तासां पदाब्जयोर्मातुरवाप साऽऽशा ।
अभूतपूर्वेत्यवलोकनाय सकौतुका वागधुनोदियाय ।।२७।।

उन देवियों का ललाट चन्द्र-तुल्य है, किन्तु वह माता के चरण-कमलों को प्राप्त हो गया । किन्तु यह बात तो अभूत-पूर्व ही है, मानों यही देखने के लिए उनकी कौतुक से भरी हुई वाणी अब इस प्रकार प्रकट हुई ।।२७।।

भावार्थ - उन देवियों ने माता से प्रश्न पूछना प्रारम्भ किया ।

दुःखं जनोऽभ्येति कुतोऽथ पापात्, पापे कुतो धीरविवेकतापात् ।
कुतोऽविवेकः स च मोहशापात्, मोहक्षतिः किं जगतां दुरापा ।।२८।।

हे मातः ! जीव दुःख को किस कारण से प्राप्त होता है ? उत्तर- पाप करने से ! प्रश्न - पाप में बुद्धि क्यों होती है ? उत्तर - अविवेक के प्रताप से । प्रश्न - अविवेक क्यों उत्पन्न होता है ? उत्तर - मोह के शाप से अर्थात् मोह कर्म के उदय से जीवों के अविवेक उत्पन्न होता है । और इस मोह का विनाश करना जगत्-जनों के लिए बड़ा कठिन है ।।२८।।

स्यात्साऽपरागस्य हृदीह शुद्ध्या कुतोऽपरागः परमात्मबुद्ध्या ।
इत्यस्तु बुद्धिः परमात्मनीना कुतोऽप्युपायात्सुतरामहीना ।।२९।।

प्रश्न- तो फिर उस मोह का विनाश कैसे सम्भव है ? उत्तर - राग-रहित पुरुष के हृदय में उत्पन्न हुई विशुद्धि से मोह का विनाश सम्भव है । प्रश्न - राग का अभाव कैसे होता है ? उत्तर- परमात्म विषयक बुद्धि से । प्रश्न- परमात्म-विषयक उन्नत (दृढ़) बुद्धि कैसे होती है ? उत्तर - उपाय से अर्थात् भगवान् की भक्ति करने से, उनके वचनों पर श्रद्धा रखने से और उनके कथनानुसार आचरण से परमात्म-विषयक बुद्धि प्रकट होती है ॥२९॥

रागः कियानस्ति स देह-सेवः, देहश्च कीदृक् शठ एष एव ।
कथं शठः पुष्टिमितश्च नश्यत्ययं जनः किन्तु तदीयवश्यः ॥३०॥

प्रश्न- राग क्या वस्तु है ? उत्तर - देह की सेवा करना ही राग है । प्रश्न- यह देह कैसा है ? उत्तर- यह शठ (जड़) है । प्रश्न- यह शठ क्यों है ? उत्तर - क्यों कि यह पोषण किये जाने पर भी नष्ट हो जाता है । किन्तु दुःख है कि यह संसारी प्राणी फिर भी उसी के वश हो रहा है ॥३०॥

कुतोऽस्य वश्यो न हि तत्त्वबुद्धिस्तद्-धीः कुतः स्याद्यदि चित्तशुद्धिः ।
शुद्धेश्च किंद्वाः जिनवाक्प्रयोगस्तेनागदेनैव निरेति रोगः ॥३१॥

प्रश्न- तो फिर यह जीव उसके वश क्यों हो रहा है ? उत्तर - क्योंकि इसके पास तत्त्व बुद्धि, अर्थात् हेय-उपादेय का विवेक नहीं है । प्रश्न - फिर यह तत्त्व-बुद्धि कैसे प्राप्त होती है ? उत्तर- यदि चित्त में शुद्धि हो । प्रश्न- उस चित्त-शुद्धि का द्वार क्या है ? उत्तर-जिन वचनों का उपयोग करना, अर्थात् उन पर अमल करना ही चित्त शुद्धि का द्वार है और इस औषधि के द्वारा ही संसार का यह जन्म-मरण के चक्र-रूप रोग दूर होता है ॥३१॥

मान्यं कुतोऽर्हद्वचनं समस्तु सत्यं यतस्तत्र समस्तु वस्तु ।
तस्मिन्नसत्यस्य कुतोऽस्त्वभाव उक्ते तदीये न विरोधभावः ॥३२॥

प्रश्न- अर्हन्त जिनेन्द्र के ही वचन मान्य क्यों है ? उत्तर- क्योंकि वे सत्य हैं और सत्य वचन में ही वस्तु-तत्त्व समाविष्ट रहता है । प्रश्न- अर्हद्वचनों में असत्यपने का अभाव क्यों है ? उत्तर- क्योंकि उनके कथन में पूर्वापर विरोध-भाव नहीं है ॥३२॥

किं तत्र जीयादविरोधभावः विज्ञानतः सन्तुलितः प्रभावः ।
अहो न कल्याणकरी प्रणीतिर्गतानुगत्यैवमिहास्त्वपीति ॥३३॥

प्रश्न - उनके वचनों में अविरोध भाव क्यों है ? उत्तर - क्योंकि उनके वचन विज्ञान से अर्थात् कैवल्य रूप विशिष्ट ज्ञान से प्रतिपादित होने के कारण सन्तुलित प्रभाव वाले हैं । अहो देवियों ! जो बातें केवल गतानुगतिकता से (भेड़ चाल से) की जाती हैं, उनका आचरण कल्याणकारी नहीं होता ॥३३॥

एवं सुविश्रान्तिमभीप्सुमेतां विज्ञाय विज्ञा रुचिवेदने ताः ।
विशश्रमुः साम्प्रतमत्र देव्यः मितो हि भूयादगदोऽपि सेव्यः ॥३४॥

इस प्रकार से प्रश्नोत्तरकाल में ही उन विज्ञ देवियों ने माता के विश्राम करने की इच्छुक जानकर प्रश्न पूछने से विश्राम लिया, अर्थात् उन्होंने प्रश्न पूछना बन्द कर दिया । क्योंकि औषधि परिमित ही सेव्य होती है ॥३४॥

अवेत्य भुक्तेः समयं विवेकात् नानामृदुव्यञ्जनपूर्णमेका ।
अमत्रमत्र प्रदधार मातुरग्रे निजं कौशलमित्यजातु ॥३५॥

पुनः भोजन का समय जानकर विवेक से किसी देवी ने नाना प्रकार के मृदु एवं मिष्ट व्यञ्जनों से परिपूर्ण थाल को माता के आगे रखा और अपने कौशल को प्रकट किया ॥३५॥

माता समास्वाद्य रसं तदीयं यावत्सुतृप्तिं समगान्मृदीयः ।
ताम्बूलमन्या प्रददौ प्रसत्तिप्रदं भवेद्यत्प्रकृतानुरक्ति ॥३६॥

माता ने उस सरस भोजन को खाकर ज्यों ही अत्यन्त तृप्ति का अनुभव किया, त्यों ही किसी दूसरी देवी ने प्रकृति के अनुकूल एवं प्रसन्नतावर्धक ताम्बूल लाकर दिया ॥३६॥

यदोपसान्द्रे प्रविहर्तुमम्बान्विति स्तदा तत्सुकरावलम्बात् ।
विनोदवार्तामनुसम्विधात्री समं तयाऽगाच्छनकैः सुगात्री ॥३७॥

भोजन के उपरान्त भवन के समीपवर्ती उद्यान में विहार करती हुई माता को किसी देवी ने अपने हाथ का सहारा दिया और वह सुन्दर शरीर वाली माता उसके साथ विनोद-वार्ता करती हुई धीरे-धीरे इधर-उधर घूमने लगी ॥३७॥

चकार शय्यां शयनाय तस्याः काचित् सुपुष्पैरभितः प्रशस्याम् ।
संवाहनेऽन्या पदयोर्निलग्ना बभूव निद्रा न यतोऽस्तु भग्ना ॥३८॥

रात्रि के समय किसी देवी ने उस माता के सोने के लिए उत्तम पुष्पों के द्वारा शय्या को चारों ओर से अच्छी तरह सजाया । जब माता उस पर लेट गई तो कुछ देवियां माता के चरणों को दबाने में सलंग्न हो गई, जिससे कि माता की नींद भग्न नहीं होवे, अर्थात् माता सुख की नींद सोवें ॥३८।

एकाऽन्विता वीजनमेव कर्तुं केशान् विकीर्णानपरा प्रधर्तुम् ।
बभूव चातुर्यमपूर्वमासां प्रत्येककार्ये खलु निष्प्रयासात् ॥३९॥

माता के सोते समय कोई पंखा झलने लगी, तो कोई माता के बिखरे हुए केशों को सम्हारने लगी । इस प्रकार से उन देवियों का माता की सेवा के प्रत्येक कार्य में अनायास ही अपूर्व चातुर्य प्रकट हुआ ॥३९॥

श्रियं मुखेऽम्बा ह्रियमत्र नेत्रयोर्धृतिं स्वके कीर्तिमुरोजराजयोः ।
बुद्धिं विधाने च रमां वृषक्रमे समादधाना विबभौ गृहाश्रमे ॥४०॥

माता अपने मुख में तो श्री को, नेत्रों में ह्री को, मन में धृति को, दोनों उरोजराजों (कुचों) में कीर्ति को, कार्य-सम्पादन में बुद्धि को और धर्म-कार्य में लक्ष्मी को धारण करती हुई गृहाश्रम में ही अत्यन्त शोभित हुई ॥४०॥

भावार्थ - माता की सेवार्थ जो श्री ह्री आदि देवियां आई थी उन्हें मानों माता ने उक्त प्रकार से आत्मसात् कर लिया, यह भाव कवि ने व्यक्त किया है ।

सुपल्लवाख्यानतया सदैवाऽनुभावयन्त्यो जननीमुदे वा ।
देव्योऽन्वगुस्तां मधुरांनिदानाल्लता यथा कौतुकसम्विधाना ॥४१॥

जिस प्रकार पुष्पों को धारण करने वाली और उत्तम कोमल पल्लवों से युक्त लता वसन्त की शोभा को बढ़ाती है, उसी प्रकार वे देवियां भी उत्तम पद (वचन) और आख्यानों से उस माधुर्य-मयी माता की वसन्त ऋतु के समान सर्व प्रकार से हर्ष और कौतुक को बढ़ाती हुई सेवा करती थीं ॥ ४१॥

मातुर्मनोरथमनुप्रविधानदक्षा देव्योऽभ्युपासनसमर्थनकारिपक्षाः ।
माता च कौशलमवेत्य तदत्र तासां गर्भक्षणं निजमतीतवती मुदा सा ॥४२॥

माता की इच्छा के अनुकूल कार्य करने में दक्ष और उनकी सर्व प्रकार से उपासना करने में समर्थ पक्ष वाली वे देवियां माता की सेवा में सदा सावधान रहती थी और माता उनकी कार्य-कुशलता को देख-देख कर हर्ष से अपने गर्भ के समय को बिता रही थी ॥४२॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं,
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
तेनास्मिन् रचिते यथोक्तकथने सर्गोऽस्तिकायान्वितिः ।
देवीनां जिनमातृसेवनजुषां संवर्णनाय स्थितिः ॥५॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भुजजी और माता घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए, वाणी-भूषण, बाल ब्रह्मचारी पं. भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर द्वारा विरचित इस यथोक्त कथन-कारक काव्य में जिन माता की सेवा करने वाली कुमारिका देवियां का वर्णन करने वाला अस्तिकाय संख्या से युक्त यह पांचवा सर्ग समाप्त हुआ ॥५॥

❖ ❖ ❖

अथ षष्ठः सर्गः

गर्भस्य षण्मासमधस्त एव ववर्ष रत्नानि कुबेरदेवः ।
भो भो जनाः सोऽस्तु तमां मुदे वः श्रीवर्धमानो भुवि देवदेवः ॥१॥

भो भो मनुष्यो ! वे देवों के देव श्री वर्द्धमान देव, तुम सबके परम हर्ष के लिए होवें, जिनके कि गर्भ में आने के छह मास पूर्व से ही कुबेर देव ने यहां पर रत्नों को बरसाया ॥१॥

समुल्लसत्पीनपयोधरा वा मन्दत्वमञ्चत्पदपङ्कजा वा ।
पत्नी प्रयत्नीयितमर्त्यराजः वर्षेव पूर्णोदरिणी रराज ॥२॥

सिद्धार्थ राजा जिसकी सार सम्हाल में सावधानी पूर्वक लग रहे हैं, ऐसी उनकी पूर्ण-उदर वाली गर्भिणी पत्नी प्रियकारिणी रानी वर्षा ऋतु के समान शोभित होती हुई । जैसे वर्षा ऋतु जल से उल्लसित पुष्ट मेघ वाली होती है । उसी प्रकार से यह रानी भी उल्लास को प्राप्त पुष्ट स्तनों को धारण कर रही है । तथा जैसे वर्षा ऋतु में कमलों का विकास मन्दता को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार रानी के चरण-कमल भी गमन की मन्दता को प्राप्त हो रहे थे । अर्थात् रानी गर्भ-भार के कारण धीरे-धीरे चलने लगी ॥२॥

गर्भार्भकस्येव यशःप्रसारैराकल्पितं वा धनसारसारैः ।
स्वल्पैरहोभिः समुवाह देहमेषोपगुप्ता गुणसम्पदेह ॥३॥

रानी का संतप्त कांचन-कान्तिवाला शरीर धीरे-धीरे थोड़े ही दिनों में श्वेतपने को प्राप्त हो गया। सो ऐसा प्रतीत होता था कि गर्भ में स्थित बालक के कर्पूर-सार के तुल्य श्वेत वर्ण वाले यश के प्रसार से ही वह श्वेत हो गया है । इस प्रकार वह रानी गुण रूप सम्पदा से युक्त देह को धारण करती हुई ॥३॥

भावार्थ - गर्भावस्था में स्त्रियों का शरीर श्वेत हो जाता है उसी को लक्ष्य करके कवि ने उक्त कल्पना की है।

नीलाम्बुजातानि तु निर्जितानि मया जयाम्यद्य सितोत्पलानि ।
कापर्दकोदारगुणप्रकारमितीव तन्नेत्रयुगं बभार ॥४॥

नील कमल तो मैंने पहिले ही जीत लिए हैं, अब आज मैं श्वेत कमलों को जीतूंगी, यह सोच करके ही मानों रानी के नयन-युगल ने कापर्दिक (कौड़ी) के समान उदार श्वेत गुण के प्रकार को धारण कर लिया ॥४॥

भावार्थ - उस रानी के नील कमल-तुल्य जो नेत्र थे, वे अब गर्भ के भार से श्वेत हो गये।

सताऽर्हताऽभ्येत्य विधेर्विधानं यन्नाभिजातप्रकृतेस्तु मानम् ।
तथाऽऽप्यहो राजकुलोचितेन मृगीदृशस्तत्र नतिंमुखेन ॥५॥

गर्भस्थ प्रशंसनीय तीर्थङ्करदेव के द्वारा होने वाली अवस्था विशेष के कारण उस समय नाभिजात (नीचकुलोत्पन्न नाभिमण्डल) को जो अभिमान आ गया, अर्थात् जो नाभि पहले गहरी थी, वह अब उथली हो गई । किन्तु राजकुलोचित (राजवंश के योग्य अथवा चन्द्रकुल कांति का धारक) उस मृगनयनी रानी का मुख नम्र हो गया यह आश्चर्य है ॥५॥

भावार्थ - गर्भावस्था में नाभि की गहराई तो उथली हो गई और लज्जा से रानी का मुख नीचे की ओर देखने लगा ।

गाम्भीर्यमन्तःस्थशिशौ विलोक्याचिन्त्यप्रभावं सहजं त्रिलोक्याः ।
ह्रियेव नाभिः स्वगभीरभावं जहावहो मञ्जुदृशोऽथ तावत् ॥६॥

अहो ! तीनों लोकों की सहज गम्भीरता और अचिन्त्य प्रभाव गर्भस्थ शिशु में देखकर ही उस सुन्दर दृष्टि वाली रानी की नाभि ने लज्जित हो करके ही मानों अपने गम्भीरपने को छोड़ दिया ॥६॥

यथा तदीयोदरवृद्धिवीक्षा वक्षोजयोः श्याममुखत्वदीक्षा ।
मध्यस्थवृतेरपि चोन्नतत्वं कुतोऽस्तु सोढुं कठिनेषु सत्त्वम् ॥७॥

जैसे-जैसे रानी के उदर की वृद्धि होने लगी, वैसे-वैसे ही उसके कुचों के अग्रभाग (चूचुक) श्याम मुखपने की दीक्षा को प्राप्त हुए, अर्थात् वे काले होने लगे । सो यह ठीक ही है, क्योंकि कठोर स्वभाव वाले जीवों में मध्यस्थ स्वभाव वाले सज्जन पुरुष की उन्नति को सहन करने की क्षमता कहां से सम्भव है ? ॥७॥

तस्याः कृशीयानुदरप्रदेशः वलित्रयोच्छेदितया मुदे सः ।
बभूव भूपस्य विवेकनावः सोऽन्तस्थतीर्थेश्वरजः प्रभावः ॥८॥

उस रानी का अत्यन्त कृश वह उदर-भाग त्रिबली के उच्छेद हो जाने से उस विवेकवान् राजा के हर्ष के लिए हुआ, सो यह गर्भस्थ तीर्थङ्कर भगवान् का प्रभाव है ॥८॥

भावार्थ - जैसे कोई कृश शरीर वाला (निर्बल) व्यक्ति यदि तीन-तीन बलवानों का उच्छेद (विनाश) कर दे, तो यह हर्ष की बात होती है, उसी प्रकार रानी के उदर की त्रिबली का उच्छेद राजा के हर्ष का कारण हुआ ।

लोकत्रयोद्योति–पवित्रवित्ति–त्रयेण गर्भेऽपि स सोपपत्तिः ।
धनान्तराच्छन्नपयोजबन्धुरिवाबभौ स्वोचितधामसिन्धुः ॥९॥

तीनों लोकों को उद्योतित करने वाले, पवित्र, ऐसे मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानों से युक्त वे बुद्धिमान् भगवान् गर्भ में रहते हुए इस प्रकार से सुशोभित हुए जैसे कि सघन मेघों से आवृत सूर्य अपनी समस्त किरणों से संयुक्त सुशोभित होता है ॥९॥

पयोधरोल्लास इहाविरास तथा मुखेन्दुश्च पुनीतभासः ।
स्थानं बभूवोत्तमपुण्यपात्र्या विचित्रमेतद् भुवि बन्धुधात्र्याः ॥१०॥

संसार में उत्तम पुण्य की पात्री और बन्धुजनों की धात्री (माता) ऐसी इस रानी के एक ओर तो पयोधरों (मेघों और स्तनों) का उल्लास प्रकट हुआ और दूसरी ओर मुखचन्द्र पुनीत कांतिवाला हो गया ? यह तो विचित्र बात है ॥१०॥

भावार्थ -पयोधरों (मेघों) के प्रसार होने पर चन्द्रमा का प्रकाश मन्द दिखने लगता है । किन्तु रानी के पयोधरों (स्तनों) के प्रसार होने पर उसके मुख-रूपी चन्द्रमा का प्रकाश और अधिक बढ़ गया, यह आश्चर्य की बात है ।

कवित्ववृत्त्येत्युदितो न जातु विकार आसीज्जिनराजमातुः ।
स्याद्दीपिकायां मरुतोऽधिकारः क्वविद्युतः किन्तु तथातिचारः ॥११॥

यह ऊपर जो माता के गर्भकाल में होने वाली बातों का वर्णन किया है, वह केवल कवित्व की दृष्टि से किया गया है । वस्तुतः जिनराज की माता के शरीर में कभी किसी प्रकार का कोई विकार नहीं होता है । तेल-बत्ती वाली साधारण दीपिका के बुझाने में पवन का अधिकार है । पर क्या वह बिजली के प्रकाश को बुझाने में सामर्थ्य रखता है ? अर्थात् नहीं ॥११॥

विजृम्भते श्रीनमुचिः प्रचण्डः कुबेरदिश्यंशुरवाप्तदण्डः ।
कालः किलायं सुरभीतिनामाऽदितिः समन्तान्मधुविद्धधामा ॥१२॥

निश्चय से अब यह सुरभीति (सुरभि) इस नाम का काल आया, अर्थात् वसन्त का समय प्राप्त हुआ । इस समय कामदेव तो प्रचण्ड हुआ और उधर सुरों को भयभीत करने वाला अदिति नाम का राक्षस (दानव) भी प्रचण्ड हुआ । इधर सूर्य ने कुबेर दिशा (उत्तर दिशा) में दण्ड (प्रयाण) किया, अर्थात् उत्तरायण हुआ, उधर वह दण्ड को प्राप्त हुआ, अर्थात् छह मास के लिए कैद कर लिया गया, क्योंकि अब वह छह मास तक इधर दक्षिण की ओर नहीं आवेगा । तथा अदिति (पृथ्वी) चारों ओर से पुष्प-पराग द्वारा व्याप्त हो गई । दूसरे पक्ष में अदिति (देवों की माता) के स्थान को मधु राक्षस ने घेर लिया ॥१२॥

भावार्थ - कवि ने बसन्त ऋतु की तुलना अदिति नामक राक्षस से की, क्योंकि दोनों के कार्य समान दिखाई देते हैं ।

परागनीरोद्भरितप्रसून–शृङ्गैरनङ्गैकसखा मुखानि ।
मधुर्धनी नाम वनीजनीनां मरुत्करेणोक्षतु तानि मानी ॥१३॥

कामदेव है सखा (मित्र) जिसका, और अभिमानी ऐसा यह वसन्त रूप धनी पुरुष पराग-युक्त जल से भरी हुई पुष्प रूपी पिचकारियों के द्वारा वनस्थली रूपी वनिताओं के मुखों को पवनरूप करसे सींच रहा है ॥१३॥

भावार्थ - वसन्त ऋतु में सारी वनस्थली पुष्प-पराग से व्याप्त हो जाती है ।

वन्या मधोः पाणिधृतिस्तदुक्तं पुंस्कोकिलैर्विप्रवरैस्तु सूक्तम् ।
साक्षी स्मराक्षीणहविर्भुगेष भेरीनिवेशोऽलिनिनाददेशः ॥१४॥

इस वसन्त ऋतु में वन-लक्ष्मी और वसन्तराज का पाणिग्रहण (विवाह) हो रहा है, जिसमें पुंस्कोकिल (नर कोयल) रूप विप्रवर (वि-प्रवर अर्थात् श्रेष्ठ पक्षी और विप्रवर श्रेष्ठ ब्राह्मण) के सूक्त (वचन) ही तो मंत्रोच्चारण हैं, कामदेव की प्रज्वलित अग्नि ही होमाग्नि रूप से साक्षी है और भौंरों की गुंजार ही भेरी-निनाद है, अर्थात् बाजों का शब्द है ॥१४॥

प्रत्येत्यशोकाभिधयाथ मूर्च्छन्नारक्तफुल्लाक्षितयेक्षितः सन् ।
दरैकधातेत्यनुमन्यमानः कुजातितां पश्यति तस्य किन्न ॥१५॥

वसन्त ऋतु में कोई पथिक पुरुष विश्राम पाने और शोक-रहित होने की इच्छा से 'अशोक' इस नाम को विश्वास करके उसके पास जाता है, किन्तु उसके लाल-लाल पुष्प रूप नेत्रों से देखा जाने पर डरकर वह मूर्च्छित हो जाता है । वह पथिक अशोक वृक्ष के पास जाते हुए यह क्यों नहीं देखता है कि यह 'कुजाति' और दरैकधाता (भयानक) है ॥१५॥

भावार्थ - कुजाति अर्थात् भूमि से उत्पन्न हुआ, दूसरे पक्ष में खोटी जाति वाला अर्थ है । इसी प्रकार दरैकधाता का अर्थ दर अर्थात् पत्रों पर अधिकार रखने वाला और दूसरे पक्ष में दर अर्थात् डर या भय को करने वाला है ।

प्रदाकुदर्पाङ्कितचन्दनाक्तैर्याम्यैः समीरैरिव भीतिभाक्तैः ।
कुबेरकाष्ठाऽऽश्रयणे प्रयत्नं दधाति पौष्प्ये समये द्युरत्नम् ॥१६॥

सर्पों के दर्प से अङ्कित चन्दन वृक्षों की सुगन्ध से युक्त उस दक्षिण मलयानिल से भयभीत हुए के समान यह सूर्य कुबेर की उत्तर दिशा को आश्रय करने के लिए वसन्त समय में प्रयत्न कर रहा है ॥१६॥

भावार्थ - वसन्त ऋतु में सूर्य दक्षिणायन से उत्तरायण हो जाता है । इस बात को लक्ष्य करके कवि ने उत्प्रेक्षा की है कि वसन्तकाल में दक्षिणी मलयानिल बहने लगता है, उसमें मलयाचल स्थित चन्दन-वृक्षों की सुगन्ध के साथ उन पर लिपटे हुए सर्पों के विश्वास का विष भी मिला हुआ है, वह कहीं मुझ पर कोई दुषप्रभाव न डाले, इसं भय से ही मानों सूर्य दक्षिण से उत्तर की ओर गमन करने लगता है ।

जनीसमाजादरणप्रणेतुरसौ सहाय: स्मरविश्वजेतु: ।
वनीविहारोद्धरणैकहेतुर्वियोगिवर्गाय तु धूमकेतु: ॥१७॥

यह वसन्त-ऋतु स्त्री-समाज में आदर भाव के उत्पन्न करने वाले विश्व-विजेता काम का सहायक (मित्र) है तथा वन-विहार के करने का हेतु है, किन्तु वियोगी जनों के समुदाय को भस्म करने के लिए तो धूमकेतु (अग्नि) ही है ॥१७॥

माकन्दवृन्दप्रसवाभिसर्तु: पिकस्य मोदाभ्युदयं प्रकर्तुम् ।
निभालनीय: कुसुमोत्सवर्तु: सखा सुखाय स्मरभूमिभर्तु: ॥१८॥

आम्र-समूह की प्रसून-मंजरी के अभिसार करने वाले कोयल के हर्ष का अभ्युदय करने के लिए, तथा कामदेव रूपी राजा के सुख को बढ़ाने के लिए पुष्पोत्सव वाली वसन्त ऋतु सखा समझना चाहिए ॥१८॥

भावार्थ - वसन्त ऋतु सभी संसारी जीवों को सुखकर प्रतीत होती है ।

यतोऽभ्युपात्ता नवपुष्पतातिः कन्दर्पभूपो विजयाय याति ।
कुहू करोतीह पिकद्विजातिः स एष संखध्वनिराविभाति ॥१९॥

नवीन पुष्पों के समूह रुप वाणों को लेकर के यह कामरूपी राजा मानों विजय करने के लिए प्रयाण कर रहा है और यह जो कोयल पक्षियों का समूह 'कुहू-कुहू' शब्द कर रहा है, सो ऐसा प्रतीत होता है कि यह कामदेव के विजय-प्रस्थान-सूचक शङ्ख की ध्वनि ही सुनाई दे रही है ॥१९॥

नवप्रसङ्गे परिहृष्टचेता नवां वधूटीमिव कामि एताम् ।
मुहुर्मुहुश्चुम्बति चञ्चरीको माकन्दजातामथ मञ्जरीं को: ॥२०॥

नव-प्रसङ्ग के समय हर्षित चित्त कोई कामी पुरुष जैसे अपनी नवोढा स्त्री का बार-बार चुम्बन लेता है, उसी प्रकार यह चंचरीक (भौंरा) आम्र वृक्ष पर उत्पन्न हुई मंजरी का बार-बार चुम्बन कर रहा है ॥२०॥

आम्रस्य गुञ्जत्कलिकान्तरालेर्नालीकमेतत्सहकारनाम ।
दृग्वर्त्मकर्मक्षण एव पान्था-ङ्गिने परासुत्वभृतो वदाम: ॥२१॥

जिसकी मंजरी के भीतर भ्रमर गुंजार कर रहा है, ऐसे आम्र का 'सहकार' अर्थात् सहकाल (काल-यमराज का साथी) यह नाम असत्य नहीं है, क्योंकि आम का वृक्ष आंख से देखने मात्र से ही पथिक जनों के लिए मरण को करने वाला है, ऐसा हम कहते हैं ॥२१॥

भावार्थ - पुष्प-मंजरी-युक्त आम्र-वृक्ष को देखते ही प्रवासी पथिक जनों को अपनी प्यारी स्त्रियों की याद सताने लगती है ।

सुमोद्गमः स प्रथमो द्वितीयः भृङ्गोरुगीतिर्मरुदन्तकीयः ।
जनीस्वनीतिः स्मरबाणवेशः पिकस्वनः पञ्चम एष शेषः ॥२२॥

कामदेव के पांच बाण माने जाते हैं । उनमें पुष्पों का उद्गम होना यह पहिला बाण है, भ्रमरों की उदार गुंजार यह दूसरा बाण है, दक्षिण दिशा की वायु का संचार यह तीसरा बाण है, स्त्रियों की स्वाभाविक चेष्टा यह चौथा बाण है और कोयलों का शब्द यह पांचवां बाण है ॥२२॥

भावार्थ - वसन्त ऋतु में काम-देव अपने इन पांचों बाणों के द्वारा जगत् को जीतता है ।

अनन्ततां साम्प्रतमासवद्भिः स्मरायुधैः पञ्चतया स्फुरद्भिः ।
विमुक्तया कः समलङ्क्रियेत वियोगिवर्गादपरस्तथेतः ॥२३॥

कवि-मान्यता के अनुसार काम के पांच बाण माने जाते हैं, किन्तु इस वसन्त ऋतु में बाण अनन्तता को प्राप्त हो रहे हैं (क्योंकि चारों ओर पुष्पोद्गम आदि दृष्टिगोचर होने लगता है ।) अतएव काम के बाणों के द्वारा छोड़े गये पंचत्व (पांच संख्या और मृत्यु) से वियोगी जनों को छोड़कर और कौन ऐसा पुरुष है जो कि समलङ्कृत किया जाय। अर्थात् वसन्त काल में वियोगी जन ही काम के बाणों के निशान बनते हैं ॥२३॥

समन्ततोऽस्मिन् सुमनस्त्वमस्तु पुनीतमाकन्दविधायि वस्तु ।
समक्ष माधादतिवर्तमाने तथा पिकस्योदयभृद्विधाने ॥२४॥

हे समक्ष (सम्मुख उपस्थित सुन्दर इन्द्रिय वाले मित्र) ! माघ के पश्चात् आने वाले, आम्र वृक्षों को सफल बनाने वाले और कोयल के आनन्द-विधायक इस फाल्गुण मास या वसन्त काल में सर्व ओर फूलों का साम्राज्य हो रहा है, सो होवे । दूसरा अर्थ - हे समक्षम (सदा क्षमा के धारक) मित्र! पाप से दूर रहने वाले और आत्मकल्याण के विधान को स्वीकार करने वाले इस ऋतुराज वसन्त में लक्ष्मी को बढ़ाने वाला सुमनसपना (देवपना) सहज ही प्रकट हो रहा है ॥२४॥

ऋतुश्रियः श्रीकरणञ्च चूर्णं वियोगिनां भस्मवदत्र तूर्णम् ।
श्रीमीनकेतोर्ध्वजवस्त्रकल्पं पौष्प्यं रजोऽदः प्रसरत्यनल्पम् ॥२५॥

इस वसन्त ऋतु में यह पुष्पों का रज (पराग) सर्व ओर फैल जाता है सो ऐसा प्रतीत होता है, मानों वसन्त लक्ष्मी के मुख की शोभा को बढ़ाने वाला चूर्ण (पाउडर) ही हो, अथवा वियोगी जनों की भस्म ही हो, अथवा श्री मीनकेतु (कामदेव) की ध्वजा का वस्त्र ही हो ॥२५॥

श्रेणी समन्ताद्विलसत्यलीनां पान्थोपरोधाय कशाप्यदीना ।
वेणी वसन्तश्रिय एव रम्याऽसौ श्रृङ्खला कामगजेन्द्रगम्या ॥२६॥

इस वसन्त के समय भौंरो की श्रेणी सर्व ओर दिखाई देती है, वह ऐसी प्रतीत होती है, मानों पथिक जनों के रोकने के लिए विशाल कशा (कोड़ा या हण्टर) ही हो, अथवा वसन्त लक्ष्मी की रमणीय वेणी ही हो, अथवा कामरूपी गजराज के बांधने की सांकल ही हो ॥२६॥

प्रत्येति लोको विटपोक्तिसारादङ्गारतुल्यप्रसवोपहारात् ।
पलाशनामस्मरणादथायं समीहते स्वां महिलां सहायम् ॥२७॥

संसारी जन 'विटप' इस नाम को सुनकर उसे वृक्ष जान उस पर विश्वास कर लेता है किन्तु जब समीप जाता है, तो उसके अंगार-तुल्य (हृदय को जलाने वाले) फूलों के उपहार से शीघ्र ही उसके 'पलाश' (पल-मांस का भक्षण करने वाला) इस नाम के स्मरण से (अपनी रक्षा के लिए) अपनी सहायक स्त्री को याद करने लगता है ॥२७॥

भावार्थ - 'विटप' नाम वृक्ष का भी है और विटजनों के सरदार भडुआ का भी है । पलाश नाम ढाक के वृक्ष का है और मांस भक्षी का भी है ।

मदनमर्मविकाससमन्वितः कुहरितायत एष समुद्धुतः ।
सुरतवारि इवाविरभूत्क्षणः स विटपोऽत्र च कौतुकलक्षणः ॥२८॥

यह वसन्त का समय रति-क्रीड़ा के समान है, क्योंकि रतिकाल में मदन के मर्म का विकास होता है और इस वसन्त में आम्र वृक्ष के मर्म का विकास होता है । रतिकाल में कुहरित (सुरत-शब्द) होता है, इस समय कोयल का शब्द होता है । रतिकाल में विटप (कामी) लोग कौतुकयुक्त होते हैं और वसन्त में प्रत्येक वृक्ष पुष्पों से युक्त होता है ॥२८॥

कलकृतामितिझंकृतनूपुरं क्वणितकिङ्किणिकङ्कृतङ्कणम् ।
मृगदृशां मुखपद्मदिदृक्षया रथमिनः कृतवान् किल मन्थरम् ॥२१॥

इस वसन्त में मीठी बोली बोलने वाली, नूपुरों के झंकार को प्रकट करने वाली, जिनकी करधनी की घंटियां बज रही हैं और जिनके कंकण भी झंकार कर रहे हैं, ऐसी मृगनयनी स्त्रियों के मुख कमल को देखने की इच्छा से ही मानों सूर्य देव ने अपने रथ की गति को मन्द कर दिया है ॥२९॥

भावार्थ - वसन्त काल में सूर्य की गति धीमी हो जाती है, उसे लक्ष्य में रख करके कवि ने यह उत्प्रेक्षा की है ।

ननु रसालदलेऽलिपिकावलिं विवलितां ललितामहमित्यये ।
भुवि वशुकरणोचितयन्त्रक-स्थितिमिमां मदनस्य सुमाशये ॥३०॥

इस वसन्त ऋतु में आम्र वृक्ष के पत्तों पर जो आंकी-बांकी नाना प्रकार की पंक्तियां बना कर भौंरे और कोयल बैठे हुए हैं, वे कोयल और भौंरे नहीं है, किन्तु संसार में लोगों को मोहित करने के लिए फूलों पर लिखे हुए कामदेव के वशीकरण यंत्र ही हैं, ऐसा मैं समझता हूँ ॥३०॥

न हि पलाशतरोर्मुकुलोद्गतिर्वनभुवां नखरक्षतसन्ततिः ।
लसति किन्तु सती समयोचितासुरभिणाऽऽकलिताऽप्यतिलोहिता ॥

बसन्त ऋतु में पलाश (ढ़ाक) का वृक्ष फूलता है, वे उसके फूल नहीं, किन्तु वन-लक्ष्मी के स्तनों पर नख-क्षत (नखों के घाव रूप चिह्न) की परम्परा ही है, जो कि बसन्त रूपी रसिक पुरुष ने उस पर की है, इसी लिए वह अति रक्त वर्ण वाली शोभित हो रही है ॥३१॥

अयि लवङ्गि ! भवत्यपि राजते विकलिते शिशिरेऽपि च शैशवे ।
अतिशयोन्नतिमत्स्तवकस्तनी भ्रमरसङ्गवशान्मदनस्तवे ॥३२॥

अयि लवङ्गलते ! तुम बड़ी सौभाग्यवती हो, क्योंकि तुम्हारा शिशिरकाल रूपी शैशवकाल तो बीत चुका है और अब नव-यौवन अवस्था में पुष्पों के गुच्छों-रूपी उन्नत स्तनों से युक्त हो गई हो, तथा भौंरो के प्रसंग को प्राप्त होकर काम-प्रस्ताव को प्राप्त हो रही हो ॥३२॥

रविरयं खलु गन्तुमिहोद्यतः समभवद्यदसौ दिशमुत्तराम् ।
दिगपि गन्धवहं ननु दक्षिणा वहति विप्रियनिश्वसनं तराम् ॥३३॥

इस वसन्त काल में सूर्य दक्षिण दिशा रूपी स्त्री को छोड़ कर उत्तर दिशा रूपी स्त्री के पास जाने के लिए उद्यत हो रहा है, इसलिए पति-वियोग के दुःख से दुखित होकर के ही मानों दक्षिण दिशा शोक से भरे हुए दीर्घ निःश्वास छोड़ रही है, सो वही निःश्वास दक्षिण वायु के रूप में इस समय वह रहा है ॥३३॥

मुकुलपाणिपुटेन रजोऽब्जिनी दृशि ददाति रुचाऽम्बुजजिद्दृशाम् ।
स्थलपयोजवने स्मरधूर्त्तराड्हरति तद्धृदयद्रविणं रसात् ॥३४॥

जिस वन में गुलाब के पुष्प और लाल कमल फूल रहे हैं, वहां पर कमलिनी तो अपने मुकुलित पाणि- (हस्त) पुट के द्वारा कमल की शोभा को जीतने वाली स्त्रियों की आंखों में पुष्प-पराग रूपी

धूल को झोंक रही है और कामदेव रूपी धूर्तराज चोर अवसर देखकर उनके हृदयरूपी धन को चुरा रहा है ॥३४॥

अभिसरन्ति तरां कुसुमक्षणे समुचिताः सहकारगणाश्च वै ।
रुचिरतामिति कोकिलपित्सतां सरसभावभृतां मधुरारवैः ॥३५॥

इस वसन्त समय में आम्र वृक्ष अपने ऊपर आकर बैठे हुए और सरस भाव को धारण करने वाले कोयल पक्षियों के मधुर शब्दों के द्वारा मानों रुचिरता (रमणीयता) का ही अभिसरण कर रहे हैं ॥३५॥

विरहिणी-परितापकरोऽकरोद्यदपि पापमिहापरिहारभृत् ।
तदघमद्य विपद्यत एषको लगदलिव्यपदेशतया दधत् ॥३६॥

विरहिणी स्त्रियों को सन्ताप पहुँचा कर इस वसन्त काल ने जो अपरिहरणीय ऐसा निकाचित पाप उपार्जन किया है, वह उदय में आकर आज संलग्न इन भौरों के बहाने मानों इस वसन्त को दुखी कर रहा है ॥३६॥

ऋद्धिं वारजनीव गच्छति वनी सैषान्वहं श्रीभुवं,
तुल्यः स्तेनकृता प्रतर्जति खरैः पान्थान् शरैः रागदः ।
संसारे रसराज एत्यतिथिसान्नित्यं प्रतिष्ठापनं,
नर्मश्रीऋतु कौतुकीव सकलो बन्धुर्मुदं याति नः ॥३७॥

इस समय यह वनस्थली वेश्या के समान प्रतिदिन लक्ष्मी से सम्पन्न समृद्धि को प्राप्त हो रही है, राग को उत्पन्न करने वाला यह कामदेव इस समय चोर के समान आचरण करता हुआ पथिक-जनों को अपने तीक्ष्ण वाणों से बिद्ध कर रहा है, रसों का राजा जो शृङ्गार रस है, वह इस समय संसार में सर्वत्र अतिथि रूप से प्रतिष्ठा को पा रहा है, और हमारा यह समस्त बन्धु-जन-समूह विनोद करने वाले वसन्तश्री के कौतुक करने वाले विदूषक के समान हर्ष को प्राप्त हो रहा है ॥३७॥

चैत्रशुक्लपक्षत्रिजयायां सुतमसूत सा भूपतिजाया ।
उत्तमोच्चसकलग्रहनिष्ठे समये मौहूर्तिकोपदिष्टे ॥३८॥

चैत्र शुक्ला तीसरी जया तिथि अर्थात् त्रयोदशी के दिन, जब कि सभी उत्तम ग्रह उच्च स्थान पर अवस्थित थे और जिस समय को ज्योतिषीगण सर्वोत्तम बतला रहे थे-ऐसे उत्तम समय में सिद्धार्थ राजा की रानी इस प्रियकारिणी देवी ने पुत्र को जना ॥३८॥

रविणा ककुविन्द्रशासिका स्फुटपाथोजकुलेन वापिका ।
नवपल्लवतो यथा लता शुशुभे साऽऽशु शुभेन वा सता ॥३९॥

वह रानी उत्पन्न हुए उस सुन्दर शिशु के द्वारा ऐसी शोभित हुई जैसे कि सूर्य के द्वारा इन्द्रशासित पूर्व दिशा, विकसित कमल-समूह से वापिका और नव-पल्लवों से लता शोभित होती है ॥३९॥

सदनेकसुलक्षणान्विति-तनयेनाथ लसत्तमस्थितिः ।
रजनीव जनी महीभुजः शशिनाऽसौ प्रतिकारिणी रुजः ॥४०॥

उस समय वह उत्तम स्थिति प्राप्त राजा की रानी रजनी के समान शोभित हुई । जैसे रात्रि विकसित अनेक नक्षत्रों के साथ चन्द्र से युक्त होकर शोभित होती है, उसी प्रकार रानी उत्तम अनेक शुभ लक्षण वाले पुत्र से प्रसन्न हो रही थी । जैसे चांदनी रात भय रूप रोग का प्रतीकार करती है, उसी प्रकार यह रानी संसार के भय को मिटाने वाली है ॥४०॥

सौरभावगतिस्तस्य पद्मस्येव वपुष्यभूत् ।
याऽसौ समस्तलोकानां नेत्रालिप्रतिकर्षिका ॥४१॥

उस उत्पन्न हुए पुत्र के शरीर से पद्म के समान सौरभ (सुगन्ध) निकल रहा था, और दूसरा अर्थ यह कि वह स्वर्ग से आया है, ऐसा स्पष्ट ज्ञात हो रहा था । इसीलिए वह पुत्र के शरीर से निकलने वाली सौरभ-सुगन्धि समस्त दर्शक लोगों के नेत्र रूपी भौंरो को अपनी ओर आकर्षित कर रही थी ॥४१॥

शुक्ते मौक्तिकवत्तस्या निर्मलस्य वपुष्मतः ।
सद्भिरादरणीयस्योद्भवतोऽपि पवित्रता ॥४३॥

जिस प्रकार सीप से उत्पन्न हुआ मोती स्वभाव से निर्मल, सत्पुरुषों से आदरणीय और पवित्र होता है, उसी प्रकार उस रानी से उत्पन्न हुए इस पुत्र के भी निर्मलता, सन्तों के द्वारा आदरणीयता और स्वभावतः पवित्रता थी ॥४२॥

रत्नानि तानि समयत्रयमुत्तराशा -
धीशो ववर्ष खलु पञ्चदशेति मासान् ।
अद्याथ इत्थमिह सोऽद्य भुवि प्रतीत -
एषोऽपि सन्मणिरभूत् त्रिशलाखनीतः ॥४३॥

जिस महापुरुष के आगमन के उपलक्ष्य में उत्तर दिशा का स्वामी कुबेर जैसे इस भूतल पर पन्द्रह मास तक प्रतिदिन तीन बार उन उत्तम रत्नों की वर्षा करता रहा है, उसी प्रकार यह मणियों में भी महामणि स्वरूप सर्वोत्कृष्ट नर-रत्न आज त्रिशला देवी की खानि रूप कूंख से उत्पन्न हुआ ॥४३॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं –

वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ॥

तेनास्मिन् रचिते यथोक्तकथने सर्गः षडेवं स्थितिः –

राद्यर्तोरभिसङ्गमे जिनपतेरुत्पत्तिरासीदिति ॥६॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भुजजी और घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए वाणीभूषण बाल-ब्रह्मचारी पं. भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर द्वारा विरचित इस काव्य में वसन्त ऋतु में जिनपति वीर भगवान् की उत्पत्ति का वर्णन करने वाला यह छठा सर्ग समाप्त हुआ ॥६॥

✣ ✣ ✣

अथ सप्तमः सर्गः

अथ जन्मनि सन्मनीषिणः प्रससाराप्यभितो यशःकिणः ।
जगतां त्रितयस्य सम्पदा क्षुभितोऽभूत्प्रमदाम्बुधिस्तदा ॥१॥

इस समय सन्मनीषी भगवान् का जन्म होने पर उनके यश का पूर चारों ओर फैल गया । उस समय तीनों जगत् की सम्पदा से आनन्द रूप समुद्र क्षोभित हो गया । अर्थात् सर्वत्र आनन्द फैल गया ॥१॥

पटहोऽनददद्रिशासिनां भुवि घण्टा ननु कल्पवासिनाम् ।
उरगेषु च शंखसद्ध्वनिर्हरिनादोऽपि नभश्चराध्वनि ॥२॥

उस समय पर्वत के पक्ष-शातन करने वाले व्यन्तरों के गृहों में भेरी का निनाद (उच्च शब्द) होने लगा । कल्पवासी देवों के विमानों में घण्टा का नाद हुआ, भवनवासी देवों के भवनों में शंखों की ध्वनि हुई और ज्योतिषी देवों के विमानों में सिंहनाद होने लगा ॥२॥

न मनागिह तेऽधिकारिता नमनात्स्वीकुरु किन्तु सारिताम् ।
जिनजन्मनि वेत्थमाह रे प्रचलद्वै हरिविष्टरं हरेः ॥३॥

उस समय जिन भगवान् का जन्म होने पर इन्द्र का सिंहासन कम्पायमान हुआ, मानों वह यह कह रहा था कि हे हरे ! अब इस पर बैठे रहने का तेरा कुछ भी अधिकार नहीं है । अब तू भगवान् के पास जाकर और उन्हें नमस्कार कर अपने जीवन को सफल बना ॥३॥

न हि पञ्चशतीद्वयं दृशां क्षममित्यत्र किलेति विस्मयात् ।
अवधिं प्रति यत्नवान भूदवबोद्धुं द्युसदामयं प्रभुः ॥४॥

उस समय देवों का स्वामी यह इन्द्र मेरे ये सहस्र नेत्र भी सिंहासन के हिलने का कारण जानने में समर्थ नहीं है, यह देखकर ही मानों आश्चर्य से यथार्थ रहस्य जानने के लिए अवधिज्ञान का उपयोग करने को प्रयत्नशील हुआ ॥४॥

अवबुध्य जनुर्जिनेशिनः पुनरुत्थाय ततः क्षणादिनः ।
प्रणनाम सुपर्वणां सतां गुणभूमिर्हि भवेद्विनीतता ॥५॥

अवधिज्ञान से जिनेन्द्र देव का जन्म जानकर तत्काल अपने सिंहासन से उठकर देवों के स्वामी उस इन्द्र ने (जिस दिशा में भगवान् का जन्म हुआ था, उस दिशा में सात पग आगे जाकर भगवान्

को (परोक्ष) नमस्कार किया । सो यह ठीक ही है, क्योंकि विनीतता अर्थात् सज्जनों के गुणों के प्रति आदरभाव प्रकट करना ही समस्त गुणों का आधार है ॥५॥

जिनवन्दनवेदिडिण्डिमं स मुदा दापितवान् जवादिमम् ।
प्रतिपद्य समाययुः सुरा असुरा अप्यखिला निजात्पुरात् ॥६॥

उस इन्द्र ने हर्षित होकर तत्काल जिन-वन्दना को चलने की सूचना देने वाली ढिंढोरी दिलवाई और उसे सुनकर सभी सुर और असुर शीघ्र अपने-अपने पुरों से आकर एकत्रित हुए ॥६॥

निरियाय स नाकिनायकः सकलामर्त्यनिरुक्तकायकः ।
निजपत्तनतोऽधुना कृती नगरं कुण्डननामकं प्रति ॥७॥

पुनः वह कृती देवों का स्वामी सौधर्म इन्द्र सर्व देव और असुरों से संयुक्त होकर अपने नगर से कुण्डनपुर चलने के लिए निकला ॥७॥

प्रततानुसृतात्मगात्रकैरमरैर्हस्तितपुष्पपात्रकैः ।
सह नन्दनसम्पदप्यभूद्विरहं सोढुमिवाथ चाप्रभुः ॥८॥

जिनके शरीर आनन्द से भरपूर हैं और जिनके हाथों में पुष्पों के पात्र हैं, ऐसे देवों के साथ नन्दनवन की सम्पदा भी चली । मानों विरह को सहने के लिए असमर्थ होकर ही साथ हो ली है ॥८॥

कबरीव नभोनदीक्षिता प्रजरत्याः स्वरधिश्रियोहिता ।
स्फटिकाश्मविनिर्मितस्थलीव च नाकस्य विनिश्चलावलिः ॥९॥

मध्यलोक को आते हुए उन देवों ने मार्ग में नभोनदी (आकाश गंगा) को देखा, जो ऐसी प्रतीत होती थी मानों अत्यन्त वृद्ध देव-लक्ष्मी की वेणी ही हो, अथवा स्फटिक मणियों से रचित स्वर्ग-लोक के मुख्य द्वार की निश्चलता को प्राप्त देहली ही हो ॥९॥

अरविन्दधिया दधद्रविं पुनरैरावण उष्णसच्छविम् ।
धुतहस्ततयात्तमुत्यजन्नयद्धास्यमहो सुरव्रजम् ॥१०॥

पुनः आगे चलते हुए इन्द्र के ऐरावत हाथी ने कमल समझ करके सूर्य को अपनी सूंड से उठा लिया और उसे उष्णता-युक्त देखकर तुरन्त ही सूंड को झड़का कर उस ग्रहण किए हुए सूर्य को छोड़ दिया और इस प्रकार उसने देव-समूह को हंसा दिया ॥१०॥

झषकर्कटनक्रनिर्णये वियदब्धावुत तारकाचये ।
कुवलप्रकरान्वये विधुं विबुधाः कौस्तुभमित्थमभ्यधुः ॥११॥

मीनों, केंकड़ों और नाकुओं का निश्चय है जहां ऐसे आकाश रूप समुद्र में मोतियों का अनुकरण ताराओं का समूह कर रहा है । वहीं पर देव लोगों ने चन्द्रमा को यह कौस्तुभमणि है, ऐसा कहा ॥११॥

भावार्थ - जैसे समुद्र में मीन, कर्कट और मकरादि जल-जन्तु एवं मौक्तिक कौस्तुभमणि आदि होते हैं, उसी प्रकार देव लोगों ने आकाश को ही समुद्र समझा, क्योंकि वहां उन्हें मीन, मकर आदि राशि वाले ग्रह दिखाई दिये ।

पुनरेत्य च कुण्डिनं पुराधिपुरं त्रिक्रमणेन ते सुराः ।
उपतस्थुरमुष्य गोपुराग्रभुवीत्थं जिनभक्तिसत्तुराः ॥१२॥

पुनः जिन-भक्ति में तत्पर वे देव लोग कुण्डनपुर नगर आकर और उसे तीन प्रदक्षिणा देकर उस नगर के गोपुर की अग्रभूमि पर उपस्थित हुए ॥१२॥

प्रविवेश च मातुरालयमपि मायाप्रतिरूपमन्वयम् ।
विनिवेश्य तदङ्गतः शची जिनमेवापजहार शुद्धचित् ॥१३॥

पुनः इन्द्राणी ने माता के सौरि-सदन में प्रवेश किया । और मायामयी शिशु को माता के पास रखकर उनके शरीर के समीप से वह शुद्ध चित्तवाली शची जिन भगवान् को उठा लाई ॥१३॥

हरये समदाज्जिनं यथाऽम्बुधिवेलागतकौस्तुभं तथा ।
अवकृष्य सुभक्तितोऽचिरात् त्रिशलाया उदितं शचीन्दिरा ॥१४॥

पुनः उस शची रूपी लक्ष्मी ने समुद्र की वेला को प्राप्त हुए कौस्तुभमणि के समान त्रिशला माता से प्रगट हुए जिन भगवान् को लाकर शीघ्र ही अति भक्ति से हरि रूप इन्द्र को सौंप दिया ॥१४॥

जिनचन्द्रमसं प्रपश्य तं जगदाह्लादकरं समुन्नतम् ।
करकञ्जयुगं च कुड्मलीभवदिन्द्रस्य बभौ किलाऽच्छलि ॥१५॥

जगत् को आह्लादित करने वाले पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान समुन्नत जिन चन्द्र को देखकर इन्द्र के छल-रहित कर कमल-युगल मुकुलित होते हुए शोभा को प्राप्त हुए ॥१५॥

भावार्थ - चन्द्र को देखकर जैसे कमल संकुचित हो जाते हैं, उसी प्रकार भगवान् रूप चन्द्रमा को देखकर इन्द्र के हस्त रूप कमल युगल भी संकुचित हो गये (जुड़ गये) । अर्थात् इन्द्र ने हाथ जोड़कर भगवान् को नमस्कार किया ।

बृहदुन्नतवंशशालिनः शिरसीत्थं मुकुटानुकालिनम् ।
समरोपयदेष सम्पतं पुनरैरावणवारणस्य तम् ॥१६॥

पुनः इस इन्द्र ने बड़े उन्नत वंशवाली ऐरावत हाथी के सिर पर मुकुट का अनुकरण करने वाले उन जिन भगवान् को विराजमान किया ॥१६॥

सुरशैलमुपेत्य ते पुनर्जिनजन्माभिषवस्य वस्तुनः ।
विषयं मनसाऽथ मुद्धुरा परिकर्तुं प्रतिचक्रिरे सुराः ॥१७॥

पुनः वे सब देव सुरशैल (सुमेरु) को प्राप्त होकर भगवान् को जन्माभिषेक का विषय बनाने के लिये अर्थात् अभिषेक करने के लिए हर्षित चित्त से उद्यत हुए ॥१७॥

सुरदन्तिशिरःस्थितोऽभवद् घनसारे स च केशरस्तवः ।
शरदभ्रसमुच्चयोपरि परिणिष्टस्तमसां स चाप्यरिः ॥१८॥

उस समय सुरगज ऐरावत के शिर पर अवस्थित भगवान् ऐसे शोभित हुए, मानों कर्पूर के समूह पर केशर का गुच्छक ही अवस्थित हो । अथवा शरत्कालीन शुभ्र मेघपटल के ऊपर अन्धकार का शत्रु सूर्य ही विराजमान हो ॥२८॥

वनराजचतुष्टयेन यः पुरुषार्थस्य समर्थिना जयन् ।
प्रतिभाति गिरीश्वरः स च सफलच्छायविधिं सदाचरन् ॥१९॥

पुरुष के चार पुरुषार्थों को समर्थन करने वाले चार वनराजों से विजयी होता हुआ वह गिरिराज सुमेरु सदा फल और छाया की विधि को आचरण-सा करता हुआ प्रतिभासित हो रहा था ॥१९॥

भावार्थ - जैसे कोई पुरुष चारों पुरुषार्थ को करता हुआ सफल जीवन-यापन करता है, उसी प्रकार यहां सुमेरु भी चारों ओर वनों से संयुक्त होकर नाना प्रकार के फलों और छाया को प्रदान कर रहा है, ऐसी उत्प्रेक्षा यहां कवि ने की है ।

जिनसद्मसमन्वयच्छलाद् धृतमूर्तीनि विभर्ति यो बलात् ।
अपि तीर्थकरत्वकारणान्युपयुक्तानि गतोऽत्र धारणाम् ॥२०॥

जिन-भवनों ने समन्वय के छल से मानों यह सुमेरु तीर्थङ्कर पद के कारण-भूत सोलह कारण भावनाओं का ही हठात् मूर्ति रूप को धारण कर शोभित हो रहा है ॥२०॥

भावार्थ - सुमेरु पर्वत पर अवस्थित सोलह जिनालयों को लक्ष्य करके कवि ने उक्त उत्प्रेक्षा की है ।

निजनीतिचतुष्टयान्वयं गहनव्याजवशेन धारयन् ।
निखिलेष्वपि पर्वतेष्वयं प्रभुरूपेण विराजते स्वयम् ॥२१॥

अपनी नीति-चतुष्टय (आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति या साम, दाम, दंड और भेद) को चार वनों के ब्याज से धारण करता हुआ यह सुमेरु समस्त पर्वतों में स्वयं स्वामी रूप से विराजमान है, ऐसा मै समझता हूँ ॥२१॥

गुरुमभ्युपगम्य गौरवे शिरसा मेरुरुवाह संस्तवे ।
प्रभुरेष गभीरताविधेः स च तन्वा परिवारितोऽब्धिनिधेः ॥२२॥

जन्माभिषेक के उत्सव के समय जिन-भगवान् की गुण-गरिमा को देखकर सुमेरु ने जगद्-गुरु भगवान् को अपने शिर पर धारण किया । तथा यह भगवान् गम्भीरता रूप विधि के स्वामी हैं, ऐसा समझकर क्षीर सागर ने अपने जल रूप शरीर से भगवान् का अभिषेक किया ॥२२॥

भावार्थ - सुमेरु का गौरव और समुद्र की गंभीरता प्रसिद्ध है । किन्तु भगवान् को पाकर दोनों ने अपना अहंकार छोड़ दिया ।

अतिवृद्धतयेव सन्निधिं समुपागन्तुमशक्यमम्बुधिम् ।
अमराः करुणापरायणाः समुपानिन्युरथात्र निर्घृणाः ॥२३॥

पुनः अत्यन्त वृद्ध होने से भगवान् के समीप आने को असमर्थ ऐसे क्षीर सागर को ग्लानि-रहित और करुणा में परायण वे अमरगण उसे भगवान् के पास लाये ॥२३॥

भावार्थ - देवगण भगवान् के अभिषेक करने के लिए क्षीरसागर का जल लाये । उसे लक्ष्य करके कवि ने यह उत्प्रेक्षा की है, कि वह अति वृद्ध होने से स्वयं आने में असमर्थ था, सो जल लाने के बहाने से मानों वे क्षीर सागर को ही भगवान् के समीप ले आये हैं ।

अयि मञ्जुलहर्युपाश्रितं सुरसार्थप्रतिसेवितं हितम् ।
निजसद्मवदम्बुधिं क्षणमनुजग्राह च देवतागणः ॥२४॥

हे मित्र ! सुन्दर लहरियों से संयुक्त और सुरस जल रूप अर्थ से, अथवा देव-समूह से सेवित, हितकारी उस क्षीर सागर की आत्मा का उन देवगणों ने अपने भवन के समान ही अनुग्रह किया ॥२४॥

समुदालकुचाञ्चितां हितां नितरामक्षतरूपसम्मिताम् ।
तिलकाङ्कितभालसत्पदामनुगृह्णात्युदधेः स्म सम्पदाम् ॥२५॥

वे देवतागण उदार लीची वृक्षों से युक्त, अखरोट या बहेड़ों के वृक्षों वाली, तथा तिलक जाति के वृक्षों की पंक्ति वाले समुद्र के तट की सम्पदा का निरीक्षण कर रहे थे । इसका दूसरा अर्थ स्त्री

पक्ष में इस प्रकार लेना चाहिए कि उठे हुए कुचों वाली, अखण्ड रूप-सौन्दर्य की धारक, तथा मस्तक पर तिलक लगाये हुए, ऐसी स्त्री के समान समुद्र की तट-सम्पदा को देवताओं ने देखा ॥२५॥

प्रततावलिसन्ततिस्थितिमिति वा नीरदलक्षणान्वितिम् ।
प्रविवेद च देवता ततः विशदाक्षीरहितस्य तत्त्वतः ॥२६॥

देवों ने उस क्षीर सागर को एक वृद्ध पुरुष के समान अनुभव किया। जैसे वृद्ध पुरुष बलियों (बुढ़ापे में होने वाली शरीर की झुर्रियों) से युक्त होता है, उसी प्रकार यह समुद्र भी विस्तृत तंरगों की मालाओं से युक्त है। वृद्ध पुरुष जैसे बुढ़ापे में दन्त-रहित मुख वाला हो जाता है, उसी प्रकार यह क्षीर सागर भी जन्माभिषेक के समय नीर-दल (जलांश) के प्रवाह रुप से युक्त हो रहा है। वृद्ध पुरुष जैसे बुढ़ापे में विशद-नयन वाली नायिका से रहित होता है, उसी प्रकार यह समुदर भी विशद क्षीर-(दुग्ध) तुल्य रस वाला है। अतएव देवों ने उस क्षीर सागर को एक वृद्ध पुरुष के समान ही समझा ॥२६॥

मृदुपल्लवरीतिधारिणी मदनस्यापि विकासकारिणी ।
शरजातिविलग्नसम्पदा सुखमेतत्प्रणतिः सुरेष्वदात् ॥२७॥

कोमल पत्रों की रीति की धारण करने वाली तथा कोमल चरणों वाली काम की एवं आम्र वृक्ष की विकास-कारिणी शरजाति के घास विशेष से युक्त और बाण के समान कृश उदर वाली ऐसी उस क्षीर सागर की वेला देवों में सुख की देने वाली हुई ॥२७॥

सुरसार्थपतिं तमात्मनः प्रभुमित्येत्य सुपर्वणां गणः ।
वहति स्म शिरस्सु साम्प्रत-मभितो वृद्धमवेत्य तं स्वतः ॥२८॥

उस देव-समूह ने सुरस (उत्तम-जल) रूप अर्थ के स्वामी, अथवा देव-समुदाय के स्वामी उसे अपना प्रभु इन्द्र जानकर तथा, सर्व ओर से वृद्ध हुए ऐसे क्षीर सागर को अपने शिरों पर धारण किया ॥२८॥

भावार्थ -वे देवगण क्षीर सागर का जल कलशों में भर कर और अपने मस्तकों पर रख कर लाये।

जिनराजतनुः स्वतः शुचिस्तदुपायेन जलस्य सा रुचिः ।
जगतां हितकृद् भवेदिति हरिणाऽकारि विभोः सवस्थितिः ॥२९॥

यद्यपि जिनराज का शरीर स्वतः स्वभाव पवित्र था, तथापि इस जल को भी भगवान् के शरीर के सम्पर्क से पवित्रता प्राप्त हो और यह सर्व जगत् का हितकारक हो जाय, यह विचार कर इन्द्र ने भगवान् का अभिषेक किया ॥२९॥

सुरपेण सहस्रसंभुजैरभिषिक्तः सहसा स नीरुजैः ।
न मनागपि खिन्नतां गतः सहितस्तीर्थंकरत्वतो यतः ॥३०॥

इन्द्र ने अपनी सहज नीरोग सहस्र भुजाओं से सहसा (एक साथ ही एक हजार कलशों से) अभिषेक किया, किन्तु बाल रूप भगवान् जरा-सी भी खिन्नता को प्राप्त नहीं हुए । सो यह उनकी तीर्थङ्कर प्रकृति-युक्त होने का प्रताप है ॥३०॥

कुसुमाञ्जलिवद्बभूव साऽम्बुततिः पुष्टतमेऽतिसरंसात् ।
निजगाद स विस्मयो गिरा भुवि वीरोऽयमितीह देवराट् ॥३१॥

अत्यन्त पुष्ट अर्थात् वज्रमयी भगवान् के शरीर पर अत्यन्त उत्साह से छोड़ी गई वह विशाल जल की धारा पुष्पों की अञ्जलि के समान प्रतीत हुई । उसी समय देवराज इन्द्र ने आश्चर्य-चकित होकर परम हर्ष से 'यह वीर जिनेन्द्र हैं' ऐसा अपनी वाणी से कहा ॥३१॥

परितः प्रचलज्जलच्छलान्निखिलाश्चापि दिशः समुज्ज्वलाः ।
स्मितयुक्तमुखा इवाबभुरभिषिक्तः स यदा जिनप्रभुः ॥३२॥

जिस समय श्री जिनप्रभु का अभिषेक किया गया । उस समय सर्व ओर फैलते हुए जल के बहाने से मानों सभी दिशाएँ अति उज्ज्वल मन्द हास्य युक्त मुख वाली सी शोभित हुई ॥३२॥

तरलस्य ममाप्युपायनं प्रभुदेहं दिवसेऽद्य यत्पुनः ।
जलमुच्चलमाप तावतेन्द्रपुरं सम्प्रति हर्षसन्ततेः ॥३३॥

आज के दिन अति चंचल भी मैं भगवान् की देह का उपहार बना, यह सोच करके ही मानों क्षीर सागर का वह जल अपनी हर्ष परम्परा से इन्द्र के पुर तक ऊपर पहुँचा ॥३३॥

शशिनाऽऽप विभुस्तु काञ्चन-कलशाली सह सन्ध्यया पुनः ।
प्रसरज्जलसन्ततिः सतां हृदये चन्द्रिकया समानताम् ॥३४॥

अभिषेक के समय भगवान् ने तो चन्द्र के साथ, सुवर्ण कलशों की पंक्ति ने सन्ध्या के साथ और फैलते हुए जल की परम्परा ने चन्द्रिका के साथ सज्जनों के हृदय में समानता प्राप्त की ॥३४।

कथमस्तु जडप्रसङ्गताऽखिलविज्ञानविधायिना सता ।
सह चेति सुरेशजायया स पुनः प्रोञ्छित ईश्वरो रयात् ॥३५॥

समस्त विज्ञान के विधायक इन संत भगवान् के साथ जड़ (जल और मूर्ख मनुष्य) का प्रसंग कैसे होवे, ऐसा विचार करके ही मानों इन्द्र की इन्द्राणी ने भगवान् के शरीर को शीघ्रता से पोंछ दिया ॥३५॥

स्फटिकाभकपोलके विभोः स्वदृगन्तं प्रतिबिम्बितं च भोः ।
परिमार्जितुमाहता शची व्यतरत्सत्स्वथ सस्मितां रुचिम् ॥३६॥

भगवान् के स्फटिक मणि के तुल्य स्वच्छ कपोल पर प्रतिबिम्बित अपने कटाक्ष को (यह कोई कालिमा लग रही है, यह समझ करके) बार-बार परिमार्जन करने को उद्यत उस इन्द्राणी ने देवों में मन्द हास्य-युक्त शोभा को प्रदान किया ॥३६॥

भावार्थ- भगवान् के कपोल पर प्रतिबिम्बत अपने ही कटाक्ष को भ्रम से बार-बार पोंछने पर भी उसके नहीं मिटने पर देवगण इन्द्राणी के इस भोलेपन पर हंसने लगे ।

प्रीतिमात्रावगम्यत्वात्तमिदानीं पुलोमजा ।
भूषणैर्भूषयामास जगदेकविभूषणम् ॥३७॥

यद्यपि, भगवान् सहज ही अति सुन्दर थे, तथापि नियोग को पूरा करने के लिए इस समय हर्षित इन्द्राणी ने जगत् के एक मात्र (अद्वितीय) आभूषण-स्वरूप इन भगवान् को नाना प्रकार के भूषणों से विभूषित किया ॥३७॥

कृत्वा जन्ममहोत्सवं जिनपतेरित्थं सुरा सादरं,
श्लाघाऽधीनपदैः प्रसाद्य पितरं सम्पूज्य वा मातरम् ।
सम्पोष्यापि पुरप्रजाः सुललितादानन्दनाटचादरं,
स्वं स्वं धाम ययुः समर्प्य जिनपं श्रीमातुरङ्के परम् ॥३८॥

इस प्रकार आदर के साथ सर्व देवगण जिनपति वीर भगवान् के जन्माभिषेक का महान् उत्सव करके और अत्यन्त प्रशसनीय वचनों से सिद्धार्थ पिता को प्रसन्न कर तथा त्रिशला माता की पूजा करके, एवं अपने सादर किये हुए आनन्द नाटक (ताण्डव नृत्य) से पुरवासी लोगों को आनन्दित करके और माता की गोद में भगवान् जिनेन्द्र को सौंप करके अपने-अपने स्थान को गये ॥३८॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं,
वाणीभूषण-वर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
आगत्याथ सुरैरकारि च विभोर्मेरौ समासेचन,
मित्यस्याभिनिवेदितऽत्र निरगात्सर्गो नयप्रार्थनः ॥७॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भुज और घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए, वाणी-भूषण, बाल ब्रह्मचारी पं. भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर द्वारा विरचित इस काव्य में वीर भगवान् के जन्माभिषेक का वर्णन करने वाला यह नयों की संख्या वाला सातवां सर्ग समाप्त हुआ ॥७॥

❖ ❖ ❖

अथ अष्टमः सर्गः

पितापि तावदावाञ्छीत् कर्तुं जन्ममहोत्सवम् ।
किमु सम्भवतान्मोदो मोदके परभक्षिते ॥१॥

अथानन्तर पिता श्री सिद्धार्थ ने भी भगवान् के जन्म-महोत्सव को करने की इच्छा की । सो ठीक ही है, क्योंकि दूसरे के द्वारा मोदक (लड्डू) के खाये जाने पर क्या दर्शक को भी मोदक खाने जैसा प्रमोद संभव है ? कभी नहीं ॥१॥

समभ्यवाञ्छि यत्तेन प्रागेव समपादि तत् ।
देवेन्द्रकोषाध्यक्षेण वाञ्छा वन्ध्या सतां न हि ॥२॥

सिद्धार्थ ने वीर भगवान् के जन्म महोत्सव मनाने के लिए जो-जो सोचा, उसे इन्द्र के कोषाध्यक्ष कुबेर ने सोचने से पहिले ही सम्पादित कर दिया । सो ठीक ही है, क्योंकि सुकृतशालियों की वांछा कभी बन्ध्या (व्यर्थ) नहीं होती है ॥२॥

सुधाश्रयतया ख्यातं चित्रादिभिरलङ्कृतम् ।
रेखानुविद्धधामापि स्वर्गवत्समभात्पुरम् ॥३॥

चूने की सपेदी के आश्रय से उज्जवल, नाना प्रकार के चित्र आदि से अलंकृत, एक पंक्ति-बद्ध भवन वाला वह नगर स्वर्ग के समान सुशोभित हुआ । जैसे स्वर्ग सुधा (अमृत) से, चित्रा आदि अप्सराओं से और लेखों (देवों) से युक्त रहता है ॥३॥

मानोन्नता गृहा यत्र मत्तवारणराजिताः ।
विशदाम्बरचुम्बित्वात्सम्बभूवुर्नृपा इव ॥४॥

वहां पर अपनी ऊंचाई से उन्नत सुन्दर बरामदों से शोभित भवन निर्मल आकाश को चूमने वाले होने से राजाओं के समान प्रतीत हो रहे थे । जैसे राजा लोग निर्मल वस्त्र के धारक, मदोन्मत्त गज सेना से युक्त एवं सन्मान से संयुक्त होते हैं ॥४॥

नटतां सटतामेवं दधत्संकटतामपि ।
असंकटमभूद्राजस्थानं निर्दोषदर्शनम् ॥५॥

नृत्य करते हुए नर्तकों से और आने-जाने वाले लोगों से संकटपने को (भीड़-भाड़ को) धारण करता हुआ भी वह राज-भवन संकट रहित और निर्दोष दिखाई दे रहा था ॥५॥

श्रिया सम्वर्धमानन्तमनुक्षणमपि प्रभुम् ।
श्रीवर्धमाननामाऽयं तस्य चक्रे विशाम्पतिः ॥६॥

सिद्धार्थ राजा ने प्रतिक्षण श्री अर्थात् शारीरिक सौन्दर्य से वृद्धिंगत होते हुए उन प्रभु का 'श्री वर्धमान' यह नाम रखा ॥६॥

इङ्गितेन निजस्याथ वर्धयन्मोदवारिधिम् ।
जगदाह्लादको बालचन्द्रमाः समवर्धत ॥७॥

अथानन्तर अपने इंगित से अर्थात् बाल-सुलभ नाना प्रकार की चेष्टा रूप क्रिया-कलाप से जगत् को आह्लादित करने वाले वे बाल चन्द्र-स्वरूप भगवान् संसार में हर्ष रूपी समुद्र को बढ़ाते हुए स्वयं बढ़ने लगे ॥७॥

रराज मातुरुत्सङ्गे महोदारविचेष्टितः ।
क्षीरसागरवेलाया इवाङ्के कौस्तुभो मणिः ॥८॥

महान् उदार-चेष्टाओं को करने वाले वे भगवान् माता की गोद में बैठकर इस प्रकार से शोभित होते थे, जिस प्रकार से कि क्षीरसागर की वेला के मध्यभाग पर अवस्थित कौस्तुभमणि शोभित होता है ॥८॥

अगादपि पितुः पार्श्वे उदयाद्रेरिवांशुमान् ।
सर्वस्य भूतलस्यायं चित्ताम्भोजं विकासयन् ॥९॥

कभी-कभी वे भगवान् समस्त भूतलवासी प्राणियों के चित्त रूप कमलों को विकसित करते हुए उदयाचल पर जाने वाले सूर्य के समान पिता के समीप जाते थे ॥९॥

देवतानां कराग्रे तु गतोऽयं समभावयत् ।
वल्लीना पल्लवप्रान्ते विकासि कुसुमायितम् ॥१०॥

देवताओं के हस्तों के अग्रभाग पर अवस्थित वे भगवान् इस प्रकार से सुशोभित होते थे, जिस प्रकार से कि, लताओं के पल्लवों के अन्त में विकसित कुसुम शोभा को धारण करता है ॥१०॥

कदाचिच्चोद्भुवो भालमलञ्चक्रे तदा स्मितम् ।
तदङ्घ्रिनखरश्मीनां व्याजेनाप्याततान सा ॥११॥

कदाचित् पृथ्वी पर खेलते हुए भगवान् उसके मस्तक को इस प्रकार से अलंकृत करते थे, मानों उनके चरणों के नखों की किरणों के बहाने से वह पृथ्वी अपनी मुस्कराहट को ही चारों ओर फैला रही है ॥११॥

यदा समवयस्केषु बालोऽयं समवर्तत ।
अस्य स्फूर्त्तिर्विभिन्नैव काचेषु मणिवत्तदा ॥१२॥

जब यह बाल स्वरूप भगवान् अपने समवयस्क बालकों में खेला करते थे, तो उनकी शारीरिक प्रभा औरों से विशेषता को लिए हुए पृथक ही दिखाई देती थी, जैसे कि काचों के मध्य में अवस्थित मणि की शोभा निराली ही दिखती है ॥१२॥

समानायुष्कदेवौघ-मध्येऽथो बालदेवराट् ।
कालक्षेपं चकारासौ रममाणों निजेच्छया ॥१३॥

इस प्रकार समान अवस्था वाले देव-कुमारों के समूह के बीच अपनी इच्छानुसार नाना प्रकार की क्रीड़ाओं को करते हुए वे देवाधिपति बाल जिनदेव समय व्यतीत कर रहे थे ॥१३॥

दण्डमापद्यते मोही गर्तमेत्य मुहुर्मुहुः ।
महात्माऽनुबभूवेदं बाल्यक्रीडासु तत्परः ॥१४॥

बाल्य-क्रीड़ाओं में तत्पर यह महात्मा वीर प्रभु गिल्ली डण्डा का खेल खेलते हुए ऐसा अनुभव करते थे कि जो मोही पुरुष संसार रूप गड्ढे में गिर पड़ता है, वह बार-बार इस गिल्ली के समान दण्ड को प्राप्त होता है ॥१४॥

भावार्थ - जैसे गड्ढे में पड़ी गिल्ली बार-बार डण्डे से पीटे जाने पर ही ऊपर को उठकर आती है, इसी प्रकार से जो मोही जन संसार रूप गर्त में पड़ जाते हैं, वे बार बार नाना प्रकार के दुःख रूप डण्डों से दण्डित होने पर ही ऊपर आते हैं, अर्थात् अपना उद्धार कर पाते हैं ।

परप्रयोगतो दृष्टेराच्छादनमुपेयुषः ।
शिरस्याघात एव स्याद्दिगान्ध्यमिति गच्छतः ॥१५॥

कभी-कभी आंख-मिचौनी का खेल खेलते हुए वे बाल रूप वीर भगवान् ऐसा अनुभव करते थे कि जो जीव पर-प्रयोग से अपनी दृष्टि के आच्छादन को प्राप्त होता है, अर्थात् अनात्म बुद्धि होकर मोह के उदय से जिसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है, वह दिगान्ध्य होकर शिर के आघात को ही प्राप्त होता है ॥१५॥

भावार्थ - आंख-मिचौनी के समान ही जिस जीव की दृष्टि मोह कर्म के द्वारा आच्छादित रहती है, वह दूसरों से सदा ताड़ना ही पाता है और दिशान्ध होकर इधर-उधर भटकता रहता है ।

नवालकप्रसिद्धस्य बालतामधिगच्छतः ।
मुक्तामयतयाऽप्यासीत्कुवलत्वं न चास्य तु ॥१६॥

यद्यपि वीर भगवान् बालकपन को धारण किये हुए थे, फिर भी वे न बालक प्रसिद्ध थे, अर्थात बालक नहीं थे । यह विरोध हुआ । इसका परिहार यह है कि वे नित बढ़ने वाले नवीन बालों (केशों) से युक्त थे । तथा वे मुक्तामय (मोती रूप) होकर के भी कुवल (मोती) नहीं थे । यह विरोध हुआ। इसका परिहार यह है कि ये भगवान् मुक्त-आमय अर्थात् रोग-रहित थे, अतएव दुर्बल नहीं, अपितु अतुल बलशाली थे ॥१६॥

अतीत्य बाऽलस्यभावं कौमारमतिवर्त्य च ।
समक्षतोचितां काय-स्थितिमाप महामनाः ॥१७॥

उन महामना भगवान् ने आलस्य-रहित होकर, तथा बालकपने को बिताकर, एवं कुमारपने का उल्लघंन कर किन्तु कामदेव की वासना से रहित होकर रहते हुए सुन्दर, सुडौल अवयवों वाली सर्वाङ्ग पूर्ण यौवन अवस्था रूप शारीरिक स्थिति को प्राप्त किया । अर्थात् युवावस्था में प्रवेश किया ॥१७॥

नाभिमानप्रसङ्गे न कासारमधिगच्छता ।
न मत्सरस्वभावत्वमुपादायि महात्मना ॥१८॥

भगवान् उस अवस्था में निरभिमानपने से कासार, अर्थात् आत्म-चिन्तन करते हुए लोगों में मत्सर भाव से रहित थे । दूसरा अर्थ यह है कि अपनी नाभि के द्वारा सौन्दर्य प्रकट करते हुए वे कासार अर्थात सरोवर की उपमा को धारण करते थे ॥१८॥

मृदुपल्लवतां वाचः स्फुरणे च करद्वये ।
शरधिप्रतिमानत्वं चित्ते चोरुयुगे पुनः ॥१९॥

युवावस्था में भगवान् वचन-स्फुरण, अर्थात् बोलने में मृदुभाषिता को और दोनों हाथों में कोमल-पल्लवता (कोंपल समान मृदुता) को, तथा चित्त में और दोनों जंघाओं में शरधि-समानता को धारण करते थे । अर्थात् चित्त में तो शरधि (जलधि) के समान गम्भीरता थी और जंघाओं में शरधि (तूणीर) के समान उतार चढ़ाव वाली मांसलता थी ॥१९॥

व्यासोपसंगृहीतत्वं यस्य वक्षसि वेदवत् ।
स्फुरत्तमः स्वभावत्वं कचवृन्दे च नक्तवत् ॥२०॥

उन भगवान् के वक्षःस्थल में वेद के समान व्यासोपसंगृहीतता थी, अर्थात् जैसे व्यासजी ने वेदों का संकलन किया है, उसी प्रकार भगवान् का वक्षस्थल व्यास वाला था, अर्थात् अति विस्तृत था । उनके केश-समूह में रात्रि के समान स्फुटित-तमःस्वभावता थी, अर्थात् उनके केश चमकदार और अत्यन्त काले थे ॥२०॥

अविकल्पकतोत्साहे सौगतस्येव दर्शने ।
परानुग्रहता यस्य चित्ते बुधनभोगवत् ॥२१॥

सौगत (बौद्ध) के दर्शन के समान भगवान् के उत्साह में निर्विकल्पकता थी, तथा चित्त में बुध नक्षत्र के समान परानुग्रहता थी ॥२१॥

भावार्थ - भगवान् चित्त में उत्साह युक्त रहते हुए भी संकल्प विकल्प रहित थे और वे सदा दूसरों का अनग्रह (उपकार) करने को तत्पर रहते थे ।

सुतरूास्थितिं दृष्ट्वा तदा रामोपयोगिनीम् ।
कन्यासमितिमन्वेष्टुं प्रचक्राम प्रभोः पिता ॥२२॥

उस युवावस्था में अपने पुत्र की रामोपयोगिनी अर्थात् विवाह के योग्य स्थिति को देखकर प्रभु के पिता ने कन्याओं के समूह को ढूंढने का उपक्रम किया । दूसरा श्लिष्ट अर्थ यह है कि आराम (उद्यान) के योग्य सुन्दर तरुओं (वृक्षों) की उपस्थिति को देखकर उसे क-न्यास अर्थात् जल-सिंचन के लिए राजा ने विचार किया ॥२२॥

प्रभुराह निशम्येदं तात ! तावत्किमुद्यते ।
दारुणेत्युदिते लोके किमिष्टेऽहं सदारताम् ॥२३॥

पिता के इस विवाह-प्रस्ताव को सुनकर भगवान् बोले- हे तात । यह आप क्या कहते हैं ? लोक की ऐसी दारुण स्थिति में मैं क्या सदारता को स्वीकार करूं ? दूसरा श्लेषार्थ यह है कि दारु (काष्ठ) से निर्मित इस लोक में सदारता (सदा+अरता) अर्थात् करपत्रता या करोंतपना अंगीकार करूं ? जैसे लकड़ी करोंत से कटकर खंड-खंड हो जाती है, वैसे ही क्या मैं भी सदारता को प्राप्त करके उसी प्रकार की दशा को प्राप्त होऊं ॥२३॥

प्रत्युवाच वचस्तातो जगदीश्वरमित्यदः
नारीं विना क्व नुश्छाया निश्शाखस्य तरोरिव ॥२४॥

भगवान् के उक्त वचन सुनकर पिता ने जगदीश्वर वीर भगवान् से पुनः कहा - नारी के बिना नर की छाया (शोभा) कहां संभव है? जैसे कि शाखा रहित वृक्ष की छाया सम्भव नहीं है ॥२४।

एतद्वचोहिमाऽऽक्रान्त-मनःकमलतां दधत् ।
नानुजानामि माता ते श्वश्रूनाम न सम्वहेत् ॥२५॥

हिम (बर्फ) से आक्रान्त कमल की जैसी दशा हो जाती है, भगवान् के वचन से वैसी ही मनः स्थिति को प्राप्त होते हुए पिता ने पुनः कहा- तुम्हारी माता कभी 'सासू' इस नाम को नहीं धारण करेगी, ऐसा मैं नहीं जानता था ॥२५॥

भावार्थ - मुझे तुमसे यह आशा नहीं थी कि तुम विवाह के प्रस्ताव को इस प्रकार अस्वीकार कर माता को सासू बनाने का अवसर नहीं दोगे ।

किमु राजकुलोत्पन्नो हेतुनापि विनाऽङ्गज ।
युवतीर्थोऽत्र युवतिरहितो भवतादिति ॥२६॥

पिता ने पुनः कहा - हे आत्मज ! बिना किसी कारण के ही क्या राजकुल में उत्पन्न यह युवतीर्थ (युवावस्थारूपी तीर्थ) युवती रहित ही रहेगा ? अर्थात् अविवाहित रहने का तुम्हें कोई कारण ता बतलाना चाहिए ॥२६॥

पुत्रप्रेमोद्भवं मोहं पितुर्ज्ञात्वा प्रभुः पुनः ।
विनयेनेति सम्वक्तुं समारेभे महामनाः ॥२७॥

पिता के पुत्र-प्रेम से उत्पन्न हुए इस मोह को देखकर महामना वीर भगवान् ने पुनः विनय के साथ इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया ॥२७॥

करत्रमेकतस्तात परत्र निखिलं जगत् ।
प्रेमपात्रं किमित्यत्र कर्तव्यं ब्रूहि धीमता ॥२८॥

हे तात ! एक ओर कलत्र (स्त्री) है और दूसरी ओर यह सर्व दुःखी जगत् है । हे श्रीमन् इनमें से मैं किसे अपना प्रेम-पात्र बनाऊं ? मेरा क्या कर्तव्य है ? इसे आप ही बतलाइये ॥२८॥

किमस्मदीयबाहुभ्यां प्रियाया गलमालभे ।
धूर्त्तानां पाशतो जन्तून् ताभ्यामुन्मोचयेऽथवा ॥२९॥

क्या मैं अपनी इन समर्थ भुजाओं से प्रिया के गले का आलिङ्गन करुं, अथवा इनके द्वारा धूर्तों के जाल से इन दीन प्राणियों को छुड़ाऊं ॥ (आप ही बतलाइये) ॥२९॥

प्रायोऽस्मिन् भूतले पुंसो बन्धनं स्त्रीनिबन्धनम्
यदभावे परं किञ्चित् सम्भवेच्च न बन्धनम् ॥३०॥

प्रायः इस भूतल पर पुरुष के स्त्री का बन्धन ही सबसे बड़ा बन्धन है, जिसके अभाव में और कोई दूसरा बन्धन सम्भव नहीं है । अर्थात् कुटुम्ब आदि के अन्य बन्ध स्त्री के अभाव में सम्भव नहीं होते हैं ॥३०॥

हृषीकाणि समस्तानि माद्यन्ति प्रमदाऽऽश्रयात् ।
नो चेत्पुनरसन्तीव सन्ति यानि तु देहिनः ॥३१॥

प्रमदा (स्त्री) के आश्रय से ये समस्त इन्द्रियां मद को प्राप्त होती हैं। यदि स्त्री का सम्पर्क न हो तो फिर ये देहधारी के होती हुई भी नहीं होती हुई सी रहती हैं ॥३१॥

तदीयरूपसौन्दर्यामृतराशेः सदाऽतिथी ।
निजनेत्रझषौ कर्तुं चित्तमस्य प्रसर्पति ॥३२॥

स्त्री के होने पर मनुष्य का चित्त अपने दोनों नयन रूप मीनों को उसके रूप-अमृतसागर का अतिथि बनाने के लिए सदा उत्सुक रहता है। अर्थात् वह फिर सदा स्त्री के रूप सौन्दर्य के सागर में ही गोते लगाया करता है ॥३२॥

यन्मार्दवोपदानायोद्वर्त्तनादि समर्ज्यते ।
सदा मखमलोत्तूलशयनाद्यनुकुर्वता ॥३३॥

और स्त्री होने पर ही, यह मनुष्य सदा मखमली बिस्तरों पर शयन-आसन आदि को करता हुआ शरीर की मार्दवता के लिए उबटन, तैल-मर्दन आदि को किया करता है ॥३३॥

न हि किञ्चिदगन्धत्वमन्धत्वमधिगच्छता ।
इति तैलफुलेलादि सहजं परिगृह्यते ॥३४॥

मेरे शरीर में कदाचित् कुछ भी दुर्गन्ध प्राप्त न हो जाय, इसी विचार से स्त्री के प्रेम में अन्धा बनकर मनुष्य रात-दिन तेल-फुलेल आदि को सहज में ही ग्रहण करता रहता है ॥३४॥

प्रसादयितुमित्येतां वपुषः परिपुष्टये ।
वाजीकरणयोगानामादरः क्रियतेऽन्वहम् ॥३५॥

और अपनी स्त्री को प्रसन्न करने के लिए शरीर की पुष्टि करने वाले वाजीकरण प्रयोगों में सदा आदर करता है, अर्थात् नित्य ही पुष्टि-कारक एवं बल-वीर्य-वर्धक औषधियों का सेवन करता रहता है ॥३५॥

वदत्यपि जनस्तस्यै श्रवसोस्तृप्तिकारणम् ।
स्वकर्णयोः सुधासूति तद्वचः श्रोतुमिच्छति ॥३६॥

मनुष्य स्त्री को प्रसन्न करने के लिए तो स्त्री से मीठे वचन बोलता है और उस स्त्री के वचन कानों को तृप्ति के कारण है, इसलिए अपने कानों में सुधा को प्रवाहित करने वाले उसके वचनों को सुनने के लिए मनुष्य सदा इच्छुक रहता है। इस प्रकार स्त्रियों के निमित्त से पुरुष उसका दास बन जाता है ॥३६॥

इन्द्रियाणां तु यो दासः स दासो जगतां भवेत् ।
इन्द्रियाणि विजित्यैव जगज्जेतृत्वमाप्नुयात् ॥३७॥

हे तात ! सच बात तो यह है कि जो इन्द्रियों का दास है, वह सर्व जगत् का दास है । किन्तु इन्द्रियों को जीत करके ही मनुष्य जगज्जेतृत्व को प्राप्त कर सकता है ॥३७॥

सद्योऽपि वशमायान्ति देवाः किमुत मानवाः ।
यतस्तद्ब्रह्मचर्यं हि व्रताचारेषु सम्मतम् ॥३८॥

जो पुरुष ब्रह्मचारी रहता है, उसके देवता भी शीघ्र वश में आ जाते हैं, फिर मनुष्यों की तो बात ही क्या है । इसीलिए ब्रह्मचर्य सर्व व्रताचरणों में श्रेष्ठ माना गया है ॥३८॥

पुरापि श्रूयते पुत्री ब्राह्मी वा सुन्दरी पुरोः ।
अनूचानत्वमापन्ना स्त्रीषु शस्यतमा मता ॥३९॥

सुना जाता है कि पूर्वकाल में भी पुरुदेव ऋषभनाथ की सुपुत्री ब्राह्मी और सुन्दरी ने भी ब्रह्मचर्य को अंगीकार किया है और वे सर्व स्त्रियों में प्रशस्ततम (सर्वश्रेष्ठ) मानी गई हैं ॥३९॥

उपान्त्योऽपि जिनो बाल-ब्रह्मचारी जगन्मतः ।
पाण्डवानां तथा भीष्म-पितामह इति श्रुतः ॥४०॥

उपान्त्य जिन पार्श्वनाथ भी बाल ब्रह्मचारी रहे हैं, यह सारा जगत् जानता है । तथा पाण्डवों के भीष्म पितामह भी आजीवन ब्रह्मचारी रहे, ऐसा सुना जाता है ॥४०॥

अन्येऽपि बहवो जाताः कुमारश्रमणा नराः ।
सर्वेष्वपि जयेष्वग्र-गतः कामजयो यतः ॥४१॥

अन्य भी बहुत से मनुष्य कुमार-श्रमण हुए हैं, अर्थात् विवाह न करके कुमार-काल में ही दीक्षित हुए हैं । हे तात ! अधिक क्या कहें- सभी विजयों में काम पर विजय पाना अग्रगण्य है ॥४१॥

हे पितोऽयमितोऽस्माकं सुविचारविनिश्चयः ।
नरजन्म दधानोऽहं न स्यां भीरुवशंगतः ॥४२॥

इसलिए हे पिता ! हमारा यह दृढ़ निश्चित विचार है कि मनुष्य जन्म को धारण करता हुआ मैं स्त्री के वशंगत नहीं होऊंगा ॥४२॥

किं राजतुक्तोद्वाहेन प्रजायाः सेवया तु सा ।
तदर्थमेवेदं ब्रह्मचर्यमाराधयाम्यहम् ॥४३॥

और जो अपने विवाह करने से राजपुत्रता की सार्थकता कही, सो उससे क्या राजपुत्रपना सार्थक होता है ? वह तो प्रजा की सेवा से ही सार्थक होता है । अतएव प्रजा की सेवा के लिए ही मैं ब्रह्मचर्य की आराधना करता हूँ ॥४३॥

राज्यमेतदनर्थाय कौरवाणामभूदहो ।
तथा भरत-दोःशक्त्योः प्रपञ्चाय महात्मनोः ॥४४॥

संसार का यह राज्य तो अनर्थ के लिए ही है । देखो - कौरवों का इसी राज्य के कारण विनाश हो गया । भरत और बाहुबली जैसे महापुरुषों के भी यह राज्य प्रपंच का कारण बना ॥४४॥

राज्यं भुवि स्थिरं क्वाऽऽसीत्प्रजायाः मनसीत्यतः ।
शाश्वतं राज्यमध्येतु प्रयते पूर्णरूपतः ॥४५॥

और फिर यह सांसारिक राज्य स्थिर भी कहां रहता है ? अतएव मैं तो प्रजा के मन में सदा स्थिर रहने वाला जो शाश्वत राज्य है उसके पाने के लिए पूर्ण रूप से प्रयत्नशील हूँ ॥४५॥

निशम्य युक्तार्थधुरं पिता गिरं पस्पर्श बालस्य नवालकं शिरः ।
आनन्दसन्दोहसमुल्लसद्वपुस्तया तदास्येन्दुमदो दृशः पपुः ॥४६॥

भगवान् की यह युक्ति-युक्त वाणी को सुनकर के आनन्द सन्दोह से पुलकित शरीर होकर पिता ने अपने बालक के नव अलक (केश) वाले शिर का स्पर्श किया और उनके नेत्र भगवान् के मुखरूप चन्द्र से निकलने वाले अमृत को पीने लगे ॥४६॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं,
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
वीरस्य क्रमतोऽभिवृद्धय युवतामास्य पित्रार्थनाऽ,
भूद्वैवाहिकसम्विदेऽवददसौ निष्कामकीर्तिं तु ना ॥८॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भुजजी और घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए वाणी भूषण बाल ब्रह्मचारी पं. भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर द्वारा विरचित इस काव्य में वीर भगवान् की बाल्यावस्था से युवावस्था को प्राप्त होने पर पिता के द्वारा प्रस्तावित विवाह की अस्वीकारता और गृह-त्याग की भावना का वर्णन करने वाला यह आठवां सर्ग समाप्त हुआ ॥८॥

❖ ❖ ❖

अथ नवमः सर्गः

अथ प्रभोरित्यभवन्मनोधनं निभालयामो वउरं जगज्जनम् ।
वृषं विलुम्पन्तमहो सनातन यथात्म विष्वक् तनुभृन्निभालनम् ॥१॥

विवाह कराने का प्रस्ताव स्वीकार न करने के पश्चात् वीर प्रभु के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ - अहो मैं संसार के लोगों को मूर्खता और मूढ़ताओं से भरा हुआ देख रहा हूँ । तथा प्राणिमात्र को अपने समान समझने वाला सनातन धर्म विलुप्त होता हुआ देख रहा हूँ, इसलिए मुझे उसकी संभाल करना चाहिए ॥१॥

तिष्ठेयमित्यत्र सुखेन भूतले स्खलत्यथान्यः स पुनः परिस्खलेत् ।
किं चिन्तया चान्यजनस्य मन्मनस्यमुं स्वसिद्धान्तमुपैत्यहो जनः ॥२॥

अहो, ये संसारी लोग कितने स्वार्थी हैं । वे सोचते हैं - कि संसार में मैं सुख से रहूँ, यदि अन्य कोई दुःख में गिरता है, तो गिरे, हमारे मन में अन्य जन की चिन्ता क्यों हो ? इस प्रकार सर्व जन अपने-अपने स्वार्थ-साधन के सिद्धान्त को प्राप्त हो रहे हैं ॥२॥

स्वीयां पिपासां शमयेत् परासृजा क्षुधां परप्राणविपत्तिभिः प्रजा ।
स्वचक्षुषा स्वार्थपरायणां स्थितिं निभालयामो जगतीदृशीमिति ॥३॥

आज लोग दूसरे के खून से अपनी प्यास शान्त करना चाहते हैं और दूसरे के प्राणों के विनाश से अर्थात् उनके मांस से अपनी भूख मिटाना चाहते हैं । आज मैं अपनी आंख से जगत् में ऐसी स्वार्थ-परायण स्थिति को देख रहा हूँ ॥३॥

अजेन माता परितुष्यतीति तन्निगद्यते धूर्तजनैः कदर्थितम् ।
पिबेन्नु मातापि सुतस्य शोणितमहो निशायामपि अर्यमोदितः ॥४॥

अहो ! धूर्त्त जन कहते हैं कि जगदम्बा बकरे की बलि से सन्तुष्ट होती है ! किन्तु यदि माता भी पुत्र के खून को पीने लगे, तब तो फिर रात्रि में भी सूर्य उदित हुआ समझना चाहिए ॥४॥

जाया-सुतार्थं भुवि विस्फुरन्मनाः कुर्यादजायाः सुतसंहृतिं च ना ।
किमुच्यतामीदृशि एवमार्यता स्ववाञ्छितार्थं स्विदनर्थकार्यता ॥५॥

इस भूतल पर आज मनुष्य अपनी स्त्री के पुत्र-लाभ के लिए हर्षित चित्त होकर के अजा (बकरी) के पुत्र का संहार कर रहा है ! ऐसी आर्यता (उच्च कुलीनता) को क्या कहा जाय ! यह तो अपने वांछित कार्य की सिद्धि के लिए अनर्थ करने वाली महा नीचता है ॥५॥

गार्हस्थ्य एवाभ्युदिताऽस्ति निर्वृतिर्यतो नृकीटैर्ध्रियतेऽधुना मृतिः ।
अत्यक्तदारैकसमाश्रयैः कृती स कोऽपि योऽभ्युज्झितकामसत्कृतिः ॥६॥

अहो, आज गार्हस्थ्य दशा में ही मुक्ति संभव बतलाई जा रही है । उसी का यह फल है, कि ये नर-कीट स्त्री-पुत्रादि का आश्रय छोड़े बिना ही अब घर में मर रहे हैं । आज कोई बिरला ही ऐसा कृती पुरुष दृष्टिगोचर होता है, जो कि काम-सेवा एवं कुटुम्बादि से मोह छोड़ कर आत्म-कल्याण करता हो ॥६॥

जनैर्जरायामपि वाञ्छ्यते रहो नवोढया स्वोदरसम्भवाऽप्यहो ।
विक्रीयते निष्करुणैर्मृगीव तैर्दुष्कामि-सिंहस्य करे स्वयं हतैः ॥७॥

अहो आज लोग बुढ़ापे में भी नवोढ़ा के साथ संगम चाहते हैं । आज करुणा-रहित हुए कितने ही निर्दयी लोग दुष्कामी सिंह के हाथ में अपने उदर से उत्पन्न हुई बालिका को मृगी के समान स्वयं बेच रहे हैं ॥७॥

जनोऽतियुक्तिर्गुरुभिश्च संसजेत् पिताऽपि तावत्तनयं परित्यजेत् ।
वृथाऽरिता सोदरयोः परस्परमपीह नारी-नरयोश्च सङ्गरः ॥८॥

आज संसार में मनुष्य अयोग्य वचनों से, गुरु जनों का अपमान कर रहा है, और पिता भी स्वार्थी बनकर अपने पुत्र का परित्याग कर रहा है । एक उदर से उत्पन्न हुए दो सगे भाइयों में आज परस्पर अकारण ही शत्रुता दिखाई दे रही है और स्त्री-पुरुष में कलह मचा हुआ है ॥८॥

स्वरोटिकां मोटयितुं हि शिक्षते जनोऽखिलः सम्वलयेऽधुना क्षितेः।
न कश्चनाप्यन्यविचारतन्मना नृलोकमेषा ग्रसते हि पूतना ॥९॥

आज इस भूतल पर समस्त जन अपनी-अपनी रोटी को मोटी बनाने में लग रहे हैं । कोई भी किसी अन्य की भलाई का विचार नहीं कर रहा है । अहो, आज तो यह स्वार्थ-परायणता रूपी राक्षसी सारे मनुष्य लोक को ही ग्रस रही है ॥९॥

जनी जनं त्यक्तुमिवाभिवाञ्छति यदा स शीर्षे पलितत्वमञ्चति ।
नरोऽपि नारीं समुदीक्ष्य मञ्जुलां निषेवते स्त्रागभिगम्य सम्बलात् ॥१०॥

आज स्त्री जब अपने पति के शिर में सफेदी देखती है, तो उसे ही छोड़ने का विचार करती है । आज का मनुष्य भी किसी अन्य सुन्दरी को देखकर उसे शीघ्र बलात् पकड़ कर उसे सेवन कर रहा है ॥१०॥

स्ववाञ्छितं सिद्ध्यति येन तत्पथा प्रयाति लोकः परलोकसंकथा।
समस्ति तावत्खलता जगन्मतेऽनुसिच्यमाना खलता प्रवर्धते ॥११॥

आज जिस मार्ग से अपने अभीष्ट की सिद्धि होती है, संसार उसी मार्ग से जा रहा है, परलोक की कथा तो आज खलता (गगनलता) हो रही है। आज तो जगत् में निरन्तर सींची जाती हुई खलता (दुर्जनता) ही बढ रही है ॥११॥

समीहमानः स्वयमेष पायसं समत्तुमाराच्चणभक्षकाय सन् ।
धरातले साम्प्रतमर्दितोदरः प्रवर्तते हन्त स नामतो नरः ॥१२॥

आज का यह मानव स्वयं खीर को खाने की इच्छा करते हुए भी दूसरों को चना खाने के लिए उद्यत देखकर उदर-पीड़ा से पीड़ित हुआ दिखाई दे रहा है। दुःख है कि आज धरातल पर यह नाम-मात्र से मनुष्य बना हुआ है ॥१२॥

अहो पशूनां ध्रियते यतो बलिः श्मसानतामञ्चति देवतास्थली ।
यमस्थली वाऽतुलरक्तरञ्जिता विभाति यस्याः सततं हि देहली ॥१३॥

अहो, यह देवतास्थली (मन्दिरों की पावन भूमि) पशुओं की बलि को धारण कर रही है और श्मसानपने को प्राप्त हो रही है। उन मन्दिरों की देहली निरन्तर अतुल रक्त से रञ्जित होकर यम-स्थीली-सी प्रतीत हो रही है ॥१३॥

एकः सुरापानरतस्तथा वत पलङ्कषत्वात्कवरस्थली कृतम् ।
केनोदरं कोऽपि परस्य योषितं स्वसात्करोतीतरकोणनिष्ठितः ॥१४॥

कहीं पर कोई सुरा- (मदिरा-) पान करने में संलग्न है, तो कहीं पर दूसरा मांस खा-खाकर अपने उदर को कब्रिस्तान बना रहा है। कहीं पर कोई मकान के किसी कोने में बैठा हुआ पराई स्त्री को आत्मसात् कर रहा है ॥१४॥

कुतोऽपहारो द्रविणस्य दृश्यते तथोपहारः स्ववचः प्रपश्यते ।
परं कलत्रं ह्रियतेऽन्यतो हटाद्विकीर्यते स्वोदरपूर्तये सटा ॥१५॥

कहीं पर कोई पराये धन का अपहरण कर रहा है, तो कहीं पर कोई अपने झूठे वचन को पुष्ट करने वाले के लिए उपहार दे रहा है। कहीं पर कोई हठात् पराई स्त्री को हर रहा है, तो कहीं पर कोई अपने उदर की पूर्ति के लिए अपनी जटा फैला रहा है ॥१५॥

मुधेश्वरस्य प्रतिपत्तिहेतवेऽथ संहृतिर्यत्क्रियते जवञ्जवे ।
न तादृशीभूमिधनादिकारणानुवृत्तये कीदृशि अस्ति धारणा ॥१६॥

देखो, आश्चर्य तो इस बात का है कि आज लोग इस संसार में व्यर्थ कल्पना किये गये (अपने मनमाने) ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए जैसी शास्त्रार्थ रूप लड़ाई लड़ रहे हैं, वैसी लड़ाई तो आज भूमि, स्त्री और धनादि कारणों के लिए नहीं लड़ी जा रही है, यह कैसी विचित्र धारणा है ॥१६॥

दुर्मोचमोहस्य हतिः कुतस्तथा केनाप्युपायेन विदूरताऽपथात् ।
परस्परप्रेमपुनीतभावना भवेदमीषामितिं मेऽस्ति चेतना ॥१७॥

अतएव इस दुर्मोच (कठिनाई से छूटने वाले) मोह का विनाश कैसे हो, लोग किस उपाय से उत्पथ (कुमार्ग) त्याग कर सत्पथ (सुमार्ग) पर आवें और कैसे इनमें परस्पर प्रेम की पवित्र भावना जागृत हो। यही मेरी चेतना है अर्थात् कामना है । (ऐसा भगवान् उस समय विचार कर रहे थे ।) ॥१७।

जाड्यं पृथिव्याः परहर्तुमेव तच्चिन्तापरे तीर्थकरे क्रुधेव तत् ।
व्याप्तुं पृथिव्यां कटिबद्धभावतामेतत्पुनः सम्व्रजति स्म तावता ॥१८॥

इस प्रकार भगवान् ने पृथ्वी पर फैली हुई जड़ता (मूढ़ता) को दूर करने का विचार करते समय मानों उन पर क्रोधित हुए के समान सारी पृथ्वी पर तत्परता से कटिबद्ध होकर जाड़ा फैल गया । अर्थात् शीतकाल आ गया ॥१८॥

कन्याप्रसूतस्य धनुःप्रसङ्गतस्त्वनन्यमेवातिशयं प्रविभ्रतः ।
शीतस्य पश्यामि पराक्रमं जिन श्रीकर्णवत्कम्पकरं च योगिनः ॥१९॥

हे जिन भगवान् । कन्या-राशि से उत्पन्न हुए और धनु राशि के प्रसंग से अतिशय वृद्धि को धारण करने वाले, तथा योगियों को कंपा देने वाले इस शीतकाल को मैं श्री कर्ण राजा के समान पराक्रमी देखता हूँ ॥१९॥

भावार्थ - जैसे कर्ण राजा कुमारी कन्या कुन्ती से उत्पन्न हुआ और धनुर्विद्या को प्राप्त कर उसके निमित्त से अति प्रतापी और अजेय हो गया था, जिसका नाम सुनकर योगीजन भी थर्रा जाते थे, उसी प्रकार यह शीतकाल भी उसी का अनुकरण कर रहा है, क्योंकि यह भी कन्या राशिस्थ सूर्य से उत्पन्न होकर धन राशि पर आने से अति उग्र हो रहा है ।

कुचं समुद्घाटयति प्रिये स्त्रियाः समुद्भवन्ती शिशिरोचितश्रियाः ।
तावत्करस्पर्शसुखैकलोपकृत् सूचीव रोमाञ्चततीत्यहो सकृत् ॥२०॥

इस समय प्रिय के द्वारा स्त्री के कुचों को उघाड़ दिये जाने पर शीत के मारे उन पर रोमांच हो आते हैं, जो कि उसके कर-स्पर्श करने पर सुख का लोप कर उसे सुई के समान चुभते हैं ॥२०॥

सम्बिभ्रती सम्प्रति नूतनं वयः समानयन्ती किल कूपतः पयः ।
तुषारतः सन्दधती सितं शिरस्तुजे भ्रमोत्पत्तिकरीत्यहो चिरम् ॥२१॥

इस शीतकाल में नवीन वय को धारण करने वाली और काले केशों वाली कोई स्त्री जब कुएं से जल भर कर घर को आती है और मार्ग में हिमपात होने से उसके केश श्वेत हो जाते हैं, तब उसके घर आने पर वह अपने बच्चे के लिए भी चिरकाल तक 'यह मेरी माता है, या नहीं' इस प्रकार के भ्रम को उत्पन्न करने वाली हो जाती है, यह आश्चर्य है ॥२१॥

विवर्णतामेव दिशन् प्रजास्वयं निरम्बरेषु प्रविभर्त्ति विस्मयम् ।
फलोदयाधारहरश्च शीतल–प्रसाद एषोऽस्ति तमां भयङ्करः ॥२२॥

यह शीतल-प्रसाद अर्थात् शीतकाल का प्रभाव बड़ा भयंकर है, क्योंकि यह प्रजाओं में (जन साधारण में) विवर्णता (कान्ति हीनता) को फैलाता हुआ और निरम्बरों (वस्त्र-हीनों) में विस्मय को उत्पन्न करता हुआ फलोदय के आधार भूत वृक्षों को विनष्ट कर रहा है ॥२२॥

भावार्थ - यहां कवि ने अपने समय के प्रसिद्ध ब्र. शीतल प्रसादजी की ओर व्यंग्य किया है, जो कि विधवा-विवाह आदि का प्रचार कर लोगों में वर्णशंकरता को फैला रहे थे, तथा दिगम्बर जैनियों में अति आश्चर्य उत्पन्न कर रहे थे और अपने धर्म-विरोधी कार्यों से लोगों को धर्म के फल स्वर्ग आदि की प्राप्ति के मार्ग में रोड़ा अटका रहे थे ।

रुचा कचानाकलयञ्जनीष्वयं नितम्बतो वस्त्रमुतापसारयन् ।
रदच्छदं सीत्कृतिपूर्वकं धवायते दधच्छैशिर आशुगोऽथवा ॥२३॥

अथवा यह शीतकालीन वायु अपने संचार से स्त्रियों में उनके केशों को बिखेरता हुआ, नितम्ब पर से वस्त्र को दूर करता हुआ सीत्कार शब्द पूर्वक उनके ओठों को चूमता हुआ पति के समान आचरण कर रहा है ॥२३॥

दृढं कवाटं दयितानुशायिन उपर्यथो तूलकुथोऽनपायिनः ।
अङ्गारिका चेच्छयनस्य पार्श्वतः शीतोऽप्यहो किं कुरुतादसावतः ॥२४॥

यदि मकान के किवाड़ दृढ़ता से बन्द हैं, मनुष्य अपनी प्यारी स्त्री का आलिंगन किये हुए आनन्द से सो रहा है, ऊपर से रूई भरी रिजाई को ओढ़े हुए है और शय्या के समीप ही अंगारों से भरी हुई अंगीठी रखी हुई है, तो फिर ऐसे लोगों का अहो, यह शीत क्या बिगाड़ कर सकेगा ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥२४॥

सग्रन्थिकन्थाविवरात्तमारुतैर्निशामतीयाद्विचलद्रदोऽत्र तैः ।
निःस्वोऽपि विश्वोत्तमनामधामतः कुटीरकोणे कुचिताङ्गको वत ॥२५॥

इस शीलकाल में दरिद्र पुरुष भी- जो कि फटी गूदड़ी को ओढ़े हुए हैं और जिसके छिद्रों से ठंडी हवा आ रही है, अतः शीत से पीड़ित होकर दांत किटकिटा रहा है, ऐसी दशा में भी वह विश्वोत्तम भगवान् का नाम लेते हुए ही कुटिया के एक कोने में संकुचित अंग किये हुए रात बिता रहा है ॥२५॥

कुशीलवा गल्लकफुल्लकाः पुनर्हिमर्त्तुराज्ञो विरदाख्यवस्तुनः ।
प्रजल्पनेऽनल्पतयैव तत्परा इवामरेशस्य च चारणा नराः ॥२६॥

इस समय गालों को फुला कर बड़बड़ाने वाले ऊंट लोग हिम ऋतु रूपी राजा की विरदावली के बखान करने में खूब अच्छी तरह से इस प्रकार तत्पर हो रहे हैं, जैसे कि राजा अमरेश की विरदावली चारण लोग बखानते हैं ॥२६॥

भावार्थ - यहां पर अमरेश पद से कवि ने अपने रणोली ग्राम के राजा अमरसिंह का स्मरण किया है।

प्रकम्पिताः कीशकुलोद्भवास्ततं मदं समुज्झन्ति हिमोदयेन तम् ।
समन्तभद्रोक्तिरसेण कातराः परे परास्ता इव सौगतोत्तरा ॥२७॥

जैसे समन्तभद्र-स्वामी के सूक्ति-रस से सौगत (बौद्ध) आदि अन्य दार्शनिक प्रवादी लोग शास्त्रार्थ में परास्त होकर कायर बन अपने मद (अंहकार) को छोड़ देते हैं, उसी प्रकार इस समय हिम के उदय से अर्थात् हिमपात होने से कीशकुलोद्भव वानर लोग भी कांपते हुए अपने मद को छोड़ रहे हैं ॥२७॥

रविर्धनुः प्राप्य जनीमनांसि किल प्रहर्तुं विलसत्तमांसि ।
स्मरो हिमैर्व्यस्तशरप्रवृत्तिस्तस्यासकौ किङ्करतां बिभर्ति ॥२८॥

शीतकाल के हिमपात से अस्त-वयस्त हो गई है, शर-संचालन की प्रवृत्ति जिसकी ऐसा यह कामदेव अभिमान से अति विलास को प्राप्त स्त्रियों के मन को हरने में असमर्थ हो रहा है, अतएव उसकी सहायता के लिए ही मानों यह सूर्य धनुष लेकर अर्थात् धनु राशि पर आकर उस कामदेव की किंकरता (सेवकपना) को धारण कर रहा है, अर्थात् उसकी सहायता कर रहा है ॥२८॥

श्यामास्ति शीताकुलितेति मत्वा प्रीत्याम्बरं वासर एष दत्त्वा ।
किलाधिकं संकुचितः स्वयन्तु तस्यै पुनस्तिष्ठति कीर्त्तितन्तु ॥२९॥

यह श्यामा (रात्रि रूप स्त्री) शीत से-पीड़ित हो रही है, ऐसा समझ कर मानों यह दिन (सूर्य) प्रीति से उसके लिए अधिक अम्बर (वस्त्र और समय) दे देता है और स्वयं तो संकुचित होकर के समय बिता रहा है, इस प्रकार उसके साथ स्नेह प्रकट करता हुआ सा प्रतीत होता है ॥२९॥

भावार्थ - शीतकाल में दिन छोटे और रात्रि बड़ी होने लगती है, इसे लक्ष्य में रखकर कवि ने उक्त उत्प्रेक्षा की है ।

उष्मापि भीष्मेन जितं हिमेन गत्वा पुनस्तन्निखिलं क्रमेण ।
तिरोभवत्येव भुवोऽवटे च वटे मृगाक्षीस्तनयोस्तटे च ॥३०॥

भयङ्कर हिम के द्वारा जीती गई वह समस्त उष्णता भागकर क्रम से पृथ्वी के कूप में, वट वृक्ष में और मृगनयनियों के स्तनों में तिरोहित हो रही है ॥३०॥

भावार्थ - शीतकाल में और तो सर्व स्थानों पर शीत अपना अधिकार जमा लेता है, तब गर्मी भागकर उक्त तीनों स्थानों पर छिप जाती है, अर्थात् शीतकाल में ये तीन स्थल ही गर्म रहते हैं ।

सेवन्त एवन्तपनोष्मतुल्य–तारुण्यपूर्णामिह भाग्यपूर्णाः ।
सन्तो हसन्तीं मृगशावनेत्रां किम्वा हसन्तीं परिवारपूर्णाम् ॥३१॥

इस शीतकाल में सूर्य के समान अत्यन्त उष्णता को धारण करने वाली या अत्यन्त कान्तिवाली, एवं हंसती हुई तथा तारुण्य से परिपूर्ण मृगनयनियों को और अंगारों से जगमगाती हुई वा परिवार के जनों से घिरी अंगीठी को भाग्य से परिपूर्ण जन ही सेवन करते हैं ॥३१॥

शीतातुरोऽसौ तरणिर्निशायामालिङ्ग्य गाढं दयितां सुगात्रीम् ।
शेते समुत्थातुमथालसाङ्गस्ततस्स्वतो गौरवमेति रात्रिः ॥३२॥

इस शीतकाल में शीत से आतुर हुआ यह सूर्य भी रात्रि में अपनी सुन्दरी स्त्री का गाढ़ आलिङ्गन करके सो जाता है, अत: आलस्य के वश से वह प्रभाव में शीघ्र उठ नहीं पाता है, इस कारण रात्रि स्वत: ही गौरव को प्राप्त होती है, अर्थात् बड़ी हो जाती है ॥३२॥

भावार्थ - शीतकाल में रात बड़ी क्यों होती है, इस पर कवि ने उक्त उत्प्रेक्षा की है ।

हिमारिणा विग्रहमभ्युपेतः हिमर्तुरेतस्य करानथेतः ।
समाहरन् हैमकुलानुकूले ददाति कान्ताकुचशैलमूले ॥३३॥

यह हेमन्त ऋतु हिम के शत्रु सूर्य के साथ विग्रह (युद्ध) करने को उद्यत हो रही है, इसीलिए मानों उसके उष्ण करों (किरणों) को ले लेकर हैमकुल की अनुकूलता वाले अर्थात् हिम से बने या सुवर्ण से बने होने के कारण हैमकान्ति वाले स्त्रियो के कुच रूप शैल के मूल में रख देती है । (इसीलिए स्त्रियों के कुच उष्ण होते हैं ।) ॥३४॥

महात्मनां संश्रुतपादपानां पत्राणि जीर्णानि किलेति मानात् ।
प्रकम्पयन्ते दरवारिधारा विभावसुप्रान्तमिता विचाराः ॥३४॥

इस शीतकाल में संश्रुत (प्रसिद्ध-प्राप्त) वृक्षों के पत्र भी जीर्ण होकर गिर रहे हैं, ऐसा होने से ही मानों दर अर्थात् जरासी भी जल की धारा लोगों को कंपा देती है । तथा इस समय लोगों के

विचार हर समय विभावसु (अग्नि) के समीप बैठे रहने के बने रहते हैं । दूसरा अर्थ यह कि इस समय प्रसिद्ध आर्षग्रंथों के पत्र तो जीर्ण हो गये हैं, अत: उसका अभाव सा हो रहा है और लोग पं. दरबारीलाल की विचार-धारा से प्रभावित हो रहे हैं और विकारी विचारों को अंगीकार कर रहे हैं । ॥३४॥

भावार्थ - कवि ने अपने समय के प्रसिद्ध सुधारक पं. दरबारीलाल का उल्लेख 'दरबारि-धारा' पद से करके उन के प्रचार कार्य को अनुचित बतलाया है ।

शीतं वरीवर्त्ति विचार-लोपि स्वयं सरीसर्त्ति समीरणोऽपि ।
अहो मरीमर्त्ति किलाकलत्रः नरो नरीनर्त्ति कुचोष्मतन्त्रः ॥३५॥

इस हेमन्त ऋतु में वि अर्थात् पक्षियों के चार (संचार) का लोप करने वाला शीत जोर से पड़ रहा है, समीरण (पवन) भी स्वयं जोर से चल रहा है, स्त्री-रहित मनुष्य मरणोन्मुख हो रहे हैं और स्त्री के स्तनों की उष्मा से उष्ण हुए मनुष्य नाच रहे हैं, अर्थात् आनन्द मना रहे हैं ॥३५॥

नतभ्रुवो लब्धमहोत्सवेन समाहतः श्रीकरपल्लवेन ।
मुहुर्निपत्योत्पततीह कन्दुर्मुदाऽधरोदाररसीव बन्धु ॥३६॥

नतभ्रु युवती के आनन्द को प्राप्त श्रीयुक्त कर-पल्लव से ताड़ित किया हुआ यह कन्दुक रूप पुरुष नीचे गिरता है और हर्ष से युक्त होकर के उसके अधरों के उदार रस को पान करने के इच्छुक पति के समान बार बार ऊपर को उठता है ॥३६॥

कन्दुः कुचाकारधरो युवत्या सन्ताड्यते वेत्यनुयोगधारि ।
पदोः प्रसादाय पतत्यपीति कर्णोत्पलं यन्नयनानुकारि ॥३७॥

कुच के आकार को धारण करने वाला यह कन्दुक युवती स्त्री के द्वारा ताड़ित किया जा रहा है, ऐसा विचार करने वाला और उसके नेत्र-कमल का अनुकरण वाला यह कर्णोत्पल (कान का आभूषण कनफूल) मानों उसे प्रसन्न करने के लिए अर्थात् स्त्री से अपना अपराध माफ कराने के लिए उसके पैरों में आ गिरता है ॥३७॥

भावार्थ - गेन्द खेलते समय कनफूल स्त्रियों के पैरों में गिर पड़ता है, उसे लक्ष्य करके कवि ने उक्त उत्प्रेक्षा की है ।

श्रीगेन्दुकेलौ विभवन्ति तासां नितम्बिनीनां पदयोर्विलासाः ।
ये ये रणन्नूपुरसाररासा यूनां तु चेतःपततां सुभासाः ॥३८॥

श्री कुन्दक-क्रीड़ा में संलग्न उन गेन्द खेलने वाली नितम्बिनी स्त्रियों के शब्द करते हुए नूपुरों से युक्त चरणों के विलास (पद-निक्षेप) युवाजनों के चित्त रूप पक्षियों के लिए गिद्ध पक्षी के आक्रमण के समान प्रतीत होते हैं ॥३८॥

वैमुख्यमप्यस्त्वभिमानिनीनामस्तीह यावन्न निशा सुपीना ।
शीतानुयोगात्पुनरर्धरात्रे लगेन्नवोढापि धवस्य गात्रे ॥३९॥

इस शीतकाल में जब तक निशा (रात्रि) अच्छी तरह परिपुष्ट नहीं हो जाती है, तब तक भले ही अभिमानिनी नायिकाओं की पति से विमुखता बनी रहे । किन्तु अर्ध रात्रि के होने पर शीत लगने के बहाने से (प्रौढ़ा की तो बात ही क्या) नवोढ़ा भी अपने पति के शरीर से स्वयं ही संलग्न हो जाती है ॥३९॥

तुषारसंहारकृतौ सुदक्षा नो चेन्मृगाक्षी समुपेति कक्षाम् ।
न यामिनीयं यमभामिनीति किन्त्वस्ति तेषां दुरितप्रणीतिः ॥४०॥

तुषार के संहार करने में सुदक्ष मृगाक्षी जिसकी कक्षा (बगल) में उपस्थित नहीं है, उसके लिए तो यह रात्रि यामिनी नहीं, किन्तु दारुण दुःख देने वाली यम-भामिनी ही है ॥४०॥

शीतातुरैः साम्प्रतमाशरीरं गृहीतमम्भोभिरपीह चीरम् ।
शनैरवश्यायमिषात् स्वभावाऽसौ दंशनस्य प्रभुताऽद्भुता वा ॥४१॥

इस शीतकाल में औरों की तो बात ही क्या है, शीत से पीड़ित हुए जलाशयों के जलों ने भी बर्फ केबहाने से अपने सारे शरीर पर वस्त्र ग्रहण कर लिया है । अर्थात् ठंड की अधिकता से वे भी जम गये हैं । यह शीतऋतु की स्वाभाविक अद्भुत प्रभुता ही समझना चाहिए ॥४१॥

चकास्ति वीकासजुषां वराणां परिस्थितिः कुन्दककोरकाणाम् ।
लताप्रतानं गमिताऽत्र शीताद्भीता तु ताराततिरेव गीता ॥४२॥

देखो, इस समय विकास के सन्मुख हुई उत्तम लताओं में संलग्न कुन्द की कलियों की परिस्थिति ऐसी प्रतीत होती है, मानों वे कुन्दकी कलियां नहीं है, अपितु शीत से भयभीत हुई ताराओं की पंक्ति ही है ॥४२॥

शाखिषु विपल्लवत्वमथेतत् संकुचितत्वं खलु मित्रेऽतः ।
शैत्यमुपेत्य सदाचरणेषु कहलमिते द्विजगणेऽत्र मे शुक् ॥४३॥

इस शीतकाल को पाकर वृक्षों में पत्रों का अभाव, दिन में संकुचितता, अर्थात् दिन का छोटा होना, चरणों का ठिठरना और दांतों का कलह, अर्थात् किट-किटाना मेरे लिए शोचनीय है । दूसरा अर्थ यह है कि कुटुम्बी जनों में विपत्ति का प्राप्त होना, मित्र का रूठना सत्-आचरण करने में शिथिलता या आलस्य करना और द्विज-गण (ब्राह्मण-वर्ग) में कलह होना, ये सभी बातें मेरे लिये चिन्तनीय है ॥४३॥

पुरतो वह्निः पृष्ठे भानुर्विधुवदनाया जानुनि जानुः ।
उपरि तूलयुतवस्त्रकतानु निर्वाते स्थितिरस्तु सदा नुः ।।४४।।

इस शीतकाल में दिन के समय तो लोगों को सामने अग्नि और पृष्ठ भाग की ओर सूर्य चाहिए। तथा रात्रि में चन्द्र-वदनी स्त्री की जंघाओं में जंघा और ऊपर से अच्छी रुई से भरे वस्त्र (रिजाई) से ढका हुआ शरीर और वायु-रहित स्थान में अवस्थान ही सदा आवश्यक है ।।४४।।

एणो यात्युपकाण्डकाधरदलस्यास्वादनेऽपि श्रमं,
सिंहो हस्तिनमाक्रमेदपि पुरः प्राप्तं न कुण्ठक्रमः ।
विप्रः क्षिप्रमुपाक्षिपत्यपि करं प्रातर्विधौ नात्मनः,
हा शीताऽऽक्रमणेन यात्यपि दशां संशोचनीयां जनः ।।४५।।

इस समय शीत के मारे हिरण अपने पास ही पृथ्वी पर पड़ी घास को उठा कर खाने में अति श्रम का अनुभव कर रहा है । स्वयं सामने आते हुए हाथी पर आक्रमण करने के लिए सिंह भी कुण्ठित क्रम वाला हो रहा है, अर्थात् पैर उठाने में असमर्थ बन रहा है । और ब्राह्मण प्रातःकालीन संध्या-विधि के समय माला फेरने के लिए अपने हाथ को भी नहीं उठा पा रहा है । इस प्रकार हा ! प्रत्येक जन शीत के आक्रमण से अति शोचनीय दशा को प्राप्त हो रहा है ।।४५।।

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं,
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
वीरे स्वार्थसमर्थनैकपरतां लोकस्य संशोचति,
सम्प्राप्तस्य कथा तुषारभसदोऽस्मिन् तत्कृते भो कृतिन् ।।९।।

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भुज और घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए वाणी-भूषण, बाल-ब्रह्मचारी पं. भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर द्वारा निर्मित इस काव्य में लोगों की स्वार्थ-परायणता और शीत की भयङ्करता का वर्णन करने वाला यह नवां सर्ग समाप्त हुआ ।।९।।

❖ ❖ ❖

अथ दशमः सर्गः

श्रीमतो वर्धमानस्य चित्ते चिन्तनमित्यभूत् ।
हिमाक्रान्ततया दृष्ट्वा म्लानमम्भोरुहव्रजम् ॥१॥

शीत के आक्रमण से मुरझाये हुए कमलों के समूह को देखकर श्रीमान् वर्धमान भगवान् के चित्त में इस प्रकार का विचार उत्पन्न हुआ ॥१॥

भुवने लब्धजनुषः कमलस्येव मादृशः ।
क्षणादेव विपत्तिः स्यात्सम्पत्तिमधिगच्छतः ॥२॥

इस संसार में जिसने जन्म लिया है और जो सम्पत्ति को प्राप्त करना चाहता है, ऐसे मेरे भी कमल के समान एक क्षण भर में विपत्ति आ सकती है ॥२॥

दृश्यमस्त्यभितो यद्वद्धनुरैन्द्रं प्रसत्तिमत् ।
विषादायैव तत्पश्चान्नश्यदेवं प्रपश्यते ॥३॥

यह इन्द्र-धनुष सर्व प्रकार से दर्शनीय है, प्रसन्नता करने वाला है, इस प्रकार से देखने वाले पुरुष के लिए तत्पश्चात् नष्ट होता हुआ वही इन्द्र-धनुष उसी के विषाद के लिए हो जाता है ॥३॥

अधिकर्तुमिदं देही वृथा वाञ्छति मोहतः ।
यथा प्रयतते भूमौ गृहीतुं बालको विधुम् ॥४॥

ससार की ऐसी क्षण-भंगुर वस्तुओं को अपने अधिकार में करने के लिए यह प्राणी मोह से वृथा ही इच्छा करता है । जैसे कि बालक भूमि पर रहते हुए चन्द्र को ग्रहण करने का व्यर्थ प्रयत्न करता है ॥४॥

संविदन्नपि संसारी स नष्टो नश्यतीतरः ।
नावैत्यहो तथाप्येवं स्वयं यममुखे स्थितम् ॥५॥

यह संसारी जीव, वह नष्ट हो गया, यह नष्ट हो रहा है, ऐसा देखता-जानता हुआ भी आश्चर्य है कि स्वयं को यम के मुख में स्थित हुआ नहीं जानता है ॥५॥

किमन्यैरहमप्यस्मि वञ्चितो मायया‌ऽनया ।
धीवरोऽप्यम्बुपूरान्तःपाती यदिव झंझया ॥६॥

औरों से क्या, धीवर अर्थात् बुद्धि वाला भी मैं क्या इस माया से वंचित नहीं हो रहा हूँ ? जैसे कि जल के प्रवाह के मध्य को प्राप्त हुआ धीवर (कहार) झंझावात से आन्दोलित होकर उसी पानी के पूर में डूब जाता है, उसी प्रकार मैं भी संसार में डूब ही रहा हूँ ॥६॥

स्वस्थितं नाञ्जनं वेत्ति वीक्षतेऽन्यस्य लाञ्छनम् ।
चक्षुर्यथा तथा लोकः परदोषपरीक्षकः ॥७॥

जैसे आंख अपने भीतर लगे हुए अंजन को नहीं जानती है और अन्य लांछन (अंजन या काजल) को झट देख लेती है, इसी प्रकार यह लोक भी पराये दोषों को ही देखने वाला है, (किन्तु अपने दोषों को नहीं देखता है।) ॥७॥

श्रोत्रवद्विरलो लोके छिद्रं स्वस्य प्रकाशयन् ।
शृणोति सुखतोऽन्येषामुचितानुचितं वचः ॥८॥

श्रोत्र (कर्ण) के समान विरला पुरुष ही संसार में अपने छिद्र (छेद वा दोष) को प्रकाशित करता हुआ अन्य के उचित और अनुचित वचन को सुख से सुनता है ॥८॥

जुगुप्सेऽहं यतस्तत्किं जुगुप्स्यं विश्वमस्त्यदः ।
शरीरमेव तादृक्षं हन्त यत्रानुरज्यते ॥९॥

मैं जिससे ग्लानि करता हूँ, क्या वह यह विश्व ग्लानि-योग्य है ? सब से अधिक तो ग्लानि योग्य यह शरीर ही है । दुःख है कि उसी में यह सारा संसार अनुरक्त हो रहा है ॥९॥

अस्मिन्नहन्तयाऽमुष्य पोषकं शोषकं पुनः ।
वाञ्छामि संहराम्येतदेवानर्थस्य कारणम् ॥१०॥

मैं आज तक इस शरीर में अंहकार करके इसके पोषक को तो चाहता रहा, अर्थात् राग करता रहा, और शरीर के शोषक से द्वेष करके उसके संहार का प्रयत्न करता रहा । मेरी यह राग-द्वेषमयी प्रवृत्ति ही मेरे लिए अनर्थ का कारण हुई है ॥१०॥

विपदे पुनरेतस्मिन् सम्पदस्सकलास्तदा ।
सञ्चरेदेव सर्वत्र विहायोच्चयमीरणः ॥११॥

किन्तु आत्मा से इस शरीर को भिन्न समझ लेने पर सर्व वस्तुएं सम्पदा के रूप ही हैं । पवन उच्चय अर्थात् पर्वत को छोड़कर सर्वत्र संचार करता ही है ॥११॥

भावार्थ - आत्म-रूप उच्च तत्त्व पर जिनकी दृष्टि नहीं है और शरीर पर ही जिनका राग है, उनको सभी वस्तुएं विपत्तिमय बनी रहती हैं । किन्तु आत्म-दर्शी पुरुष को वे ही वस्तुएं सम्पत्तिरूप हो जाती हैं ।

अहीनत्वं किमादायि त्वया वक्रत्वमीयुषा ।
भुञ्जानोऽङ्ग ! मुहुर्भोगान् वहसीह नवीनताम् ॥१२॥

वक्रता (कुटिलता) को प्राप्त होते हुए क्या कभी तूने अहीनता ('सर्प राजपना वा उच्चपना) को ग्रहण किया है । जिससे कि हे अंग, तू भोगों को बार-बार भोगते हुए भी नवीनता को धारण करता है ॥१२॥

विशेषार्थ - इस श्लोक का श्लेष रूप दूसरा अर्थ यह भी निकलता है कि हे आत्मन्, तूने कुटिलता को अंगीकार करते हुए अर्थात् सर्प जैसी कुटिल चाल को चलते हुए भी कभी अहि-(सर्पों) के इनता अर्थात् स्वामीपने को नहीं धारण किया, अर्थात् शेषनाग जैसी उच्चता नहीं प्राप्त की । तथा पंचेन्द्रियों के विषय रूप भोगों (सर्पों) को भोगते या भक्षण करते हुए भी कभी न वीनता अर्थात् गरुड़-स्वरूपता नहीं प्राप्त की ! यह आश्चर्य की बात है ।

स्वचेष्टितं स्वयं भुङ्क्ते पुमान्नान्यच्चा कारणम् ।
झंलझलावशीभूता समेति व्येति या ध्वजा ॥१३॥

पुरुष अपनी चेष्टा के फल को स्वयं ही भोगता है, इसमें और कोई कारण नहीं हैं । जैसे झंझा वायु के वश होकर यह ध्वजा स्वयं ही उलझती और सुलझती रहती है ॥१३॥

वस्त्रेण वेष्टितः कस्माद् ब्रह्मचारी च सन्नहम् ।
दम्भो यत्र भवेत्किं भो ब्रह्मवर्त्मनि बाधकः ॥१४॥

मैं ब्रह्मचारी होता हुआ भी वस्त्र से वेष्टित क्यों हो रहा हूँ ? अहो, क्या यह दम्भ मेरे ब्रह्म (आत्म-प्राप्ति) के मार्ग में बाधक नहीं है ? ॥१४॥

जगत्तत्त्वं स्फुटीकर्त्तुं मनोमुकुरमात्मनः ।
यद्ययं देहवानिच्छेन्निरीहत्वेन मार्जयेत् ॥१५॥

यदि यह प्राणी अपने मनरूप दर्पण में जगत् के रहस्य को स्पष्ट रूप से देखने की इच्छा करता है, तो इसे अपने मन रूप दर्पण को निरीहता (वीतरागता) से मार्जन करना चाहिए ॥१५॥

भावार्थ - जगत् के तत्त्वों का बोध सर्वज्ञता को प्राप्त हुए बिना नहीं हो सकता और सर्वज्ञता की प्राप्ति वीतरागता के बिना संभव नहीं है । अतः सर्वज्ञता प्राप्त करने के लिए पहले वीतरागता प्राप्त करनी चाहिए ।

लोकोऽयं सम्प्रदायस्य मोहमङ्गीकरोति यत् ।
मुहुः प्रयतमानोऽपि सत्यवर्त्म न विन्दति ॥१६॥

यह संसार सम्प्रदाय के मोह को अंगीकार कर रहा है । यही कारण है कि बारम्बार प्रयत्न करता हुआ भी वह सत्य मार्ग को नहीं जानता है ॥१६॥

गतानुगतिकत्वेन सम्प्रदायः प्रवर्त्तते ।
वस्तुत्वेनाभिसम्बद्धं सत्यमेतत्पुनर्भवेत् ॥१७॥

सम्प्रदाय तो गतानुगातिकता से प्रवृत्त होता है । (उसमें सत्य-असत्य का कोई विचार संभव नहीं है ।) किन्तु सत्य तो यथार्थ वस्तुत्व से सम्बद्ध होता है ॥१७॥

वस्तुता नैकपक्षान्तःपातिनीत्यत एव सा ।
सार्वत्वमभ्यतीत्यास्ति दुर्लभाऽस्मिञ्चराचरे ॥१८॥

वस्तुता अर्थात् यथार्थता एक पक्ष की अन्तः पातिनी नहीं है, वह तो सार्वत्व अर्थात् सर्वधर्मात्मकत्व को प्राप्त होकर रहती है और यह अनेकान्तता या सर्वधर्मात्मकता इस चराचर लोक में दुर्लभ है ॥१८॥

सगरं नगरं त्यक्त्वा विषमेऽपि समे रसः ।
वनेऽप्यवनतत्त्वेन सकलं विकलं यतः ॥१९॥

भगवान् विचार कर रहे हैं कि संसार की समस्त वस्तुएं विपरीत रूप धारण किये हुए दिख रही हैं जिसे लोग नगर कहते हैं वह तो सगर अर्थात् विष-युक्त है और जिसे लोग वन कहते हैं उसमें अवनतत्त्व है अर्थात् वह बाहिरी चकाचौंध से रहित है, फिर भी उसमें अवनतत्त्व हे अर्थात् उसमें सभी प्राणियों की सुरक्षा है । इस लिए नगर को त्याग करके मेरा मन विषम (भीषण एवं विषमय) वन में रहने को हो रहा है ॥१९॥

कान्ता लता वने यस्मात्सौधे तु लवणात्मता ।
त्यक्त्वा गृहमतः सान्द्रे स्थीयते हि महात्मना ॥२०॥

वन में कान्त (सुन्दर) लता है, क्योंकि वह कान्तार है अर्थात् स्त्री-सहित है । सौध में लवणात्मकता है, अर्थात् अमृत में खारापन है और सुधा (चूना) से बने मकान में लावण्य (सौन्दर्य) है यह विरोध देखकर ही महात्मा लोग घर को छोड़कर सान्द्र (सुरम्य) वन में रहते हैं ॥२०॥

विहाय मनसा वाचा कर्मणा सदनाश्रयम् ।
उपैम्यहमपि प्रीत्या सदाऽऽनन्दनकं वनम् ॥२१॥

मैं भी नगर को-जो कि सदनाश्रय है अर्थात् सदनों (भवनों) से घिरा हुआ है, दूसरे अर्थ में - सद्-अनाश्रय अर्थात् सज्जनों के आश्रय से रहित है, ऐसे नगर को छोड़कर सज्जनों के लिए आनन्द-कन्द-स्वरूप वन को अथवा सदा आनन्द देने वाले नन्दन वन को मन, वचन-काय से प्रेम पूर्वक प्राप्त होता हूँ ॥२१॥

इत्येवमनुसन्धान-तत्परे जगदीश्वरे ।
सुरर्षिभिरिहाऽऽगत्य संस्तुतं प्रस्तुतं प्रभोः ॥२२॥

इस प्रकार के विचारों में तत्पर जगदीश्वर श्री वर्धमान के होने पर देवर्षि लौकान्तिक देवों ने यहां आकर के प्रभु की स्तुति की ॥२२॥

पुनरिन्द्रादयोऽप्यन्ये समष्टीभूय सत्वरम् ।
समायाता जिनस्यास्य प्रस्तावमनुमोदितुम् ॥२३॥

पुनः अन्य इन्द्रादिक देव भी शीघ्र एकत्रित होकर के जिन-भगवान् के इस गृहत्याग रूप प्रस्ताव की अनुमोदना करने के लिए आये ॥२३॥

विजनं स विरक्तात्मा गत्वाऽप्यविजनाकुलम् ।
निष्कपटत्वमुद्धर्तुं पटानुज्झितवानपि ॥२४॥

उन विरक्तात्मा भगवान् ने अवि (भेड़) जनों से आकुल अर्थात् भरे हुए ऐसे विजन (एकान्त जन-शून्य) वन में जाकर निष्कपटता को प्रकट करने के लिए अपने वस्त्रों का परित्याग कर दिया, अर्थात् वन में जाकर दैगम्बरी दीक्षा ले ली ॥२४॥

उच्चखान कचौघं स कल्मषोपममात्मनः ।
मौनमालब्धवानन्तरन्वेष्टुं दस्युसंग्रहम् ॥२५॥

उन्होंने मलिन पाप की उपमा को धारण करने वाले अपने केश-समूह को उखाड़ डाला, अर्थात् केशों का लोच किया और अन्तरंग में पैठे हुए चोरों के समुदाय को ढूंढने के लिए मौन को अंगीकार किया ॥२५॥

मार्गशीर्षस्य मासस्य कृष्णा सा दशमी तिथिः ।
जयताज्जगतीत्येवमस्माकं भद्रताकरी ॥२६॥

वह मगसिर मास के कृष्ण पक्ष की दशमी तिथि है, जिस दिन भगवान् ने दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण की । यह हम सबके कल्याण करने वाली तिथि जगत् में जयवन्ती रहे ॥२६॥

दीपकोऽभ्युदियायाथ मनःपर्ययनामकः ।
मनस्यप्रतिसम्पाती तमःसंहारकृत्प्रभोः ॥२७॥

दीक्षित होने के पश्चात् वीर प्रभु के मन में अप्रतिपाती (कभी नहीं छूटने वाला) और मानसिक अन्धकार का संहार करने वाला मनःपर्यय नाम का ज्ञान-दीपक अभ्युदय को प्राप्त हुआ । अर्थात् भगवान् के मनःपर्यय ज्ञान प्रकट हो गया ॥२७॥

चिन्तितं हृदये तेन वीरं नाम वदन्ति माम् ।
किं कदैतन्मयाऽबोधि कीदृशी मयि वीरता ॥२८॥

तब भगवान् अपने हृदय में विचार करने लगे - लोग मुझे वीर नाम से कहते हैं । पर क्या कभी मैंने यह सोचा है कि मुझमें कैसी वीरता है ? ॥२८॥

वीरता शस्त्रिभावश्चेद्भीरुता किं पुनर्भवेत् ।
परापेक्षितया दास्याद्यत्र मुक्तिर्न जातुचित् ॥२९॥

यदि शस्त्र संचालन का या शस्त्र ग्रहण करने का नाम वीरता है, तो फिर भीरुता नाम किसका होगा ? शस्त्र-ग्रहण करने वाली वीरता तो परापेक्षी होने से दासता है । इस दासता में मुक्ति कदाचित् भी सम्भव नहीं है ॥२९॥

वस्तुतो यदि चिन्त्येत चिन्तेतः कीदृशी पुनः ।
अविनाशी ममात्मायं दृश्यमेतद्विनश्वरम् ॥३०॥

यदि वास्तव में वस्तु के स्वरूप का चिन्तवन किया जावे, तो मेरी यह आत्मा तो अविनाशी है और यह सर्व दृश्यमान पदार्थ विनश्वर हैं । फिर मुझे चिन्ता कैसी ॥३०॥

विभेति मरमाद्दीनो न दीनोऽथामृतस्थितिः ।
सम्पदयन्विपदोऽपि सरितः परितश्चरेत् ॥३१॥

दीन पुरुष मरण से डरता है । जो दीन नहीं है, वह अमृत स्थिति है, अर्थात् वीर पुरुष मरण से नहीं डरता है, क्योंकि वह तो आत्मा को अमर मानता है । उसके लिए तो चारों ओर से आने वाली विपत्तियां भी सम्पत्ति के लिए होती हैं । जैसे समुद्र को क्षोभित करने के लिए सर्व ओर से आने वाली नदियां उसे क्षुब्ध न करके उसी की सम्पत्ति बन जाती हैं ॥३१॥

यां वीक्ष्य वैनतेयस्य सर्पस्येव परस्य च ।
क्रूरता दूरतामञ्चेच्छूरता शक्तिरात्मनः ॥३२॥

जैसे गरुड़ की शक्ति को देखकर सर्प की क्रूरता दूर हो जाती है, उसी प्रकार वीर की आत्म शक्ति को देखकर शत्रु की क्रूरता दूर हो जाती है, क्योंकि शूरता आत्मा की शक्ति है ॥३२॥

शस्त्रोपयोगिने शस्त्रमयं विश्वं प्रजायते ।
शस्त्रं दृष्ट्वाऽप्यभीताय स्पृहयामि महात्मने ॥३३॥

शस्त्र का उपयोग करने वाले के लिए यह विश्व शस्त्रमय हो जाता है । किन्तु शस्त्र को देख करके भी निर्भय रहने वाले महान् पुरुष की मैं इच्छा करता हूँ ॥३३॥

शपन्ति क्षुद्रजन्मानो व्यर्थमेव विरोधकान् ।
सत्याग्रहप्रभावेण महात्मा त्वनुकूलयेत् ॥३४॥

क्षुद्र-जन्मा दीन पुरुष विरोधियों को व्यर्थ ही कोसते हैं । महापुरुष तो सत्याग्रह के प्रभाव से विरोधियों को भी अपने अनुकूल कर लेता है ॥३४॥

भावार्थ - इस श्लोक में प्रयुक्त महात्मा पद से गांधीजी और उनके सत्याग्रह की यथार्थता का कवि ने संकेत किया है ।

अथानेके प्रसङ्गास्ते बभूवुस्तपसो युगे ।
यत्कथा खलु धीराणामपि रोमाञ्चकारिणी ॥३५॥

इसके पश्चात् उन वीर प्रभु के तपश्चरण के काल में ऐसे अनेक प्रसङ्ग आये, कि जिनकी कथा भी धीर जनों को भी रोमाञ्चकारी है ॥३५॥

भावार्थ - भगवान् के साढ़े बारह वर्ष के तपश्चरण काल में ऐसी-ऐसी घटनाए घटीं कि जिनके सुनने मात्र से ही धीर-वीरों के भी रोम खड़े हो जाते हैं । परन्तु भगवान् महावीर उन सब प्रसङ्गों पर खरे उतरे और उन्होंने अपने ऊपर आये हुए उपसर्गों (आपत्तियों) को भली भांति सहन किया और उन पर विजय प्राप्त की । इन घटनाओं का उल्लेख प्रस्तावना में किया गया है ।

किन्तु वीरप्रभुर्वीरो हेलया तानतीतवान् ।
झंझानिलोऽपि किं तावत्कम्पयेन्मेरुपर्वतम् ॥३६॥

किन्तु वीर प्रभु तो सचमुच ही वीर थे, उन्होंने उन सब प्रसंगों को कुतूहल-पूर्वक पार किया, अर्थात् उन पर विजय पाई । कवि कहते हैं कि क्या कभी झंझावायु भी मेरु पर्वत को कंपा सकती है ? अर्थात् कभी नहीं ॥३६॥

एकाकी सिंहवद्वीरो व्यचरत्स भुवस्तले ।
मनस्वी मनसि स्वीये न साहयमपेक्षते ॥३७॥

वे वीरप्रभु इस भूतल पर सिंह के समान अकेले ही विहार करते रहे । सो ठीक ही है, क्योंकि मनस्वी परुष अपने चित्त में दूसरे की सहायता की अपेक्षा नहीं करते ॥३७॥

ये केऽपि सम्प्रति विरुद्धधियो लसन्ति,
त्वच्चोष्टितस्य परिकर्मभृतो हि सन्ति ।
आत्मन् पुराऽजनि तवैव विभावसू चिन्,
मुक्तासु सूत्रसमवायकरीव सूची ॥३८॥

आज जो कोई भी परस्पर विरुद्ध बुद्धिवाले दिखलाई दे रहे हैं हे आत्मन्, वे सब तेरी पूर्व भव की चेष्टा के ही परिकर्म के धारक हैं, क्योंकि तू ने पूर्व जन्म में अपने विचार विभाव परिणति से परिणत किये, उसीके ये सब परिणाम है। जैसे कि मोतियों में एक सूत्रता करने वाली सुई होती है ॥३८॥

भावार्थ - जैसे भिन्न-भिन्न स्वतंत्र सत्ता वाले मोतियों में सुत्र (धागा) पिरोने का कार्य सुई करती है, उसी प्रकार विभिन्न व्यक्तित्व वाले पुरुषों में जो अपने विरोधी या अविरोधी दिखाई देते हैं, वह अपनी राग, द्वेषमयी सूची (सुई) रूप विभाव परिणति का ही प्रभाव है।

गतमनुगच्छति यतोऽधिकांशः सहजतयैव तथा मतिमान् सः।
अन्याननुकूलयितुं कुर्यात्स्वस्य सदाऽऽदर्शमयीं चर्याम् ॥३९॥

संसार में अधिकांश जन तो गतानुगत ही चलते हैं, किन्तु बुद्धिमान् तो वही है जो औरों को अनुकूल करने के लिए सदा सहज रूप से अपनी आदर्शमयी चर्या को करे ॥३९॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं,
वाणीभूषण-वर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम्।
तस्माल्लब्धभवे प्रगच्छति तमां वीरोदयाख्यानके,
सर्गोऽसौ दशमश्च निष्क्रमणवाक् वीरस्य तत्रानके ॥१०॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भुज और घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए वाणी भूषण बाल ब्रह्मचारी भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर द्वारा विरचित वीरोदय आख्यान में वीर के निष्क्रमण कल्याणक का वर्णन करने वाला दशवां सर्ग समाप्त हुआ ॥१०॥

अथैकादशः सर्गः

श्रृणु प्रवित् सिंहसमीक्षणेन प्राग्जन्मवृत्ताधिगमी क्षणेन ।
सन्निम्नगोपाङ्कितवारिपूरे मनस्तरिस्थो व्यचरत् प्रभूरे ॥१॥

हे विद्वज्जन ! सुनो - भगवान् ने सिंहावलोकन करते हुए (अवधि ज्ञान से) एक क्षण मात्र में अपने पूर्व जन्मों के वृत्तान्तों को जान लिया । तब वे नीचे लिखी हुई वाक्य-परम्परा से अंकित नदी के पूर में मनरूपी नौका पर बैठकर विचरने लगे, अर्थात् इस प्रकार से विचार करने लगे ॥१॥

निरामया वीतभयाः ककुल्याः श्रीदेवदेवीद्वितयेन तुल्याः ।
आसन् पुरा भूतलवासिनोऽपि अनिष्टसंयोगधरो न कोऽपि ॥२॥

बहुत पूर्वकाल में यहां पर सभी भूतल-वासी प्राणी निरामय (निरोग) थे, भय-रहित थे, भोगोपभोगों से सुखी थे और देव-देवियों के तुल्य सुखी युगल जीवन बिताते थे । उस समय कोई भी अनिष्ट संयोग वाला नहीं था ॥२॥

नानिष्टयोगेष्टवियोगरूपाः कल्पद्रुमेभ्यो विवृतोक्तकूपाः ।
निर्मत्सरा हृद्यतयोपगूढाः परस्परं तुल्यविधानरूढाः ॥३॥

उस काल में कोई भी प्राणी अनिष्ट-संयोग और इष्ट वियोग वाला नहीं था । कल्पवृक्षों से उन्हें जीवनोपयोगी सभी वस्तुएँ प्राप्त होती थीं । उस समय के लोग मत्सर भाव से रहित थे और परस्पर समान आचरण-व्यवहार करते हुए अति स्नेह से रहते थे ॥३॥

भावार्थ - उस समय यहां पर भोग भूमि थी और सर्व मनुष्य सर्व प्रकार से सुखी थे ।

कालेन वैषम्यमिते नृवर्गे क्रौर्यं पशूनामुपयाति सर्गे ।
कल्पद्रुमौघोऽपि फलप्रकार दानेऽथ सङ्कोचमुरीचकार ॥४॥

तदनन्तर काल-चक्र के प्रभाव से मनुष्य वर्ग में विषमता के आने पर और पशुओं के क्रूर भाव को प्राप्त होने पर कल्पवृक्षों के समूह ने भी नाना प्रकार के फलों के देने में संकोच को स्वीकार कर लिया, अर्थात् पूर्व के समान फल देना बन्द कर दिया ॥४॥

ससद्वयोदारकुलङ्कराणामन्त्यस्य नाभेर्मरुदेवि आणात् ।
सीमन्तिनी तत्र हृदेकहारस्तत्कुक्षितोऽभूद् ऋषभावतारः ॥५॥

उस समय यहां पर क्रमशः चौदह कुलकर उत्पन्न हुए। उनमें अन्तिम कुलकर नाभिराज थे। उनकी स्त्री का नाम मरुदेवी था। उसकी कुक्षि से दोनों के हृदय के अद्वितीय हार-स्वरूप श्री ऋषभदेव का अवतार हुआ ॥५॥

प्रजासु आजीवनिकाभ्युपायमस्यादिषट्कर्मविधिं विधाय।
पुनः प्रवव्राज स मुक्तिहेतु-प्रयुक्तये धर्मगृहैककेतुः ॥६॥

उन्होंने प्रजाओं की आजीविका के उपायभूत असि, मषि, कृषि आदि षट् कर्मों का विधान करके पुनः मुक्ति-मार्ग को प्रकट करने के लिए तथा स्वयं मुक्ति प्राप्त करने के लिए परिव्राजकता को अंगीकार किया, क्योंकि वे तो धर्म रूप प्रासाद के अद्वितीय केतु-(ध्वज) स्वरूप थे ॥६॥

एकेऽमुना साकमहो प्रवृत्तास्तप्तुं न शक्ताः स्म चलन्ति वृत्तात्।
यदृच्छयाऽऽहारविहारशीला दधुर्विचित्रां तु निजीयलीलाम् ॥७॥

उनके साथ सहस्रों लोग परिव्राजक बन गये। किन्तु उनमें से अनेक लोग उग्र तप को तपने के लिए समर्थ नहीं हुए और अपने चारित्र से विचलित होकर स्वच्छन्द आहार-विहार करने लगे। तब उन्होंने अपनी मनमानी अनेक प्रकार की विचित्र लीलाओं को धारण किया ॥७॥

भावार्थ - सत्य साधु मार्ग छोड़कर उन्होंने विविध वेषों को धारण कर धर्म का मनमाना आचरण एवं प्रचार प्रारंभ कर दिया।

पौत्रोऽहमेतस्य तदग्रगामी मरीचिनाम्ना समभूच्चा नामी।
ययौ ममायं कपि-लक्षणेनार्जित मतं तत्कपिल-क्षणे ना ॥८॥

उन उन्मार्ग-गामियों का अग्रगामी (मुखिया) मैं मरीचि नाम से प्रसिद्ध भगवान् ऋषभदेव का पौत्र ही था। उस समय कपि (वानर) जैसी चंचलता से मैंने जो मत प्रचारित किया, वही कालान्तर में कपिलमत के नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥८॥

स्वर्गं गतोऽप्येत्य पुनर्द्विजत्वं धृत्वा परिव्राजकतामतत्त्वम्।
प्रचारयन् स्मास्मि सुदृष्टिहान्या समादधानोऽप्यपथे तथाऽन्यान् ॥९॥

मरीचि के भव से आयु समाप्त कर मैं स्वर्ग गया। वहां से आकर द्विजत्व को धारण कर, अर्थात् ब्राह्मण के कुल में जन्म लेकर और निःसारता वाली परिव्राजकता को पुनः धारण कर उसका प्रचार करता हुआ सुदृष्टि (सम्यग्दर्शन) के अभाव से अन्य जनों को भी उसी कुपथ में लगाता हुआ विचरने लगा ॥९॥

नानाकुयोनीः समवेत्य तेन हन्ताऽथ दुष्कर्मसमन्वयेन।
शाण्डिल्य-पाराशरिकाद्वयस्य पुत्रोऽभवं स्थावरनाम शस्यः ॥१०॥

इस उन्मार्ग के प्रचार या स्वयं तथैव आचरण से मैंने जो दुष्कर्म उपार्जन किया, उससे संयुक्त होकर उसके फलस्वरूप नाना प्रकार की कुयोनियों में परिभ्रमण करके अन्त में शाण्डिल्य ब्राह्मण और उसकी पाराशरिका स्त्री के स्थावर नाम का श्रेष्ठ पुत्र हुआ ॥१०॥

भूत्वा परिव्राद् स गतो महेन्द्र–स्वर्गं ततो राजगृहेऽपकेन्द्रः ।
जैन्या भवामि स्म च विश्वभूतेस्तुक् विश्वनन्दी जगतीत्यपूते ॥११॥

उस भव में भी परिव्राजक होकर तप के प्रभाव से माहेन्द्र स्वर्ग गया । पुनः वहां से च्युत होकर इस अपवित्र जगत् में परिभ्रमण करते हुए राजगृह नगर में विश्वभूति ब्राह्मण और उसकी जैनी नामक स्त्री के विश्वनन्दी नाम का पुत्र हुआ ॥११॥

विशाखभूतेस्तनयो विशाखनन्दी समैच्छत्पितुरात्तशाखम् ।
यद्विश्वनन्दिप्रथितं किलासीदुद्यानमभ्रेश्वरसान्द्रभासि ॥१२॥

विश्वभूति के भाई विशाखभूति का पुत्र विशाखनन्दी था । वह पिता के द्वारा विश्वनन्दी को दिये हुए नन्दन वन जैसे शोभायमान उद्यान को चाहता था ॥१२॥

राजा तुजेऽदात्तदहो निरस्य युवाधिराजं छलतो रणस्य ।
प्रत्यागतो ज्ञातरहस्यवृत्तः श्रामण्यकर्मण्यसकौ प्रवृत्तः ॥१३॥

विशाखभूति राजा ने रण के बहाने से मुझ विश्वनन्दी को बाहिर भेज दिया और यह उद्यान अपने पुत्र को दे दिया । जब वह मैं विश्वनन्दी युद्ध से वापिस आया और सर्व वृत्तान्त को जाना, तो विरक्त होकर श्रामण्यकर्म में प्रवृत्त हो गया अर्थात् जिन-दीक्षा ले ली ॥१३॥

तदेतदाकर्ण्य विशाखभूतिर्विचार्य वृत्तं जगतोऽतिपूति ।
दिगम्बरीभूय सतां वतंसः ययौ महाशुक्रसुरालयं स ॥१४॥

राजा विशाखभूति यह सब वृत्तान्त सुनकर और जगत् के हाल को अत्यन्त घृणित विचार कर दिगम्बर साधु बन गया और वह सज्जनों का शिरोमणि तप करके महाशुक्र नामक स्वर्ग को प्राप्त हुआ ॥१४॥

श्रीविश्वनन्द्यार्यमवेत्य चर्यापरायणं मां मथुरानगर्याम् ।
विशाखनन्दी शपति स्म भूरि ततोऽगमं रोषमहं च सूरिः ॥१५॥

जब मैं मथुरा नगरी में चर्या के लिये गया हुआ था, उस समय विशाखनन्दी ने मुझे विश्वनन्दी जानकर मेरा भारी अपमान किया, जिससे साधु होते हुए भी मैं रोष को प्राप्त हो गया ॥१५॥

हन्ताऽस्मि रे त्वामिति भावबन्धमथो समाधानि मनःप्रबन्धः ।
तप्त्वा तपः पूर्ववदेव नामि स्वर्गं महाशुक्रमहं स्म यामि ॥१६॥

तब रोष में मैंने ऐसा भाव-बन्ध (निदान) किया कि रे विशाख नन्दी ! मैं परभव में तुझे मारूंगा। पुन चित्त में समाधान को प्राप्त होकर मैं (वह विश्वनन्दी) पहले के समान ही तपश्चरण करके महाशुक्र नाम के स्वर्ग में गया ॥१६॥

विशाखभूतिर्नभसोऽत्र जातः प्रजापतेः श्रीविजयो जयातः ।
मृगावतीतस्तनयस्त्रिपृष्ठ-नाम्नाऽप्यहं पोदनपुर्यथातः ॥१७॥

विशाखभूति का जीव स्वर्ग से च्युत होकर यहां पोदनपुरी में प्रजापति राजा और जया रानी से श्री विजय नामक पुत्र हुआ । और मैं उन्हीं राजा की दूसरी मृगावती रानी से त्रिपृष्ठ नाम का पुत्र हुआ ॥१७॥

भावार्थ - पूर्व भव के काका-भतीजे हम दोनों यहां पर क्रमशः बलभद्र और नारायण हुए ।

विशाखनन्दी समभूद् भ्रमित्वा नीलंयशामात्रुदरं स इत्वा ।
मयूरराज्ञस्तनयोऽश्वपूर्व-ग्रीवोऽलकायां धृतजन्मदूर्वः ॥१८॥

विशाखनन्दी का जीव बहुत दिनों तक संसार में परिभ्रमण करके अलकापुरी में मयूर राजा और नीलंयशा माता के गर्भ में आकर अश्वग्रीव नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका जन्मोत्सव उत्साह से मनाया गया ॥१८॥

सोऽसौ त्रिखण्डाधिपतामुपेतोऽश्वग्रीव आरान्मम तार्क्ष्यकेतोः ।
मृतोऽसिना रौरवमभ्यवाप गतस्तदेवाहमथो सपापः ॥१९॥

वह अश्वग्रीव (प्रतिनारायण बनकर) तीन खण्ड के स्वामीपने को प्राप्त हुआ । (किन्तु पूर्व भव के वैर से) वह, गरूड़ की ध्वजा वाले मुझ त्रिपृष्ठ नारायण की तलवार से मर कर रौरव नरक को प्राप्त हुआ और मैं भी पापयुक्त होकर उसी ही नरक में गया ॥१९॥

निर्गत्य तस्माद्धरिभूयमङ्गं लब्ध्वाऽव्रजं चादिविलप्रसङ्गम् ।
ततोऽपि सिंहाङ्गमुपेत्य तत्र मयाऽऽपि कश्चिन्मुनिराट पवित्रः ॥२०॥

पुनः मैं उस नरक से निकल कर सिंह हुआ और मरकर प्रथम नरक गया । वहां से निकल कर मैं फिर भी सिंह हुआ । उस सिंह भव में मैंने किसी पवित्र मुनिराज को पाया, अर्थात् मुझे किसी मुनिराज के सत्संग का सुयोग प्राप्त हुआ ॥२०॥

स आह भो भव्य ! पुरुरवाङ्ग-भिल्लोऽपि सद्धर्मवशादिहाङ्ग ।
आदीशपौत्रत्वमुपागतोऽपि कुदृक्प्रभावेण सुधर्मलोपी ॥२१॥

मुझे देख कर वह मुनिराज बोले - हे भव्य, हे अंग (वत्स) तू पहिले पुरुरवा भील था, फिर उत्तम धर्म के प्रभाव से आदि जिनेन्द्र के पुत्र भरत सम्राट् के पुत्रपने को प्राप्त हुआ, अर्थात् प्रथम तीर्थङ्कर का मरीचि नाम का पोता हुआ। फिर भी मिथ्यादर्शन के प्रभाव से सुधर्म का लोप करने वाला हुआ ॥२१॥

माऽगा विषादं पुनरप्युदारबुद्धे ! विशुद्धेर्गमिताऽसि सारम् ।
परिव्रजन् यः स्खलति स्वयं स चलत्यथोत्थाय सतां वतंसः ॥२२॥

किन्तु हे उदार बुद्धे ! अब तू विषाद को मत प्राप्त हो, तू बहुत शीघ्र विशुद्धि के सार को प्राप्त होगा। जो चलता हुआ गिरता है, वही सज्जन-शिरोमणि मनुष्य स्वयं उठकर चलने लगता है ॥२२॥

उपात्तजातिस्मृतिरित्यनेनाश्रुसिक्तयोगीन्द्रपदो निरेनाः ।
हिंसामहं प्रोज्झितवानथान्ते प्राणाँश्च संन्यासितया वनान्ते ॥२३॥

साधु के उक्त वचन सुनकर जाति-स्मरण को प्राप्त हो मैंने अपने आंसुओं से उन योगीन्द्र के चरणों को सींचकर हिंसा को छोड़ दिया और पाप-रहित होकर जीवन के अन्त में उसी वन के भीतर सन्यास से प्राणों को छोड़ा ॥२३॥

तस्मादनल्पाप्सरसङ्गतत्वाद्भूत्वाऽमृताशी सुखसंहितत्वात् ।
आयुः समुद्रद्वितयोपमानक्षणं स्म जाने क्षणसम्विधानम् ॥२४॥

उस पुण्य के प्रभाव से मैंने अमृत-भोजी (देव) होकर अनेकों अप्सराओं से युक्त हो सुख-परम्परा को भोगते हुए वहां की दो सागरोपम आयु को एक क्षण के समान जाना ॥२४॥

श्रीधातकीये रजताचलेऽहं जातः परित्यज्य सुरस्य देहम् ।
सुरेन्द्रकोणीयविदेहनिष्ठे तदुत्तरश्रेणिगते विशिष्टे ॥२५॥
श्रीमङ्गलावत्यभिधप्रदेश-स्थिते पुरे श्रीकनकाभिधे सन् ।
राजाग्रशब्दः कनकोऽस्य माला राज्ञी सहासीत्कनकेन बाला ॥२६॥
तयोर्गतोऽहं कुलसौधकेतुः सुराद्रिसम्पूजनहेतवे तु ।
भूत्वा मुनिर्लान्तवमभ्युपेतस्त्रयोदशाब्ध्यायुरुपेत्य चेतः ॥२७॥

तत्पश्चात मैं देव की देह को छोड़ कर धातकी खंड के पूर्व दिशा में उपस्थित पूर्व-विदेह के रजताचल की उत्तर श्रेणी-गत विशिष्ट श्री मंगलावती नामक देश में विद्यमान श्री कनकपुर में कनक राजा की कनकमाला रानी के उनके कुलरूप भवन की ध्वजा-स्वरूप पुत्र हुआ । उस भव में मैं सुमेरु पर्वत के चैत्यालयों की पूजन के लिए गया। पुनः मुनि बन कर (और संन्यास से मरण कर) लान्तव नाम के स्वर्ग को प्राप्त हुआ और वहां पर मैंने तेरह सागर की आयु पाई ॥२५-२६-२७॥

साकेतनामा नगरी सुधामाऽस्यां चाऽभवं श्रीहरिषेणनामा ।
श्रीवज्रषेणावनिपेन शीलवत्याः कुमारोऽहमथो सलीलः ॥२ ।

पुन उत्तम भवनों वाली जो साकेत नाम नगरी है, उसमें मैं (स्वर्ग से च्युत होकर श्री वज्रषेण राजा से शीलवती रानी के श्रीहरिषेण नाम का पुत्र हुआ और मैंने कुमार-काल नाना प्रकार की लीलाओं में बिताया ॥२८॥

युवत्वमासाद्य विवाहितोऽपि नोपासकाचारविचारलोपी ।
सन्ध्यासु सन्ध्यानपरायणत्वादेवं च पर्वण्युपवासकृत्वात् ॥२९॥

पुनः युवावस्था को प्राप्त कर मैं विवाहित भी हुआ, परन्तु उपासकों (श्रावकों) के आचार विचार का मैंने लोप नहीं किया, अर्थात् मैंने श्रावक धर्म का विधिवत् पालन किया । तीनों संध्या-कालों में मैं सन्ध्या-कालीन कर्त्तव्य में परायण रहता था और इसी प्रकार पर्व के दिनों में उपवास करता था ॥२९॥

पात्रोपसन्तर्पणपूर्वभोजी भोगेषु निर्विण्णतया मनोजित् ।
अथैकदा श्रीश्रुतसागरस्य समीपमाप्त्वा वदतांवरस्य ॥३०॥

दिगम्बरीभूय तपस्तपस्यन्ममायमात्मा श्रुतसारमस्यन् ।
भुक्तोज्झितं भोक्तुमुपाजगाम पुनर्महाशुक्रसुपर्वधाम ॥३१॥

मैं पात्रों के सन्तपण-पूर्व भोजन करता था, भोगों में विरक्त होने से मन को जीतने वाला था । तभी एक समय आचार्य-शिरोमणि श्री श्रुतसागर के समीप जाकर, दिगम्बरी दीक्षा लेकर और तप को तपता हुआ मेरा यह आत्मा श्रुत के सार को प्राप्त कर भोग करके छोड़े हुए भोगों को भोगने के लिए पुनः महा शुक्र स्वर्ग को प्राप्त हुआ ॥३०-३१॥

प्राग्धातकीये सरसे विदेहे देशेऽथवा पुष्कलके सुगेहे ।
श्रीपुण्डरीकिण्यथ पूः सुभागी सुमित्रराजा सुव्रताऽस्य राज्ञी ॥३२॥

भूत्वा कुमारः प्रियमित्रनामा तयोरहं निस्तुलरूपधामा ।
षट्खण्डभूमीश्वरतां दधानो विरज्य राज्यादिह तीर्थभानोः ॥३३॥

गत्वान्तिकं धर्मसुधां पिपासुः श्रामण्यमाप्त्वा तपसाऽमुनाऽऽशु ।
स्वर्गं सहस्रारमुपेत्य दैवीमैमि स्म सम्पत्तिमपापसेवी ॥३४॥

पुनः धातकी खण्ड के सरस पूर्व विदेह के उत्तम गृहों वाले पुष्कल देश में श्री पुण्डरीकिणी पुरी के सुमित्र राजा और सुव्रता रानी के मैं अतुल रूप का धारी प्रिय मित्र नाम का कुमार हुआ । वहां पर षट् खण्ड भूमि की ईश्वरता को, अर्थात् स्वामित्व को धारण करता हुआ चक्रवर्ती बनकर (राज्य-सुख भोगा । पुनः कारण पाकर) राज्य से विरक्त होकर तीर्थ के लिए सूर्य-स्वरूप आचार्य के पास जाकर और धर्म रूप अमृत के पीने का इच्छुक हो, मुनिपना अङ्गीकार कर वहां किये हुये तपश्चरण के फल से शीघ्र ही सहस्रार स्वर्ग में उत्पन्न होकर निष्पाप प्रवृत्ति करने वाले मैंने देवी सम्पत्ति को प्राप्त किया ॥३२-३३-३४॥

छत्राभिधे पुर्यमुकस्थलस्य श्रीवीरमत्यामभिनन्दनस्य ।
सुतोऽभवं नन्दसमाह्वयोऽहमाप्त्वा कदाचिन्मुनिमस्तमोहम् ॥३५॥

समस्तसत्त्वैकहितप्रकारि-मनस्तयाऽन्ते क्षपणत्वधारी ।
उपेत्य वै तीर्थकरत्वनामाच्युतेन्द्रतामप्यगमं सुदामा ॥३६॥

पुनः उसी धातकी खण्डस्थ पूर्व विदेह क्षेत्र के उस पुष्कल देश में छत्रपुरी के राजा अभिनन्दन और रानी श्री वीरमती के नन्द नाम का पुत्र हुआ । वहां किसी समय मोह-रहित निर्ग्रन्थ मुनि को पाकर, उनके समीप क्षपणकत्व (दिगम्बरत्व) को धारण कर लिया और समस्त प्राणियों की हितकारिणी मानसिक प्रवृत्ति होने से तीर्थंकरत्व नामकर्म का बन्धकर अच्युत स्वर्ग की इन्द्रता को प्राप्त हुआ, अर्थात् उत्तम माला का धारक इन्द्र हुआ ॥३५-३६॥

यदेतदीक्षे जगतः कुवृत्तं तस्याहमेवास्मि कुबीजभृत्तं ।
चिकित्सिताऽर्ज्या भुवि मच्चिकित्सा विना स्वभावादुत कस्य दित्सा ॥३७॥

इस प्रकार आज जगत् में जो यह कदाचार देख रहा हूँ, उसका मैं ही तो कुबीजभूत हूँ, अर्थात् पूर्व भवों में मैंने ही जो मिथ्या मार्ग का बीज बोया है, वही आज नाना प्रकार के मत-मतान्तरों एवं असदाचारों के रूप में वृक्ष बनकर फल-फूल रहा है । इसलिए जगत् की चिकित्सा करने की इच्छा रखने वाले मुझे पहिले अपनी ही चिकित्सा करनी चाहिए । जब तक मैं स्वयं शुद्ध (निरोग या निराग) नहीं हो जाऊं, तब तक स्वभावतः दूसरे के लिए औषधि देने की इच्छा कैसे सम्भव है ? ॥३७॥

सिद्धिमिच्छन् भजेदेवासहयोगं धनादिभिः ।
अपि कुर्याद् बहिष्कारं मत्सरादेरिहात्मनः ॥३८॥

आत्म-शुद्धि रूप सिद्धि की इच्छा करने वाले को धन-कुटुम्बादि से असहयोग करना ही चाहिए, तथा अपनी आत्मा के परम शत्रु मत्सरादिक भावों का भी बहिष्कार करना चाहिए ॥३८॥

स्वराज्यप्राप्तये धीमान् सत्याग्रहधुरन्धरः ।
नो चेत्परिस्खलत्येव वास्तव्यादात्मवर्त्मनः ॥३९॥

स्वराज्य (आत्म-राज्य) प्राप्ति के लिए बुद्धिमान् पुरुष को सत्याग्रह रूप धुराका धारक होना चाहिए। यदि उसका सत्य के प्रति यथार्थ आग्रह न होगा, तो वह अपने वास्तविक आत्म-शुद्धि के मार्ग से परिभ्रष्ट हो जायगा ॥३९॥

बहुकृत्वः किलोपात्तोऽसहयोगो मया पुरा ।
न हि किन्तु बहिष्कारस्तेन सीदामि साम्प्रतम् ॥४०॥

पहिले मैंने अपने पूर्व भवों में धन कुटुम्ब आदि से बहुत बार असहयोग तो किया, किन्तु राग-द्वेषादि रूप आत्म-शत्रुओं का बहिष्कार नहीं किया । इसी कारण से आज मैं दुःख भोग रहा हूँ ॥४०॥

इदमिष्टमनिष्टं वेति विकल्प्य चराचरे ।
मुधैव द्वेष्टि हन्तात्मन्न द्वेष्टि तत्स्थलं मनः ॥४१॥

हे आत्मन् ! इस चराचर जगत् में यह वस्तु इष्ट है और यह अनिष्ट है, ऐसा विकल्प करके तू व्यर्थ ही किसी से राग और किसी से द्वेष करता है । दुःख है कि इस राग द्वेष के स्थल-भूत अपने मन से तू द्वेष नहीं कर रहा है ? ॥४१॥

तदद्य दुष्टभावानां मयाऽऽत्मबलशालिना ।
बहिष्कार उरीकार्यः सत्याग्रहमुपेयुषा ॥४२॥

इसलिए आत्म बलशाली मुझे सत्याग्रह को स्वीकार करते हुए अपने राग-द्वेषादि दुष्ट भावों का बहिष्कार अङ्गीकार करना चाहिए ॥४२॥

अभिवाञ्छसि चेदात्मन् सत्कर्त्तुं संयमद्रुमम् ।
नैराश्यनिगडे नैतन्मनोमर्कटमाधर ॥४३॥

हे आत्मन् ! यदि तुम संयम रूप वृक्ष की सुरक्षा करना चाहते हो, तो अपने इस मनरूप मर्कट (बन्दर) को निराशा रूप सांकल से अच्छी तरह जकड़ कर बांधो ॥४३॥

अपारसंसारमहाम्बुराशेरित्यात्मनो निस्तरणैकहेतुम् ।
विचार्य चातुर्यपरम्परातो निबद्धवानात्मविभुः स सेतुम् ॥४४॥

इस प्रकार आत्म-वैभव के स्वामी वीर भगवान् ने विचार कर इस अपार संसार रूप महा समुद्र के पार होने के एक मात्र हेतु स्वरूप सेतु (पुल) को अपनी चातुर्य-परम्परा से बांधा ॥४४॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं,
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
तेनास्मिन्नुदिते स्वकर्मविभवस्यादर्शवद् व्यञ्जकः,
प्राग्जन्मप्रतिवर्णनोऽर्हत इयान् एकादशस्थानकः ॥११॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भुजजी और घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए वाणीभूषण बाल ब्रह्मचारी पं. भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर द्वारा विरचित इस काव्य में अपने कर्म-वैभव को आदर्श (दर्पण) के समान प्रकट करने वाला और भगवान् के पूर्व जन्मों का वर्णन करने वाला यह ग्यारहवां सर्ग समाप्त हुआ ॥११॥

❖ ❖ ❖

अथ द्वादशः सर्गः

विलोक्य वीरस्य विचारवृद्धिमिहेर्ष्ययेवाथ बभूव गृद्धिः ।
वृषाधिरूढस्य दिवाधिपस्यापि चार आत्तोरुतयेति शस्या ॥१॥

इस प्रकार वीर भगवान् की विचार-वृद्धि को देखकर उनके प्रति ईर्ष्या करते हुए ही मानों वृष राशि पर आरूढ़ हुए सूर्य देव का संचार भी दीर्घता को प्राप्त हुआ, अर्थात् दिन बड़े होने लगे ॥१॥

स्वतो हिसंजृम्भितजातवेदा निदाधके रुग्ण इवोष्णरश्मिः ।
चिरादथोत्थाय करैरशेषान् रसान्निगृह्णात्यनुवादि अस्मि ॥२॥

इस निदाघ काल में (ग्रीष्म ऋतु में) स्वतः ही बढ़ी है अग्नि (जठराग्नि) जिसकी ऐसा यह उष्ण रश्मि (सूर्य) रुग्ण पुरुष के समान चिरकाल से उठकर अपने करों (किरणों वा हाथों) से पृथ्वी के समस्त रसों को ग्रहण कर रहा है, अर्थात् खा रहा है, मैं ऐसा कहता हूँ ॥२॥

भावार्थ - जैसे कोई रोगी पुरुष चिरकाल के बाद शय्या से उठे और जठराग्नि प्रज्वलित होने से जो मिले उसे ही अपने हाथों से उठाकर खा जाता है, उसी प्रकार सूर्य भी बहुत दिनों के पश्चात् बीमारी से उठकर के ही मानों पृथ्वी पर के सर्व रसों को सुखाते हुए उन्हें खा रहा है ॥

वोढा नवोढामिव भूमिजातश्छायामुपान्तान्न जहात्यथातः ।
अनारतंवान्ति वियोगिनीनां श्वासा इवोष्णाः श्वसना जनीनाम् ॥३॥

जैसे कोई नवीन विवाहित पुरुष नवोढ़ा स्त्री को अपने पास से दूर नहीं होने देता है, उसी प्रकार इस ग्रीष्मकाल में भूमि से उत्पन्न हुआ वृक्ष भी छाया को अपने पास से नहीं छोड़ता है । तथा इस समय वियोगिनी स्त्रियों के उष्ण श्वासों के समान उष्ण वायु भी निरन्तर चल रही है ॥३॥

मितम्पचेषूत किलाध्वगेषु तृष्णाभिवृद्धिं समुपैत्यनेन ।
हरेः शयानस्य मृणालबुद्ध्या कर्षन्ति पुच्छं करिणः करेण ॥४॥

इस ग्रीष्मकाल के प्रभाव से पथिक जनों में कृपण-जनों के समान ही तृष्णा (प्यास और धनाभिलाषा) और भी वृद्धि को प्राप्त हो जाती है । इस समय ग्रीष्म से विह्वल हुए हाथी अपनी सूंड से सोते हुए सांप को मृणाल (कमलनाल) की बुद्धि से खींचने लगते हैं ॥४॥

वियोगिनामस्ति च चित्तवृत्तिरिवाभितप्ता जगती प्रक्लृप्ता ।
छाया कृशत्वं विदधाति तावद्वियोगिनीयं वनितेव दृप्ता ॥५॥

इस समय यह पृथ्वी भी वियोगियों के चित्त-सदृश सन्तप्त हो जाती है । सूर्य की छाया भी मानिनी वियोगिनी नायिका के समान कृशता को धारण कर लेती है ॥५॥

कोपाकुलस्येव मुखं नृपस्य को नाम पश्येद्रविबिम्बमद्य ।
पयः पिबत्येव मुहुर्मनुष्योऽधरं प्रियाया इव सम्प्रपद्य ॥६॥

इस समय कोप को प्राप्त हुए राजा के मुख के समान सूर्य के बिम्ब को तो भला देख ही कौन सकता है ? गर्मी के मारे कण्ठ सूख-सूख जाने से मानों मनुष्य बार-बार अपनी प्रिया को प्राप्त होकर उसके अधर के समान जल को पीता है ॥६॥

ज्वाला हि लोलाच्छलतो बहिस्तान्निर्यात्यविच्छिन्नतयेति मानात् ।
जानामि जागर्त्ति किलान्तरङ्गे वैश्वानरः सम्प्रति मण्डलानाम् ॥७॥

इस ग्रीष्म ऋतु में कुत्तों के भीतर अग्नि प्रज्वलित हो रही है, इसीलिए मानों उनकी ज्वाला लपलपाती जीभ के बहाने अविच्छिन्न रूप से लगातार बार-बार बाहिर निकल रही है, ऐसा मैं अनुमान करता हूँ ॥७॥

सहस्रधासंगुणितत्विडन्धौ वसुन्धरां' शासति पद्मबन्धौ ।
जड़ाशयानान्तु कुतो भवित्री सम्भावना साम्प्रतमात्तमैत्री ॥८॥

इस समय सहस्र गुणित किरणों को लेकर पद्मबन्धु (सूर्य के वसुन्धरा का शासन करने पर जडाशयों (मूर्ख जनों और जलाशयो) की तो बने रहने की सम्भावना ही कैसे हो सकती ह । अर्थात् गर्मी में सरोवर सूख जाते हैं ॥८॥

त्यक्त्वा पयोजानि लताः श्रयन्ते मधुव्रता वारिणि तप्त एते ।
छायासु एणः खलु यत्र जिह्वानिलीढकान्तामुख एष शेते ॥९॥

इस समय सरोवरों का जल अत्यन्त तप जाने पर भौंरे कमलों को छोड़ कर लताओं का आश्रय लेते हैं और हिरण भी ठण्डी सघन छाया में बैठकर अपनी जिह्वा से प्रिया (हिरणी) का मुख चाटता हुआ विश्राम ले रहा है ॥९॥

मार्त्तण्डतेजः परितः प्रचण्डं मुखे समादाय मृणालखण्डम् ।
विराजते सम्प्रति राजहंसः कासारतीरेऽब्जतले सवंशः ॥१०॥

इस समय सूर्य का तेज अति प्रचण्ड हो रहा है, इसलिए कमल-युक्त मृणाल के खण्ड को अपने मुख में लेकर सपरिवार यह राजहंस सरोवर के तीर पर बैठा हुआ राजहंस (श्रेष्ठ राजा) सा शोभित हो रहा है ॥१०॥

सन्तापितः सँस्तपनस्य पादैः पथि व्रजन् पांशुभिरुत्कृदङ्गः ।
तले मयूरस्य निषीदतीति श्वसन्मुहुर्जिह्मगतिर्भुजङ्गः ॥११॥

सूर्य की प्रखर किरणों से सन्ताप को प्राप्त होता हुआ, मार्ग में चलते हुए उष्ण धूलि से अपने अंग को ऊंचा उठाता हुआ, बार-बार दीर्घ श्वास छोड़ता हुआ भुजंग कुंठित गति होकर छाया प्राप्त करने की इच्छा से मोर के तले जाकर बैठ जाता है ॥११॥

भावार्थ - गर्मी से संत्रस्त सर्प यह भूल जाता है कि मोर तो मेरा शत्रु है, केवल गर्मी से बचने का ही ध्यान रहने से वह उसी के नीचे जा बैठता है ।

द्विजा वलभ्यामधुना लसन्ति नीडानि निष्पन्दतया श्रयन्ति ।
समेति निष्ठां सरसे विशाले शिखावलः सान्द्रनगालवाले ॥१२॥

गर्मी के मारे पक्षीगण भी छज्जों के नीचे जाकर और वहां के घोंसलों का निस्पन्द होकर आश्रय ले लेते हैं, अर्थात् उनमें जाकर शान्त हो चुप-चाप बैठ जाते हैं । और मयूरगण भी किसी वृक्ष की सघन सरस, विशाल आर्द्र क्यारी में जाकर आसन लगा के चुपचाप बैठ जाते हैं ॥१२॥

वाहद्विषन् स्वामवगाहमानश्छायामयं कर्दम इत्युदानः ।
विपद्यते धूलिभिरुष्णिकाभिरूढा क्व वा भ्रान्तिमतामुताऽभीः ॥१३॥

अश्वों से द्वेष रखने वाला भैंसा भी गर्मी से संतप्त होकर अपने ही अंग की छाया को, यह सघन कीचड़ है, ऐसा समझकर बैठ जाता है और उसमें लोट-पोट होने लगता है । किन्तु वहां की उष्ण धूलि से उल्टा विपत्ति को ही प्राप्त होता है । सो ठीक ही है - भ्रान्ति वाले लोगों को निर्भयता कहां मिल सकती है ॥१३॥

उशीरसंशीरकुटीरमेके भूगर्भमन्ये शिशिरं विशन्ति ।
उपैति निद्रापि च पक्ष्मयुग्मच्छायां दृशीत्येव विचारयन्ती ॥१४॥

गर्मी में कितने ही धनिक-जन तो उशीर (खस) से संश्रित कुटी में निवास करते हैं, कितने ही शीतल भूमि-गत गर्भालयों में प्रवेश करते हैं । ऐसा विचार करती हुई स्वयं निद्रा भी मनुष्यों की दोनों आंखों की वरौनी का आश्रय ले लेती है ॥१४॥

श्रीतालवृन्तभ्रमणं यदायुः सर्वात्मना सेव्यत एव वायुः ।
आलम्बते स्वेदमिषेण नीरं सुशीतलं सम्यगुरोजतीरम् ॥१५॥

इस ग्रीष्म काल में वायु भी श्री ताल वृक्ष के वृन्त (डंठल) के आश्रय को पाकर जीवित रहती है, इसलिए वह सर्वात्म रूप से उसकी सेवा अर्थात् ग्रीष्म काल में लोगों के द्वारा बराबर पंखे की हवा ली जाती है । तथा

स्वयं जल भी ग्रीष्म से सन्तप्त होकर प्रस्वेद (पसीना) के मिष से युवती स्त्रियों के शीतल स्तनों के तीर का भले प्रकार आश्रय लेता है ॥१५॥

अभिद्रवच्चन्दनचर्चितान्तं कामोऽपि वामास्तनयोरूपान्तम् ।
आसाद्य सद्यस्त्रिजगद्विजेता निद्रायतेऽन्यस्य पुनः कथेता ॥१६॥

औरों की तो कथा ही क्या है, स्वयं सद्यः (शीघ्रता पूर्वक) त्रिजगद्-विजेता कामदेव भी चंदन-रस से चर्चित नवोढाओं के स्तनों के मूल भाग को प्राप्त होकर निद्रा लेने लगता है ॥१६॥

छाया तु मा यात्विति पादलग्ना प्रियाऽध्वनीनस्य गतिश्च भग्ना ।
रविस्त्ववित्कर्कशपादपूर्णः क्व चित् स शेतेऽथ शुचेव तूर्णम् ॥१७॥

पथिक की गति रूप स्त्री तो नष्ट हो गई है और छाया रूप प्रिया 'अभी मत जाओ' ऐसा कहती हुई अपने पथिक पति के पैरों में पड़ जाती है, और इधर सूर्य निर्दयता-पूर्वक अपने कठोर पैर मारता है, अर्थात् अपनी तीक्ष्ण किरणों से सन्तप्त करता है । इस लिए सोच में पड़ करके ही मानों पथिक शीघ्र कहीं एकान्त में जाकर सो जाता है ॥ १७॥

द्विजिह्वचित्तोपममम्बुतप्तं ब्रह्माण्डकं भ्राष्ट्रपदेन शप्तम् ।
शैत्यस्य सत्त्वं रविणाऽत्र लुप्तं यत्किञ्चिदास्ते स्तनयोस्तु गुप्तम् ॥

गर्मी में जल तो पिशुन के चित्त के समान सदा सन्तप्त रहता है और यह सारा ब्रह्माण्ड भाड़ के समान अति उष्णता को प्राप्त हो जाता है । इस समय शीत की सत्ता को सूर्य ने बिलकुल लुप्त कर दिया है । यदि कहीं कुछ थोड़ा-सा शीत शेष है, तो वह स्त्रियों के स्तनों में छिपा हुआ है ॥१८॥

परिस्फुटत्त्रोटिपुटैर्विडिम्भैः प्राणैस्तरूणामिव कोटराणाम् ।
कोकूयनान्यङ्कगतैः क्रियन्ते रवेर्मयूखैर्ज्वलितान्तराणाम् ॥१९॥

सूर्य की भंयकर किरणों से जल गया है भीतरी भाग जिनका, ऐसे वृक्षों के कोटरों में छिपकर बैठे हुए और जिनके चंचु-पुट खुले हुए हैं, ऐसे पक्षियों के बच्चे प्यास से पीड़ित होकर ऐसे आर्त शब्द कर रहे हैं मानों गर्मी से पीड़ित कोटर ही चिल्ला रहे हों ॥१९॥

प्रयात्यरातिश्च रविर्हिमस्य दरीषु विश्रम्य हिमालयस्य ।
नो चेत्क्षणक्षीणविचारवन्ति दिनानि दीर्घाणि कुतो भवन्ति ॥२०॥

औरों की तो बात ही क्या है, जो हिम का सहज वैरी है वह सूर्य भी हिमालय की गुफाओं में कुछ देर तक विश्राम करके आगे जाता है । यदि ऐसा न होता, तो क्षण-क्षीण विचार वाले दिन आज कल दीर्घ कैसे होते ॥२०॥

भावार्थ - जो दिन अभी तक शीत ऋतु में छोटे होते थे - बड़ी तेजी से निकल जाते थे, वे ही अब गर्मी में इतने लम्बे या बड़े कैसे होने लगे ? इस बात पर ही कवि ने उक्त उत्प्रेक्षा की है।

पादैः खरैः पूर्णदिनं जगुर्विद्वर्या रवेर्निर्दलितेयमुर्वी ।
आशासिता सायमुपैति रोषात्करैर्बृहन्निश्वसितं विधोः सा ॥२१॥

सारे दिन सूर्य के प्रखर पादों (किरणों वा पैरों) से सताई गई यह पृथ्वी सांयकाल के समय चन्द्र के करों (किरणों वा हस्तों) से अश्वासन पाकर रोष से ही मानों दीर्घ निःश्वास छोड़ने लगती है, ऐसा विद्वा् लोग कहते हैं ॥२१॥

सरोजिनीसौरभसारगन्धिर्मधौ य आनन्दपदानुबन्धी ।
रथ्या रजांसीह किरन् समीर उन्मत्तकल्पो भ्रमतीत्यधीरः ॥२२॥

वसन्त ऋतु में जो वायु सरोजिनी के सौरभ सार से सुगन्धित था, एवं सभी के आनन्द का उत्पादक था, वही वायु अब गलियों की धूलि को चारों ओर फेंकता हुआ उन्मत्त पुरुष के समान अधीर होकर भ्रमण कर रहा है ॥२२॥

नितान्तमुच्चैस्तनशैलमूलच्छायस्य किञ्चित्सवितानुकूलः ।
यः कोऽपि कान्तामुखमण्डलस्य स्मितामृतैः सिक्ततया प्रशस्यः ॥

इस ग्रीष्म ऋतु में यदि सूर्य किसी के कुछ अनुकूल है तो उसी के है, जो कि स्त्रियों के अति उन्नत स्तनरूप शैल के मूल की छाया को प्राप्त है और कान्ता के मन्द हास्य रूप अमृत से सिंचित होने के प्रशंसनीय सौभाग्य वाला है ॥२३॥

शिवद्विषः शासनवत्पतङ्गः प्रयाति यावद्गगनं सुचङ्गः ।
नतभ्रुवः श्रीकुचबन्धभङ्गः स्फीत्या स एवास्तु जये मृदङ्गः ॥२४॥

यह सुचग (उत्तम) पतंग कामदेव के शासन-पत्र (हुक्म नामा) के समान वेग से जाता हुआ जब आकाश में पहुँच जाता है, उस समय प्रसन्नता से युवती जनों के कुचों का बंधन खुल जाता है, सो मानों यह काम की विजय में मृदंग ही बन रहा है ॥२४॥

पतङ्गतन्त्रायितचित्तवृत्तिस्तदीययन्त्रभ्रमिसम्प्रवृत्तिः ।
श्यामापि नामात्मजलालनस्य समेति सौख्यं सुगुणादरस्य ॥२५॥

जिस स्त्री के अभी तक सन्तान नहीं हुई है, ऐसी श्यामा वामा की चित्त-वृत्ति जब पतंग उड़ाने में संलग्न होती है और जब वह डोरी से लिपटी हुई उसकी चर्खी को घुमाने में प्रवृत्त होती है, तब वह सुगुणों का आदर-भूत पुत्र-लालन का सौख्य प्राप्त करती है, अर्थात् डोरी की चर्खी को दोनों हाथों में लिए उसे घुमाते समय वह पुत्र खिलाने जैसा आनन्द पाती है ॥२५॥

पतङ्गकं सम्मुखमीक्षमाणा करेण सोत्कण्ठमना द्रुतं तम् ।
उपात्तवत्यम्बुजलोचनाऽन्या प्रियस्य सन्देशमिवाऽऽपतन्तम् ।

अन्य कोई कमलनयनी स्त्री अपने सम्मुख आकर गिरे हुए पंतग को देखकर 'यह मैरे पति का भेजा हुआ सन्देश ही है' ऐसा समझ कर अति उत्कण्ठित मन होकर के उसे शीघ्र हाथ से उठा लेती है ॥२६॥

कृपावती पान्थनृपालनाय कृपीटमुष्णं तपसेत्यपायः ।
प्रपा त्रपातः किल सम्बिभर्त्ति स्वमाननं स्विन्नदशानुवर्त्ति ॥२७॥

पथिक जनों के पालन के लिए बनाई गई दयामयी प्याऊ भी सूर्य से मेरा जल उष्ण हो गया है, अब उसके ठंडे होने का कोई उपाय नहीं है, यह देख करके ही मानों लज्जा से अपने मुख को प्रस्वेद-युक्त दशा का अनुवर्ती कर लेती है ॥२७॥

वातोऽप्यथातोऽतनुमत्तनूनामभ्यङ्गमभ्यङ्गकचन्दनं च ।
मद्भक्षिसरंक्षणलक्षणं यद्विशोषयत्येवमिति प्रपञ्चः ॥२८॥

वर्तमान की वायु का भी क्या हाल है ? वह यह सोच कर कि इन युवतियों के शरीरों पर चन्दन-लेप हो रहा है, वह मुझे खाने वाले सर्पों की रक्षा करने वाला है, ऐसा विचार करके ही मानों उनके शरीर पर लेप किये हुए चन्दन को शीघ्र सुखा देता है, यह बड़ा प्रपंच है ॥२८॥

भावार्थ - सर्पो का एक नाम पवनाशन भी है, जिसका अर्थ होता है पवन को खाने वाला । कवि ने इसे ही ध्यान में रख कर चन्दन-लेप सुखाने की उत्प्रेक्षा की है ।

वेषः पुनश्चांकुरयत्यनङ्गं नितम्बिनीनां सकृदाप्लुतानाम् ।
कण्ठीकृतामोदमयस्रजान्तु स्तनेषु राजार्हपरिप्लवानाम् ॥२९॥

जिन नितम्बिनियों ने अभी-अभी स्नान किया है, सुगन्धमयी पुष्प-माला कण्ठ में धारण की है और स्तनों पर ताजा ही चन्दन लेप किया है, उनका वेष अवश्य ही पुरुषों के मन में अनंग को अंकुरित करता है, अर्थात् कुछ समय के लिए उन्हें आनन्द का देने वाला हो जाता है ॥२९॥

जलं पुरस्ताद्यदभूत्तु कूपे तदङ्गनानामिह नाभिरूपे ।
स्रोतो विमुच्य स्रवणं स्तनान्ताद् यूनामिदानीं सरसीति कान्ता ॥३०॥

जो जल पहिले कुएं में था, वह इस ग्रीष्मकाल में स्त्रियों के नाभि-रूप कूप में आ जाता है। और जो जल-स्रोत (झरने) पर्वतों से झरते थे, वे अब स्थान छोड़कर स्त्रियों के स्तनों के अग्रभाग में आ जाते हैं । इस समय सरोवरी तो सूख गई है, किन्तु कामी जनों के लिए तो सुन्दर स्त्री ही सरोवरी का काम करती है ॥३०॥

एतादृशीयं धरणौ व्यवस्था प्रायोऽप्यभून्नीरसवस्तुसंस्था ।
रविर्गतोऽङ्गारवदुज्ज्वलत्वं कविर्वदत्यत्र तदेकतत्त्वम् ॥३१॥

ग्रीष्मकाल में धरणीतल पर इस प्रकार अवस्था हुई । प्रायः सभी पदार्थ नीरस हो गये, अर्थात् उनका रस सूख गया । और सूर्य अङ्गार के समान उज्ज्वलता को प्राप्त हुआ, अर्थात् खूब तपने लगा । ऐसी भीषण गर्मी के समय जो कुछ घटित हुआ, उस अद्वितीय तत्त्व को कवि यहां पर कहता है ॥३१॥

सर्पस्य निर्मोकमिवाथ कोशमसेरिवाऽऽनन्दमयोऽपदोषः ।
शरीरमेतत्परमीक्षमाणः वीरो बभावाऽऽत्मपदैकशाणः ॥३२॥

ऐसी प्रचण्ड गर्मी के समय निर्दोष एवं आत्मपद की प्राप्ति के लिए अद्वितीय शाण के समान वे वीर भगवान् अपने इस शरीर को सांप की कंचली के समान, अथवा म्यान से खड्ग के समान भिन्न देखते हुए आनन्दमय होकर विचर रहे थे ॥३२॥

शरीरतोऽसौ ममताविहीनः व्रजन् समन्तात्समतां शमीनः ।
उष्णं हिमं वर्षणमेकरूपं पश्यन्नभूदात्मरसैककूपः ॥३३॥

आत्मीय रस के अद्वितीय कूप-तुल्य वे शांति के सूर्य वीर प्रभु शरीर से ममता रहित होकर और सर्व ओर से समता को प्राप्त होकर ग्रीष्म, शीत और, वर्षाकाल को एक रूप देखते हुए विहार कर रहे थे ॥३३॥

नात्माऽम्भसाऽऽर्द्रत्वमसौ प्रयाति न शोषयेत्तं भुवि वायुतातिः ।
न वह्निना तप्तिमुपैति जातु व्यथाकथामेष कुतः प्रयातु ॥३४॥

भगवान् सभी प्रकार के परीषह और उपसर्गों को सहते हुए यह चिन्तवन करते थे कि यह आत्मा जल से कभी गीला नहीं होता, पवन का वेग इसे सुखा नहीं सकता और अग्नि इसे जला नहीं सकती (क्योंकि यह अमूर्त है) । फिर यह जीव इस संसार में अग्नि जलादिक से क्यों व्यर्थ ही कष्ट की कथा को प्राप्त होवे, अर्थात् इसे शीत-उष्ण परीषहादिक से नहीं डरना चाहिए ॥३४॥

ग्रीष्मे गिरेः शृङ्गमधिष्ठितः सन् वर्षासु वा भूमिरुहादधः सः ।
विभूषणत्वेन चतुष्पथस्य हिमे बभावाऽऽत्मपदैकशस्यः ॥३५॥

आत्मीय पद में तल्लीन वे वीर भगवान् ग्रीष्म काल में पर्वत के शिखर पर बैठकर, वर्षाकाल में वृक्षों के नीचे रहकर और शीतकाल में चतुष्पथ (चौराहे) के आभूषण बनकर शोभायमान हो रहे थे ॥३५॥

न वेदनाऽङ्गस्य च चेतनस्तु नासामहो गोचरचारि वस्तु ।
तथापि संसारिजनो न जाने किमस्ति लग्नोऽर्त्तिकथाविधाने ॥३६॥

शीत-उष्णादि के वेदना सहन करते हुए भगवान् विचार करते थे कि शरीर के तो जानने की शक्ति (चेतना) नहीं है और यह चेतन आत्मा इन शीत-उष्णादि की वेदनाओं का विषयभूत होने वाला पदार्थ नहीं है । तो भी न जाने, क्यों यह संसारी जीव पीड़ा की कथा कहने में संलग्न हो रहा है ॥३६॥

मासं चतुर्मासमथायनं वा विनाऽदनेनाऽऽत्मपथावलम्बात् ।
प्रसन्नभावेन किलैकतानः स्वस्मिन्नभूदेष सुधानिधानः ॥३७॥

अमृत के निधान वे वीर भगवान् आत्म-पथ का आश्रय लेकर एक मास चार मास और छह मास तक भोजन के बिना ही प्रसन्न चित्त रहकर अपने आपमें मग्न होकर अपने छद्मस्थ काल को बिता रहे थे ॥३७॥

गत्वा पृथक्त्वस्य वितर्कमारादेकत्वमासाद्य गुणाधिकारात् ।
निरस्य घातिप्रकृतीरघातिवर्ती व्यभाच्छ्रीसुकृतैकतातिः ॥३८॥

जब छद्मस्थकाल का अन्तिम समय आया, तब भगवान् क्षपक श्रेणी पर चढ़े और आठवें गुण स्थान में पृथक्त्व वितर्क शुक्ल ध्यान को प्राप्त होकर घातिया कर्मों की सर्व प्रकृतियों का क्षय करके अघ (पाप) से परे होते हुए, अथवा अघाति कर्मों के साथ रहते हुए अन्तरंग और बहिरंग लक्ष्मी के सौभाग्य-परम्परा को धारण कर शोभित हुए ॥३८॥

मनोरथारुढतयाऽथवेतः केनान्वितः स्नातकतामुपेतः ।
स्वयम्वरीभूततया रराज मुक्तिश्रियः श्रीजिनदेवराजः ॥३९॥

उस समय वीर प्रभु मनोरथ पर आरुढ़ होकर के अर्थात् आत्मा से अथवा जल से समन्वित होकर स्नातक दशा को प्राप्त हुए, मानों मुक्ति श्री के स्वयं वरण करने के लिए ही वे श्री जिनदेवराज वर-राजा से शोभित हो रहे थे ॥३९॥

वैशाखशुक्लाऽभ्रविधूदितायां वीरस्तिथौ केवलमित्यथायात् ।
स्वयं समस्तं जगदप्यपायादुद्धृत्य धर्तुं सुखसम्पदायाम् ॥४०.

यह समस्त जगत् जो उस समय पापों में संलग्न था, उसको पाप से दूर करने के लिए, तथा सुख-सम्पदा में लगाने के लिए ही मानों श्री वीर भगवान् ने वैशाख शुक्ला दशमी तिथि में केवल ज्ञान को प्राप्त किया ॥४०॥

अपाहरत् प्राभवभृच्छरीर आत्मस्थितं दैवमलं च वीरः ।
विचारमात्रेण तपोभृदद्य पूषेव कल्ये कुहरं प्रसह्य ॥४१॥

प्रातःकाल जैसे सूर्य प्रसन्न होकर विचार मात्र से ही कुहरे को दूर कर देता है, उसी प्रकार उस समय प्रभावान् शरीर वाले वीर भगवान् ने अपने आत्म-स्थित दैव (कर्मरूप) मल को दूर कर दिया ।।४१।।

भावार्थ - इस श्लोक में पठित सर्व विशेषण समान रूप से सूर्य और भगवान् दोनों के लिए घटित होते हैं, क्योंकि जैसे सूर्य प्रभावान् शरीर का धारक है, वैसे ही भगवान् भी प्रभा वाले भामण्डल से युक्त हैं । जैसे सूर्य तपोभृत् अर्थात् उष्णता रूप ताप को धारण करता है, वैसे ही भगवान् भी तप के धारक हैं । जैसे सूर्य विचार अर्थात् अपने संचार से अन्धकार को दूर करता है, उसी प्रकार भगवान् ने भी अपने विचार रूप ध्यान से अज्ञान रूप अन्धकार को दूर किया है । हां भगवान् में इतनी विशेषता है कि सूर्य तो बाहिरी तमरूप मल को दूर करता है, पर भगवान् ने दैव या अदृष्ट नाम से कहे जाने वाले अन्तरंग कर्म रूप मल को दूर किया, जिसे कि दूर करने में सूर्य समर्थ नहीं है ।

अनित्यतैवास्ति न वस्तुभूताऽसौ नित्यताऽप्यस्ति यतः सुपूता ।
इतीव वक्तुं जगते जिनस्य दृङ् निर्निमेषत्वमगात्समस्य ।।४२।।

केवल ज्ञान प्राप्त करते ही भगवान् के नेत्र निर्निमेष हो गये अर्थात् अभी तक जो नेत्रों की पलकें खुलती और बन्द होती थी । उसका होना बन्द हो गया । इसका कारण बतलाते हुए कवि कहते हैं- पदार्थों में केवल अनित्यता ही वस्तुभूत धर्म नहीं है, किन्तु नित्यता भी वास्तविक धर्म है । यह बात जगत् के कहने के लिए ही मानों वीर जिन के नेत्र निर्निमेषपने को प्राप्त हो गये ।।४२।।

भावार्थ - आंखों का बार-बार खुलना और बन्द होना वस्तु की अनित्यता का सूचक है तो निर्निमेषता नित्यता को प्रकट करती है । इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक पदार्थ में नित्यत्व और अनित्यत्व ये दोनों धर्म रहते हैं ।

धर्मार्थकामामृतसम्भिदस्तान् प्रवक्तुमर्थान् पुरुषस्य शस्तान् ।
बभार वीरश्चतुराननत्वं हितं प्रकर्तुं प्रति सर्वसत्त्वम् ।।४३।।

धर्म, अर्थ, काम और अमृत (मोक्ष) रूप पुरुष के हितकारक चार प्रशस्त पुरुषार्थों को सर्व प्राणियों से कहने के लिए ही मानों वीर भगवान् ने चतुर्मुखता को धारण कर लिया ।।४३।।

भावार्थ - केवल ज्ञान होते ही भगवान् के चार मुख दीखने लगते हैं, उसको लक्ष्य में रखकर कवि ने उनके वैसा होने का कारण बतलाया है ।

रूपं प्रभोरप्रतिमं वदन्ति ये येऽवनौ विज्ञवराश्च सन्ति ।
कुतः पुनर्मे प्रतिमेति कृत्वा निश्छायतामाप वपुर्हितत्त्वात् ।।४४।।

इस अवनी (पृथ्वी) पर जो-जो श्रेष्ठ ज्ञानी लोग हैं, वे वीर प्रभु के शरीर के रूप को अनुपम कहते हैं, फिर मेरा अनुकरण करने वाली प्रतिमा (छाया) भी क्यों हो ? यह सोचकर ही मानों भगवान् का शरीर तत्त्वतः छाया-रहितपने को प्राप्त हुआ, अर्थात् छाया से रहित हो गया ।।४४।।

अहो जिनोऽयं जितवान् मतल्लं केनाप्यजेयं भुवि मोहमल्लम् ।
नवाङ्कुराङ्कोदितरोमभारमितीव हर्षादवनिर्बभार ॥४५॥

अहो, इन जिनदेव ने संसार में किसी से भी नहीं जीता जानेवाला महा बलशाली मोहरूपी महामल्ल जीत लिया, इस प्रकार के हर्ष को प्राप्त हो करके ही मानों सारी पृथ्वी ने नवीन अंकुरों के प्रकट होने से रोमाञ्चपने को धारण कर लिया ॥४५॥

भावार्थ - सारी पृथ्वी हर्ष से रोमाञ्चित होकर हरी भरी हो गई ।

समासजन् स्नातकतां स वीरः विज्ञाननीरैर्विलसच्छरीरः ।
रजस्वलां न स्पृशति स्म भूमिमेकान्ततो ब्रह्मपदैकभूमिः ॥४६॥

विज्ञान रूप नीर से जिनके शरीर ने भली भांति स्नान कर लिया, अतएव स्नातकता को प्राप्त करने वाले, तथा एकान्ततः ब्रह्मपद के अद्वितीय स्थान अर्थात् बाल-ब्रह्मचारी ऐसे उन वीर भगवान् ने रजस्वला स्त्री के समान भूमि का स्पर्श नहीं किया अर्थात् भूमि पर विहार करना छोड़कर अन्तरिक्ष-गामी हो गये ॥४६॥

भावार्थ - जैसे कोई ब्रह्मचारी और फिर स्नान करके रजस्वला स्त्री का स्पर्श नहीं करता, वैसे ही बाल-ब्रह्मचारी और स्नातक पद को प्राप्त करने वाले भगवान् ने रजस्वला अर्थात् धूलिवाली पृथ्वी का भी स्पर्श करना छोड़ दिया। अब वे गगन-बिहारी हो गये ।

उपद्रुतः स्यात्स्वयमित्ययुक्तिर्यस्य प्रभावान्निरुपद्रवा पूः ।
तदा विपाकोचितशस्यतुल्या नखाश्चकेशाश्च न वृद्धिमापुः ॥४७॥

जिनके प्रभाव से यह सारी पृथ्वी ही उपद्रवों से रहित हो जाती है, वह स्वयं उपद्रव से पीड़ित हों, यह बात अयुक्त है, इसीलिए केवल ज्ञान के प्राप्त होने पर भगवान् भी (चेतन देव, मनुष्य, पशुकृत एवं आकस्मिक अचेतन-कृत सर्व प्रकार के) उपद्रवों से रहित हो गये । तथा परिपाक को प्राप्त हुई धान्य के समान भगवान् के नख और केश भी वृद्धि को प्राप्त नहीं हुए ॥४७॥

भावार्थः- केवल ज्ञान के प्राप्त होने पर जगत् उपद्रव-रहित हो जाता है और भगवान् के नख और केश नहीं बढ़ते हैं ।

बभूव कस्यैव बलेन युक्तश्च नाऽधुनासौ कवले नियुक्तः ।
सुरक्षणोऽसावसुरक्षणोऽपि जनैरमानीति वधैकलोपी ॥४८॥

भगवान् उस समय कबल अर्थात् आत्मा के बल से तो युक्त हुए, किन्तु कवल अर्थात् अन्न के ग्रास से संयुक्त नहीं हुए, अर्थात् केवल ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् भगवान् कवलाहार से रहित हो गये, फिर भी वे निर्बल नहीं हुए, प्रत्युत आत्मिक अनन्त बल से युक्त हो गये । वे भगवान् सुरक्षण होते

हुए भी असुरक्षण थे । यह विरोध है कि जो सुरों का क्षण (उत्सव-हर्ष) करने वाला हो, वह असुरों का हर्ष-वर्धक कैसे हो सकता है । इसका परिहार यह है कि वे देवों के हर्ष-वर्धक होते हुए भी असु-धारी प्राणी मात्र के भी पूर्ण रक्षक एवं हर्ष-वर्धक हुए । इसीलिए लोगों ने उन्हें वध (हिंसा) मात्र का लोप करने वाला पूर्ण अहिंसक माना ॥४८॥

प्रभोरभूत्सम्प्रति दिव्यबोधः विद्याऽवशिष्टा कथमस्त्वतोऽधः ।
कलाधरे तिष्ठति तारकाणां ततिः स्वतो व्योम्नि धृतप्रमाणा ॥

भगवान् को जब दिव्य बोध (केवल ज्ञान) प्राप्त हो गया है, तो फिर संसार की समस्त विद्याओं में से कोई भी विद्या अवशिष्ट कैसे रह सकती थी ? अर्थात् भगवान् सर्व विद्याओं के ज्ञाता या स्वामी हो गये । क्योंकि आकाश में कलाधर (चन्द्र) के रहते हुए ताराओं की पंक्ति तो स्वतः ही अपने परिवार के साथ उदित हो जाती है ॥४९॥

निष्कण्टकादर्शमयी धरा वा मन्दः सुगन्धः पवनः स्वभावात् ।
जयेति वागित्यभवन्नभस्त आनन्दपूर्णोऽभिविधिः समस्तः ॥

भगवान् को केवल ज्ञान प्राप्त होते ही यह सारी पृथ्वी कंटक रहित होकर दर्पण के समान स्वच्छ हो गई । स्वभाव से ही मन्द सुगन्ध पवन चलने लगा । आकाश में जय जयकार करने वाली ध्वनि होने लगी और इस प्रकार सभी वातावरण आनन्द से परिपूर्ण हो गया ॥५०॥

स्नाता इवाभुः ककुभः प्रसन्नास्तदेकवेलामृतवः प्रपन्नाः ।
गन्धोदकस्यातिशयात् प्रवृष्टिर्यतोऽभवनद्धर्षमयीव सृष्टिः ॥५१॥

सभी दिशाएं स्नान किये हुए के समान प्रसन्न हो गईं । सर्व ऋतुएं भी एक साथ प्राप्त हुईं । गन्धोदक की सातिशय वर्षा होने लगी और सारी सृष्टि हर्ष-मय हो गई ॥५१॥

ज्ञात्वेति शक्रो धरणीमुपेतः स्ववैभवेनाथ समं सचेतः ।
निर्मापयामास सभास्थलं स यत्र प्रभुर्मुक्तिपथैकशंसः ॥५२॥

यह सब जानकर सुचेता इन्द्र भी अपने वैभव के साथ पृथ्वी पर आया और जहां पर मुक्ति-मार्ग के अद्वितीय उपदेष्टा विराजमान थे, वहां पर उसने एक समवशरण नामक सभा-मण्डप का निर्माण किया ॥५२॥

सम्भोक्ता भगवानमेयमहिमासर्वज्ञचूडामणि –
र्निर्माता तु शचीपतेः प्रतिनिधिः श्रीमान् कुबेरोऽग्रणीः ।
सन्द्रष्टाऽखिलभूभुवां समुदयो यस्या भवेत्संसदः
पायाज्जातु रसस्थितिं मम रसाऽप्येषाऽऽशु तत्सम्पदः ॥

उस सभा-स्थल का निर्माता तो शचीपति शक्र का अग्रणी प्रतिनिधि श्रीमान् कुबेर था और उसके उपभोक्ता अमेय महिमा वाले सर्वज्ञ चूड़ामणि वीर भगवान् थे । तथा उस सभास्थल का संद्रष्टा समस्त पृथ्वी पर उत्पन्न हुए जीवों का समूह था । मेरी यह रसा (वाणी) भी शीघ्र उस सम्पदा की रसस्थिति को कुछ वर्णन करने में समर्थ होवे ॥५३॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं –

वाणीभूषण–वर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।

ग्रीष्मर्तूदयतोऽभवद्भगवतः सद्बोधभानूदय –

स्तस्य द्वादशनाम्नि तेन गदिते सर्गेऽत्र युक्तोऽन्वयः ॥१२॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भुजजी और घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए वाणीभूषण बाल-ब्रह्मचारी पं. भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर द्वारा विरचित इस काव्य में ग्रीष्म ऋतु और भगवान् के केवल ज्ञान-प्राप्ति का वर्णन करने वाला बारहवां सर्ग समाप्त हुआ ॥१२॥

अथ त्रयोदशः सर्गः

वृत्तं तथा योजनमात्रमञ्चं सार्द्धद्वयक्रोशसमुन्नतं च ।
ख्यातं च नाम्ना समवेत्य यत्र ययुर्जनाः श्रीशरणं तदत्र ॥१॥

कुबेर ने वीर भगवान् के लिए जो समवशरण नामक सभामण्डप बनाया कवि उसका कुछ दिग्दर्शन कराते हैं-

वह सभा-मण्डप गोलाकार था, मध्य में एक योजन विस्तृत और अढ़ाई कोश उन्नत था । उसमें चारों ओर से आकर सभी प्रकार के जीव श्री वीर भगवान् के शरण को प्राप्त होते थे, इसलिए वह 'समवशरण' इस नाम से संसार में प्रसिद्ध हुआ ॥१॥

आदौ समादीयत धूलिशालस्ततश्च यः खातिकया विशालः ।
स्वरत्नसम्पत्तिधृतोपहारः सेवां प्रभोरब्धिरिवाचचार ॥२॥

उस समवशरण में सब से पहिले धूलिशाल नाम से प्रसिद्ध कोट था, जो कि चारों ओर खाई से घिरा हुआ था। वह ऐसा प्रतीत होता था, मानों अपनी रत्नादिक रूप सर्व सम्पदा को भेंट में लाकर समुद्र ही वीर प्रभु की सेवा कर रहा है ॥२॥

त्रिमेखला-वापिचतुष्कयुक्ताः स्तम्भाः पुनर्मानहरा लसन्ति ।
रत्नत्रयेणर्षिवरा यथैवमाराधनाधीनहृदो भवन्ति ॥३॥

पुनः तीन मेखलाओं (कटनियों) से और चार वापिकाओं से युक्त मान को हरण करने वाले चार मानस्तम्भ चारों दिशाओं में सुशोभित हो रहे थे । वे ऐसे मालूम पड़ते थे मानों जैसे रत्नत्रय से युक्त और चार आराधनाओं को हृदय में धारण करने वाले ऋषिवर ही हैं ॥३॥

स्तम्भा इतः सम्प्रति खातिकायास्ततः पुनः पौष्पचयः शुभायाः ।
श्रीमालतीमौक्तिकसम्विधानि अनेकरूपाणि तु कौतुकानि ॥४॥

खाई के बाहरी भाग में मानस्तंभ थे और खाई के भीतरी भाग पर पुष्प वाटिका थी जिसमें कि मालती, मोतिया, गुलाब, मोंगरा आदि अनेक प्रकार के पुष्प खिल रहे थे ॥४॥

रत्नांशकैः पञ्चविधैर्विचित्रः मुक्तेश्च्युतः कङ्कणवत्पवित्रः ।
शालः स आत्मीयरुचां चयेन सजँस्तदैन्द्रं धनुरुद्गतेन ॥५॥

तत्पश्चात् पांच प्रकार के रत्नों से निर्मित होने के कारण चित्रविचित्र वर्ण वाला प्रथम शाल (कोट) था, जो ऐसा प्रतीत होता था, मानों मुक्ति रूप स्त्री का ऊपर से गिरा हुआ पवित्र कङ्कण ही हो। वह शाल अपने रत्नों की किरणों के समूह से आकाश में उदित हुए इन्द्र-धनुष की शोभा को विस्तार रहा था ॥५॥

नवान्निधीनित्यभिधारयन्तं समुल्लसत्तोरणतो बृहत्त्वात् ।
ततः पुनः प्रावरणं वदामि रथाङ्गिवद्धे नर ! राजतत्त्वात् ॥६॥

हे पाठक गण, तत्पश्चात् नव निधियों को धारण करने वाला, विशाल उल्लासमान तोरण-द्वार से संयुक्त राजतत्त्व वाला (चांदी से निर्मित) रथाङ्गी (चक्री) के समान प्रावरण (कोट) था, ऐसा हम कहते हैं ॥६॥

भावार्थ - जैसे चक्रवर्ती नव निधियों को धारण करता है, उसी प्रकार यह कोट भी नव-निधियों से संयुक्त था। चक्रवर्ती तो रण के कौशल से युक्त होता है, यह कोट तोरण-द्वार से युक्त था। चक्रवर्ती विशाल राज-तत्त्व से संयुक्त होता है, यह कोट भी राजतत्त्व से युक्त था, अर्थात् चांदी से बना हुआ था।

ततो मरालादिदशप्रकार-चिह्नैर्युतानां नभसोऽधिकारः ।
प्रत्येकमभ्राभ्रविधूदितानामष्टाधिकानां परितो ध्वजानाम् ॥७॥

तदनन्तर हंस, चक्रवाक आदि दश प्रकार के चिह्नो से सयुक्त और प्रत्येक एक सौ आठ, एक सौ आठ संख्या वाली ध्वजाओं की पंक्ति थी, जो फहराती हुई आकाश में अपना अधिकार प्रकट कर रही थी ॥७॥

सर्वैर्मनुष्यैरिह भूषितव्यमितीव वप्रच्छलतोऽथ भव्यः ।
श्रीपुष्करद्वीपगतोऽद्रिरेवाऽऽगत्य स्थितः स्वीकुरुते स्म सेवाम् ॥८॥

तत्पश्चात् सर्व मनुष्यों को यहां आकर रहना चाहिए, मानों ऐसा कहता हुआ ही कोट के बहाने से पुष्कर-द्वीपवर्ती भव्य मानुषोत्तर पर्वत यहां आकर प्रभु की सेवा को स्वीकार करके अवस्थित है, ऐसा प्रतीत होता था ॥८॥

स मङ्गलद्रव्यगणं दधानः स्वयं चतुर्गोपुरभासमानः ।
यत्र प्रतीहारतयास्ति वानदेवैः प्रणीतो गुणसन्विधानः ॥९॥

वह दूसरा कोट अष्ट मंगल द्रव्यों को स्वयं धारण कर रहा था, चार गोपुर द्वारों से प्रकाशमान था, सर्व गुणों से विराजमान था और जिस पर प्रतीहार (द्वारपाल) रूप से व्यन्तर देव पहरा दे रहे थे ॥९॥

भवन्ति ताः सम्प्रति नाट्यशाला नृत्यन्ति यासूत्तमदेवबालाः ।
त्रिलोकनाथस्य यशोवितानं समुद्घोषयन्त्यः प्रतिवेशदानम् ॥१०॥

इसके पश्चात् नाट्यशालाएं थीं, जिनमें देव-बालाएं त्रिलोकीनाथ श्री वीर प्रभु के यशोवितान की सर्व ओर घोषणा करती हुई नाच रहीं थीं ॥१०॥

सप्तच्छदाऽऽम्रोरुकचम्पकोपपदैर्वनैर्यत्र कृतोपरोपः ।
मनोहरोऽतः समभूत्प्रदेशस्तत्तत्कचैत्यद्रुमयुक्तलेशः ॥११॥

इसके अनन्तर सप्तपर्ण, आम्र, अशोक और चम्पक जाति के वृक्षों से युक्त चारों दिशाओं में चार वन थे । जिनमें उन-उन नाम वाले चैत्य वृक्षों से संयुक्त मनोहर प्रदेश सुशोभित हो रहे थे ॥११॥

श्रीवीरदेवस्य यशोभिरामं वप्रं तपो राजतमाश्रयामः ।
यस्य प्रतिद्वारमुशन्ति सेवामथाऽर्हतो भावननामदेवाः ॥१२॥

पुनः उस समवशरण में हम श्री वीर भगवान् के समान अभिराम, राजत (चांदी निर्मित) कोट का आश्रय करते हैं, जिसके कि प्रत्येक द्वार पर भवनवासी देव अरहंत भगवान् की सेवा कर रहे थे ॥१२॥

विनापि वाञ्छां जगतोऽखिलस्य सुखस्य हेतुं गदतो जिनस्य ।
वैयर्थ्यमावेदयितुं स्वमेष समीपमेति स्म सुरद्रुदेशः ॥१३॥

तत्पश्चात् कल्पवृक्षों का वन था, जो मानों लोगो से कह रहा था कि हम तो वांछा करने पर ही लोगों को वांछित वस्तु देते हैं, किन्तु ये भगवान् तो बिना ही वांछा के सर्व जगत् के सुख के कारण को कह रहे हैं, अतएव अब हमारा होना व्यर्थ है, इस प्रकार अपनी व्यर्थता को स्वयं प्रकट करता हुआ ही मानों यह कल्प वृक्षों का वन भगवान् के समीप में आया है ॥१३॥

अस्मिन् प्रदेशेऽप्यखिलासु दिक्षु सिद्धार्थनामावनिरुट् दिदृक्षुः ।
भव्योऽत्र सिद्धप्रतिमामुपेतः स्फूर्त्तिं नयत्यादरतः स्वचेतः ॥१४॥

इसी स्थान पर चारों दिशाओं में सिद्धार्थ नामक वृक्ष हैं, जो कि सिद्ध-प्रतिमाओं से युक्त हैं और जिन्हें देखने के लिए भव्य जीव आदर भाव से यहां आकर अपने चित्त में स्फूर्ति को प्राप्त करते हैं ॥१४॥

ततोऽपि वप्रः स्फटिकस्य शेष इवाऽऽबभौ कुण्डलितप्रदेशः ।
संसेवमानो भवसिन्धुसेतुं नभोगतत्वप्रतिपत्तये तु ॥१५॥

तदनन्तर स्फटिक मणि का तीसरा कोट है, जो ऐसा शोभित हो रहा है कि मानों शेषनाग ही अपने सर्पपना से रहित होने के लिए अथवा भोगों से विरक्ति प्राप्त करने के लिए भव-सागर के सेतु (पुल) समान इन वीर भगवान् की सेवा करता हुआ कुण्डलाकार होकर अवस्थित है ॥१५॥

ततः पुनर्द्वादश कोष्ठकानि जिनेन्द्रदेवं परितः शुभानि ।
स्म भान्ति यद्वद्रविमाश्रितानि मेषादिलग्नानि भवन्ति तानि ॥१६॥

पुनः तीसरे कोट के आगे जिनेन्द्र देव को घेर कर सर्व ओर उत्तम बारह कोठे सुशोभित हैं। (जिनमें चतुर्निकाय के देव, उनकी देवियां, मुनि, आर्यिका वा श्राविका, मनुष्य और पशु बैठकर भगवान् का धर्मोपदेश सुनते हैं।) ये भगवान् को घेर कर अवस्थित बारह कोठे ऐसे शोभित होते हैं, जैसे कि सूर्य को आश्रय करके चारों ओर अवस्थित मीन-मेष आदि लग्न राशियां शोभित होती हैं ॥१६॥

मध्येसभं गन्धकुटीमुपेतः समुत्थितः पीठतलात्तथेतः ।
बभौ विभुर्दृष्टमिदं विधानं समस्तमुच्छिष्टमिवोज्जिहानः ॥१७॥

इस समवशरण-सभा के मध्य में गन्ध कुटी को प्राप्त और सिंहासन के तलभाग से ऊपर अन्तरिक्ष अवस्थित भगवान् इस समस्त आयोजन को (समवशरण की रचना विधान को) उच्छिष्ट के समान छोड़ते हुए से शोभायमान हो रहे थे ॥१७॥

नाम्ना स्वकीयेन बभूव योग्यस्तत्पृष्ठोऽशोकतरुर्मनोज्ञः ।
यो दृष्टमात्रेण हरञ्जनानां शोकप्रबन्धं सुमुदो विधानात् ॥१८॥

भगवान् के पीठ पीछे अपने नाम से योग्य अर्थात् अपने नाम को सार्थक करने वाला मनोज्ञ अशोक वृक्ष था, जो कि दर्शन-मात्र से ही सर्व जनों के शोक-समूह को हरता हुआ, तथा हर्ष का विधान करता हुआ शोभित हो रहा था ॥१८॥

पुष्पाणि भूयो ववृषुर्नभस्तः नाकाशपुष्पं भवतीत्यशस्तः ।
जनै प्रवादो न्यकथीत्यनेन स्याद्वादविद्याधिपते रसेण ॥१९॥

स्याद्वाद विद्या के अधिपति श्री वीर भगवान् के पुण्योदय से उस समवशरण में आकाश से पुष्प बरस रहे थे। वे मानों यह प्रकट कर रहे थे कि लोगों ने हमारा जो यह अपवाद फैला रखा है कि आकाश में फूल नहीं होते, वह झूठ है ॥१९॥

गङ्गातरङ्गायितसत्वराणि यक्षैर्विधूतानि तु चामराणि ।
मुक्तिश्रियोऽपाङ्गनिभानि पेतुर्वीरप्रभोः पार्श्ववरद्वये तु ॥२०॥

उस समय वीर प्रभु के दोनों पार्श्व भागों में गंगा की तरंगों के समान लम्बे और यक्षों के द्वारा ढोरे जाने वाले चामर (चंवरों के समूह) ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानों मुक्ति-लक्ष्मी के कटाक्ष ही हों ॥२०॥

प्रभोः प्रभामण्डलमत्युदात्तं न कोटिसूर्यैर्यदिहाभ्युपात्तम् ।
यदीक्षणे सम्प्रभवः क्षणेन स्मो नाम जन्मान्तरलक्षणेन ॥२१॥

वीर प्रभु के मुख का प्रभा-मण्डल इतना दीप्ति युक्त था कि वह दीप्ति कोटि सूर्यों के द्वारा भी संभव नहीं है। जिस प्रभा-मण्डल को देखने पर एक क्षण में लोग अपने-अपने जन्मान्तरों को देखने में समर्थ हो जाते थे ॥२१॥

भावार्थ - भगवान् का ऐसा अतिशय होता है कि उनके भामण्डल में प्रत्येक प्राणी को अपने तीन पूर्व के भव, तीन आगे के भव और एक वर्तमान का भव इस प्रकार सात भव दिखाई देते हैं ।

जगत्त्रयानन्ददृशाममत्रं वदामि वीरस्य तदातपात्रम् ।
त्रैकालिकायाब्धितुजे सुसत्रं सतां जरामृत्युजनुर्विपत्त्रम् ॥२२॥

वीर भगवान् के उपर जो छत्रत्रय अवस्थित थे, वे मानों जगत्त्रय के नेत्रों के आनन्द के पात्र ही थे, ऐसा मैं कहता हूँ वह छत्रत्रय त्रैकालिक (सदा) रहने वाले अब्धिसुत चन्द्र के लिए उत्तम कांति देनेवाला उत्तम सत्र (सदावर्त) ही था और वह सज्जन पुरुषों की जन्म, जरा और मरण रूप तीन विपत्तियों से त्राण (रक्षा) करने वाला था ॥२२॥

मोहप्रभावप्रसरप्रवर्जं श्रीदुन्दुभिर्यं ध्वनिमुत्ससर्ज ।
समस्तभूव्यापिविधिं समर्जन्नानन्दवाराशिरिवाघवर्जः ॥२३॥

उस समवशरण में देव-दुन्दुभि, मोहकर्म के प्रभाव के विस्तार को निवारण करने वाली, समस्त भू-व्यापी आनन्द विधि को करने वाली, पाप-रहित निर्दोष आनन्दरूप समुद्र की गर्जना के समान गम्भीर ध्वनि को कर रहे थे ॥२३॥

वाचां रुचा मेघमधिक्षिपन्तं पर्याश्रयामो जगदेकसन्तम् ।
अखण्डरूपेण जगज्जनेभ्योऽमृतं समन्तादपि वर्षयन्तम् ॥२४॥

उस समवशरण में भगवान् की दिव्य ध्वनि अखण्ड रूप से जगत् के जीवों को पीने के लिए सर्व ओर से अमृत रूप जल को वर्षाती हुई और मेघ की ध्वनि का तिरस्कार करती हुई प्रकट हो रही थी ॥२४॥

इत्येवमेतस्य सतीं विभूतिं स वेद-वेदाङ्गविदिन्द्रभूतिः ।
जनैर्निशम्यास्वनिते निजीये प्रपूरयामास विचारहूतिम् ॥२५॥

इस प्रकार चारों ओर फैली हुई वीर भगवान् की इस विभूति को लोगों से सुनकर वेद-वेदाङ्ग का वेत्ता वह इन्द्रभूति ब्राह्मण अपने चित्त में इस प्रकार के विचार प्रवाह को पूरता हुआ विचारने लगा ॥२५॥

वेदाम्बुधेः पारमिताय मह्यं न सम्भवोऽद्यावधि जातु येषाम् ।
तदुज्झितस्याग्रपदं त एव भावा भवेयुः स्मयसूतिरेषा ॥२६॥

वेद-शास्त्र रूप समुद्र के पार को प्राप्त हुए मुझे तो इस प्रकार की विभूतियों की प्राप्ति आज तक भी संभव नहीं हुई है और उससे रहित अर्थात् वेद-बाह्य आचरण करने वाले वीर के आगे ये सर्व वैभव समुपस्थित है, अहो यह बड़ा आश्चर्य है ॥२६॥

चचाल द्रष्टुं तदतिप्रसङ्गमित्येवमाश्चर्यपरान्तरङ्गः ।
स प्राप देवस्य विमानभूमिं स्मयस्य चासीन्मतिमानभूमिः ॥२७॥

अतएव अधिक सोच-विचार क ने से क्या लाभ है? (मैं चलकर स्वयं ही देखूं कि क्या बात है ?)इस प्रकार विचार कर और आश्चर्य-परम्परा से व्याप्त है अन्तरंग जिसका, ऐसा वह इन्द्रभूति भगवान् वीर के समवशरण की ओर स्वयं ही चल पड़ा । जब वह वीर जिनेन्द्रदेव की विमान-भूमि (समवशरण) को प्राप्त हुआ तो अमानभूमि (अभिमान से रहित) होकर परम आश्चर्य को प्राप्त हुआ ॥२७॥

रेभे पुनश्चिन्तयितुं स एष शब्देषु वेदस्य कुतः प्रवेशः ।
ज्ञानात्मनश्चात्मगतो विशेषः संलभ्यतामात्मनि संस्तुते सः ॥२८॥

और वह इस प्रकार विचारने लगा- इन बोले जाने वाले शब्दों में वेद (ज्ञान) का प्रवेश कैसे संभव है ? ज्ञानरूपता तो आत्मगत विशेषता है और वह आत्मा की स्तुति करने पर ही पाई जा सकती है ॥२८॥

मयाऽम्बुधेर्मध्यमतीत्य तीर एवाद्ययावत्कलितः समीरः,
कुतोऽस्तु मुक्ताफलभावरीतेरुतावकाशो मम सम्प्रतीतेः ॥२९॥

मैंने आज तक समुद्र में जाकर भी उसके तीर का ही समीर (पवन) खाया है । समुद्र में गोता लगाये बिना मेरी बुद्धि को भी जीवन की सफलता कैसे प्राप्त हो सकती है ? ॥२९॥

मुहुस्त्वया सम्पठितः किलाऽऽत्मन् वेदेऽपि सर्वज्ञपरिस्तवस्तु ।
आराममापर्यटतो बहिस्तः किं सौमनस्याधिगतिः समस्तु ॥३०॥

हे आत्मन् ! तू ने अनेक बार वेद में भी सर्वज्ञ की स्तुति को पढ़ा, (किन्तु उसके यथार्थ रहस्य को नहीं जान सका) और उस ज्ञान के उद्यान के बाहिर ही बाहिर पर्यटन (परिभ्रमण) करता रहा। क्या बाहिर घूमते हुए भी उद्यान के सुन्दर सुमनों के समुदाय की प्राप्ति सम्भव है ? ॥३०॥

वातवसनता साधुत्वायेति वेदवाचः पूर्तिमथाये ।
नान्यत्रास्ति साधनासरणिप्रोद्युतयेऽयमेव भुवि तरणिः ॥३१॥

'वात-वसनता अर्थात् दिगम्बरता ही साधुत्व के लिए कही गई है' इस वेद के वचन की पूर्ति को (यथार्थ ज्ञान को) मैं आज प्राप्त हुआ हूँ । यह दिगम्बरता ही संसार में

आत्म-साधना की सरणि (पद्धति) को प्रकट करने के लिए सूर्य है । इस दिगम्बरता के सिवाय वह अन्यत्र सम्भव नहीं है ॥३१॥

सत्यसन्देशसंज्ञप्त्यै प्रसादं कुरु भो जिन ।
इत्युक्त्वा पदयोरेष पपात परमेष्ठिनः ॥३२॥

(ऐसा मन में ऊहापोह करके) हे जिनेन्द्र ! सत्य सन्देश के ज्ञान कराने के लिए मेरे ऊपर प्रसाद करो (प्रसन्न होओ), ऐसा कहकर वह इन्द्रभूति गौतम वीर परमेष्ठी के चरणों में गिर पड़ा ॥३२॥

लब्ध्वेमं सुभगं वीरोऽभिददौ वचनामृतम् ।
यथाऽऽषाढं समासाद्य मघवा वारि वर्षति ॥३३॥

इस सुभग इन्द्रभूति को पाकर वीर भगवान् ने उसे वचनामृत दिया । जैसे कि आषाढ़ मास को प्राप्त होकर इन्द्र जल बरसाता है ॥३३॥

यदाऽवतरितो मातुरुदरादयि शोभन ।
तदा त्वमपि जानासि समायातोऽस्यकिञ्चनः ॥३४॥

हे शोभन ! जब तुम माता के उदर से अवतरित हुए, तब तुम अकिञ्चन (नग्न) ही आये थे, यह बात तो तुम भी जानते हो ॥३४॥

गृहीतं वस्त्रमित्यादि यन्मायाप्रतिरूपकम् ।
मात्सर्यादिनिमित्तं च सर्वानर्थस्य साधकम् ॥३५॥

पुनः जन्म लेने के पश्चात् जो यह वस्त्र आदि ग्रहण किए हैं, वे तो माया के प्रतिरूप हैं, मात्सर्य, लोभ, मान आदि के निमित्त हैं और सर्व अनर्थों के साधक हैं ॥३५॥

अहिंसा वर्त्म सत्यस्य त्यागस्तस्याः परिस्थितिः ।
सत्यानुयायिना तस्मात्संग्राह्यस्त्याग एव हि ॥३६॥

सत्य तत्त्व का मार्ग तो अहिंसा ही है और त्याग उसकी परिस्थिति है अर्थात् परिपालक है । अतएव सत्यमार्ग पर चलने वाले के लिए त्यागभाव ही संग्राह्य है अर्थात् आश्रय करने योग्य है ॥३६॥

त्यागोऽपि मनसा श्रेयान्न शरीरेण केवलम् ।
मूलोच्छेदं विना वृक्षः पुनर्भवितुमर्हति ॥३७॥

किसी वस्तु का मन से किया हुआ त्याग ही कल्याण-कारी होता है, केवल शरीर से किया गया त्याग कल्याण-कारी नहीं होता । क्योंकि मूल (जड़) के उच्छेद किये बिना ऊपर से काटा गया वृक्ष पुनः पल्लवित हो जाता है ॥३७॥

वर्धमानादनभ्राज एवं गौतमचातकः ।
लेभे सूक्तामृतं नाम्ना साऽऽषाढी गुरुपूर्णिमा ॥३८॥

इस प्रकार जिस दिन श्री वर्धमान रूप मेघराज से गौतम रूप चातक ने सत्य सूक्त वचनामृत को प्राप्त किया, वह दिन आषाढ़ी गुरु पूर्णिमा है ॥३८॥

भावार्थ - यतः आषाढ़ सुदी पूर्णिमा को गौतम ने वीर भगवान् रूप गुरु को पाकर और स्वयं शिष्य बनकर वचनामृत का पान किया । अतः तभी से लोग उसे गुरु पूर्णिमा कहते हैं ।

वीरवलाहकतोऽभ्युदियाय गौतमकेकिकृतार्थनया यः ।
अनुभुवनं स वारिसमुदायः श्रावणादिमदिने निरपायः ॥३९॥

गौतम रूप मयूर के द्वारा की गई प्रार्थना से वीर भगवान् रूप मेघ से जो वाणी रूप जल का निर्दोष प्रवाह प्रकट हुआ, वह श्रावण मास के प्रथम दिन सर्व भुवन में व्याप्त हो गया ॥३९॥

भावार्थ - भगवान् महावीर का प्रथम उपदेश श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को हुआ ।

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं ।
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
श्रीमत्तीर्थकरस्य संसदमगाच्छ्रीगौतमस्त्रयुत्तरेऽ ।
स्मिन् दशमे च निरेतितेन रचिते वीरोदयस्योज्ज्वरे ॥१३॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भुजजी और घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए वाणी भूषण, बाल-ब्रह्मचारी पं भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर के द्वारा रचे गये इस उज्ज्वल वीरोदय काव्य में भगवान् की सभा का और उसमें गौतम इन्द्रभूति के जाने का वर्णन करने वाला यह तेरहवां सर्ग समाप्त हुआ ॥१३॥

❖ ❖ ❖

अथ चतुर्दशः सर्गः

श्रीवीरसन्देशसमर्थनेऽयं गणी यथा गौतमनामधेयः ।
दशाऽपरेऽपि प्रतिबोधमापुस्तेषामथाख्याऽथ कथा तथा पूः ॥१॥

जिस प्रकार श्री वीर भगवान् के सन्देश के प्रसार करने में गौतम नामक गणधर समर्थ हुए, उसी प्रकार अन्य भी दश गणधर प्रतिबोध को प्राप्त हुए । अब उनके नाम, नगरी आदि का कुछ वर्णन किया जाता है ॥१॥

युतोऽग्निना भूतिरिति प्रसिद्धः श्रीगौतमस्यानुज एवमिद्धः ।
अभूद् द्वितीयो गणभृत्स वायुभूतिस्तृतीयः सफलीकृताऽऽयुः ॥२॥

श्री गौतम का छोटा भाई, जो कि अग्निभूति नाम से प्रसिद्ध एवं विद्याओं से समृद्ध था, वह भगवान् का दूसरा गणधर हुआ । अपने जीवन को सफल करने वाला वायुभूति तीसरा गणधर हुआ ॥२॥

सनाभयस्ते त्रय एव यज्ञानुष्ठायिनो वेदपदाऽऽशयज्ञाः ।
गीर्वाणवाण्यामधिकारिणोऽपि समो ह्यमीषामपरो न कोऽपि ॥३॥

ये तीनों ही भाई यज्ञ यागादि के अनुष्ठान करने वाले थे, वेद के पदों मंत्रों के अभिप्राय एवं रहस्य के ज्ञाता, तथा देववाणी संस्कृत भाषा के अधिकारी विद्वान् थे । उस समय इनके समान भारतवर्ष में और कोई दूसरा विद्वान् नहीं था ॥३॥

श्रीगोबरग्रामिवसूपयुक्तभूतेः पृथिव्याश्च सुताः सदुक्ताः ।
ध्वनिर्यकान् स्मेच्छति पुत्रबुद्ध्या स्वयम्वरत्वेन वृता विशुद्ध्या ॥४॥

ये तीनों ही मगध देशान्तर्गत गोबर ग्राम-निवासी वसुभूति ब्राह्मण और पृथिवी देवी के पुत्र थे । इन्हे सरस्वती माता ने पुत्र-बुद्धि से स्वीकार किया और विशुद्धि देवी ने स्वयम्वर रूप से स्वयं वरण किया था ॥४॥

अभूच्चतुर्थः परमार्य आर्यव्यक्तोऽस्य वप्ता धनमित्र आर्यः ।
कोल्लागवासी भुवि वारुणीति माता द्विजाऽऽख्यातकुलप्रतीतिः ॥५॥

परम आर्य आर्यव्यक्त चौथे गणधर हुए । इनके पिता कोल्लाग ग्रामवासी आर्य धनमित्र थे और माता वारुणी इस नाम से प्रसिद्ध थी । ये भी प्रसिद्ध ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे ॥५॥

तत्रत्यधम्मिल्लधरासुरस्य पुत्रोऽभवद् भद्दिलया प्रशस्यः ।
भूतार्थवेदी गणभृत् सुधर्मः स पञ्चमोऽवाप्य वृषस्य मर्म ॥६॥

उसी कोल्लाग ग्राम के धम्मिल्ल नामक भूदेव (ब्राह्मण) के भद्दिला नाम की स्त्री से उत्पन्न प्रशंसनीय सुधर्म पांचवे गणधर हुए । जो कि धर्म के मर्म को प्राप्त होकर तत्त्व के यथार्थवेत्ता बन गये थे ॥६॥

मौर्यस्थले मण्डिकसंज्ञयाऽन्यः बभूव षष्ठो गणभृत्सुमान्यः ।
पिताऽस्य नाम्ना धनदेव आसीत्ख्याता च माता विजया शुभाशीः ॥

मौर्य नामक ग्राम में उत्पन्न हुए, मण्डिक नाम वाले छठे सुमान्य गणधर हुए । इनके पिता का नाम धनदेव था और शुभ-हृदय वाली माता विजया नाम से प्रसिद्ध थी ॥७॥

असूत माता विजयाऽथ पुत्रम्मौर्येण नाम्ना स हि मौर्यपुत्रः ।
वीरस्य सान्निध्यमुपेत्य जातस्तत्त्वप्रतीत्या गणराडिहातः ॥८॥

सातवें गणधर मौर्यपुत्र हुए । इनकी माता का नाम विजया और पिता का नाम मौर्य था । ये भी वीर भगवान् के सामीप्य को प्राप्त कर तत्त्व की यथार्थ प्रतीति हो जाने से दीक्षित हुए थे ॥८॥

माता जयन्ती च पिता च देवस्तयोः सुतोऽकम्पितवाक् स एव ।
वीरस्य पार्श्वे मिथिलानिवासी बभूव शिष्यो यशसां च राशिः ॥९॥

मिथिला-निवासी और यशों की राशि ऐसे अकम्पित वीर भगवान् के पास में दीक्षित हो शिष्य बनकर आठवें गणधर बने । इनकी माता का नाम जयन्ती और पिता का नाम देव था ॥९॥

गणी बभूवाऽचल एवमन्यः प्रभोः सकाशान्निजनामधन्यः ।
वसुः पिताऽम्बाऽस्य बभौ च नन्दा सा कौशलाऽऽख्या नगरीत्यमन्दा ॥१०॥

नवें गणधर स्व-नाम-धन्य अचल हुए, जिन्होंने वीर प्रभु के पास जाकर शिष्यत्व स्वीकार किया था । इनके पिता का नाम वसु और माता का नाम नन्दा था । ये महा सौभाग्य वाली कौशलापुरी के निवासी थे ॥१०॥

मेतार्यवाक् तुङ्गिकसन्निवेश-वासी पिता दत्त इयान् द्विजेशः ।
माताऽस्य जाता वरुणेति नाम्ना गणीत्युपान्त्यो निलयः स धाम्नाम् ॥

परम कान्ति के निलय (गृह) मेतार्य उपान्त्य अर्थात् दशवें गणधर हुए । ये तुंगिक सन्निवेश के निवासी थे । इनके पिता का नाम दत्त और माता का नाम वारुणी था । ये भी श्रेष्ठ ब्राह्मण थे ॥११॥

बलः पिताऽम्बाऽस्य च साऽस्तु भद्रा स्थितिः स्वयं राजगृहे किल प्राक् ।
प्रभासनामा चरणौं गणीशः श्रीवीरदेवस्य महान् गुणी सः ॥१२॥

श्री वीर भगवान् के अन्तिम अर्थात् ग्यारहवें गणधर प्रभास नाम के महान् गुणी पुरुष हुए । इनके पिता का नाम बल एवं माता का नाम भद्रा था और ये स्वयं राजगृह के रहने वाले थे ॥१२॥

सर्वेऽप्यमी विप्रकुलप्रजाता आचार्यतां बुद्धिधरेषु याताः ।
अर्थं कमप्यस्फुटमर्पयन्तः सम्माननीयत्वमिहाश्रयन्तः ॥१३॥

ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए ये सभी गणधर बुद्धिधारियों में सम्माननीयता को प्राप्त कर किसी तत्त्व-विशेष के रहस्य को स्पष्ट रूप से यथार्थ नहीं जानते हुए भी आचार्यपने को प्राप्त हो रहे थे ॥१३॥

अन्तस्तले स्वामनुभावयन्तस्त्रुटिं बहिर्भावुकतां नयन्तः ।
तस्थु सशल्यांघ्रिदशां वहन्तः हृदार्त्तिमेतामनुचिन्तयन्तः ॥१४॥

ये सभी विद्वान् अपने-अपने अन्तस्तल में अपनी-अपनी त्रुटि को अनुभव करते हुए भी, बाहिर भावुकता को प्रकट करते हुए और हृदय में अपनी मानसिक पीड़ा का चिन्तवन करते हुए पैर में कांटा लगे व्यक्ति की दशा को धारण करने वाले पुरुष के समान विचरते थे ॥१४॥

अथाभवद्यज्ञविधानमेते निमन्त्रितास्तत्र मुदस्थले ते ।
स्वकीयसार्थातिशयप्रभूतिः सर्वेषु मुख्यः स्वयमिन्द्रभूतिः ॥१५॥

उस समय किसी स्थान पर विशेष यज्ञ का विधान हो रहा था, उस यज्ञ-विधान में ये उपर्युक्त सर्व विद्वान् अपनी-अपनी शिष्य मण्डली के साथ आमन्त्रित होकर सम्मिलित हुए । उन सबके प्रमुख स्वयं इन्द्रभूति थे ॥१५॥

समाययुः किन्तु य एव देवा न तस्थुरत्रेति किलामुदे वा ।
लब्ध्वेन्द्रभूतिर्यजनं स नाम समाप्य तस्मान्नु निर्जगाम ॥१६॥

यज्ञ होने के समय आकाश से देवगण आते हुए दिखे । (जिन्हें देखकर यज्ञ में उपस्थित सभी लोग अति हर्षित हुए । वे सोच रहे थे कि यज्ञ के प्रभाव से देवगण आ रहे हैं ।) किन्तु जो देव आये थे, उनमें से कोई भी इस यज्ञ स्थल पर नहीं ठहरे और आगे चले गये । तब सब को खेद हुआ । इन्द्रभूति यह देखकर आश्चर्य से चकित हो यज्ञ को समाप्त कर वहां से चल दिये । (यह देखने के लिए कि वे देव कहां जा रहे हैं ।) ॥१६॥

किमेवमाश्चर्यनिमग्नचित्ताः सर्वेऽपि चेलुः समुदायवित्ताः ।
जयोऽस्तु सर्वज्ञजिनस्य चेति स्म देवतानां वचनं निरेति ॥१७॥

इन्द्रभूति को जाते हुए देखकर यह क्या है, इस प्रकार के विचार से आश्चर्य-निमग्न चित्त वे अग्निभूति आदि शेष सर्व आचार्य अपने-अपने शिष्य-परिवार के साथ चल दिये । आगे जाने पर उन्होंने 'सर्वज्ञ जिनकी जय हो' ऐसा देवताओं के द्वारा किया गया जय-जयकार शब्द सुना ॥१७॥

एषोऽखिलज्ञः किमु येन सेवा-परायणाः सन्ति समस्तदेवाः ।
सभाऽप्यभिव्यक्तनभास्वतोऽहस्करस्य भातीव विभो ममोहः ॥१८॥

क्या यह वास्तव में सर्वज्ञ है जिसके प्रभाव से ये समस्त देवगण सेवा-परायण हो रहे हैं । यह सभा भी सूर्य की प्रभा से अधिक प्रभावान् होती हुई आकाश को व्याप्त कर रही है । हे प्रभो ! यह मेरे मन में विचार हो रहा है ॥१८॥

यथा रवेरुद्गमनेन नाशो ध्वान्तस्य तद्वत्सहसा प्रकाशः ।
मनस्सु तेषामनुजायमानश्चमच्चकाराद्भुतसम्विधानः ॥१९॥

जैसे सूर्य के उदय होने से अन्धकार का नाश हो जाता है, वैसे ही उन लोगों के हृदय का अज्ञान विनष्ट हो गया और उनके हृदयों में चित्त को चमत्कृत करने वाला प्रकाश सहसा प्रकट हुआ ॥१९॥

यस्यानु तद्विप्रसतामनीकं उद्दिश्य तं साम्प्रतमग्रणीकम् ।
इन्द्रप्रभूतिं निजगाद देवः भो पाठकाः यस्य कथा मुदे वः ॥२०॥

जिसके पीछे उन ब्राह्मण-विद्वानों की सेना लग रही है, उनके अग्रणी उस इन्द्रभूति को उद्देश्य करके श्री वीर जिनदेव ने जो कहा, उसे हे पाठकों ! सुनो, उसकी कथा तुम सबके लिए भी आनन्दकारी है ॥२०॥

हे गौतमान्तस्तव कीदृगेष प्रवर्तते सम्प्रति काकुलेशः ।
शृणूत चेद्बुद्बुदवद्धि जीवः परत्र धीः किन्न तवात्मनीव ॥२१॥

भगवान् ने कहा - हे गौतम ! तुम्हारे मन में इस समय यह कैसा प्रश्न उत्पन्न हो रहा है ? सुनो, यदि जीव जल के बबूला के समान है, तो फिर अपने समान दूसरे पाषाण आदि में भी वह बुद्धि क्यों नहीं हो जाती ॥२१॥

अहो निजीयामरताभिलाषी भवँश्च भूयादुपलब्धपाशी ।
नरः परस्मायिति चित्रमेतत्स्वयं च यस्मात् परवानिवेतः ॥२२॥

आश्चर्य है कि अपनी अमरता का अभिलाषी होता हुआ यह प्राणी दूसरे के प्राण लेने के लिए पाश लिए हुए है ? किन्तु आश्चर्य है कि स्वयं तू भी दूसरों के लिए पर है, ऐसा क्यों नहीं सोचता ? ॥२२॥

बभूव तच्चेतसि एष तर्कः प्रतीयते तावदयं स्विदर्कः ।
यतो ममान्तस्तमसो निरासः सम्भूय भूयादतुलः प्रकाशः ॥२३॥

भगवान् की यह वाणी सुनकर इन्द्रभूति के चित्त में यह तर्क (विचार) उत्पन्न हुआ कि यह वास्तव में सूर्य के समान सर्व तत्त्वों के यथार्थ प्रकाशक सर्वज्ञ प्रतीत होते हैं । इनके द्वारा मेरे अन्तरंग के अन्धकार का विनाश होकर मुझे अतुल प्रकाश प्राप्त होगा, ऐसी आशा है ॥२३॥

एवं विचार्याथ बभूव भूय उपात्तपापप्रचयाभ्यसूयः ।
शुश्रूषुरीशस्य वचोऽतएव जगाद सम्मञ्जु जिनेशदेवः ॥२४॥

ऐसा विचार कर पुनः उपार्जन किये हुए पाप-समुदाय से मानों ईर्ष्या करके ही इन्द्रभूति गौतम गणधर ने भगवान् के वचन सुनने की और भी इच्छा प्रकट की, अतएव श्री वीर जिनेन्द्रदेव की मधुर वाणी प्रकट हुई ॥२४॥

सचेतनाचेतनभेदभिन्नं ज्ञानस्वरूपं च रसादिचिह्नम् ।
क्रमाद् द्वयं भो परिणामि नित्यं यतोऽस्ति पर्यायगुणैरितीत्यम् ॥२५॥

हे गौतम ! यह समस्त जगत् सचेतन और अचेतन इन दो प्रकार के भिन्न-भिन्न द्रव्यों से भरा हुआ है । इनमें क्रमशः सचेतन द्रव्य तो ज्ञानस्वरूप हैं और अचेतन द्रव्य ज्ञानरूप चेतना से रहित रूप रसादि चिह्न वाला है । ये दोनों ही प्रकार के द्रव्य परिणामी और नित्य हैं, क्योंकि वे सब गुण और पर्यायों से संयुक्त हैं ॥२५॥

भावार्थ - गुणों की अपेक्षा सर्व द्रव्य नित्य हैं और पर्यायों की अपेक्षा सभी द्रव्य अनित्य या परिणामी हैं ।

अनादितो भाति तयोर्हि योगस्तत्रैक्यधीश्चेतनकस्य रोगः ।
ततो जनुर्मृत्युमुपैति जन्तुरुपद्रवायानुभवैकतन्तुः ॥२६॥

अनादि से ही सचेतन आत्मा और अचेतन शरीरादि रूप पुद्गल द्रव्य का संयोग हो रहा है । इन दोनों में ऐक्य बुद्धि का होना चेतन जीव का रोग है - बड़ी भूल है । इस भूल के कारण ही यह जन्तु प्रत्येक भव में जन्म और मरण को प्राप्त होता है और यह भव-परम्परा ही उपद्रव के लिए है, अर्थात् दुःखदायक है ॥२६॥

श्वभ्रं रुषा लुब्धकताबलेन कीटादितां वा पशुतां छलेन ।
परोपकारेण सुरश्रियं स सन्तोषतो याति नरत्वशंसः ॥२७॥

यह जीव अपने क्रोधरूप भाव से नरक जाता है, लुब्धकता से कृमि-कीट आदि की पर्याय पाता है, छल-प्रपंच से पशुपना को प्राप्त होता है, परोपकार से देव-लक्ष्मी को प्राप्त करता है और सन्तोष से मनुष्यपने को पाता है ॥२७॥

लभेत मुक्तिं परमात्मबुद्धिः समन्ततः सम्प्रतिपद्य शुद्धिम् ।
इत्युक्तिलेशेन स गौतमोऽत्र बभूव सद्योऽप्युपलब्धगोत्रः ॥२८॥

परमात्म-बुद्धि वाला जीव सर्व प्रकार से अन्तरंग और बाह्य शुद्धि को प्राप्त कर अर्थात् द्रव्य कर्म-(ज्ञानावरणादिक) भावकर्म (राग-द्वेषादिक) और नोकर्म (शरीरादिक) से रहित होकर मुक्ति को प्राप्त करता है । इस प्रकार भगवान् के अल्प वचनों से ही वह गौतम शीघ्र सम्यग्ज्ञान को प्राप्त कर सन्मार्ग को प्राप्त हुआ ॥२८॥

समेत्य तत्राऽप्यनुकूलभावं वीरप्रभुः प्राह पुनश्च तावत् ।
भो भव्य ! चित्तेऽनुभवाऽऽत्मनीने तत्त्वस्य सारं सुतरामहीने ॥२९॥

तदनन्तर अनुकूल समय (अवसर) पाकर पुनः वीर प्रभु ने कहा- हे भव्य ! अपने हीनता रहित उदार चित्त में तत्त्व के सार को अनुभव करो ॥२९॥

जानाम्यनेकाणुमितं शरीरं जीवः पुनस्तत्प्रमितं च धीरः ।
धीरस्ति यस्मिन्नधिकारपूर्णा कर्मानुसारेण विलब्धघूर्णा ॥३०॥

यह शरीर अनेक पौद्गलिक परमाणुओं से निर्मित है, इससे जीव सर्वथा भिन्न स्वरूप वाला होते हुए भी उस शरीर के ही प्रमाण है । यतः जीव इस शरीर में रहता है, अतः लोगों की बुद्धि कर्म के अनुसार विपरीतता को धारण कर शरीर को ही जीव मानने लगती है ॥३०॥

समेति नैष्कर्म्यमुतात्मनेयं नैराश्यमभ्येत्य चराचरे यः ।
निजीयमात्मानमथात्र पुष्यन् स एव शान्तिंलभते मनुष्यः ॥

जो पुरुष इस चराचर जगत् में निराशा को प्राप्त होकर अपने आप निष्कर्मता को प्राप्त होता है, वही मनुष्य अपनी आत्मा को पुष्ट करता हुआ शान्ति को प्राप्त करता है ॥३१॥

नरस्य नारायणताऽऽसिहेतो र्जनुर्व्यतीतं भवसिन्धुसेतो ।
परस्य शोषाय कृतप्रयत्नं काकप्रहाराय यथैव रत्नम् ॥३२॥

अस्माभिरद्यावधिमानवायुर्व्यर्थीकृतं तस्य किमस्ति जायुः ।
इत्युक्तिलेशे सति गौतमस्य प्राह प्रभुः सर्वजनैकशस्यः ॥३३॥

(भगवान् के यह दिव्य वचन सुनकर गौतम बोले-) हे भव-सिन्धु-सेतु भगवन् ! नारायणता (परमात्म-दशा) की प्राप्ति के कारण भूत इस मनुष्य के जन्म को मैंने यों ही व्यतीत कर दिया । आज तक मैंने दूसरे के शोषण करने के लिए ही प्रयत्न किया । जैसे कोई काक को मारने के लिए रत्न को फेंक देवे,

इसी प्रकार मैंने भी आज तक यह अमूल्य मनुष्य जीवन व्यर्थ गवां दिया । अब इसकी क्या औषधि है? ऐसा गौतम के कहने पर सर्वजनों के द्वारा प्रशंसनीय प्रभु पुनः बोले- ॥३२-३३॥

गतं न शोच्यं विदुषा समस्तु गन्तव्यमेवाऽऽश्रयणीयवस्तु ।
सम्भालयाऽऽत्मानमतो द्विजेश ! कोऽसीह ते कः खलु कार्यलेशः ॥३४॥

हे द्विजेश (ब्राह्मणोत्तम) ! विद्वान् को बीत गई बात का शोच नहीं करना चाहिए । अब तो गन्तव्य मार्ग पर ही चलना चाहिए और प्राप्त करने योग्य वस्तु को पाने का प्रयत्न करना चाहिए । अतएव अब तू अपनी आत्मा की सम्भाल कर और विचार कर कि तू कौन है और अब यहां पर तेरा क्या कर्त्तव्य है ॥३४॥

त्वं ब्राह्मणोऽसि स्वयमेव विद्धि क्व ब्राह्मणत्वस्य भवेत्प्रसिद्धिः ।
सत्यावधास्तेयविरामभावनिः सङ्गताभिः समुदेतु सा वः ॥३५॥

हे गौतम ! तुम ब्राह्मण कहलाते हो, किन्तु स्वयं अपने भीतर तो विचार करो कि वह ब्राह्मणता की प्रसिद्धि कहां होती है । अरे, वह ब्राह्मणता तो सत्य, अहिंसा, अस्तेय, स्त्री-परित्याग और निः संगता से ही संभव है । ऐसी यह ब्राह्मणता तुम सबके प्रकट हो ॥३५॥

तपोधनश्चाक्षजयी विशोकः न कामकोपच्छलविस्मयौकः ।
शान्तेस्तथा संयमनस्य नेता स ब्राह्मणः स्यादिह शुद्धचेता ॥३६॥

ब्राह्मण तो वही हो सकता है जो तपोधन हो, इन्द्रिय-जयी हो, शोक-रहित हो । जो काम, क्रोध, छल और विस्मय आदि दोषों का घर न हो । तथा जो शांति और संयम का नेता हो और शुद्ध चित्त वाला हो । ऐसा पुरुष ही संसार में ब्राह्मण कहलाने के योग्य है ॥३६॥

पीडा ममान्यस्य तथेति जन्तु-मात्रस्य रक्षाकरणैकतन्तु ।
कृपान्वितं मानसमत्र यस्य स ब्राह्मणः सम्भवतान्नृशस्य ॥३७॥

हे पुरुषोत्तम ! जिसके यह विचार रहता हो कि जैसी पीड़ा मुझे होती है, वैसी ही अन्य को भी होती होगी । इस प्रकार विचार कर जो प्राणिमात्र की रक्षा करने में सदा सावधान रहता हो, जिसका हृदय सदा दया से युक्त रहता हो, वही इस संसार में ब्राह्मण होने के योग्य है ॥३७॥

सदाऽऽत्मनश्चिन्तनमेव वस्तु न जात्वसत्यस्मरणं समस्तु ।
परापवादादिषु मूकभावः स्याद् ब्राह्मणस्यैष किल स्वभावः ॥३८॥

जिसके सदा ही आत्मा का चिन्तन करना लक्ष्य हो, जो कदाचित् भी असत्य-संभाषण न करता हो, पर-निन्दा आदि में मौन भाव रखता हो । वही ब्राह्मण कहलाने के योग्य है, क्योंकि ब्राह्मण का यही स्वभाव (स्वरूप) है ॥३८॥

नानाविधानेकविचित्रवस्तुसमर्थिते भूमितले समस्तु ।
न किञ्चनाऽऽदातुमिहेहमानः स ब्राह्मणो बुद्धिविधानिधानः ॥३९॥

जो नाना प्रकार की अनेक विचित्र वस्तुओं से भरे हुए इस भूतल पर कुछ भी नहीं ग्रहण करने की इच्छा रखता है, वही बुद्धि का निधान मानव ब्राह्मण है ॥३९॥

जलेऽब्जिनीपत्रवदत्र भिन्नः इष्टेऽप्यनिष्टेऽपि न जातु खिन्नः ।
कूर्मो यथा सम्वरितान्तरङ्गः सर्वत्र स ब्राह्मणसम्पदङ्गः ॥४०॥

जैसे जल में रहते हुए भी कमलिनी उससे भिन्न (अलिप्त) रहती है, इसी प्रकार संसार में रहते हुए भी जो उससे अलिप्त रहे, इष्ट वियोग और अनिष्ट-संयोग में भी कभी खेद-खिन्न न हो और कछुए के समान सर्वत्र अपने चित्त को सदा संवृत्त रखता हो, वही ब्राह्मण रूप सम्पदा का धारी है ॥४०॥

मनोवचोऽङ्गैः प्रकृतात्मशुद्धिः परत्र कुत्राभिरुचेर्न बुद्धिः ।
इत्थं किलामैथुनतामुपेतः स ब्राह्मणो ब्रह्मविदाश्रमेऽतः ॥४१॥

इस प्रकार जिसने मन, वचन और काय से स्वाभाविक आत्मशुद्धि प्राप्त कर ली है, अन्यत्र कहीं भी जिसकी न अभिरुचि है और न जिसकी बुद्धि है, एवं जो निश्चय से द्वैतभाव से रहित होकर अद्वैतभाव को प्राप्त हो गया है, वही पुरुष ब्रह्म-ज्ञानियों के आश्रम में ब्राह्मण माना गया है ॥४१॥

निशाचरत्वं न कदापि यायादेकाशनो वा दिवसेऽपि भायात् ।
मद्यं च मांसं मधुकं न भक्षेत् स ब्राह्मणो योऽङ्गभृतं सुरक्षेत् ॥४२॥

जो कभी भी निशाचरता को प्राप्त नहीं होता, अर्थात् रात्रि में नहीं खाता, जो दिन में भी एकाशन करता है, मद्य, मांस, और मधु को कभी नहीं खाता है, एवं सदा प्राणियों की रक्षा करता है, वही ब्राह्मण है ॥४२॥

परित्यजेद्वारि अगालितन्तु पिबेत्पुनस्तोषपयोऽपजन्तु ।
कुर्यान्न कुत्रापि कदापि मन्तुं श्रीब्राह्मणोऽन्तः प्रभुभक्तितन्तुः ॥४३॥

जो अगालित जल को छोड़े और निर्जन्तुक एवं सन्तोषरूप जल को पीवे, कभी भी कहीं पर किसी भी प्रकार के अपराध को नहीं करे और अन्तरंग में प्रभु की भक्ति रूप तन्तु (सूत्र) को धारण करे । वही सच्चा ब्राह्मण है ॥४३॥

भावार्थ - जो उपर्युक्त गुणों से रहित है, केवल ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ है, और शरीर पर सूत का यज्ञोपवीत धारण करता है, वह ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता ।

जवादयः स्वर्णमिवोपलेन श्रीगौतमस्यान्तरभूदनेनः ।
अनेन वीरप्रतिवेदनेन रसोऽगदः स्रागिव पारदेन ॥४४॥

जिस प्रकार पारस पाषाण के योग से लोहा शीघ्र सोना बन जाता है और जैसे पारा के योग से धातु शीघ्र रोग-नाशक रसायन बन जाती हैं । ठीक उसी प्रकार भगवान् वीर प्रभु के उपर्युक्त विवेचन से श्री गौतम इन्द्रभूति का चित्त भी पाप से रहित निर्दोष हो गया ॥४४॥

अन्येऽग्निभूतिप्रमुखाश्च तस्य तुल्यत्वमेवानुबभुः समस्य ।
निम्बादयश्चन्दनतां लभन्ते श्रीचन्दनद्रोः प्रभवन्तु अन्ते ॥४५॥

उनके साथ के अन्य अग्निभूति आदिक दशों विद्वान् भी इन्द्रभूति के समान ही तत्त्व के यथार्थ रहस्य का अनुभव कर आनन्दित हुए, सो ठीक ही है । श्रीचन्दनवृक्ष के समीप में अवस्थित नीम आदिक भी चन्दनपने को प्राप्त होते हैं, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है ॥४५॥

वीरस्य पञ्चायुतबुद्धिमत्सु सकृत्प्रभावः समभून्महत्सु ।
वृत्तं तदेतत्प्रससार लोकप्रान्तेषु शीघ्रं प्रमुदामथौकः ॥४६॥

इन्द्रभूति आदि ग्यारहों विद्वानों का जो पांच हजार के लगभग शिष्य परिवार था, उन सबमें भी भगवान् महावीर के वचनों का महा प्रभाव पड़ा, और उन सबके हृदय भी एकदम पलट गये । यह हर्ष-वर्धक समाचार संसार के सर्व प्रान्तों में शीघ्र फैल गया ॥४६॥

समागमः क्षत्रियविप्रबुद्धयोरभूदपूर्वः परिरब्धशुद्ध्योः ।
गाङ्गस्य वै यामुनतः प्रयोग इवाऽऽसकौ स्पष्टतयोपयोगः ॥४७॥

परम शुद्धि को प्राप्त यह क्षत्रिय-बुद्धि महावीर और विप्र-बुद्धि इन्द्रभूति का अभूतपूर्व समागम हुआ, जैसे कि प्रयाग में गंगाजल का यमुना जल से संगम तीर्थरूप से परिणत हो गया । और आज तक पृथ्वी-मंडल पर उसका स्पष्ट रूप से उपयोग हो रहा है ॥४७॥

निशम्य सम्यङ् महिमानमस्याऽऽयाता तनूभृत्ततिरक्षिशस्या ।
यस्यां द्विजो बाहुज एव नासी द्वैश्योऽपि वा शिल्पिजनः शुभाशी ॥४८॥

वीर प्रभु की ऐसी महिमा को सुनकर उनके दर्शनार्थ और धर्म श्रवणार्थ लोगों की दर्शनीय पंक्तियों का आना प्रारम्भ हो गया, धर्म जिसमें केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय ही नहीं थे, अपितु वैश्य भी थे और शुभ आशा रखने वाले शिल्पिजन (शूद्र) भी थे ॥४८॥

यो वाऽन्तरङ्गे निजकल्मषस्य प्रक्षालनायानुभवत्समस्य ।
आयात एषोऽपि जनः किलेतः वीरोदयं तीर्थमपूर्वमेतत् ॥४९॥

जिस व्यक्ति ने भी सुना और जो भी व्यक्ति अन्तरंग के अपने पाप को धोने का अनुभव करता था, वे सभी जन आये और इस प्रकार संसार में यह 'वीरोदय' रूप अपूर्व ही तीर्थ प्रकट हुआ ॥४९॥

नरश्च नारी च पशुश्च पक्षी देवोऽथवा दानव आत्मलक्षी ।
तस्यैव तस्मिन्नुचितोऽधिकारः परस्परप्रेममयो विचारः ॥५०॥

इस वीरोदय रूप तीर्थ में स्नान करने के लिए जो भी आत्मलक्षी नर-नारी, पशु-पक्षी अथवा देव-दानव आया, उसको उसमें योग्य समुचित ही अधिकार मिला और सभीजीवों में परस्पर प्रेम मय विचार प्रकट हुआ ॥५०॥

सिंहो गजेनाखुरथौतुकेन वृकेण चाजो नकुलोऽहिजेन ।
स्म स्नेहमासाद्य वसन्ति तत्र चात्मीयभावेन परेण सत्रा ॥५१॥

उस समय उस समवशरण में सिंह गज के साथ, मूषक विडाल के साथ, बकरा भेड़िये के साथ, नौला सांप के साथ वैर भूल करके परस्पर स्नेह को प्राप्त होकर अपने विरोधी के साथ आत्मीय भाव से बैठ रहे थे ॥५१॥

दिवा-निशोर्यत्र न जातु भेदः कस्मै मनुष्याय न कोऽपि खेदः ।
बभूव सर्वर्तुसमागमोऽपि शीतातपादि-प्रतिवादलोपी ॥५२॥

उस समवशरण में दिन-रात्रि का भेद नहीं था, न कभी किसी मनुष्य या पशु के लिए किसी प्रकार का कोई खेद था । वहां सर्दी गर्मी आदि को दूर करने वाला सर्व ऋतुओं का भी समागम हुआ ॥५२॥

भावार्थ - उस समय सभी ऋतुओं के फल-फूल उत्पन्न हो गये और वसन्त जैसा सुहावना समय हो गया । किन्तु न वहां पर ग्रीष्म ऋतु जैसी प्रंचड गर्मी थी, न शीतकाल जैसी उग्र सर्दी और न वर्षाकाल जैसी धनघोर वर्षा । सभी प्रकार का वातावरण परम शांत और आनन्द-दायक था ।

समवशरणमेतन्नामतो विश्रुताऽऽसी जिनपतिपदपूता संसदेषा शुभाशीः ।
जनि-मरणजदुःखादुखितो जीवराशि रिह समुपगतः सन् सम्भवेदाशु काशीः ॥५३॥

श्री जिनपति वीर प्रभु के चरण कमलों से पवित्र हुई यह शुभाशयवाली संसद (सभा) संसार में 'समवशरण' इस नाम से प्रसिद्ध हुई जिसमें कि जन्म-मरण-जनित दुःख से दुखित जीव-राशि आ-आकर शीघ्र काशी बन रही थी । क अर्थात् आत्मा की आशा वाली आत्म-स्वरूप प्राप्त करने की अभिलाषिणी हो रही थी ॥५३॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं ।
वाणी-भूषण-वर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
तत्प्रोक्ते गणिनां विवर्णनमभूच्छ्रीवीरनाथप्रभोः
सर्गेऽस्मिन् खलु मार्गणोचितमितौ संपश्य तद् भव्य भोः ॥१४॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भुजजी और घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए वाणीभूषण बा.ब्र.-ब्रह्मचारी पं. भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर द्वारा रचे गये इस वीरोदय काव्य में गणधरों का वर्णन करने वाला चौदहवां सर्ग समाप्त हुआ ॥१४॥

❖ ❖ ❖

अथ पञ्चदशः सर्गः

गर्जनं वारिदस्येव दुन्दुभेरिव गुञ्जनम् ।
जगदानन्दनं जीयाद्रणनं परमेष्ठिनः ॥१॥

मेघ की गर्जना के समान, अथवा दुन्दुभि की ध्वनि के समान गूंजने वाली और संसार के प्राणियों को आनन्द देने वाली ऐसी परमेष्ठी श्री वर्धमान स्वामी की वाणी जयवन्ती रहे ॥१॥

वीणायाः स्वरसम्पत्तिं सन्निशम्यापि मानवः ।
गायक एव जानाति रागोऽत्रायं भवेदिति ॥२॥

वीणा की स्वर-सम्पत्ति को अर्थात् उसमें गाये जाने वाले गीत के राग को सुनकर गान-रस का वेत्ता मानव ही जान सकता है कि इस समय इसमें अमुक राग प्रकट होगा । हर एक मनुष्य नहीं जान सकता ॥२॥

उदियाय जिनाधीशाद्योऽसौ दिव्यतमो ध्वनिः ।
विवेद गौतमो हीदमेतदीयं समर्थनम् ॥३॥

इसी प्रकार जिनाधीश वीर परभु से जो ध्वनि प्रकट हुई, उसके यथार्थ रहस्य को गौतम विद्वान् ही समझ सके , सर्व साधारण जन नहीं समझ सके ॥३॥

स्वाकूतस्योत्तरं सर्व एवाभ्याप स्वभाषया ।
निःशेषं ध्वनिमीशस्य किन्तु जग्राह गौतमः ॥४॥

यद्यपि समवशरण में अवस्थित सभी जन अपने प्रश्न का उत्तर अपनी भाषा में ही प्राप्त कर लेते थे, किन्तु वीर प्रभु की पूर्ण दिव्य ध्वनि को गौतम गणधर ही ग्रहण कर पाते थे ॥४॥

पिबन्तीक्ष्वादयो वारि यथापात्रं पयोमुचः ।
अथ शेषमशेषन्तु वार्धावेव निधीयते ॥५॥

जैसे मेघ से बरसने वाले जल को इक्षु आदि वृक्ष अपनी पात्रता के अनुसार ग्रहण करते हैं, किन्तु शेष समस्त जल तो समुद्र में ही स्थान पाता है । इसी प्रकार प्रत्येक श्रोता अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार भगवान् की वाणी को ग्रहण करता था, परन्तु उसे पूर्ण रूप से हृदयङ्गम तो गौतम गणधर ही कर पाते थे ॥५॥

पशूनां पक्षिणां यद्वदुल्कादीनां च शब्दनम् ।
शकुनिः पन्निशम्यैतदर्थयत्येष तादृशम् ॥६॥

जिस प्रकार एक शकुन-शास्त्र का वेत्ता पुरुष पशु, पक्षी और बिजली आदि के शब्द को सुनकर उनके यथार्थ रहस्य को जानता है, हर एक मनुष्य नहीं । उसी प्रकार भगवान् की वाणी के यथार्थ रहस्य को गौतम गणधर ही जान पाते थे, हर एक मनुष्य नहीं ॥६॥

वाणीं द्वादशाभागेषु भक्तिमान् स विभक्तवान् ।
अन्तिमस्यान्तरध्यायाः सम्बभूवुश्चतुर्दश ॥७॥

उस महान् भक्त गौतम ने भगवान् की वाणी को सुनकर आचारांग आदि बारह अंगों (भागों) में विभक्त किया । उसमें के बारहवें अंग के पांच भाग किये । उसमें से पूर्वगत के चौदह भेद किये ॥७॥

शुश्रूषूणामनेका वाक् नानादेशनिवासिनाम् ।
अनक्षरायितं वाचा सार्वस्यातो जिनेशिनः ॥८॥

नाना देशों के निवासी श्रोता जनों की भाषा अनेक प्रकार की थी । (यदि भगवान् किसी एक देश की बोली में उपदेश देते, तो उससे सब का कल्याण नहीं हो सकता था ।) अतएव सर्व के हितैषी जिनेन्द्रदेव की वाणी अनक्षर रूप से प्रकट हुई । (जिससे कि सभी देशवासी लोग उसे अपनी अपनी बोली मे समझ लेवें, यह भगवान् का अतिशय था) ॥८॥

वीरोक्तमनुवदति गणेशे विश्वहेतवे ।
दूराद् दूरतरं निन्युर्नामतो मागधाः सुराः ॥९॥

वीर भगवान् के द्वारा कथित तत्त्व को विश्व-कल्याण के लिए गणधर अनुवाद करते जाते थे और मागध जाति के देव उस योजन व्यापिनी वाणी को दूरवर्ती स्थान तक फैला देते थे ॥९॥

पतितोद्धारकस्यास्य सार्वस्य किमु मानवाः ।
प्रेम्णा पपुस्तिर्यञ्चोऽपि मिथो जातिविरोधिनः ॥१०॥

पतितों के उद्धारक और सर्व के हितकारक वीर प्रभु की वाणी को मनुष्यों ने ही क्या, परस्पर जाति-विरोधी तिर्यंचों तक ने भी प्रेम से पान किया, अर्थात् सुना ॥१०॥

यद्देशवासिनां पुण्यं तत्राभूदस्य पर्यटः ।
निरीहचारिणो वारिवाहस्येव महात्मनः ॥११॥

जिस-जिस देश के निवासी जनों का जैसा पुण्य था, उसके अनुसार इच्छा-रहित विहार करने वाले महात्मा महावीर का विहार मेघ के समान उस देश में हुआ ॥११॥

दिक्कुमारीगणस्याग्रे गच्छतो हस्तम्पुटे ।
यात्रायाः समये रेजुर्वसुमङ्गलसम्पदः ॥१२॥

भगवान् के विहार-समय आगे आगे चलने वाली दिक्कुमारी देवियों के हस्त-कमलों में अष्ट मंगल द्रव्य परम शोभा को प्राप्त होते थे ॥१२॥

दिशि यस्यामनुगमः सम्भाव्योऽभूज्जिनेशिनः ।
तत्रैव धर्मचक्राख्यो वर्त्म वर्तयति स्म सः ॥१३॥

वीर जिनेश का विहार जिस दिशा में संभव होता था, उसी दिशा में धर्मचक्र आगे आगे अपना मार्ग बनाता चलता था ॥१३॥

चचाल यामिलामेषोऽलङ्कुर्वन् पादचारतः ।
रोमाणीव पयोजानि धारयन्तीह सा बभौ ॥१४॥

ये वीर भगवान् अपने पाद-संचार से जिस पृथ्वी को अलंकृत करते हुए चलते थे, वहां पर वह रोमाञ्च के समान कमलों को धारण करती हुई शोभित होती थी ॥१४॥

एवं पर्यटतोऽमुष्य देशं देशं जिनेशिनः ।
शिष्यतां जगृहुर्भूपा बहवश्चेतरे जनाः ॥१५॥

इस प्रकार प्राणि-मात्र को उनके कर्त्तव्य-पथ का उपदेश करते हुए देश-देश में विहार करने वाली वीर जिनेश का अनेकों राजा लोगों ने एवं अन्य मनुष्यों ने शिष्यपना स्वीकार किया ॥१५॥

राजगृहाधिराजो यः श्रेणिको नाम भूपतिः ।
लोकप्रख्यातिमायातो बभूव श्रोतृषूत्तमः ॥१६॥

बिहार प्रान्त के राजगृह नगर का अधिराज श्रेणिक नाम का राजा भगवान् का शिष्य बनकर और श्रोताओं में अग्रणी होकर संसार में प्रसिद्धि को प्रात हुआ ॥१६॥

जाता गौतमसंकाशाः सुधर्माद्या दशापरे ।
वीरस्य वाचमुद्धर्तुं क्षमा नानर्द्धिसंयुताः ॥१७॥

वीर भगवान् की वाणी का उद्धार करने में समर्थ एवं नाना ऋद्धियों से संयुक्त गौतम-तुल्य सुधर्मा आदि दश गणधर और भी हुए ॥१७॥

चम्पाया भूमिपालोऽपि नामतो दधिवाहनः ।
पद्मावती प्रिया तस्य वीरमेतौ तु जम्पती ॥१८॥

चम्पा नगरी का प्रतिपालक दधिवाहन नाम का राजा और उसकी पद्मावती नाम की रानी ये दोनों ही दम्पती भगवान् के शिष्य बनकर जैन धर्म पालन करने लगे ॥१८॥

वैशाल्या भूमिपालस्य चेटकस्य समन्वयः ।
पूर्वस्मादेव वीरस्य मार्गमाढौकितोऽभवत ॥१९॥

वैशाली के राजा चेटक का वंश तो पहिले से ही वीर भगवान् के मार्ग का अनुयायी था । (अब भगवान् के वहां पर विहार होने से वह और भी जैन-धर्म में दृढ़ हो गया) ॥१९॥

काशीनरेश्वरः शंखो हस्तिनागाधिपः शिवः ।
चिलातिः कोटिवर्षेशो दशार्णेशोऽपि दीक्षितः ॥२०॥

काशी देश के नरेश्वर महाराज शंख, हस्तिनापुर के महाराज शिव, कोटि वर्ष देश के स्वामी चिलाति और दशार्ण देश के नरेश भी भगवान् के धर्म में दीक्षित हुए ॥२०॥

वीतभयपुराधीश उद्दायनमहीपतिः ।
प्रभावती प्रियाऽमुष्याऽऽपतुर्द्वौ वीरशासनम् ॥२१॥

वीतभयपुर का अधीस उद्दायन राजा और उसकी प्रभावती रानी ये दोनों ही वीर भगवान् के शासन को प्राप्त हुए ॥२१॥

कौशम्ब्या नरनाथोऽपि नाम्ना योऽसौ सतानिकः ।
मृगावती प्रिया चास्य वीरांघ्री स्म निषेवते ॥२२॥

कौशाम्बी का नरनाथ सतानिक राजा और उसकी पद्मावती राणी ने भी वीर भगवान् के चरणों की सेवा स्वीकार की ॥२२॥

प्रद्योतन उज्जयिन्या अधिपोऽस्य शिवा प्रिया ।
वीरस्य मतमेतौ द्वौ सेवमानौ स्म राजतः ॥२३॥

उज्जयिनी का राजा प्रद्योत और उसकी रानी शिवादेवी ये दोनों ही वीर भगवान् के मत का सेवन करते हुए सुशोभित हुए ॥२३॥

राजपुर्या अधीशानो जीवको महतां महान् ।
श्रामण्यमुपयुञ्जानो निर्वृतिं गतवानितः ॥२४॥

राजपुरी नगरी का जीवक अर्थात् जीवन्धर स्वामी जो महापुरुषों में भी महान् था, वह भी भगवान् से श्रमणपना अङ्गीकार करके भगवान् के जीवन-काल में ही मोक्ष को प्राप्त हुआ ॥२४॥

श्रेष्ठिनोऽप्यर्हद्दासस्य नाम्ना जम्बूकुमारकः ।
दीक्षामतः समासाद्य गणनायकतामगात् ॥२५॥

अर्हदास सेठ के सुपुत्र जम्बुकुमार तो (उसी दिन विवाह करके लाई हुई अपनी सर्व स्त्रियों को सम्बोध कर) भगवान् से दीक्षा लेकर गण के स्वामीपने को प्राप्त हुआ ॥२५॥

विद्युच्चौरोऽप्यतः पञ्चशतसंख्यैः स्वसार्थिभिः ।
समं समेत्य श्रामण्यमात्मबोधमगादसौ ॥२६॥

इन्हीं जम्बूकुमार के साथ विद्युच्चोर भी अपने पांच सौ साथियों को लेकर और श्रमणपना अङ्गीकार कर आत्मज्ञान को प्राप्त हुआ ॥२६॥

सूर्यवंशीयभूपालो रथोऽभूद्दशपूर्वकः ।
सुप्रभा महिषीत्यस्य जैनधर्मपरायणा ॥२७॥

सूर्यवंशी राजा दशरथ और उसकी रानी सुप्रभा ये दोनों ही वीर शासन को स्वीकार कर जैन धर्म-परायण हुए ॥२७॥

मल्लिका महिषी चासीत्प्रसेनजिन्महीपतेः ।
दार्फवाहनभूपस्याभया नाम नितम्बिनी ॥२८॥

प्रसेनजित् राजा की रानी मल्लिकादेवी और दार्फवाहन नरेश की रानी अभयदेवी ने वीर-शासन को अङ्गीकार किया ॥२८॥

सुधर्मस्वामिनः पार्श्वे उष्ट्रदेशाधिपो यमः ।
दीक्षां जग्राह तत्पत्नी श्राविका धनवत्यभूत् ॥२९॥

उष्ट्रदेश के स्वामी राजा यम ने (महावीर स्वामी के शिष्य) सुधर्मास्वामी से जिनदीक्षा ग्रहण की और उसकी रानी धनवती श्रावक के व्रत अङ्गीकार कर श्राविका बनी ॥२९॥

श्रीवीरादासहस्राब्दीपर्यन्तमिह तद्-वृषः ।
बभूव भूषणं राज्ञां कुलस्येत्यनुमीयते ॥३०॥

इस प्रकार श्री वीर भगवान् के समय से लेकर एक हजार वर्ष तक उनके द्वारा प्रचारित जैन धर्म राजाओं के कुल का आभूषण रहा, ऐसा (प्राचीन इतिहास से) अनुमान होता है ॥३०॥

एतद्-धर्मानुरागेण चैतद्देशप्रजाऽखिला ।
प्रायशोऽत्र बभूवापि जैनधर्मानुयायिनी ॥३१॥

उपर्युक्त उन-उन राजाओं के जैनधर्मानुराग से ही इस देश की समस्त जनता भी प्राय: जैनधर्मानुयायिनी हो गई थी ॥३१॥

खारवेलोऽस्य राज्ञी च नाम्ना सिंहयशा पुनः ।
जैनधर्मप्ररोहार्थं प्रकमं भूरि चक्रतुः ॥३२॥

कलिङ्ग देश-नरेश महाराज खारवेल और उनकी महारानी सिंहयशा देवी ने जैनधर्म के प्रचार के लिये बड़ा पराक्रम किया ॥३२॥

इक्ष्वाकुवंशिपद्मस्य पत्नी धनवती च या ।
मौर्यस्य चन्द्रगुप्तस्य सुषमाऽऽसीदशाऽऽर्हती ॥३३॥

इक्ष्वाकुवंशी राजा पद्म की पत्नी धनवती ने तथा सम्राट् चन्द्र-गुप्त मौर्य की पत्नी सुषमा देवी ने भी जैन धर्म को धारण किया ॥३३॥

महीशूराधिपास्तेषां योषितोऽद्यावधीति ताः ।
जैनधर्मानुयायित्वं स्वीकुर्वाणा भवन्त्यपि ॥३४॥

मैसूर के नरेश और उनकी राजपत्नियां तो आज तक भी जैनधर्म के अनुयायी होते आ रहे हैं ॥३४॥

पल्लवादिपतेः पुत्री कदाञ्छी मरुवर्मणः ।
निर्गुन्ददेशाधिपतेः परंलूरस्य चाङ्गना ॥३५॥

कारयामासतुर्लोकतिलकाख्यजिनालयम् ।
यद्व्यवस्थार्थमादिष्टं पूनल्लिग्रामनामकम् ॥३६॥

स्थानं श्रीपुरुषाख्येन राज्ञा स्वस्त्रीनिदेशतः ।
भूरन्ध्रव्यापिनी यस्मादासीद् धर्मप्रभावना ॥३७॥

पल्लव देश के नरेश की पुत्री और मरुवर्मा राजा की रानी कदाञ्छी तथा निर्गुन्द देश के राजा परंलूर की रानी इन दोनों ने लोक तिलक नामका जिनालय बनवाया और अपनी पत्नी की प्रेरणा से उसके स्वामी पुरुषराज ने पुनल्लि नाम का ग्राम उस चैत्यालय की व्यवस्था के लिए अर्पण किया । इससे सारे संसार में जैन धर्म की महती प्रभावना हुई ॥३५-३७॥

जाकियव्वे सत्तरस-नागार्जुनस्य भामिनी ।
श्रीशुभचन्द्रसिद्धान्त-देवशिष्या बभूव या ॥३८॥

सत्तरस नागार्जुन की धर्मपत्नी जाकियव्वे श्री शुभचन्द्र सिद्धांत देव की शिष्या हुई और उसने जैनधर्म का पालन किया ॥३८॥

निर्मापय्य जिनास्थानं तदर्थं भूमिदायिनी ।
महिषी नागदेवस्यातिमव्वेऽप्यतिधार्मिका ॥३९॥

नागदेव की महारानी अतिमव्वे भी बड़ी धर्मात्मा थी, जिसने कि जिनालय बनवा करके उसके निर्वाह के लिए भूमि प्रदान की थी ॥३९॥

वीरचामुण्डराजश्च तत्पत्नी तस्य चाम्बिका ।
श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रिसेवकतां दधुः ॥४०॥

वीर चामुण्डराज, उनकी पत्नी और उनकी माता ये तीनों ही श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के सेवक हुए और जैन धर्म का महान उद्योत किया ॥ ४०॥

चन्द्रमौलेस्तु या भार्या वीरबल्लालमन्त्रिणः ।
नामतोऽचलदेवी या बभूव दृढधार्मिका ॥४१॥

राजा वीरबल्लाल के मन्त्री चन्द्रोमौलि के अचलदेवी नाम की जो भार्या थी, वह भी जैनधर्म का दृढ़ता से पालन करती थी ॥४१॥

या पत्नीकदम्बराज-कीर्त्तिदेवस्य मालला ।
श्रीपद्मनन्दिसिद्धान्त-देवपादाभ्युपासिका ॥४२॥

कदम्बराज कीर्तिदेव की भार्या मालला भी श्रीपद्मनन्दिसिद्धांत देव के चरणों की उपासिका थी ॥४२॥

पल्लवराट् काडुवेदी महिषी चट्टलाभिधा ।
जिनसद्मकृदेवं च साधुसेवासु तत्परा ॥४३॥

पल्लवराज काडुवेदी की चट्टला नाम की महारानी सदा जैन साधुओं की सेवा में तत्पर रहा करती थी । उसने भी एक जिनमंदिर बनवाया था ॥४३॥

दोर्बलगंगहेमाण्डि-मान्धातुर्या सधर्मिणी ।
श्रीपट्टदमहादेवी बभूव जिनधर्मधृक् ॥४४॥

भुजबल गंगहेमाण्डि मान्धाता की सहधर्मिणी श्रीपट्टदमहादेवी भी जिनधर्म को धारण करने वाली हुई है ॥४४॥

माचिकब्वेऽपि जैनाऽभून्मारसिंगय्यभामिनी ।
शैवधर्मी पतिः किन्तु सा तु सत्यानुयायिनी ॥४५॥

मारसिंगय्य की भामिनी माचिकब्वे भी सत्य (जैन) धर्म की कट्टर अनुयायिनी थी, यद्यपि उसका पति शैवधर्मानुयायी थी ॥४५॥

विष्णुवर्धनभूपस्य शान्तला पट्टदेविका ।
श्रीप्रभाचन्द्रसिद्धान्त–देवशिष्यत्वमागता ॥४६॥

विष्णुवर्धन राजा की पट्टरानी शान्तलादेवी श्रीप्रभाचन्द्र सिद्धान्त देव की शिष्या बनी और जैन धर्म पालती था ॥४६॥

हरियब्वरसिः पुत्री शान्तलाया जिनास्पदम् ।
कारयामास द्वादश्यां शताब्दयां विक्रमस्य सा ॥४७॥

भूमिदानं चकारापि तस्य निर्वाहहेतवे ।
मणिमाणिक्यसम्पन्न–शिखरं सुमनोहरम् ॥४८॥

शान्तलादेवी की पुत्री हरियब्वरसी ने विक्रम की बारहवीं शताब्दी में एक जिनालय बनवाया, जिसका शिखर मणि-माणिक्य से सम्पन्न और अति मनोहर था । उसने मन्दिर के निर्वाह के लिए भूमिदान भी किया था ॥४७-४८॥

विष्णुचन्द्रनरेशस्याग्रजजाया जयक्वणिः ।
नित्यं जिनेन्द्रदेवार्चां कुर्वती समभादियम् ॥४९॥

विष्णुचन्द्र नरेश के बड़े भाई की स्त्री जयक्वणि जैन धर्म पालती थी और नित्य जिनेन्द्रदेव की पूजन करती थी ॥४९॥

सेनापतिर्गङ्गराजश्चास्य लक्ष्मीमतिः प्रिया ।
जिनपादाब्जसेवायामेवासून् विससर्ज तान् ॥५०॥

सेनापति गङ्गराज और उसकी पत्नी लक्ष्मीमती ये दोनों ही जैन धर्म के धारक थे और उन्होंने जिन भगवान् के चरण-कमलों की सेवा करते हुए ही अपने प्राणों का विसर्जन किया था ॥५०॥

चौहानवंशभृत्कीर्त्ति–पालनाममहीपतेः ।
देवी महीबलाख्याना वभूव जिनधर्मिणी ॥५१॥

चौहानवंशी कीर्तिपाल नामक नरेश की महीबला नाम की रानी भी जिनधर्म की धारण करने वाली हुई ॥५१॥

परमारान्वयोत्थस्य धरावंशस्य भामिनी ।
श्रृङ्गारदेवी आसीच्च जिनभक्तिसुतत्परा ॥५२॥

परमार वंश में उत्पन्न हुए राजा धरावंश की भामिनी श्रृङ्गारदेवी हुई । जो जिनदेव की भक्ति करने में तत्पर रहती थी ॥५२॥

राजवर्गमिहेत्येवं प्लावयन् वीरभास्वतः ।
गोमण्डलप्रसारोऽभूद्भुवि तत्त्वं प्रकाशयन् ॥५३॥

इस प्रकार भारतवर्ष के अनेकों राज-वंशों को प्रभावित करता भगवान् महावीर रूप धर्म-सूर्य के वचन रूप किरणों का समूह संसार में सत्य तत्त्व का प्रकाश करता हुआ सर्व ओर फैला ॥५३॥

भूमिपालेष्विवामीषु वैश्येषु ब्राह्मणेषु च ।
शूद्रकेष्वपि वीरस्य शासनं समवातरन् ॥५४॥

वीर भगवान् का यह जिन-शासन राजाओं के समान वैश्यों में, ब्राह्मणों में और शूद्रों में भी फैला । (आज भी थोड़ी बहुत संख्या में सभी जाति के लोग इस धर्म के अनुयायी दृष्टिगोचर होते हैं) ॥५४॥

वीरस्य शासनं विश्वहिताय यद्यपीत्यभूत् ।
किन्तु तत्प्रतिपत्तारो जातास्तदनुयायिनः ॥५५॥

यद्यपि वीर भगवान् का यह शासन विश्व मात्र के कल्याण के लिए था, किन्तु जिन लोगों ने उसे धारण किया, वे उसके अनुयायी कहे जाने लगे ॥५५॥

भावार्थ - आज वीर मतानुयायी अल्प संख्यक जैनों को देख कर कोई यह न समझे कि वीर भगवान् का उपदेश कुछ जाति विशेष वालों के लिए था, इसलिए जैनों की संख्या कम है । नहीं, उनका उपदेश तो प्राणिमात्र के हितार्थ था, और एक लम्बे समय तक जैन धर्मानुयायियों की संख्या भी करोड़ों पर थी । पर अनेक घटना-चक्रों से आज उनकी संख्या कम है ।

इतरेष्वपि लोकेषु तत्प्रभावस्त्वभूद् ध्रुवम् ।
येऽहम्मन्याख्यदोषेण तन्मतं नानुचक्रिरे ॥५६॥

जिन अन्य लोगों ने अहम्मन्यता दोष-वश वीर भगवान् के मत का अनुकरण नहीं किया, उन लोगों पर भी वीर-भगवान् द्वारा प्ररूपित अहिंसा-धर्म का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है । (यही कारण है कि हिंसा-प्रधान यज्ञादिक करने वाले वैदिक धर्मियों मे भी आज हिंसा दृष्टिगोचर नहीं होती है और वे लोग भी हिंसा से घृणा करने लगे हैं ।) ॥५६॥

यत्र श्राद्धेऽपि गोमांसः ख्यातस्तत्सम्प्रदायिनः ।
वदेयुर्मातरं धेनुं प्रभावः सन्मतेरयम् ॥५७॥

जिन वैदिक सम्प्रदाय वालों के यहां श्राद्ध में भी गोमांस का विधान था, वे लोग आज गौ को माता कहते हैं और उसका वध नहीं करते, यह प्रभाव वीर-शासन का ही है ॥५७॥

भावार्थ - वैदिक धर्म में ऐसा विधान था-कि "महोजं वा महोक्षं वा श्रोत्रियाय प्रकल्पयेत्" अर्थात् "श्राद्ध के समय महान् अश्व को अथवा महान् बैल को श्रोत्रिय ब्राह्मण के लिए मारे और उसका मांस उसे खिलावें"-उस समय सर्वत्र प्रचलित इस विधान का आज जो अभाव दृष्टिगोचर होता है, वह वीर भगवान् के 'अहिंसा परमो धर्मः के सिंहनाद का ही प्रभाव है ।

यद्वा सर्वेऽपि राजानो वीरमार्गानुयायिनः ।
यतः प्रजाया रक्षायां यतन्ते सततं तके ॥५८॥

अथवा संसार के सभी राजा लोग वीर-मार्ग के अनुयायी हैं, क्योंकि वे लोग प्रजा की रक्षा करने में निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं ॥५८॥

अन्तर्नीत्याऽखिलं विश्वं वीरवर्त्माभिधावति ।
दयते स्वकुटुम्बादौ हिंसकादपि हिंसकः ॥५९॥

अन्तरंग नीति से यदि देखा जाय, तो यह समस्त विश्व ही वीर भगवान् के द्वारा बतलाये हुए अहिंसा मार्ग पर चल रहा है, क्योंकि हिंसक से भी हिंसक मनुष्य या पशु भी अपने कुटुम्ब आदि पर दया करता ही है, उनकी हिंसा नहीं करता ॥५९॥

ततः पुनर्यो यावत्या मात्रायामुपढौकते ।
अहिंसामधिकं तावत् स वीरमनुगच्छति ॥६०॥

इसलिए जो जीव जितनी भी मात्रा में अहिंसा धर्म को धारण करता है, वह उतनी ही मात्रा में भगवान् महावीर के मार्ग पर चलता है ॥६०॥

अभूत्पुनः सन्मतिसम्प्रदायेऽपि तत्प्रभावः सहयोगितायै ।
यतो मृतश्राद्धमवश्यकर्म हीत्यादि धीरञ्चति जैनमर्म ॥६१॥

समय-परिवर्तन के साथ सन्मति वीर भगवान् के सम्प्रदाय वालों पर भी अन्य सहवर्ती सम्प्रदाय वालों का प्रभाव पड़ा कि जैन लोग भी मरे हुए व्यक्ति का श्राद्ध करना आवश्यक कर्त्तव्य मानने लगे, तथा इसी प्रकार की अन्य लौकिक क्रियाओं को करने लगे, जो कि जैन धर्म के मर्म पर चोट पहुँचाती हैं ॥६१॥

वीरेण यत्प्रोक्तमदृष्टपारमगाधमप्यस्ति किलास्य सारम् ।
रत्नाकरस्येव निवेदयामि य इष्यते कौस्तुभवत् सुनामी ॥६२॥

वीर भगवान् ने अपने दिव्य प्रवचनों में संसार के हित के लिए जो कुछ कहा, वह वस्तुतः रत्नाकर के समान, अगाध और अपार है । किन्तु उसमें कौस्तुभ मणि के समान जो मुख्य मुख्य तत्त्व हैं, उनका सारांश मैं निवेदन करता हूँ ॥६२॥

साम्यमहिंसा स्याद्वादस्तु सर्वज्ञतेयमुत्तमवस्तु ।
अनुपमतयाऽनुसन्धेयानि पुनरपि चत्वारीत्येतानि ॥६३॥

भगवान् महावीर के अगाध प्रवचनों में से साम्यवाद, अहिंसा, स्याद्वाद और सर्वज्ञता ये चार अनुपम उत्तम तत्त्व हैं । जिज्ञासु जनों को इनका अनुसन्धान करना चाहिए ॥६३॥

भावार्थ - आगे इन्हीं चारों तत्त्वों का कुछ विवेचन किया जायगा ।

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
सर्गोऽनेन कृते विवर्णनमभूत्पञ्चै कसंख्यावति
प्राप्ता कीदृशरूपतोऽथ जनता वीरोपदेशं सती ॥१५॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भुजजी और घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए वाणी-भूषण, बाल-ब्रह्मचारी पं. भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर रचित इस वीरोदय काव्य में वीर भगवान् के धर्म का देश-देश में प्रचार और प्रभाव का वर्णन करने वाला पन्द्रहवां सर्ग समाप्त हुआ ॥१५॥

❖ ❖ ❖

अथ षोडशः सर्गः

विश्वस्य रक्षा प्रभवेदितीयद्वीरस्यसच्छासनमद्वितीयम् ।
समाश्रयन्तीह धरातलेऽसून्न कोऽपि भूयादसुखीति तेषु ॥१॥

भगवान् महावीर के शासन की यही सब से बड़ी अद्वितीय विशेषता थी कि इस धरातल पर कोई प्राणी दुःखी न रहे, सब सुखी हों और सारे संसार की रक्षा हो ॥१॥

आत्मन् वसेस्त्वं वसितुं परेभ्यः देयं स्ववन्नान्यहृदत्र तेभ्यः ।
भवेः कदाचित्स्वभवे यदि त्वं प्रवाञ्छसि स्वं सुखसम्पदित्वम् ॥

भगवान् ने कहा-हे आत्मन्, यदि तुम यहां सुख से रहना चाहते हो, तो औरों को भी सुख से रहने दो । यदि तुम स्वयं दुखी नहीं होना चाहते हो, तो औरों को भी दुःख मत दो ॥२॥

भावार्थ-तुम स्वयं जैसा बनना चाहते हो, उसी प्रकार का व्यवहार दूसरों के साथ भी करो ।

आपन्नमन्यं समुदीक्ष्य मास्थास्तूष्णीं वहेः किन्तु निजामिहास्थाम् ।
स्वेदे बहत्यन्यजनस्य रक्त-प्रमोक्षणे स्वस्य भवे प्रसक्तः ॥३॥

दूसरे को आपत्ति में पड़ा देखकर तुम चुप मत बैठे रहो, किन्तु उसके संकट को दूर करने का शक्ति-भर प्रयत्न करो । दूसरे का जहां पसीना बह रहा हो, वहां पर तुम अपना खून बहाने को तैयार रहो ॥३॥

वोढार एवं तव थूत्कमेते स्वयं स्वपाणावपि यायिने ते ।
छत्रं दधाना शिरसि प्रयासान्नित्यं भवन्तः स्वयमेव दासाः ॥४॥

जब तुम दूसरों की भलाई के लिए मरने को तैयार रहोगे, तब दूसरे लोग भी तुम्हारे थूक को भी अपने हाथ पर झेलने को तैयार रहेंगे । वे तुम्हारे चलते समय शिर पर छत्र-धारण करेंगे और सदा तुम्हारी आज्ञा को पालन करने के लिए स्वयं ही दास समान प्रयत्नशील रहेंगे ॥४॥

उच्छालितोऽर्काय रजःसमूहः पतेच्छिरस्येव तथाऽयमूहः ।
कृतं परस्मै फलति स्वयं तन्निजात्मनीत्येव वदन्ति सन्तः ॥५॥

जैसे सूर्य के ऊपर फेंकी गई धूलि फेंकने वाले के सिर पर आकर गिरती है, इसी प्रकार दूसरों के लिए किया गया बुरा कार्य स्वयं अपने लिए ही बुरा फल देता है । इसलिए दूसरों के साथ भला ही व्यवहार करना चाहिए, यही सन्त पुरुषों का कहना है ॥५॥

यथा स्वयं वाञ्छति तत्परेभ्यः कुर्याज्जनः केवलकातरेभ्यः ।
तदेतदेकं खलु धर्ममूलं परन्तु सर्वं स्विदमुष्य तूलम् ॥६॥

मनुष्य जैसा व्यवहार स्वयं अपने लिए चाहते है, वैसा ही व्यवहार उसे दूसरे दीन-कायर पुरुषों तक के साथ करना चाहिए । यही एक तत्त्व धर्म का मूल है और शेष सर्व कथन तो इसी का विस्तार है ॥६॥

निहन्यते यो हि परस्य हन्ता पातास्तु पूज्यो जगतां समन्तात् ।
किमङ्ग ! न ज्ञातमहो त्वयैव दृगञ्जनायाङ्गुलिवरञ्जितैव ॥७॥

जो दूसरों को मारता है, वह स्वयं दूसरों के द्वारा मारा जाता है और जो दूसरों की रक्षा करता है, वह सर्व जगत् में पूज्य होता है । हे वत्स, क्या तुम्हें यह ज्ञात नहीं है कि आंख में काजल लगाने वाली अंगुलि पहले स्वयं ही काली बनती है ॥७॥

तथाप्यहो स्वार्थपरः परस्य निकृन्तनार्थं यतते नरस्य ।
नानाच्छलाच्छादिततत्त्ववेदी नरो न रौतीति किमात्मखेदी ॥८॥

तथापि आश्चर्य तो इस बात का है कि मनुष्य अपने स्वार्थ के वश में तत्पर होकर दूसरे मनुष्य के मारने या कष्ट पहुँचाने के लिए निरन्तर प्रयत्न करता है और नाना प्रकार के छलों से यथार्थ सत्य को छिपा कर दूसरों को धोखा देता है । दूसरों को धोखा देना वास्तव में अपने आपको धोखा देना है । ऐसा मनुष्य करणी के फल मिलने पर क्या नहीं रोवेगा ? अर्थात् अवश्य ही रोवेगा ॥८॥

अजाय सम्भाति दधत् कृपाणं नाकं ददामीति परिब्रुवाणः ।
भवेत्स्ववंश्याय तथैव किन्न यथार्पयन् मोदकमप्यखिन्नः ॥९॥

आश्चर्य है कि लोग 'स्वर्ग भेज रहे हैं' ऐसा कहते हुए बकरे के गले पर तलवार चलाते हैं। किन्तु इस प्रकार यदि यज्ञ में पशु के मारने पर सचमुच उसे स्वर्ग मिलता है, तो फिर अपने वंश वाले लोगों को ही क्यों नहीं स्वर्ग भेजते ? जैसे कि लाडू बांटते हुए पहले अपने स्त्री बच्चों को सहर्ष देते हैं ॥९॥

कस्मै भवेत्कः सुख-दुःख कर्ता स्वकर्मणोऽङ्गी परिपाकभर्ता ।
कुर्यान्मनः कोमलमात्मनीनं स्वशर्मणे वीक्ष्य नरोऽन्यदीनम् ॥१०॥

यदि वास्तव में देखा जाय तो कौन किसके लिए सुख या दुःख देता है । प्रत्येक प्राणी अपने अपने किये कर्मों के परिपाक को भोगता है । जब मनुष्य किसी के दुःख दूर करने के लिए कोमल चित्त करता है, तो उसका वह कोमल भाव उसे सुखदायक होता है और जब दूसरे के लिए कठोर भाव करता है, तो वह उसे ही दुःख-दायक होता है ॥१०॥

संरक्षितुं प्राणभृतां महीं सा व्रजत्यतोऽम्बा जगतामहिंसा ।
हिंसा मिथो भक्षितुमाह तस्मात्सर्वस्य शत्रुत्वमुपैत्यकस्मात् ॥११॥

अहिंसा सर्व प्राणियों की संसार में रक्षा करती है, इसलिए वह माता कहलाती है । हिंसा परस्पर में खाने को कहती है, और अकस्मात् (अकारण) ही सब से शत्रुता उत्पन्न करती है, इसलिए वह राक्षसी है अतएव अहिंसा उपादेय है ॥११॥

समन्ततो जीवचितेऽत्र लोके प्रकुर्वतः स्यादगतिः कुतोऽके ।
ततोऽस्त्वहिंसेयमगेहिधर्मः किलेति वक्त्राकलितं न मर्म ॥१२॥

कुछ लोग कहते हैं कि जब यह लोक सर्वत्र जीवों से व्याप्त है, तब उसमें गमनागमनादि आरम्भ करने वाला गृहस्थ पाप से कैसे बच सकता है ? अतएव यह अहिंसा गृह से रहित साधुओं का धर्म भले ही माना जाय, पर यह गृहस्थ का धर्म नहीं हो सकती । ऐसा कहने वालों ने अहिंसा धर्म के मर्म को नहीं समझा है ॥१२॥

भवेच्च कुर्याद्वधमत्र भेदः भावे भवान् संयततामखेदः ।
घ्नतः कृषीशादपि धीवरः स्यादघ्नश्च पापीत्युचिता समस्या ॥१३॥

वस्तु-तत्त्व यह है कि हिंसा हो, और हिंसा करे, इन दोनों बातों में आकाश-पाताल जैसा भेद है, इसे आप खेद-रहित होकर के भाव में जानने का प्रयत्न करें । देखो-खेत जोतते समय जीवघात करने वाले किसान से घर पर बैठा हुआ और जीवघात नहीं करने वाला मच्छीमार धीवर अधिक पापी है और वस्तुतत्त्व की समस्या सर्वथा उचित है । इसका कारण यह है कि किसान का भाव जोतने का है, जीवघात करने का नहीं अत: वह अहिंसक है, और धीवर का भाव घर बैठे हुए भी मछली मारने का बना रहता है, अत: वह हिंसक है ॥१३॥

प्रमादतोऽसुव्यपरोपणं यद्वधो भवत्येष सतामरम्यः ।
अधोविधानाय तमेकमेव समासतः प्राह जिनेशदेवः ॥१४॥

प्रमाद से जीवों के प्राणों का विनाश करना हिंसा है, जो कि सत्पुरुषों के करने योग्य नहीं है, क्योंकि जीव को अधोगति ले जाने के लिए वह अकेली ही पर्याप्त है, जिनेन्द्र वीरदेव ने संक्षेप से धर्म-अधर्म का यही सार कहा है ॥१४॥

दौस्थ्यं प्रकर्मानुचितक्रियत्वं कर्त्तव्यहानिर्ह्यवशेन्द्रियत्वम् ।
संक्षेपतः पञ्चविधत्वमेति प्रमत्तता यात्मपथान्निरेति ॥१५॥

मन की कुटिलता, कार्य का अतिक्रमण, अनुचित क्रियाकारिता, कर्त्तव्य-हानि और अजितेन्द्रियता (इन्द्रियों को वश में नहीं रखना) संक्षेप से प्रमाद केये पांच भेद हैं, जो कि जीवको आत्म-कल्याण के मार्ग से भ्रष्ट करने वाले हैं ॥१५॥

अर्थान्मनस्कारमये प्रधानमघं सघं संकलितुं निदानम् ।
वैद्यो भवेद्गुक्तिरुधेव धन्यः सम्पोषयन् खट्टिकको जघन्यः ॥१६॥

जीवका मानसिक अभिप्राय ही पाप के संकलन करने या नहीं करने में निदान अर्थात् प्रधान कारण है। रोगी के भोजन को रोककर लंघन कराने वाला वैद्य धन्य है - पुण्य का उपार्जक है । किन्तु बकरे को खिला-पिलाकर पुष्ट करने वाला खटीक जघन्य है । पाप का उपार्जन करने वाला है ॥१६॥

स्तनं पिबन् वा तनुजोऽनकाय स्पृशंश्च कश्चिन्महतेऽप्यघाय ।
कुलाङ्गनाया इति तत्त्वचिन्ता न स्युर्भवच्चेतसि विज्ञ ! किं ताः ॥१७॥

कुलीन स्त्री के स्तन को पीनेवाला बालक निर्दोष है । पाप-रहित है । किन्तु उसी के स्तन का स्पर्श करने वाला अन्य कामी पुरुष महापाप का उपार्जक है । हे विज्ञ ! क्या आपके चित्त में यह तात्त्विक विचार जागृत नहीं होता है ॥१७॥

स्वमात्रामतिक्रम्य कृत्यं च कुर्यात्तदेव प्रकर्माऽभ्यधुर्धर्मधुर्याः ।
प्रपाठोऽस्ति मौढ्यस्य कार्यं तदेवाऽऽनिशं धार्यमाणो विकारायते वा ॥१८॥

करने योग्य अपने कर्त्तव्य को भी सीमा का उल्लंघन करके अधिक कार्य करने को धर्म-धुरीण पुरुषों ने प्रकर्म कहा है । देखो-शिष्य का पढ़ना ही मुख्य कर्त्तव्य है, किन्तु यदि वह रात-दिन पढ़ता रहे और खान-पान शयनादि सर्व कार्य छोड़ दे, तो यह उसी के लिए विकार का उत्पादक हो जाता है ॥१८॥

गृहस्थस्य वृत्तेरभावो ह्यकृत्यं भवेत्त्यागिनस्तद्विधिर्दुष्टनृत्यम् ।
नृपः सन् प्रदद्यान्न दुष्टाय दण्डं क्षतिः स्यान्मुनेरेतदेवैम्य मण्डम् ॥१९॥

गृहस्थ पुरुष के आजीविका का अभाव ही अकृत्य है और साधु की आजीविका करना भी अकृत्य है । राजा होकर यदि दुष्टों को दण्ड न दे, तो यह उसका अकृत्य है और यदि राज्यापराधियों को मुनि दण्ड देने लगे तो यह उसका अकृत्य है ॥१९॥

भावार्थ - सब लोगों को अपने-अपने पदोचित ही कार्य करना चाहिए । पद के प्रतिकूल कार्य करना ही अनुचित क्रिया-कारिता कहलाती है ।

न चौर्यं पुनस्तस्करायास्त्ववस्तु गवां मारणं वा नृशंसाङ्गिनस्तु ।
न निर्वाच्यमेतद्यतः सोऽपिमर्त्यः कुतः स्यात्पुनस्तेन सोऽर्थःप्रवर्त्यः ॥२०॥

यदि कहा जाय कि अपने पदोचित कार्य को करना मनुष्य का कर्त्तव्य है, तब तो चोर का चोरी करना और कसाई का गायों का मारना भी उनके पदानुसार कर्त्तव्यासिद्ध होता है, सो ऐसा नहीं समझना

चाहिए, क्योंकि चोरी और हिंसा करना तो मनुष्यमात्र का अकर्त्तव्य कहा गया है, फिर उन अकर्त्तव्यों को करना कर्त्तव्य कैसे माना जा सकता है ? इसलिए मनुष्य को सत्कर्त्तव्य में ही प्रवृत्ति करना चाहिए, असत्कर्त्तव्य में नहीं, ऐसा प्रकृत में अभिप्राय लेना चाहिए ॥२०॥

पलस्याशनं चानकाङ्क्षिप्रहारः सनाग् वा पराधिष्ठितस्यापहारः ।
न कस्यापि कार्यं भवेज्जीवलोके ततस्तत्प्रवृत्तिः पतेत्किन्नसोऽके ॥२१॥

मांस का खाना, निरपराध प्राणियों को मारना, दूसरे की स्वामित्व वाली वस्तु का अपहरण करना इत्यादि निंद्य कार्य संसार में किसी भी प्राणी के लिए करने योग्य नहीं हैं । अतएव इन दुष्कृत्यों में प्रवृत्ति करने वाला क्यों न पाप-गर्त में गिरेगा ? अर्थात् अवश्य ही उसे पाप का फल भोगना पड़ेगा ॥२१॥

यतो मातुरादौ पयो भुक्तावान् स न सिंहस्य चाहार एवास्ति मांसः
विकारः पुनर्दुर्निमित्तप्रभावात्समुत्थो न संस्थाप्यतां सर्वदा वा ॥२२॥

यदि कहा जाय कि सिंह का तो मांस खाना ही धर्म है, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि वह भी तो जन्म लेने पर प्रारम्भ में अपनी माता का ही दूध पीता है । इसलिए सिंह का आहार मांस नहीं है, किन्तु उसका विकार है, जो कि खोटे निमित्तों के प्रभाव से अपने मां-बाप आदि की देखा-देखी प्रकट हो जाता है, अतएव वह उसका स्वाभाविक और सर्वदा रहने वाला धर्म नहीं मानना चाहिए ॥२२॥

पले वा दलेवाऽस्तु कोऽसौविशेषः द्वये प्राणिनोऽङ्गप्रकारस्य लेशः
वदन्नित्यनादेयमुच्चारमत्तु पयोवन्न किं तत्र तत्सम्भवत्तु ॥२३॥

यदि कहा जाय कि मांस में और शाक-पत्र मे कौनसी विशेषता है ? क्योंकि दोनों ही प्राणियों के शरीर के ही अंग है, सो ऐसा कहने वाले का वचन भी उपादेय नहीं है, क्योंकि गोबर और दूध ये दोनों ही गाय-भैंस आदि से उत्पन्न होते हैं, फिर मनुष्य दूध को ही क्यों पीता है और गोबर को क्यों नहीं खाता ? इससे ज्ञात होता कि प्राणि-जनित वस्तुओं में जो पवित्र होती है, वह ग्राह्य है, अपवित्र नहीं । अतः शाक-पत्र और दूध ग्राह्य है, मांस और गोबर आदि ग्राह्य नहीं हैं ॥२३॥

दलाद्यग्निना सिद्धमप्रासुकत्वं त्यजेदित्यदः स्थावराङ्गस्य तत्त्वम् ।
पलं जङ्गमस्याङ्गमेतत्तु पक्वमपि प्राघदं प्रासुकं तत्पुनः क्व ॥२४॥

शाक-पत्रादि तो अग्नि से पकने पर अप्रासुकता को छोड़ देतेहैं अर्थात् वे अग्नि से पक जाने पर प्रासुक (निर्जीव) हो जाते हैं । दूसरे वे स्थावर एकेन्द्रिय जीव का अंग हैं, किन्तु मांस तो चलते-फिरते जंगम जीवों के शरीर का अंग है, अतएव वह अग्नि से पकने पर भी प्रासुक नहीं होता, प्रत्युत पाप का कारण ही रहता है, अतएव शाक-पत्रादि ग्राह्य है, मांसादि नहीं ॥२४॥

न शाकस्य पाके पलस्येव पूतिर्न च क्लेदभावो जलेनात्तसूतिः ।
इति स्पष्टभेदः पुनश्चापि खेदः दुरीहावतो जातुचिन्नास्ति वेदः ॥२५॥

और भी देखो-शाक के पकाने पर मांस के समान दुर्गन्ध नहीं आती तथा शाक-पत्रादि मांस के समान जल से सड़ते भी नहीं है, क्योंकि इनकी उत्पत्ति जल से है । इस प्रकार शाक-पत्रादि और मांस इन दोनों में स्पष्ट भेद है, फिर भी यह महान् खेद है कि मांस खाने के दुराग्रह वाले को इसका कदाचित् भी विवेक नहीं है ॥२५॥

तदेवेन्द्रियाधीनवृत्तित्वमस्ति यदज्ञानतोऽतर्क्यवस्तु प्रशस्तिः ।
विपत्तिं पतङ्गादिवत्सम्प्रयाति स पश्चात्तपन् सर्ववित्तुल्यजातिः ॥२६॥

इस प्रकार से मांस और शाक-पत्रादि के भेद को प्रत्यक्ष से देखता और जानता हुआ भी मांस खाना नहीं छोड़ता है, यही उसकी इन्द्रियाधीन प्रवृत्ति है और उसके वश होकर अज्ञान से कुतर्क करके मांस जैसी निंद्य वस्तु को उत्तम बताता है । जिस प्रकार पंतगे आदि जन्तु इन्द्रियों के विषयों के अधीन होकर अग्नि आदि में गिरकर विनाश को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार सर्ववेत्ता परमात्मा के समान जातिवाला यह मनुष्य भी पश्चात्ताप का पात्र बने, यह महान् दुःख की बात है ॥२६॥

हिंसायाः समुपेत्य शासनविधिं ये चेन्द्रियैराहताः ।
पश्यास्मिञ्जगति प्रयान्ति विवशा नो कस्य ते दासताम् ॥
यश्चाज्ञामधिगम्य पावनमना धीराडहिंसाश्रियः
जित्वाऽक्षाणि समावसेदिह जयज्जेता स आत्मप्रियः ॥२७॥

देखो, इस जगत् में जीव हिंसा के शासन-विधान को स्वीकार करके इन्द्रियों के विषयों से पीड़ित रहते हैं, वे परवश होकर किस किस मनुष्य की दासता को अङ्गीकार नहीं करते ? अर्थात् उन्हें सभी की गुलामी करनी पड़ती है । किन्तु जो पवित्र मनवाले बुद्धिमान् मानव अहिंसा भगवती की आज्ञा को प्राप्त होकर और इन्द्रियों के विषय को जीतकर संसार में रहते हैं, ये जगज्जेता और सर्वात्मप्रिय होते हैं ॥२७॥

स्वस्वान्तेन्द्रियनिग्रहैकविभवो यादृग्भवेच्छ्रीर्यते
स्तादृक सम्भवतादपि स्वमनसः सम्पत्तये भूपतेः ।
राज्ञः केवलमात्मनीनविषयादन्यत्र न स्याद् रसः
योगीन्द्रस्य समन्ततोऽपि तु पुनर्भेदोऽयमेतादृशः ॥२८॥

अपने साध्य की सिद्धि के लिए जिस प्रकार एक साधु को अपने मन और इन्द्रियों का निग्रह करना आवश्यक होता है, वैसा ही निग्रह राजा को भी अपनी राज्य-सम्पत्ति के संरक्षण करने के लिए भी आवश्यक है। किन्तु दोनों की साधना में केवल यह भेद है कि राजा केवल अपने योग्य विषयों के सिवाय शेष अन्य विषयों में रस नहीं लेता है और योगिराज के सभी विषयों में रस नहीं रहता है, अर्थात् वे इन्द्रिय और मनके सर्व विषयों से उदासीन हो जाते हैं ॥२८॥

अतएव कियत्याः स राजा भूमेर्भवेत्पतिः ।
विश्वस्य किन्तु साम्राज्यमधिगच्छति योगिराट् ॥२९॥

अतएव राजा तो कुछ सीमित भूमि का ही स्वामी बनता है, किन्तु योगिराज विश्व भर के साम्राज्य का स्वामी बन जाता है ॥२९॥

खड्गेनायसनिर्मितेन न हतो वज्रेण वै हन्यते
तस्मान्निर्व्रजये नराय च विपद्दैवेन त तन्यते ।
दैवं किन्तु निहत्य यो विजयते तस्यात्र संहारकः
कः स्यादित्यनुशासनाद्विजयतां वीरेषु वीरः सकः ॥३०॥

जो मनुष्य लोहे से बनी खड्ग से नहीं मारा जा सकता, वह वज्र से निश्चयतः मारा जाता है। जो वज्र से भी नहीं मारा जा सकता वह दैव से अवश्य मारा जाता है, किन्तु जो महापुरुष दैव को भी मारकर विजय प्राप्त करता है, उसका संहार करने वाला फिर इस संसार में कौन है ? वह वीरों का वीर महावीर ही इस संसार में सर्वोत्तम विजेता है, और वह सदा विजयशील बना रहे ॥३०॥

श्रीमान् श्रेष्ठि चतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
प्रोक्तेन च षोक्तोडशोऽयमधुना सर्गः समाप्तिं गतः
वीरोपज्ञविहिंसनस्य कथनप्रायोऽस्ति संक्षेपतः ॥१६॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भुजजी और घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए वाणीभूषण, बाल-ब्रह्मचारी पं भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर विरचित वीरोदय में श्री वीर भगवान् द्वारा उपदिष्ट अहिंसा धर्म का संक्षेप से वर्णन करने वाला सोलहवां सर्ग समाप्त हुआ ॥१६॥

❖ ❖ ❖

अथ सप्तदशः सर्गः

अज्ञोऽपि विज्ञो नृपतिश्च दूतः गजोऽप्यजो वा जगति प्रसूतः ।
अस्यां धरायां भवतोऽधिकारस्तावान् परस्यापि भवेन्नृसार ॥१॥

हे पुरुषोत्तम, इस भूतल पर जो भी उत्पन्न हुआ है, वह चाहे मूर्ख हो या विद्वान्, राजा हो या दास, गज हो या अज, (बकरा), इस पृथ्वी पर जितना आपका अधिकार है, उतना ही दूसरे का भी अधिकार है, ऐसा विचार करना चाहिए ॥१॥

पूर्वक्षणे चौरतयाऽतिनिन्द्यः स एव पश्चाज्जगतोऽभिवन्द्यः ।
यो नाभ्यवाञ्छत्कुलयोषितं स वेश्यायुगासीन्महतां वतंसः ॥२॥

संसार के स्वरूप का विचार करो, जो विद्युच्चर अपने जीवन के पूर्व समय में चोर रूप से अति निर्दय था, वही पीछे जगत् का वन्दनीय महापुरुष बन गया । और जो महापुरुषों का शिरोमणि चारुदत्त सेठ अपनी विवाहिता कुल स्त्री के सेवन की भी इच्छा नहीं करता था, वही पीछे वेश्यासेवी हो गया। कैसी विचित्रता है ॥२॥

गुणो न कस्य स्वविधौ प्रतीतः सूच्या न कार्यं खलु कर्तरीतः ।
ततोऽन्यथा व्यर्थमशेषमेतद्वस्तूत नस्तुच्छतया सुचेतः ॥३॥

हे सुचेतः (समझदार), यह तुच्छ है और वह महान् है, ऐसा सोचना व्यर्थ है, क्योंकि अपने अपने कार्य में किसका गुण प्रतीत नहीं होता । देखो, कैंची से सुई छोटी है, पर सुई का कार्य कैंची से नहीं हो सकता । इसलिए छोटे और बड़े की कल्पना करना व्यर्थ है ॥३॥

स्वमुत्तमं सम्प्रति मन्यमानोऽन्यं न्यक्करोतीति विवेकभानो ।
तवेयमात्मंभरिता हि रोगं-करी भवेद्यस्य न कोऽपि योगः ॥४॥

हे विवेक-सूर्य आत्मन्, इस समय तू अपने आपको उत्तम मानता हुआ दूसरे को तुच्छ समझ कर उसका तिरस्कार करता है, यही तो तेरी सब से बड़ी स्वार्थपरता है और यही तेरे उस भव-रोग को उत्पन्न करने वाली है, जिसका कि कोई इलाज नहीं है ॥४॥

भावार्थ - स्वार्थी मनोवृत्ति से ही तो मनुष्य पतित बनता है और उसे छोड़ देने पर ही मनुष्य का उद्धार होता है, इसलिए हे आत्मन्, यदि तू अपना उद्धार चाहता है, तो अपनी स्वार्थपरायणता को छोड़ दे ।

सम्मानयत्यन्यसतस्तु वर्ति सैवाधुना मानवतां विभर्त्ति ।
स केन दृश्योऽस्तु पश्यतीति परानिदानीं समवायरीतिः ॥५॥

जो दूसरे सज्जन पुरुष की बात का सन्मान करता है, उसकी छोटी सी भी भली बात को बड़ी समझता है, वही आज वास्तव में मनुष्यता को धारण करता है । जो औरों को तुच्छ समझता है, उनकी ओर देखता भी नहीं है, स्वयं अहंकार में मग्न रहता है, क्या उसे भी कोई देखता है ? नहीं । क्योंकि वह लोगों की दृष्टि से गिर जाता है । अतएव दूसरे का सन्मान करना ही आत्म-उत्थान का मार्ग है ॥५॥

मनुष्यता ह्यात्महितानुवृत्तिर्न केवलं स्वस्य सुखे प्रवृत्तिः ।
आत्मा यथा स्वस्य तथा परस्य विश्वैकसम्वादविधिर्नरस्य ॥६॥

आत्म-हित के अनुकूल आचरण का नाम ही मनुष्यता है, केवल अपने सुख में प्रवृत्ति का नाम मनुष्यता नहीं है । जैसा आत्मा अपना समझते हो, वैसा ही दूसरे का भी समझना चाहिए । अत: विश्व भर के प्राणियों के लिए हितकारक प्रवृत्ति करना ही मनुष्य का धर्म है, औरों के सुख में कण्टक बनना महान् अधर्म हैं ॥६॥

भावार्थ - तुम जैसा व्यवहार अपने लिए चाहते हो, वैसा ही व्यवहार दूसरों के साथ करो ।

पापं विमुच्यैव भवेत्पुनीतः स्वर्णं च किट्टप्रतिपाति हीतः ।
पापाद् घृणा किन्तु न पापिवर्गान्मनुष्यतैवं प्रभवेन्निसर्गात् ॥७॥

पाप को छोड़कर ही मनुष्य पवित्र कहला सकता है । (केवल उच्च कुल में जन्म ले लेने से ही कोई पवित्र नहीं हो जाता ।) कीटकालिमा से विमुक्त होने पर ही सुवर्ण सम्माननीय होता है, (कीटकालिमादि युक्त सुवर्ण सम्मान नहीं पाता ।) इसलिए पाप से घृणा करना चाहिए, किन्तु पापियों से नहीं । मनुष्यता स्वभाव से ही यह सन्देश देती है ॥७॥

वृद्धानुपेयादनुवृत्तबुद्ध्याऽनुजान् समं स्वेन वहेत्त्रिशुद्ध्या ।
कमप्युपेयान्न कदाचनान्यं मनुष्यतामेवमियाद्वदान्यः ॥८॥

अतएव बुद्धिमानों को चाहिए कि अपने से बड़े वृद्ध जनों के साथ अनुकूल आचरण करें, अपने से छोटों को अपने समान तन-मन-धन से सहायता पहुँचावे, किसी भी मनुष्य को दूसरा न समझें । सभी को अपना कुटुम्ब मानकर उनके साथ उत्तम व्यवहार करें । इस प्रकार उदार मनुष्य सच्ची मानवता को प्राप्त करे ॥८॥

प्रोद्घाटयेन्नैव परस्य दोषं स्ववृत्तितोऽपीह परस्य पोषम् ।
कुर्वीत मर्त्यत्वमियात्सजोषं गुणं सदैवानुसरेदरोषम् ॥९॥

दूसरे के दोष को कभी भी प्रकट न करे, उसके विषय में मौन धारण करे, अपनी वृत्ति से दूसरे का पालन-पोषण करे, दूसरे के गुणों का ईर्ष्या-रोषादि से रहित होकर अनुसरण करे और इस प्रकार सच्ची मनुष्यता को प्राप्त होवे ॥९॥

नरो न रौतीति विपन्निपाते नोत्सेकमेत्यभ्युदयेऽपि जाते ।
न्याय्यात्पथो नैवमथावसन्नः कर्त्तव्यमञ्चेत्सततं प्रसन्नः ॥१०॥

मनुष्य को चाहिए कि वह विपत्ति के आने पर हाय हाय न करे, न्यायोचित मार्ग से कभी च्युत न होवे और सदा प्रसन्न रहकर अपना कर्त्तव्य पालन करे ॥१०॥

स्वार्थाच्च्युतिः स्वस्य विनाशनाय परार्थतश्चेदपसम्प्रदायः ।
स्वत्वं समालम्ब्य परोपकारान्मनुष्यताऽसौ परमार्थसारा ॥११॥

स्वार्थ से भ्रष्ट होना अपने ही विनाश का कारण है और परार्थ (परोपकार) से च्युत होना यह सम्प्रदाय के विरुद्ध है । इसलिए मनुष्य को चाहिए कि अपने स्वार्थ को संभालते हुए दूसरे का उपकार अवश्य करे । यही परमार्थ के सारभूत मनुष्यता है ॥११॥

समाश्रिता मानवताऽस्तु तेन समाश्रिता मानवतास्तु तेन ।
पूज्येष्वथाऽमानवता जनेन समुत्थसामा नवताऽऽप्यनेन ॥१२॥

जिस पुरुष ने मानवता का आश्रय लिया, अर्थात् सत्कार किया, उसने मानवता का आदर किया। तथा जिसने पूज्य पुरुषों में अभिमान-रहित होकर व्यवहार किया उसने वास्तविक मानवता को प्राप्त किया ॥१२॥

भावार्थ - पूज्य पुरुषों में मान-रहित विनम्र होकर, सर्व साधारण जनों में समान भाव रखता हुआ सत्य-मार्ग को अपनाने वाला उत्तम पुरुष ही सदा मानवता के आदर्श को प्राप्त होता है ।

विपन्निशेवाऽनुमिता भुवीतः सम्पत्तिभावो दिनवत्पुनीतः ।
सन्ध्येव भायाद् रुचिरा नृता तु द्वयोरुपात्तप्रणयप्रमातुः ॥१३॥

संसार में मनुष्य को सम्पत्ति का प्राप्त होना दिन के समान पुनीत (आनन्द-जनक) है, इसी प्रकार विपत्ति का आना भी रात्रि के समान अनुमीत (अवश्यम्भावी) है । इन दोनों के मध्य में मध्यस्थ रूप से उपस्थित एवं स्नेहभाव को प्राप्त होने वाले महानुभाव के मनुष्यता सन्ध्याकाल के समान रुचिकर (मनोहर) प्रतीत होना चाहिए ॥१३॥

एवं समुत्थान-निपात पूर्णे धरातलेऽस्मिन् शतरञ्जतूर्णे ।
भवेत्कदा कः खलु वाजियोग्यः प्रवक्तुमीशो भवतीति नोऽज्ञः ॥१४॥

इस प्रकार उत्थान और पतन से परिपूर्ण, शतरंज के खेल के समान इस धरातल पर हम लोगों में से कब कौन मनुष्य बाजी मार जाय, इस बात को कहने के लिए यह अज्ञ प्राणी समर्थ नहीं है ॥१४॥

किमत्र नाज्ञोऽञ्चति विद्विधानं विज्ञोऽपि विक्षेपमिति प्रथा नः ।
संशोधयेयुर्मदमत्सरादीञ्जना निजीयान्न परोऽत्र वादी ॥१५॥

क्या इस संसार में अज्ञानी पुरुष विद्वत्ता को प्राप्त नहीं होता है और क्या विद्वान् भी विक्षेप- (पागल-) पने को प्राप्त नहीं होता है ? (जब संसार की ऐसी दशा है, तब भाग्योदय से प्राप्त विद्वत्ता आदि का मनुष्य को अहंकार नहीं करना चाहिए) किन्तु मनुष्यों को अपने मद, मत्सर आदि दुर्भावों का संशोधन करना चाहिए । महान् पुरुष बनने का यही निर्विवाद मार्ग है, अन्य नहीं ॥१५॥

भर्ताऽहमित्येष वृथाऽभिमानस्तेभ्यो विना ते च कुतोऽथ शानः ।
जलौकसामाश्रयणं निपानमेभ्यो विनाऽमुष्य च शुद्धता न ॥१६॥

एक राजा या स्वामी को लक्ष्य में रख कर कवि कहते हैं कि हे भाई, जो तू यह अभिमान करता है कि मैं इन अधीनस्थ लोगों का भरण-पोषण करने वाला हूँ, इन सेवकों का स्वामी हूँ, सो यह तेरा अभिमान व्यर्थ है, क्योंकि उन आश्रित जनों या सेवकों के बिना तेरी यह शान कहां संभव है ? देखो, मछलियों का आश्रयदाता सरोवर है, किन्तु उनके विना सरोवर के जल की शुद्धता संभव नहीं है, क्योंकि वे मछलियां ही सरोवर की गन्दगी को खाकर जल को स्वच्छ रखती हैं ॥१६॥

को नाम जातेश्च कुलस्य गर्वः सर्वः स्वजात्या प्रतिभात्यखर्वः ।
विप्रोऽपि चेन्मांसभुगस्ति निन्द्यः सद्–वृत्तभावाद् वृषलोऽपि वन्द्यः ॥१७॥

जाति का, या कुल का गर्व करना कैसा ? सभी मनुष्य अपनी जाति में अपने को बड़ा मानते हैं । मांस को खाने वाला ब्राह्मण निंद्य है और सदाचारी होने से शूद्र भी वंद्य है ॥१७॥

भावार्थ - जो लोग उच्च जाति या कुल में जन्म लेने मात्र से ही अपने को उच्च मानते हैं, किन्तु काम नीच पुरुषों जैसे करते हैं, उन्हें कभी उच्च नहीं माना जा सकता । इसी प्रकार भाग्यवश जो शूद्रादि के कुल में भी उत्पन्न हुआ है, किन्तु कार्य उच्च करता है, तो उसे नीच भी नहीं कहा जा सकता। कहने का सार यह है कि सदाचरण से मनुष्य उच्च और असदाचरण से मनुष्य नीच कहलाने के योग्य है ।

विवाहितो भ्रातृजयाङ्गभाजा सम्माननीयो वसुदेवराजः ।
नारायणो नाम जगत्प्रसिद्धस्तस्यास्तनूजः समभूत्समिद्धः ॥१८॥

देखो, प्राणियों में सम्माननीय वसुदेव राजा ने अपने भाई उग्रसेन की लड़की देवकी से विवाह किया और उसके उदर से जगत् प्रसिद्ध और गुण-समृद्ध श्रीकृष्ण नाम के नारायण का जन्म हुआ ॥१८॥

वेश्यासुता भ्रातृविवाहितापि भद्राधुना यत्र तयाऽऽर्यताऽऽपि ।
संसार एषोऽस्ति विगर्हणीयः भूयाद्भवान्नाम स बर्हणीयः ॥१९॥

वेश्या की लड़की अपने सगे भाई के द्वारा विवाही गई और अन्त में वह आर्यिका बनी । यह संसार ऐसा ही निन्दनीय है, जहां पर कि लोगों के परस्पर में बड़े विचित्र सम्बन्ध होते रहते हैं । इसलिये संसार से विरक्ति ही सारभूत है ॥१९॥

भावार्थ - कवि ने इस श्लोक-द्वारा अठारह नाते की कथा की ओर संकेत करके संसार के सम्बन्धों पर अपनी ग्लानि प्रकट की है ।

आराधनायां यदि कार्त्तिकेयः पित्रा सुतातोऽजनि भूतले यः ।
स चेदिहाचार्यपदप्रतिष्ठः कोऽथो न हि स्याज्जगदेकनिष्ठः ॥२०॥

आराधना कथाकोश में वर्णित कथा के अनुसार कार्त्तिकेय स्वामी इसी भूतल पर पिता के द्वारा पुत्री से उत्पन्न हुए और उन्होंने ही यहां पर आचार्य पद की प्रतिष्ठा प्राप्त की । यह घटना देखकर जगत् एकनिष्ठ क्यों नहीं होगा ? ॥२०॥

आलोचनीयः शिवनाम भर्ता व्यासोऽपि वेदस्य समष्टिकर्ता ।
किमत्र दिक् तेन तनूभृतेति यः कोऽपि जातेरभिमानमेति ॥२१॥

शिव नाम से प्रसिद्ध रुद्र की और वेद के संग्रहकर्ता पाण्डवों के दादा व्यास ऋषि की उत्पत्ति भी विचारणीय है । ऐसी दशा में जो कोई पुरुष जाति के अभिमान को प्राप्त होता है, उस मनुष्य के साथ बात करने में क्या तथ्य है ? ॥२१॥

सर्वोऽपि चेद् ज्ञानगुणप्रशस्ति. को वस्तुतोऽनादरभाक समस्ति ।
यतोऽतिगः कोऽपि जनोऽनणीयान् पापप्रवृत्तिः खलु गर्हणीया ॥२२॥

यदि सभी प्राणी ज्ञान गुण से संयुक्त हैं, तब वस्तुतः अनादर के योग्य कौन रहता है? अर्थात् कोई भी नहीं । हां, पापों में प्रवृत्ति करना अवश्य निन्दनीय है, जो कोई मनुष्य उससे दूर रहता है, वही महान् कहा जाता है ॥२२॥

सत्यानुकूलं मतमात्मनीनं कृत्वा समन्ताद् विचरन्नदीनः ।
पापदपेतं विदधीत चित्तं समस्ति शौचाय तदेकवित्तम् ॥२३॥

इसलिए मनुष्य को चाहिए कि अपने मत (विश्वास) को सर्व प्रकार से सत्य के अनुकूल दृढ़ बना कर दीनता-रहित हो निर्भय विचरण करता हुआ अपने चित्त को पाप से रहित करे । बस, यही एक उपाय पवित्र या शुद्ध होने के लिए कहा गया है ॥२३॥

पराधिकारे त्वयनं यथाऽऽपन्निजाधिकाराच्च्यवनं च पापम् ।
अमानवं कर्म दुरन्तकुन्तिन् संक्षेपतः शास्त्रविदो वदन्ति ॥२४॥

पाप-विनाश के लिए भाले के समान हे भव्य, शास्त्रकारों ने पाप को संक्षेप से तीन प्रकार का कहा है-पहिला पराये अधिकार में जाना, अर्थात् अनधिकार चेष्टा करना, दूसरा अपने अधिकार से च्युत होना और तीसरा विश्वासघात आदि अमानवीय कार्य करना ॥२४॥

वंश्योऽहमित्याद्यभिमानभावात्तिरस्करोत्यन्यमनेकधा वा ।
धर्मो वदेत् केवलिनं हि सर्वं न धर्मवित्सोऽस्ति यतोह्यखर्वः ॥२५॥

मैं उच्च वंश में उत्पन्न हुआ हूँ, इस प्रकार के अभिमान से जो दूसरे का नाना प्रकार से तिरस्कार करताहै, वह धर्म का स्वरूप नहीं जानता है, क्योंकि जैनधर्म तो सभी प्राणियों को केवलज्ञान की शक्ति से सम्पन्न कहता है । इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह गर्व से रहित बने और अभिमान से कभी किसी का तिरस्कार न करे ॥२५॥

वंशश्च जातिर्जनकस्य मातुः प्रसङ्गतः केवलमाविभातु ।
तयोः क्रिया किं पुनरेकरूपा विचार्यतामत्र विवेकभूपाः ॥२६॥

पिता के पक्ष को वंश (कुल) कहते हैं और माता के पक्ष को जाति कहते हैं, इस विषय में सब एक मत हैं । यदि माता और पिता के प्रसंग से ही केवल जाति और कुल की व्यवस्था मानी जाय, तो हे विवेकवान् पुरुषो, इस विषय में विचार करो कि माता-पिता इन दोनों की क्रिया सर्वथा एक रूप रहती है ? ॥२६॥

चतुष्पदेषूत खगेष्वगेषु वदन्नहो क्षत्रियताद्यमेषु ।
विकल्पनामेव दधत्तदादिमसौ निराधार वचोऽभिवादी ॥२७॥

आश्चर्य है कि कितने ही लोग मनुष्यों के समान गाय, भैंस आदि चौपायों में, पक्षियों में और वृक्षों में भी क्षत्रिय आदि वर्णो की कल्पना करते हैं, किन्तु वे निराधार वचन बोलने वाले हैं, क्योंकि 'क्षत्रियाः क्षततस्त्राणात्' अर्थात् जो दूसरे को आपत्ति से बचावे, वह क्षत्रिय है, इत्यादि आर्ष वाक्यों का अर्थ उनमें घटित नहीं होता है ॥२७॥

रङ्गप्रतिष्ठा यदि वर्णभङ्गी शौक्ल्येन विप्रत्वमियात् फिरङ्गी ।
शूद्रत्वतो नातिचरेच्च विष्णुर्नैकं गृहं चैकरुचेः सहिष्णुः ॥२८॥

कुछ लोगों का कहना है कि वर्ण-व्यवस्था वर्ण अर्थात् रूप रंग के आश्रित है, शुक्ल वर्ण वाले ब्राह्मण, रक्तवर्ण वाले क्षत्रिय, पीतवर्ण वाले वैश्य और कृष्णवर्ण वाले शूद्र हैं । ग्रन्थकार उन लोगों को लक्ष्य करके

कहते हैं कि यदि वर्णव्यवस्था रंग पर प्रतिष्ठित है, तो फिर फिरंगी (अंग्रेज) लोगों को ब्राह्मणपना प्राप्त होगा, क्योंकि वे श्वेतवर्ण वाले हैं । तथा काले वर्ण वाले श्री कृष्ण नारायण शूद्रपने का अतिक्रमण नहीं कर सकेंगे, अर्थात् वे शूद्र कहे जावेंगे । इसके अतिरिक्त ऐसा एक भी घर नहीं बचेगा जिसमें अनेक वर्ण के लोग न हों। अर्थात् एक ही मां-बाप की सन्तान गौरी-काली आदि अनेक वर्ण वाली देखी जाती है, तो उन्हें भी आपकी व्यवस्थानुसार भिन्न-भिन्न वर्ण का मानना पड़ेगा ॥२८॥

दशास्य-निर्भीषणयोश्च किन्नाप्येकाम्बयोरप्युत चिद्विभिन्ना ।
न जातु जातेरुदितो विशेष आचार एवाभ्युदयप्रदेशः ॥२९॥

देखो-एक माता के उदर से उत्पन्न हुए दशानन (रावण) और विभीषण में परस्पर कितना अन्तर था ? रावण रामचन्द्र का वैरी, क्रूर और काला था । किन्तु उसी का सगा भाई विभीषण राम का स्नेही, शान्त और गोरा था । एक ही जाति और कुल में जन्म लेने पर भी दोनों में महान् अन्तर था । अतएव जाति या कुल को मनुष्य की उन्नति या अवनति में साधक या बाधक बताना भूल है । जाति या कुल विशेष में जन्म लेने मात्र से ही कोई विशेषता कभी भी नहीं कही गई है । किन्तु मनुष्य का आचरण ही उसके अभ्युदय का कारण है ॥२९॥

आखुः प्रवृत्तौ न कदापि तुल्यः पञ्चाननेनानुशयैकमूल्यः ।
तथा मनुष्येषु न भाति भेदः मूलेऽथ तूलेन किमस्तु खेदः ॥३०॥

यदि कहा जाय कि मूषक शूरवीरता की प्रवृत्ति करने पर भी सिंह के साथ कभी भी समानता के मूल्य को नहीं प्राप्त हो सकता, इसी प्रकार शूद्र मनुष्य कितना ही उच्च आचरण करे, किन्तु वह कभी ब्राह्मणादि उच्चवर्ण वालों की समता नहीं पा सकता, सो यह कहना भी व्यर्थ है, क्योंकि मूषक और सिंह में तो मूल में ही प्राकृतिक भेद है किन्तु ऐसा प्राकृतिक भेद शूद्र और ब्राह्मण मनुष्य में दृष्टिगोचर नहीं होता । अतएव जातिवाद को तूल देकर व्यर्थ खेद या परिश्रम करने से क्या लाभ है ॥३०॥

भावार्थ - जैसा प्राकृतिक जातिभेद चूहे और सिंह में देखा जाता है वैसा शूद्र और ब्राह्मणादि मनुष्यों में नहीं । यही कारण है कि इतिहास और पुराणों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि उच्च कुल या जाति में जन्म लेने पर भी बक राजा जैसे पतित हुए और शूद्रक राजा जैसे उत्तम पुरुष सिद्ध हुए हैं । अनेक जाति वाले पहले जो क्षत्रिय थे, आज वैश्य और शूद्र माने जा रहे हैं । इसलिए जातिवाद को महत्त्व देना व्यर्थ है । उच्च आचरण का ही महत्त्व है और उसे करने वाला ऊंच और नहीं करने वाले को नीच जाति का मानना चाहिए ।

सुताभुजः किञ्च नराशिनोऽपि न जन्म किं क्षात्रकुलेऽथ कोऽपि ।
भिल्लाङ्गजश्चेत् समभूत्कृतज्ञः गुरो ऋणीत्थं विचरेदपि ज्ञः ॥३१॥

इतिहास में ऐसे भी अनेक कथानक दृष्टिगोचर होते हैं जो कि क्षत्रिय कुल में जन्म लेकर भी अपनी पुत्री के साथ विषय सेवन करने और मनुष्य तक का मांस खाने वाले हुए हैं। इसी प्रकार भील जाति में उत्पन्न हुआ शूद्र पुरुष भी गुरुभक्त, कृतज्ञ और बाण-विद्या का वेत्ता दृष्टिगोचर होता है ॥३१॥

प्रद्युम्नवृत्ते गदितं भविन्नः शुनी च चाण्डाल उवाह किन्न ।
अणवादिकद्वादशसद्व्रतानि उपासकोक्तानि शुभानि तानि ॥३२॥

हे संसारी प्राणी, प्रद्युम्नचरित में कहा है कि कुत्ती ने और चाण्डाल ने मुनिराज से श्रावकों के लिए बतलाये गये अणुव्रतादि बारह व्रतों को धारण किया और उनका भली-भांति पालन कर सद्गति प्राप्त की है ॥३२॥

मुद्गेषु कङ्कोडुकमीक्षमाणः मणिं तु पाषाणकणेष्वकाणः ।
जातीयतायाः स्मयमित्थमेति दुराग्रहः कोऽपि तमामुदेति ॥३३॥

मूंग के दानों में घोरडू (नहीं सीझने वाला) मूंग को और पाषाण-कणों में हीरा आदि मणि को देखने वाला भी चक्षुष्मान् पुरुष जातीयता के इस प्रकार अभिमान को करताहै, तो यह उसका कोई दुराग्रह ही समझना चाहिए ॥३३॥

यत्राप्यहो लोचनमैमि वंशे तत्रैव तन्मौक्तिकमित्यशंसे ।
श्रीदेवकी यत्तनुजापिदूने कंसे भवत्युग्रमहीपसूने ॥३४॥

जिस वांस में वंशलोचन उत्पन्न होता है, उसी वांस में मोती भी उत्पन्न होता है। देखो, जिस उग्रसेन महाराज के श्री देवकी जैसी सुशील लड़की पैदा हुई, उसी के कंस जैसा क्रूर पुत्र भी पैदा हुआ ॥३४॥

जनोऽखिलो जन्मनि शूद्र एव यतेत विद्वान् गुणसंग्रहे वः ।
भो सज्जना विज्ञतुगज्ञ एवमज्ञाङ्गजो यत्नवशाज्ज्ञदेवः ॥३५॥

हे सज्जनो देखो- जन्म-समय में सर्व जन शूद्र ही उत्पन्न होते है, (क्योंकि उस समय वह उत्पन्न होने वाला बालक और उसकी माता दोनों ही अस्पृश्य रहते हैं,पीछे स्नानादि कराकर नामकरण आदि संस्कार किया जाता है, तब वह शुद्ध समझा जाता है।) विद्वान् पुरुष का लड़का भी अज्ञ देखा जाता है और अज्ञानी पुरुष का लड़का विद्वान् देखा जाता है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह जातीयता का अभिमान न करके गुणों के उपार्जन में प्रयत्न करे ॥३५॥

क्षुल्लिकात्वमगाद्यत्र देवकी धीवरीचरे ।
पामरो मुनितां जन्मन्यौदार्यं वीक्ष्यतां च रे ॥३६॥

श्रीकृष्ण की माता देवकी ने अपने पूर्व जन्म में धीवरी के भव में क्षुल्लिका के व्रत धारण किये थे और पद्मपुराण में वर्णित अग्निभूति वायुभूति की पूर्व भव की कथा में एक दीन पामर किसान ने भी मुनि दीक्षा ग्रहण की थी । हे भाई, जैनधर्म की इस उदारता को देखो ॥३६॥

विमलाङ्गजः सुदृष्टिचरोऽपि व्यभिचारिण्या जनुर्धरोऽपि ।
पश्यतोहरोऽपि मुनितामाप जातेरत्र न जात्वपि शापः ॥३७॥

सुदृष्टि सुनार का जीव अपनी व्यभिचारिणी स्त्री विमला के ही उदर से उत्पन्न हुआ, पीछे मुनि बनकर मोक्ष गया[१] । उसके मोक्ष में जाने के लिए जाति का शाप कारण नहीं बना ॥३७॥

भावार्थ - आराधना कथाकोश में एक कथा है कि एक सुदृष्टि नाम का सुनार था । उसके कोई लड़का न था, इसलिए किसी अन्य जाति के लड़के को उसने काम सिखाने के लिए अपने पास रख लिया । कुछ समय बाद सुनार की स्त्री उस लड़के के साथ कुकर्म करने लगी और अपने पति को अपने पाप में बाधक देखकर उसने उस लड़के से उसे मरवा दिया । वह सुनार मर कर अपनी इसी व्यभिचारिणी स्त्री के गर्भ से उत्पन्न हुआ और अन्त में मुनि बन कर मोक्ष गया । इस कथानक से तो जातीयता का कोई मूल्य नहीं रह जाता है । कथा ग्रन्थों में इस प्रकार के और भी कितने ही उदाहरण देखने में आते हैं ।

नर्तक्यां मुनिरुत्पाद्य सुतं कुम्भकारिणीतः पुनरनु तम् ।
राजसुतायामुत्पाद्य ततः शुद्धिमेत्य तैः सह मुक्तिमितः ॥३८.

हरिषेणकथाकोश में राज मुनि की कथा है, तदनुसार उन राजमुनि ने पहिले एक नर्तकी के साथ व्यभिचार किया और उससे एक पुत्र उत्पन्न हुआ । पुनः एक कुम्भार की पुत्री के साथ व्यभिचार किया और उससे भी एक पुत्र उत्पन्न हुआ । पुनः एक राजपुत्री से व्यभिचार किया और उससे भी एक पुत्र उत्पन्न हुआ । पीछे वह इन तीनों ही पुत्रों के साथ प्रायश्चित लेकर मुनि बन गया और अन्त में वे चारों ही तपश्चरण करके मोक्ष गये[२] ॥३८॥

हरिषेणरचितबृहदाख्याने यमपाशं चाण्डालं जाने ।
राज्ञाऽर्धराजदानपूर्वकं दत्वाऽऽत्मसुतां पूजितं तकम् ॥३९॥

उसी हरिषेण-रचित बृहत्कथाकोश में एक और कथानक है कि अहिंसा धर्म को पालन करने के उपलक्ष्य में यमपाश चाण्डाल को राजा ने अपने आधे राज्य के दान-पूर्वक अपनी लड़की उसे विवाह दी और उसकी पूजा की[२] ॥३९॥

---

१ देखो-बृहत्कथा कोष कथाङ्क १५३ । पृष्ठ ३४६ ।

१ देखो-बृहत्कथा कोष कथांक १८ । पृष्ठ २३८ ।

२ देखो-बृहत्कथा कोष कथांक ७४ । पृष्ठ १७८ ।

धर्मेऽथात्मविकासे नैकस्यैवास्ति नियतमधिकारः ।
योऽनुष्ठातुं यतते सम्भाल्यतमस्तु स उदारः ॥४०॥

सर्व कथन का सार यह है कि धर्म-धारण करने में, या आत्म-विकास करने में किसी एक व्यक्ति या जाति का अधिकार नहीं है । जो कोई धर्म के अनुष्ठान के लिए यत्न करता है, वह उदार मनुष्य संसार में सबका आदरणीय बन जाता है ॥४०॥

तुल्यावस्था न सर्वेषां किन्तु सर्वेऽपि भागिनः ।
सन्ति तस्या अवस्थायाः सेवामो यां वयं भुवि ॥४१॥

यद्यपि वर्तमान में सर्व जीवों की अवस्था एक सी समान नहीं है-हमारी अवस्था कुछ और है, दूसरे की कुछ और । किन्तु आज हम संसार में जिस अवस्था को धारण कर रहे हैं, उस अवस्था को भविष्य में दूसरे लोग भी धारण कर सकते हैं और जिस अवस्था को आज दूसरे लोग प्राप्त हैं, उसे कल हम भी प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि कर्म के उदय से जीव की दशा कभी एक सी नहीं रह पाती, हमेशा परिवर्तन होता रहता है, इसलिए मनुष्य को अपनी वर्तमान उच्च जाति या कुलादि का कभी गर्व नहीं करना चाहिए ॥४१॥

अहो जरासन्धकरोत्तरैः शरैर्मुरारिरासीत्स्वयमक्षतो वरैः ।
जरत्कुमारस्य च कीलकेन वा मृतः किमित्यत्र बलस्य संस्तवाः ॥४२॥

जिस प्रकार जाति का अभिमान करना व्यर्थ है, उसी प्रकार बल का गर्व करना भी व्यर्थ है। देखो-जरासन्ध के हाथों से चलाये गये उन महाबाणों से श्रीकृष्ण स्वयं अक्षत शरीर रहे, उनके शरीर का बाल भी बांका नहीं हो सका । वे ही श्रीकृष्ण जरत्कुमार के एक साधारण से भी बाण से मरण को प्राप्त हो गये । अतएव बल का गर्व करना क्या महत्त्व रखता है ॥४२॥

अर्हत्त्वाय न शक्तोऽभूत्तपस्यन्नपि दोर्बलिः ।
चक्रिणा क्षण एवाऽऽप्तं किन्नु वाच्यमतः परम् ॥४३॥

बाहुबली दीर्घकाल तक तपश्चरण करते हुए जिस अर्हन्त पद को पाने में शीघ्र समर्थ नहीं हो सके, उसी अर्हन्त पद को भरत चक्री ने क्षण भर में ही प्राप्त कर लिया । इससे अधिक और क्या कहा जाय ? तपस्या का मद करना भी व्यर्थ है ॥४३॥

नो चेत्परोपकाराय समुप्तं गुप्तमेव तु ।
धनं च निधनं भूत्वाऽऽपदे सद्भिर्निवेद्यते ॥४४॥

पूर्व पुण्योदय से प्राप्त धन यदि परोपकार में नहीं लगाया गया और उसे भूमि में गाड़कर अत्यन्त गुप्त भी रखा गया, तो एक दिन वह धन तो नष्ट होगा ही, साथ में अपने स्वामी को भी आपत्ति

के लिए होगा और उसके प्राणों का भी विनाश करेगा, ऐसा सभी सन्त जन कहते हैं। और आज लोक में भी हम यही देख रहे हैं। अतएव धन का मद करना भी व्यर्थ है ॥४४॥

इत्येवं प्रतिपद्य यः स्वहृदयादीर्ष्यामदादीन् हरन् ।
हर्षामर्षनिमित्तयोः सममतिर्निर्द्वन्द्वभावं चरन् ।
स्वात्मानं जयतीत्यहो जिन इयन्नाम्ना समाख्यायते
तत्कर्त्तव्यविधिर्हि जैन इत वाक् धर्मः प्रसारे क्षितेः ॥४५॥

इस प्रकार जाति, कुल और धनादिक को निःसार समझ कर जो मनुष्य अपने हृदय से ईर्ष्या, अहंकार आदि को दूर कर और हर्ष या क्रोध के निमित्तों में समान बुद्धि रहकर निर्द्वन्द्व भाव से विचरता हुआ अपनी आत्मा को जीतता है, वह संसार में 'जिन' इस नाम से कहा जाता है। उस जिनके द्वारा प्रतिपादित कर्त्तव्य-विधान को ही 'जैनधर्म' इस नाम से कहते हैं ॥४५॥

पिता पुत्रश्चायं भवति गृहिणः किन्तु न यते
स्तथैवायं विप्रो वणिगिति च बुद्धिं स लभते ।
य आसीन्नीतिज्ञोऽभ्युचितपरिवाराय मतिमान् ।
प्रभो रीतिज्ञः स्यात्तु विकलविकल्पप्रगतिमान् ॥४६॥

यह पिता है और यह पुत्र है, इस प्रकार का व्यवहार गृहस्थ का है, साधु का नहीं। इसी प्रकार यह ब्राह्मण है और यह वैश्य है, इस प्रकार की भेद-बुद्धि को भी स्वीकृत परिवार के व्यवहार के लिए वही नीतिज्ञ बुद्धिमान् गृहस्थ करता है। किन्तु जो घर-बार छोड़कर त्याग मार्ग को अंगीकार कर रहा है, ऐसा जिन प्रभु की रीति का जानने वाला साधु इन सब विकल्प-जालों से दूर रहता हुआ समभाव को धारण करता है ॥४६॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीयतम् ।
तेनास्मिन् रचिते सतीन्दुसमिते सर्गे समावर्णितं
सर्वज्ञेन दयावता भगवता यत्साम्यमादेशितम् ॥४७॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भुज और घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए, वाणीभूषण बाल-ब्रह्मचारी पं. भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर द्वारा विरचित इस वीरोदय काव्य में सर्वज्ञ भगवान् के द्वारा उपदिष्ट साम्यभाव का प्रतिपादन करने वाला यह सत्तरहवां सर्ग समाप्त हुआ ॥१७।

❖ ❖ ❖

अथ अष्टादशः सर्गः

हे नाथ केनाथकृतार्थिनस्तु जना इति प्रार्थित आह वस्तु ।
सन्द्रू यते स्वस्य गुणक्रमेण कालस्य च प्रोल्लिखितश्रमेण ।।१।।

हे नाथ, संक्लेश से भरे हुए ये संसारी प्राणी किस उपाय से कृतार्थ हो सकते हैं अर्थात् संक्लेश से छूटकर सुखी कैसे बन सकते हैं ? गौतम स्वामी के ऐसा पूछने पर वीर भगवान् ने कहा-प्रत्येक वस्तु अपने अपने गुण और पर्यायों के द्वारा सहज ही स्वयं परिणमनशील है और बाह्य कारण काल की सहायता से यह परिवर्तन होता रहता है ।।१।।

न कोऽपि लोके बलवान् विभाति समस्ति चैका समयस्य जातिः ।
यतः सहायाद्भवतादभूतः परो न कश्चिद्भुवि कार्यदूतः ।।२।।

यथार्थ में इस संसार का कोई कर्ता या नियन्ता ईश्वर नहीं है । एक मात्र समय (काल) की ही ऐसी जाति है, कि जिसकी सहायता से प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण नवीन नवीन पर्याय उत्पन्न होती रहती है और पूर्व पर्याय विनष्ट होती रहती है इसके सिवाय संसार में और कोई कार्यदूत अर्थात् कार्य कराने वाला नहीं है ।।२।।

रथाङ्गिनं बाहुबलिः स एकः जिगाय पश्चात्तपसां श्रिये कः ।
तस्यैव साहाय्यमगात्स किन्तु क्षणेन लेभे महतां महीन्तु ।।३।।

अकेले बाहुबली ने भरत चक्रवर्ती को जीत लिया । पश्चात् वह तपस्वी बन गये । घोर तपस्या करने पर भी जब केवल ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ तब वही भरत चक्रवर्ती बाहुबली की सहायता को प्राप्त हुए । किन्तु उन्होंने स्वयं क्षण मात्र में महापुरुषों की भूमि आर्हन्त्य पदवी को प्राप्त कर लिया । यह सब समय का ही प्रभाव है ।।३।।

मृत्युं गतो हन्त जरत्कुमारैकबाणतो यो हि पुरा प्रहारैः ।
नार्तो जरासन्धमहीश्वरस्य किन्नाम मूल्यं बलविक्रमस्य ।।४।।

जो श्रीकृष्ण जरासन्ध त्रिखण्डेश्वर के महान् प्रहारों से भी परास्त नहीं हुए, वे जरत्कुमार के एक बाण से ही मृत्यु को प्राप्त हो गये । यहां पर बल-विक्रम का क्या मूल्य रहा ? कुछ भी नहीं यह सब समय की ही बलिहारी है ।।४।।

आत्मा भवत्यात्मविचारकेन्द्रः कर्तुं मनाक् नान्यविधिं किलेन्द्रः ।
कालप्रभावस्य परिस्तवस्तु यदन्यतोऽन्यत्प्रतिभाति वस्तु ॥५॥

यह आत्मा अपने विचारों का केन्द्र बना हुआ है । रात-दिन नाना प्रकार के विचार किया करता है कि अब यह करूंगा, अब वह करूंगा । किन्तु पर की कुछ भी अन्यथा विधि करने के लिए यह समर्थ नहीं है । यह तो काल के प्रभाव की बात है कि वस्तु कुछ से कुछ और प्रतिभासित होने लगती है ॥५॥

इत्येकदेदृक् समयो बभूव यतो जना अत्र सुपर्वभूवंत् ।
निरामया वीतभयाः समान-भावेनः भेजुर्निजजन्मतानम् ॥६॥

इस प्रकार काल-चक्र के परिवर्तन से यहां पर एक बार ऐसा समय उपस्थित हुआ जब कि यहां के सर्व लोग स्वर्गलोक के समान निरामय (निरोग) निर्भय और समान रूप से अपने जीवन के आनन्द को भोगते थे ॥६॥

दाम्पत्यमेकं कुलमाश्रितानां पृथ्वीसुतैरर्पितसंविधानाः ।
सदा निरायासभवत्तयात्राध्यगादमीषां खलु जन्मयात्रा ॥७॥

उस समय बालक और बालिका युगल ही उत्पन्न होते थे और वे ही परस्पर स्त्री-पुरुष बनकर दाम्पत्य जीवन व्यतीत करते थे । कल्पवृक्षों से उनको जीवन-वृत्ति प्राप्त होती थी । उनकी जीवन-यात्रा सदा सानन्द बिना किसी परिश्रम या कष्ट के सम्पन्न होती थी ॥७॥

स्वर्गप्रयाणक्षण एव पुत्र-पुत्र्यौ समुत्पाद्य तकावमुत्र ।
सञ्जग्मतुर्दम्पतितामिहाऽऽरादेतौ पुन सम्व्रजतोऽभ्युदारम् ॥८॥

उस समय के स्त्री-पुरुष स्वर्ग जाने के समय ही पुत्र और पुत्री को उत्पन्न करके परलोक चले जाते थे और ये पुत्र-पुत्री दोनों बड़े होने पर पति-पत्नी बनकर उदार भोगों को भोगते रहते थे ॥८॥

चतुर्गुणास्तत्र तदाद्यसार एवं द्वितीयस्त्रिगुणप्रकारः ।
सत्याख्ययोः स्त्री-धवयोरिवेदं युगं समाप्तिं समगादखेदम् ॥९॥

उक्त प्रकार से इस अवसर्पिणी काल के आदि में युगल जन्म लेने वाले जीवों का चार कोड़ा-कोड़ी सागरोपम का प्रथम काल और तीन कोड़ा-कोड़ी सागरोपम का दूसरा काल था, जो कि सत्य युग के नाम से कहा जाता है । इस समय में उत्पन्न होने वाले स्त्री और पुरुष ईर्ष्या-द्वेष आदि से रहित सदा प्रसन्न चित्त रहते थे और कल्पवृक्षों से प्रदत्त भोगोपभोगों को आनन्द से भोगते थे । समय के परिवर्तन के साथ यह युग समाप्त हुआ ॥९॥

त्रेता पुनः काल उपाजगाम यस्मिन् मनः संकुचितं वदामः ।
निवासिनामपि शनैस्ततस्तु सङ्कोचमुर्वीतनयाख्यवस्तु ॥१०॥

पुनः त्रेतायुग नाम का काल आया, अर्थात् तीसरा काल प्रारम्भ हुआ, जिसमें यहां के रहने वाले लोगों का मन धीरे-धीरे संकुचित होने लगा । इसके फलस्वरूप पृथ्वी के पुत्र कल्पवृक्षों ने भी फल देने में संकोच करना प्रारम्भ कर दिया ॥१०॥

ईर्ष्यामदस्वार्थपदस्य लेशमगादिदानी जनसन्निवेशः ।
नियन्त्रितुं तान् मनवो बभुस्ते धरातलेऽस्मिन् समवाप्त दुस्थे ॥११॥

जब कल्पवृक्षों से फलादिक की प्राप्ति कम होने लगी, तब यहां के निवासी जनों में भी ईर्ष्या, मद, स्वार्थपरायणता आदि दोष जागृत होने लगे, तब उनका नियन्त्रण करने के लिए दुरवस्था को प्राप्त इस धरातल पर क्रम से चौदह मनु उत्पन्न हुए, जिन्हें कि कुलकर भी कहा जाता है ॥११॥

तेष्वन्तिमो नाभिरमुष्य देवी प्रासूत पुत्रं जनतैकसेवी ।
बभूव यस्तेन तदस्य नाम न्यगादि वृद्धैर्ऋषभोऽभिरामः ॥१२॥

उन मनुओं में अन्तिम मनु नाभिराज हुए । इनकी स्त्री मरुदेवी ने एक महान् पुत्र को जन्म दिया, जो कि जनता की अद्वितीय सेवा करने वाला हुआ और जिसे पुराण-पुरुषों ने 'ऋषभ' इस सुन्दर नाम से पुकारा ॥१२॥

वीक्ष्येदृशीमङ्गभृतामवस्थां तेषां महात्माकृतवान् व्यवस्थाम् ।
विभज्य तान् क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-भेदेन मेधा-सरितां समुद्रः ॥१३॥

उस समय के लोगों की ऐसी पारस्परिक कलह-पूर्ण दुखित दीन-दशा को देखकर बुद्धिरूपी सरिताओं के समुद्र उस महात्मा ऋषभ ने उन्हें क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्गों में विभक्त कर उनके जीवन-निर्वाह की समुचित व्यवस्था की ॥१३॥

यस्यानुकम्पा हृदि तूदियाय स शिल्पकल्पं वृषलोत्सवाय ।
निगद्य विड्भ्यः कृषिकर्म चायमिहार्थशास्त्र नृपसंस्तवाय ॥१४॥

लोगों के दुःख देखकर उन ऋषभदेव के हृदय में अनुकम्पा प्रकट हुई जिससे द्रवित होकर उन्होंने सेवा-परायण शूद्र लोगों को नाना प्रकार की शिल्प कलाएं सिखाईं, वैश्यों को पशु पालना, खेती करना सिखाया तथा अर्थशास्त्र की शिक्षा देकर प्रजा के भरण-पोषण का कार्य सौंपा । और क्षत्रियों को नीति शास्त्र की शिक्षा देकर उन्हें प्रजा के संरक्षण का भार सौंपा ॥१४॥

लोकोपकारीणि बहूनि कृत्वा शास्त्राणि कष्टं जगतोऽपहृत्वा ।
योगस्य च क्षेमविधेः प्रमाता विचारमात्रात्समभूद्विधाता ॥१५॥

उन ऋषभदेव ने समय के विचार से लोकोपकारी अनेक शास्त्रों की रचना करके जगत् के कष्टों को दूर किया, उन्हें योग (आवश्यक वस्तुओं को जुटाना) और क्षेम (प्राप्त वस्तुओं का संरक्षण करना) सिखाया । इस प्रकार प्रजा की सर्व प्रकार जीविका और सुरक्षा विधि के विधान करने से वे ऋषभदेव जगत् के विधाता, सृष्टा या ब्रह्मा कहलाये ॥१५॥

यथा सुखं स्यादिह लोकयात्रा प्रादेशि सर्वं विधिना विधात्रा ।
प्रयत्नवानुत्तरलोकहेतु–प्रव्यक्तये सत्त्वहितैकसेतुः ॥१६॥

पुनः प्रवव्राज स लोकधाता शान्तेरबाह्ये विषयेऽनुमाता ।
गतानुगत्या कतिचित्प्रयाताः परेऽपि ये वस्तुतयाऽनुदात्ताः ॥१७॥

इस लोक की जीवन-यात्रा सब लोगों की सुखपूर्वक हो, इसके लिए प्राणि-मात्र के हितैषी उन आदि विधाता ऋषभदेव ने सभी योग्य उपायों का विधिपूर्वक उपदेश दिया । पुनः लोगों को परलोक के उत्तम बनाने के साधनों को प्रकट करने के लिए प्रयत्नशील एवं आन्तरिक शान्ति के अनुसन्धान करने वाले उस लोक-विधाता श्री ऋषभदेव ने प्रवृज्या को अंगीकार किया, अर्थात् सर्व राज्यपाट आदि छोड़कर साधु बन गये । कितने ही अन्य लोग भी उनकी देखा-देखी उनके गतानुगतिक बनकर चले, अर्थात् साधु बन गये, किन्तु वे लोग साधु बनने के वास्तविक रहस्य से अपरिचित थे ॥१६-१७॥

समस्तविद्यैकविभूतिपाताप्यतीन्द्रियज्ञानगुणैकधाता ।
अलौकिकीं वृत्तिमुपाश्रितोऽपि न सम्भवंल्लोकहितैकलोपी ॥१८॥

सर्व विद्याओं के एक मात्र विभूति के धारक, अतीन्द्रिय ज्ञान गुण के अद्वितीय स्वामी और अलौकिक वृत्ति के आचरण करने वाले उन ऋषभदेव ने सर्व लोक के उपकारक अनेक महान् कार्य किये । ऐसा एक भी कार्य नहीं किया, जो कि लोक-हित का लेप करने वाला हो ॥१८॥

क्षुधादिकानां सहनेष्वशक्तान् कर्त्तव्यमूढानमुकस्य भक्तान् ।
त्यक्त्वाऽयनं स्वैरतया प्रयातान् सम्बोधयामास पुनर्विधाता ॥१९॥

भगवान् ऋषभदेव के साथ जो लोग प्रवृजित हुए थे, वे लोग भूख-प्यास आदि के सहन करने में असमर्थ होकर कर्त्तव्य-विमूढ़ हो गये, साधु-मार्ग को छोड़ कर स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने लगे और जिस किसी के भक्त हो गये, अथवा भक्ष्याभक्ष्य का विचार न करके जिस किसी भी वस्तु को खाने लगे। उन लोगों की ऐसी विपरीत दशा को देखकर धर्म के विधाता भगवान् ऋषभदेव ने पुनः सम्बोधित किया और उन्हें धर्म के मार्ग पर लगाया ॥१९॥

हे साधवस्तावदबाधवस्तु-सिद्ध्यै प्रयत्नो भवतां समस्तु ।
द्वैध्यं पुनर्वस्तुनि सत्तया तु जाड्यं विदाढ्यत्वमपि प्रभातु ॥२०॥

ऋषभदेव ने उनसे कहा-हे साधुओ, आप लोग पहले निर्दोष वस्तु-स्वरूप समझने के लिए प्रयत्न करें । सत्ता रूप से जो एक तत्त्व है वह जड़ और चेतन के भेद से दो वस्तु रूप है, इस बात को आप लोग हृदयंगम करें ॥२०॥

तयोस्तु सम्मिश्रणमस्ति यत्र कलङ्कहेमोच्चययोर्विचित्रम् ।
हेमाश्मनीवेदमनादिसिद्धं संसारमाख्याति धिया समिद्धः ॥२१॥

जिस प्रकार सुवर्ण-पाषाण में सुवर्ण और कीट-कालिमादि सम्मिश्रण अनादि-सिद्ध है, कभी किसी ने उन दोनों को मिलाया नहीं है, किन्तु अनादि से दोनों स्वयं ही मिले हुए चले आ रहे हैं । इसी प्रकार जड़ पुद्‌गल और चेतन जीव का विचित्र सम्बन्ध भी अनादि काल से चला आ रहा है और इसे ही बुद्धि से सम्पन्न लोग संसार कहते हैं ॥२१॥

भावार्थ - जीव और पुद्‌गल के सम्बन्ध से ही संसार की यह विचित्रता और विविधता दृष्टिगोचर हो रही है इसे समझने का प्रत्येक बुद्धिमान् को प्रयत्न करना चाहिए ।

सिद्धिस्तु विश्लेषणमेतयोः स्यात् सा साम्प्रतं ध्यातिपदैकपोष्या ।
स्वाध्यायमेतस्य भवेदथाधो यज्जीवनं नाम समस्ति साधोः ॥२२॥

इन परस्पर मिले हुए जीव और पुद्‌गल के विश्लेषण का-भिन्न-भिन्न कर लेने का-नाम ही सिद्धि या मुक्ति है । यह सिद्धि एक मात्र ध्यान (आत्म-स्वरूप चिन्तन) के द्वारा ही सिद्ध की जा सकती है । (अतएव साधु को सदा आत्म-ध्यान करना चाहिए।) जब ध्यान में चित्त न लगे, तब स्वाध्याय करना चाहिए। यही साधु का सत् जीवन है । (इस स्वाध्याय और ध्यान के अतिरिक्त सर्व कार्य हेय हैं, संसार-वृद्धि के कारण हैं) ॥२२॥

सिद्धिः प्रिया यस्य गुणप्रम।तुरुपक्रिया केवलमाविभातु ।
निरीहचित्त्वाक्षजयोऽथवा तु प्राणस्य चायाम उदर्कपातुः ॥२३॥

जिस गुणी पुरुष को सिद्धि प्राप्त करना अभीष्ट हो, उसे चाहिए कि वह सांसारिक वस्तुओं की चाह छोड़ कर अपने चित्त को निरीह (निस्पृह) बनावे, अपनी इन्द्रियों को जीते और प्राणायाम करे, तभी उसका भविष्य सुन्दर बन सकता है । ये ही कार्य सिद्धि प्राप्त करने के लिए एक मात्र उपकारी हैं ॥२३॥

शरीरहानिर्भवतीति भूयात्साधोर्न चैतद्विषयास्त्यसूया ।
पुनर्न संयोगमतोऽप्युपेयादेषामृतोक्तिः स्फुटमस्य पेया ॥२४॥

आत्म-साधना करते हुए यदि शरीर की हानि होती है, तो भले ही हो जाय, किन्तु साधु के शरीर-हानि होते हुए भी द्वेष, खेद या असूया भाव नहीं प्रकट होना चाहिए। साधु का तो आत्म-साधना करतेहुए यही भाव रहना चाहिए कि इस जड़ शरीर का मेरे पुनः संयोग न होवे । यही अमृतोक्ति (अमर बनाने वाले वचन) साधु को निरन्तर पान करते रहना चाहिए ॥२४॥

लुप्तं समन्वेषयितुं प्रदावदस्मै मुनेर्नीतिरधीतिनावः ।
जग्धिर्निजोद्देशसमर्थनायाऽनुद्दिष्टरूपेण समर्पिता या ॥२५॥

चिर काल से विलुप्त या मुषित आत्म-धन का अन्वेषण करने के लिए साधु अपने शरीर को भोजन देता है । भोजन-प्राप्ति के लिए वह अपने उद्देश्य का समर्थन करने वाली अनुदिृष्ट एवं भक्ति-पूर्वक दाता के द्वारा समर्पित भिक्षा को अंगीकार करता है ॥२५॥

भावार्थ - जैसे कोई धनी पुरुष अपनी खोई हुई वस्तु को ढूंढने के लिए रखे हुए नौकर को वेतन या मजदूर को मजदूरी देता है, इसी प्रकार साधु भी अपने अनादिकाल से विस्मृत या कर्म रूप चोरो से अपहृत आत्म-धन को ढूंढ़ने या प्राप्त करने के लिये शरीर रूप नौकर को भिक्षा रूपी वेतन देकर सदा उसके द्वारा अपने अभीष्ट साधन में लगा रहता है । साधु शरीर की स्थिति के लिए जो भिक्षा लेते हैं वह उनके निमित्त न बनाई गई हो, निर्दोष हो, निर्विकार और सात्त्विक हो, उसे ही अल्प मात्रा में गृहस्थ के द्वारा भक्ति-पूर्वक एक बार दिये जाने पर दिन में एक बार ही ग्रहण करते हैं । यदि भोजन करते हुए किसी प्रकार का दोष उसमें दिखे, या अन्तराय आ जावे, तो वे उसका भी त्याग कर उस दिन फिर दुबारा आहार नहीं लेते हैं । पानी भी वे भोजन के समय ही पीते हैं, उसके पश्चात नहीं अर्थात् भोजन व जल-पान एक बार एक साथ ही लेते हैं । रात्रि में तो वे गमन, संभाषण तक के त्यागी होते हैं, तो आहार की तो कथा ही दूर है । इस श्लोक के द्वारा एषणा समिति का प्रतिपादन किया गया है, जिसका कि पालन साधु का परम कर्त्तव्य है ।

सूर्योदये सम्विचरेत् पुरोदृक् शकुन्तवन्नैकतलोपभोक्ता ।
हितं यथा स्यादितरस्य जन्तोस्तथा सदुक्तेः प्रभवन् प्रयोक्ता ॥२६॥

साधु को सूर्य के उदय हो जाने और प्रकाश के भली-भांति फैल जाने पर ही सामने भूमि को देखते हुए विचरना चाहिए । पक्षी के समान साधु भी सदा विचरता ही रहे, किसी एक स्थान का उपभोक्ता न बने । और दूसरे जीव का हित जैसे संभव हो, वैसी सद्उक्ति वाली हित मित भाषा का प्रयोग करे ॥२६॥

भावार्थ - साधु को आगम की आज्ञा के अनुसार वर्षा ऋतु के सिवाय ग्राम में एक दिन और नगर में तीन या पांच दिन से अधिक नहीं ठहरना चाहिए । वर्षा ऋतु में चार मास किसी एक ऐसे स्थान पर रहना चाहिए, जो कि कीचड़-कांदे से रहित हो, जहां बरसाती जीवों की उत्पत्ति कम हो और नीहार आदि के लिए हरियाली से रहित बंजर भूमि सुलभ हो । साधु को किसी के पूछने पर

ही हित मित प्रिय वचन बोलना चाहिए, बिना पूछे और अनावश्यक या अनवसर तो बोलना ही नहीं चाहिए । इस श्लोक के पूर्वार्ध द्वारा ईर्यासमिति और उत्तरार्ध के द्वारा भाषासमिति का प्रतिपादन किया गया है ।

मनोवच:कायविनिग्रहो हि स्यात्सर्वतोऽमुष्य यतोऽस्त्यमोही ।
तेषां प्रयोगस्तु परोपकारे स चापवादो मदमत्सरारे: ।।२७।।

यत: साधु मोह-रहित होता है और अपने मद-मत्सर आदि भावों पर विजय पाना चाहता है, अत: उसे अपने मन, वचन और काय की संकल्प-विकल्प एवं संभाषण और गमनादि रूप सभी प्रकार की क्रियाओं का विनिग्रह करना चाहिए । यही साधु का प्रधान कर्त्तव्य है । यदि कदाचित् संभाषण या गमनादि करना पड़े, तो उनका उपयोग परोपकार में ही होना चाहिए । किन्तु यह उसका अपवाद मार्ग है । उत्सर्ग मार्ग तो साधु का यही है कि वह मौन-पूर्वक आत्म-साधना करे और अपने अन्तरंग में अवस्थित मद, मत्सर, राग, द्वेषादि विकारों को निकालने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहे ।।२७।।

भावार्थ - इस श्लोक द्वारा साधु को मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति रखने का विधान किया गया है । यही उसका प्रधान कार्य है । किन्तु निरन्तर मन-वचन-काय को गुप्त रखना संभव नहीं है, अत: प्रयोजनवश मन, वचन, काय की क्रिया कर सकता है, किन्तु वह भी अत्यन्त सावधानी-पूर्वक। इसी सावधान प्रवृत्ति का नाम ही समिति है ।

कस्यापि नापत्तिकरं यथा स्यात्तथा मलोत्सर्गकरो महात्मा ।
संशोध्य तिष्ठेद्‌द्रु वमात्मनीनं देहं च सम्पिच्छिकया यतात्मा ।।२८।।

साधु महात्मा को चाहिए कि वह ऐसे निर्जन्तु और एकान्त स्थान पर मल-मूत्रादि का उत्सर्ग करे, जहां पर कि किसी भी जीव को किसी भी प्रकार की आपत्ति न हो । वह संयतात्मा साधु भूमि पर या जहां कहीं भी बैठे, उस स्थान को और अपने देह को पिच्छिका से भली भांति संशोधन और परिमार्जन करके ही बैठे और सावधानी-पूर्वक ही किसी वस्तु को उठावे या रखे ।।२८।।

भावार्थ - इस श्लोक के पूर्वार्ध-द्वारा व्युत्सर्ग समिति का और उत्तरार्ध-द्वारा आदान-निक्षेपण समिति का निरूपण किया गया है ।

नि:सङ्गतां वात इवाभ्युपेयात् स्त्रियास्तु वार्तापि सदैव हेया ।
शरीरमात्मीयमवैति भारमन्यत्किमङ्गी कुरुतादुदार: ।।२९।।

साधु को चाहिए कि वह नि:सगता (अपिरग्रहता) को वायु के समान स्वीकार करे अर्थात् वायु के समान सदा नि:संग होकर विचरे । स्त्रियों की तो बात भी सदा त्याज्य है, स्वप्न में भी उनकी याद न करे । जो उदार साधु अपने शरीर को भी भार-भूत मानता है, वह दूसरी वस्तु को क्यों अंगीकार करेगा ।।२९।।

एकं विहायोद्वहतोऽन्यदङ्गं गतस्य जीवस्य जडप्रसङ्गम् ।
भवाम्बुधेरुत्तरणाय नौका तनुर्नरोक्तैव समस्ति मौका ॥३०॥

यह प्राणी जड़ कर्मों के प्रसंग को पाकर चिरकाल से एक शरीर को छोड़कर अन्य शरीर को धारण करता हुआ चला आ रहा है । इसके लिए इस मानव-देह का पाना एक बढ़िया मौका है अर्थात् अपूर्व अवसर है और यह मनुष्य भव संसार-समुद्र से पार होने के लिए नौका के समान है ॥३०॥

ततो नृजन्मन्युचितं समस्ति यत्प्राणिमात्राय यशःप्रशस्ति ।
श्रव्यं पुनर्निर्वहणीयमेतद्ददामि युक्तावगमश्रियेऽतः ॥३१॥

इसलिए इस नर-भव में प्राणिमात्र के लिए जो उचित और यशस्कर प्रशस्त कर्त्तव्य है, उसे मैं उपयुक्त और हितकर शब्दों से वर्णन करता हूँ, उसे सुनना चाहिये, सुनकर धारण करना चाहिए और धारण कर भली भांति निभाना चाहिए ॥३१॥

कौमारमत्राधिगमय्य कालं विद्यानुयोगेन गुरोरथालम् ।
मिथोऽनुभावात्सहयोगिनीया गृहस्थता स्यादुपयोगिनी या ॥३२॥

कुमार-काल में गुरु के समीप रहकर विद्या के उपार्जन में काल व्यतीत करे । विद्याभ्यास करके पुनः युवावस्था में योग्य सहयोगिनी के साथ विवाह करके परस्पर प्रेम-पूर्वक रहते हुए (तथा न्याय पूर्वक आजीविकोपार्जन करते हुए) उपयोगिनी गृहस्थ-अवस्था को बितावे ॥३२॥

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु तदर्तितोदम् ।
साम्यं विरोधिष्वधिगम्य जीयात् प्रसादयन् बुद्धिमहोनिजीयाम् ॥३३॥

गृहस्थ अवस्था में रहते हुए प्राणिमात्र पर मैत्री भाव रखे, गुणी जनों पर प्रमोद भाव और दुखी जीवों पर उनके दुःख दूर करने का करुणाभाव रखे । विरोधी जनों पर समता भाव को प्राप्त होकर और अपनी बुद्धि को सदा प्रसन्न (निर्मल) रखकर जीवन-यापन करे ॥३३॥

समीक्ष्य नानाप्रकृतीन्मनुष्यान् कदर्थिभावः कमथाप्यनुस्यात् ।
सम्भावयन्नित्यनुकूलचेता नटायतामङ्गिषु यः प्रचेताः ॥३४॥

संसार में नाना प्रकृति वाले मनुष्यों को देखकर अपने हृदय में खोटा भाव कभी न आने देवे, किन्तु उनके अनुकूल चित्त होकर उनका समादर करते हुए सावधानी के साथ बुद्धिमान् मनुष्य को सब प्राणियों पर यथा योग्य स्नेह मय व्यवहार करना चाहिए, रूखा या आदर-रहित व्यवहार तो किसी भी मनुष्य के साथ न करे ॥३४॥

सम्बुद्धिमन्वेति पराङ्गनासु स्वर्णे तथान्यस्य तृणत्वमाशु ।
धृत्वाऽखिलेभ्यो मृदुवाक् समस्तु सूक्तामृतेनानुगतात्मवस्तु ॥३५॥

पर स्त्रियों में माता की सद्‌बुद्धि रखे अर्थात् उनमें यथा योग्य माता, बहिन और पुत्री जैसा भाव रखकर अपने हृदय को शुद्ध बनावे, पराये सुवर्ण में धनादिक में तृण जैसी बुद्धि रखे, वृद्ध जनों के आदेश और उपदेश को आदर से स्वीकार करे, सबके साथ मृदु वाणी बोलकर वचनामृत से सब को तृप्त करे, उन्हें अपने अनुकूल बनावे और उनके अनुकूल आचरण कर अपने व्यवहार को उत्तम रखे ॥३५॥

कुर्यान्मनो यन्महनीयमञ्चे नमद्यशः संस्तवनं समञ्चेत् ।
दृष्ट्वा पलाशस्य किलाफलत्वं को नाम वाञ्छेच्च निशाचरत्वम् ॥३६॥

हे भव्यों, यदि तुम संसार में पूजनीय बनना चाहते हो, तो मन को सदा कोमल रखो, सब के साथ भद्रता और नम्रता का व्यवहार करो, मद्य आदिक मादक वस्तुओं का सेवन कभी भी न करो। पलाश (ढाक वृक्ष) की अफलता को देखकर पल अर्थात् मांस का अशन (भक्षण) कभी मत करो और रात्रि में भोजन करके कौन भला आदमी निशाचर बनना चाहेगा ? अर्थात् कोई भी नहीं ॥३६॥

भावार्थ - पलाश अर्थात् टेसू या ढाक के फूल लाल रंग के बहुत सुन्दर होते हैं, पर न तो उनमें सुगन्ध होती है और न उस वृक्ष में फल ही लगते हैं उस वृक्ष का होना निष्फल ही है । इसी प्रकार जो पल (मांस) का भक्षण करते हैं, उनका वर्तमान जीवन तो निष्फल है ही प्रत्युत भविष्य जीवन दुष्फलों को देने वाला हो जाता है, अतएवं मांस-भक्षण का विचार भी स्वप्न में नहीं करना चाहिए। रात्रि में खाने वालों को निशाचर कहते हैं और 'निशाचर' यह नाम राक्षसों तथा उल्लू आदि रात्रि-संचारी पक्षियों का है । उन्हें लक्ष्य में रखकर कहा गया है कि कौन आत्म-हितैषी मनुष्य रात्रि में खाकर निशाचर बनना चाहेगा, या निशाचर कहलाना पसन्द करेगा? अतएव रात्रि में कभी भी खान-पान नहीं करना चाहिए।

वहावशिष्टं समयं न कार्यं मनुष्यतामञ्च कुलन्तु नार्य !
नार्थस्य दासो यशसश्च भूयाद् धृत्वा त्वघे नान्यजनेऽभ्यसूयाम् ॥३७॥

हे आर्य, सदा सांसारिक कार्यों के करने में ही मत लगे रहो, कुछ समय को भी बचाओ और उस समय धर्म-कार्य करो । मनुष्यता को प्राप्त करो, उसकी कीमत करो, जाति और कुल का मद मत करो । सदा अर्थ (धन या स्वार्थ) के दास मत बने रहो, किन्तु लोकोपकारी यश के भी कुछ काम करो । अन्य मनुष्यों पर ईर्ष्या, द्वेष आदि धारण कर पाप से अपने आपको लिप्त मत करो । ।३७॥

मनोऽधिकुर्यान्न तु बाह्यवर्गमन्यस्य दोषे स्विदवाग्विसर्गः ।
मुञ्चेदहन्तां परतां समञ्चेत्कृतज्ञतायां-महती-प्रपञ्चे ॥३८॥

सांसारिक बाह्य वस्तुओं पर अधिकार पाने के लिए मन को अपने अधिकार में रखो । (भाग्योदय से सहज में जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसमें सन्तोष धारण करो ।) दूसरे के दोषों को मत कहो, यदि कहने का अवसर भी आवे, तो भी मौन धारण करो । अहम्भाव को छोड़ो । इस छल-छिद्रों और प्रवंचनाओं से भरे महा प्रपंचमय संसार में कृतज्ञता प्रकट करो, कृतघ्नी मत बनो ॥३८॥

श्रुतं विगाल्याम्बु इवाधिकुर्यादेतादृशी गेहभृतोऽस्तु चर्या ।
तदा पुनः स्वर्गल एव गेहः क्रमोऽपि भूयादिति नान्यथेह ॥३९॥

सुनी हुई बात को जल के समान छान कर स्वीकार करे, सहसा किसी सुनी बात का भरोसा न करे, किन्तु खूब छान बीनकर उचित-अनुचित का निर्णय करे । इस उपर्युक्त प्रकार की चर्या गृहस्थ की होनी चाहिए । यदि वह ऊपर बतलाई गई विधि के अनुसार आचरण करता है, तो वह यहां पर भी स्वर्गीय जीवन बिताता है और अगले जन्म में तो अवश्य ही स्वर्ग का भागी होगा । अन्यथा इससे विपरीत आचरण करने वाला गृहस्थ यहां भी नारकीय या पशु-तुल्य जीवन बिताता है और अगले जन्म में भी वह नरक या पशु गति का भागी होगा ॥३९॥

एवं समुल्लासितलोकयात्रः संन्यस्ततामन्त इयादथात्र ।
समुज्झिताशेषपरिच्छदोऽपि अमुत्र सिद्ध्यै दुरितैकलोपी ॥४०॥

इस प्रकार भली भांति इस लोक-यात्रा का निर्वाह कर, अन्त समय में परलोक की सिद्धि के लिए सर्व परिजन और परिग्रहादि को छोड़कर, तथा पांचों पापों का सर्वथा त्याग कर सन्यास दशा को स्वीकार करे अर्थात् साधु बनकर समाधि पूर्वक अपने प्राणों का विसर्जन करे ॥४०॥

निगोपयेन्मानसमात्मनीनं श्रीध्यानवप्रे सुतरामदीनम् ।
इत्येष भूयादमरो विपश्चिन्न स्यात्पुनर्मारयिताऽस्य कश्चित् ॥४१॥

संन्यास दशा में साधक का कर्त्तव्य है कि वह अपने मन को दृढ़ता-पूर्वक श्री वीतराग प्रभु के ध्यान रूप कोट में सुरक्षित रखे और सर्व संकल्प-विकल्पों का त्याग करे । ऐसा करने वाला साधक विद्वान् नियम से अजर-अमर बन जायगा, फिर इसे संसार में मारने वाला कोई भी नहीं रहेगा ॥४१॥

सम्बोधयामास स चेति शिष्यान् सन्मार्गगामीति नरो यदि स्यात् ।
तदोन्नतेरुच्चपदं प्रगच्छेदुन्मार्गगामी निपतेदनच्छे ॥४२॥

इस प्रकार श्री ऋषभदेव ने अपने शिष्यों को समझाया और कहा कि जो मनुष्य सन्मार्गगामी बनेगा, वह उन्नति के उच्च पद को अवश्य प्राप्त होगा । किन्तु जो इसके विपरीत आचरण कर उन्मार्ग गामी बनेगा, वह संसार के दुरन्त गर्त में गिरेगा और दुःख भोगेगा ॥४२॥

एवं पुरुर्मानवधर्ममाह यत्रापि तैः संकलितोऽवगाहः ।
त्रेतेतिरूपेण विनिर्जगाम कालः पुनर्द्वापर आजगाम ।।४३।।

इस प्रकार भगवान् ऋषभ ने तात्कालिक लोगों को मानव-धर्म का उपदेश दिया, जिसे कि यहां पर संक्षेप से संकलित किया गया है । भगवान् के उपदेश को उस समय के लोगों ने बड़े आदर के साथ अपनाया । इस प्रकार त्रेता युग अर्थात् तीसरा काल समाप्त हुआ और द्वापर नाम का चौथा काल आ गया ।।४३।।

त्रेता बभूव द्विगुणोऽप्ययन्तु कालो मनागूनगुणैकतन्तुः ।
यस्मिन् शलाकाः पुरुषाः प्रभूया बभुश्च दुर्मार्गकृताभ्यसूयाः ।।४४।।

त्रेता युग दो कोड़ा-कोड़ी सागरोपम काल प्रमाण वाला था । यह द्वापर युग कुछ कम अर्थात् चौरासी हजार वर्ष कम एक कोड़ा-कोड़ी सागरोपम काल का था । इस द्वापर युग में तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि शलाका नाम से प्रसिद्ध महापुरुष हुए, जो कि संसार में फैलने वाले दुर्मार्ग के विनाशक एवं सन्मार्ग के प्रचारक थे ।।४४।।

पुरूदितं नाम पुनः प्रसाद्यामुष्मिंस्तु धर्माधिभुवोऽजिताद्याः ।
प्रजादुरीहाधिकृतान्यभावं निवारयन्तः प्रबभुर्यथावत् ।।४५।।

इस द्वापर युग में अजितनाथ आदिक तेईस तीर्थङ्कर और भी हुए, जिन्होंने गुरुदेव भगवान् ऋषभ के द्वारा प्रतिपादित धर्म का ही पुनः प्रचार और प्रसार करके प्रजा की दुर्वृत्तियों को दूर करते हुए सन्मार्ग का संरक्षण किया है ।।४५।।

तत्रादिमश्चक्रिषु पौरवस्तुक् शताग्रगण्यो भरतः समस्तु ।
दार्ढ्येन धर्मामृतमाबुभुत्सूनाहूय तांस्तत्र परं युयुत्सुः ।।४६।।

सम्मानयामास स यज्ञसूत्र-चिह्नेन भद्रं ब्रजताममुत्र ।
कर्मेदमासीन्न पुरोरबाह्यः प्रमादतश्चक्रभृताऽवगाह्यं ।।४७।।

उन शलाका पुरुषों में के चक्रवर्तियों में प्रथम चक्रवर्ती भरत हुए, जो कि ऋषभदेव के सौ पुत्रों में सब से बड़े थे । उन्होंने अपनी प्रजा में से धर्मामृत पान करने के इच्छुक एवं परलोक सुधारने की चिन्ता रखने वाले लोगों को बुला कर यज्ञोपवीत रूप सूत्र-चिह्न देकर उनका सन्मान किया और उन्हें 'ब्राह्मण' नाम से प्रसिद्ध किया । यद्यपि यह कार्य भगवान् ऋषभदेव की दृष्टि से बाह्य था, अर्थात् ठीक न था । किन्तु भरत चक्री ने प्रमाद से यह कार्य कर लिया ।।४६-४७।।

यतस्त आशीतलतीर्थमापुरौचित्यमस्मात् पुनरुन्मनस्ताम् ।
आसाद्य जातीयकतां व्रजन्तः प्रथामुरीचक्रु रिहाप्यशस्ताम् ।।४८।।

भरत चक्रवर्ती ने जिन ब्राह्मणों का एक धार्मिक वर्ग प्रस्थापित किया था, वह दशवें तीर्थङ्कर शीतलनाथ के समय तक तो अपने धार्मिक कर्त्तव्य का यथोचित रीति से पालन करता रहा । पुनः इसके पश्चात धर्म-विमुख होकर जातीयता को प्राप्त होते हुए उन्होंने इस भारतवर्ष में अप्रशस्त प्रथाओं को स्वीकार किया और मन-माने क्रियाकाण्ड का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया ॥४८॥

धर्माधिकर्तृत्वममी दधाना बाह्यं क्रियाकाण्डमिताः स्वमानात् ।
गुरोरमीष्वेकतरादधीत-विदोर्विवादः समभूद्धवीतः ॥४९॥

धीरे-धीरे जातीयता के अभिमान से इन ब्राह्मणों ने अपने आपको धर्म का अधिकारी घोषित कर दिया और बाहिरी क्रिया काण्ड को ही धर्म बता कर उसके करने-कराने में ही लग गये । बीसवें तीर्थङ्कर मुनि सुव्रतनाथ के समय में जाकर उनमें एक ही गुरु से पढ़े हुए दो ब्राह्मण विद्वानों में एक वाक्य के अर्थ पर विवाद खड़ा हो गया ॥४९॥

समस्ति यष्टव्यमजैरमुष्य छागैरियत्पर्वत आह दूष्यम् ।
पुराणधान्यैरिति नारदस्तु तयोरभूत्सङ्गरसाध्यवस्तु ॥५०॥

दोनों विद्वानों में से एक का नाम था पर्वत और दूसरे का नाम था नारद । विवाद का विषय था 'अजैर्यष्टव्यम्' (अजों से यज्ञ करना चाहिए) । पर्वत 'अज' पद का अर्थ छाग (बकरा) करता था और नारद कहता था कि उस पद का अर्थ उगने या उत्पन्न होने के अयोग्य पुराना धान्य है । जब आपस में विवाद न सुलझा, तब उसे सुलझाने के लिए उन्होंने आपस में प्रतिज्ञा-बद्ध होकर अपने सहाध्यायी तीसरे गुरु भाई वसु राजा को निर्णायक न्यायाधीश नियुक्त किया ॥५०॥

न्यायाधिपः प्राह च पार्वतीयं वचो वसुर्वाग्विवशो महीयम् ।
भिन्नाऽगिरत्सम्भवती तमाराद् यतोऽधुनाऽभूज्जनता द्विधारा ॥५१॥

(पर्वत की मां ने पहिले ही जाकर वसु राजा को अपने पुत्र के पक्ष में मत देने के लिए वचन-बद्ध कर लिया, अतः मतदान के समय) वचन-बद्ध होने से विवश न्यायधीश वसु राजा ने कहा कि पर्वत का वचन सत्य है । उसके ऐसा कहते ही अर्थात् असत्य पक्ष का समर्थन करने पर तुरन्त पृथ्वी फटी और वह राज्य-सिंहासन के साथ ही उसमें धस गया । उसी समय उपस्थित जनता दो धाराओं में विभक्त हो गई । जो तत्त्व के रहस्य को नहीं जानते थे, वे पर्वत के पक्ष में हो गये और जो तत्त्वज्ञ थे, वे नारद के पक्ष में हो गये ॥५१॥

यथा दुरन्तोच्चयमभ्युपेता जलस्त्रु तिर्नूनमशक्तरेताः ।
इत्यत्र सम्पादितसम्पदा वाऽनुमातुमर्हन्ति महानुभावाः ॥५२॥

जैसे बीच में किसी बड़े पर्वत के आ जाने पर जल का प्रवाह उसे न हटा सकने के कारण दो भागों में विभक्त होकर बहने लगता है, उसी प्रकार उस वसु राजा के असत्य पक्ष का समर्थन करने से धार्मिक जनता के भी दो भाग हो गये । ऐसा महापुरुष कहते हैं ॥५२॥

निवार्यमाणा अपि गीतवन्तः सत्यान्वितैरागमिभिर्हृदन्तः ।
वाक्यावलीर्घोरगुणोदरीर्यास्ते ये पुनः पर्वतपक्षकीयाः ।।५३।।

जो लोग आगम के जानकार और सत्य पक्ष से युक्त थे, जिनके हृदय में सत्य मार्ग से प्रेम था, उनके द्वारा पर्वत के पक्ष का निवारण किये जाने पर भी पर्वत के पक्ष वाले लोगों ने हिंसा के समर्थक गीतों की रचना करके उन्हें गाना प्रारम्भ कर दिया और तभी से यज्ञों में हिंसा करने और पशु होमने की प्रथा का प्रचलन प्रारम्भ हो गया ।।५३।।

व्यासर्षिणाथो भविता पुनस्ताः प्रयत्नतः सङ्कलिताः समस्ताः ।
यथोचितं पल्लविताश्च तेन सङ्कल्पने बुद्धिविशारदेन ।।५४।।

इसके पश्चात् पांडवों के दादा व्यास ऋषि ने, जो कि नवीन कल्पना की रचना में बुद्धि-विशारद थे,-अति चतुर थे-परम्परागत उन सब गीतों का बड़े प्रयत्न से संकलन किया, उन्हें यथोचित पल्लवित किया और उनको एक नया ही रूप दे दिया ।।५४।।

तत्सम्प्रदायश्रयिणो नरा ये जाताः स्विदद्यावधि सम्पराये ।
सर्वेऽपि हिंसापरमर्थमापुर्यतोऽभितस्त्रस्तिमिताऽखिला पूः ।।५५।।

उस सम्प्रदाय का आश्रय करने वाले आज तक जितने भी विद्वान् हुए हैं, वे सभी उन मन्त्रों का हिंसा-परक अर्थ करते हुए चले आये, जिससे कि सकल प्रजा अत्यन्त त्रास को प्राप्त हुई ।।५५।।

वाढ़ क्षणे चोपनिषत्समर्थेऽभूत्तर्कणा यद्यपि तावदर्थे ।
तथाप्यहिंसामयवाचनाया नासीत्प्रसिद्धिः स्फुटरूपकायाः ।।५६।।

यद्यपि उपनिषत्काल में उनके रचयिता आचार्यो के द्वारा हिंसापरक मंत्रों के अर्थ के विषय में तर्क-वितर्क हुआ और उन्होंने उन मन्त्रों का अहिंसा-परक अर्थ किया । तथापि उस अहिंसामयी स्पष्ट अर्थ करने वाली वाचना की जैसी चाहिए-प्रसिद्धि नहीं हो सकी और लोग हिंसा-परक अर्थ भी करते रहे ।।५६।।

स्वामी दयानन्दरवस्तदीयमर्थं त्वहिंसापरकं श्रमी यः ।
कृत्वाद्य शस्तं प्रचकार कार्यं हिंसामुपेक्ष्यैव चरेत्किलार्यः ।।५७।।

हां, अभी जो स्वामी दयानन्द सरस्वती हुए, जो कि अध्ययनशील परिश्रमी सज्जन थे, उन्होंने उन्हीं मन्त्रों का अहिंसा-परक अर्थ करके बतला दिया कि हिंसा करना अप्रशस्त कार्य है । अतः आर्यजन हिंसा की उपेक्षा करके अहिंसक धर्माचरण करें। उन्होंने यह बहुत प्रशस्त कार्य किया, जो कि धर्मात्मा-जनों के द्वारा सदा प्रशंसनीय रहेगा ।।५७।।

स्वप्नेऽपि यस्य न करोति नरो विचारं सम्पद्यते समयमेत्य तदप्ययथाऽरम् ।
कुर्यात्प्रयत्नमनिशं मनुजस्तथापि न स्यात्फलं यदि पलप्रतिकूलताऽऽपि ॥५८॥

मनुष्य स्वप्न में भी जिस बात का विचार नहीं करता है, समय पाकर वही बात आसानी से सम्पन्न हो जाती है । यदि समय प्रतिकूल है, तो मनुष्य निरन्तर प्रयत्न करे, तो भी उसे अभीष्ट फल की प्राप्ति नहीं होती है ॥५८॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
तस्यानन्दपदाधिकारिणि शुभे वीरोदयेऽयं क्रम
प्राप्तोऽत्येतितमामिहाष्टविधुमान् सर्गोऽधुना सत्तमः ॥१८॥

इस प्रकार श्रीमान सेठ चतुर्भुजजी और घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए वाणी भूषण, बाल ब्रह्मचारी पं. भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर द्वारा विरचित इस वीरोदय काव्य में सत्ययुगादि तीनों युगों का वर्णन करने वाला यह अठारहवां सर्ग समाप्त हुआ ॥१८॥

❖ ❖ ❖

अथैकोनविंशः सर्गः

श्रीवीरदेवेन तमामवादि सत्सम्मतोऽयं नियमोऽस्त्यनादिः ।
अर्थक्रियाकारितयाऽस्तु वस्तु नोचेत्पुनः कस्य कुतः स्तवस्तु ॥१॥

श्री महावीर भगवान् ने बतलाया कि प्रत्येक पदार्थ सत्स्वरूप है । वस्तु-स्वभाव का यह नियम अनादि है और जो भी वस्तु है, वह अर्थक्रियाकारी है, अर्थात् कुछ न कुछ क्रियाविशेष को करती है । यदि अर्थक्रियाकारिता वस्तु का स्वरूप न माना जाय, तो कोई उसे मानेगा ही क्यों ? और क्यों किसी वस्तु की सत्ता को स्वीकार किया जायगा ॥१॥

प्राग्-रूपमुज्झित्य समेत्यपूर्वमेकं हि वस्तूत विदो विदुर्वः ।
हे सज्जना स्तत्त्रयमेककालमतो विरूपं वदतीति बालः ॥२॥

प्रत्येक वस्तु प्रति समय अपने पूर्व रूप (अवस्था) को छोड़कर अपूर्व (नवीन) रूप को धारण करती है फिर भी वह अपने मूल स्वरूप को नहीं छोड़ती है, ऐसा ज्ञानी जनों ने कहा है, सो हे सज्जनो, आप लोग भी वस्तु की वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक त्रिरूपता एक एक काल में ही अनुभव कर रहे हैं । जो वस्तु-स्वरूप से अनभिज्ञ हैं, ऐसे बाल (मूर्ख) जन ही इससे विपरीत स्वरूप वाली वस्तु को कहते हैं ॥२॥

भावार्थ - जो केवल उत्पाद या व्यय या ध्रौव्यरूप ही वस्तु को मानते हैं, वे वस्तु के यथार्थ स्वरूप को न जानने के कारण अज्ञानी ही हैं ।

प्रवर्धते चेत्पयसाऽऽमशक्तिस्तद्धायनये किन्तु दधिप्रयुक्तिः ।
द्वये पुनर्गोरसता तु भाति त्रयात्मिकाऽतः खलु वस्तुजातिः ॥३॥

देखो-दूध के सेवन करने से आमशक्ति बढ़ती है और उसी दूध से बने दही का प्रयोग आम को नष्ट करता है । किन्तु उस दूध दही दोनों में ही गोरसपना पाया जाता है, अतः समस्त वस्तु-जाति उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप त्रयात्मक है, यह बात सिद्ध होती है ॥३॥

नरस्य दृष्टौ विडभक्ष्यवस्तु किरेस्तदेतद्वरभक्ष्यमस्तु ।
एकत्र तस्मात्सदसत्प्रतिष्ठामङ्गीकरोत्येव जनस्य निष्ठा ॥४॥

मनुष्य की दृष्टि में विष्टा अभक्ष्य वस्तु है, किन्तु सूकर के तो वह परम भक्ष्य वस्तु है । इसलिए एक ही वस्तु में सत् और असत् की प्रतिष्ठा को ज्ञानी जन की श्रद्धा अङ्गीकार करती ही है ॥४॥

रेखैकिका नैव लघुर्न गुर्वी लघ्व्याः परस्या भवति स्विदुर्वी ।
गुर्वी समीक्ष्याथ लघुस्तृतीयां वस्तुस्वभावः सुतरामितीयान् ॥५॥

कोई एक रेखा (लकीर) न स्वयं छोटी है और न बड़ी है । यदि उसी के पास उससे छोटी रेखा खींच दी जाय, तो वह पहिली रेखा बड़ी कहलाने लगती है, और यदि उसी के दूसरी ओर बड़ी रेखा खींच दी जाय, तो वही छोटी कहलाने लगती है । इस प्रकार वह पहिली रेखा छोटी और बड़ी दोनों रूपों को, अपेक्षा-विशेष से धारण करती है । बस, वस्तु का स्वभाव भी ठीक इसी प्रकार का जानना चाहिए ॥५॥

भावार्थ - इस प्रकार अपेक्षा-विशेष से वस्तु में अस्तित्व और नास्तित्व धर्म सिद्ध होते हैं । प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा अस्ति रूप है और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा नास्ति रूप है ।

सन्ति स्वभावात्परतो न यावास्तस्मादवाग्गोचरकृत्प्रभावाः ।
सहेत्यतस्तत्त्रितयात्प्रयोगाः सप्तात्र विन्दति कलावतो गाः ॥६॥

जैसे यव (जौ) अपने यवरूप स्वभाव से 'है', उस प्रकार गेहूँ आदि के स्वभाव से 'नहीं' है। इस प्रकार यव में अस्तित्व और नास्तित्व ये दो धर्म सिद्ध होते हैं । यदि इन दोनों ही धर्मों को एक साथ कहने की विवक्षा की जाय, तो उनका कहना संभव नहीं है, अतः उस यव में अवक्तव्य रूप तीसरा धर्म भी मानना पड़ता है । इस प्रकार वस्तु में अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य ये तीन धर्म सिद्ध होते हैं। इनके द्विसंयोगी तीन धर्म और त्रिसंयोगी एक धर्म इस प्रकार सब मिला कर सात धर्म सिद्ध हो जाते हैं । ज्ञानी-जन इन्हें ही सप्त भंग नाम से कहते हैं ॥६॥

सप्तप्रकारत्वमुशन्ति भोक्तुः फलानि च त्रीण्यधुनोपयोक्तुम् ।
पृथक्कृतौ व्यस्त-समस्ततातः न्यूनाधिकत्वं न भवत्यथातः ॥७॥

जैसे हरड, बहेड़ा और आंवला, इन तीनों का अलग-अलग स्वाद है । द्विंसयोगी करने पर हरड और आवंले का मिला हुआ एक स्वाद होगा, हरड और वहेड़े का मिला हुआ दूसरा स्वाद होगा और बहेड़े आंवले का मिला हुआ तीसरा स्वाद होगा । तीनों को एक साथ मिला कर खाने पर एक चौथी ही जाति का स्वाद होगा । इस प्रकार मूल रूप हरड, बहेड़ा और आंवला के एक संयोगी तीन भंग, द्विसंयोगी तीन भंग और त्रिसंयोगी एक भंग, ये सब मिल कर सात भंग जैसे हो जाते हैं, उसी प्रकार अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य के भी द्विसंयोगी तीन भंग और त्रिसंयोगी एक भंग, ये सब मिला कर सात भंग हो जाते हैं । ये भंग न इससे कम होते हैं और न अधिक होते हैं ॥७॥

भावार्थ - अस्ति १, नास्ति २, अवक्तव्य ३, अस्ति-नास्ति ४, अस्ति-अवक्तव्य ५, नास्ति-अवक्तव्य ६, और अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य ७ ये सात भंग प्रत्येक वस्तु के यथार्थ स्वरूप का निरुपण करते हैं,

अतः उस अपेक्षा को प्रकट करने के लिए प्रत्येक भंग के पूर्व 'स्यात्' पद का प्रयोग किया जाता है । इसे ही स्याद्वाद रूप सप्तभंगी कहते हैं । इस स्याद्वाद रूप सप्तभंग वाणी के द्वारा ही वस्तु के यथार्थ स्वरूप का कथन संभव है, अन्यथा नहीं ।

अनेकशक्त्यात्मकवस्तु तत्त्वं तदेकया संवदतोऽन्यसत्त्वम् ।
समर्थयत्स्यात्पदमत्र भाति स्याद्वादनामैवमिहोक्तिजातिः ॥८॥

वस्तुतत्त्व अनके शक्त्यात्मक है, अर्थात् अनेक शक्तियों का पुञ्ज है । जब कोई मनुष्य एक शक्ति की अपेक्षा से उसका वर्णन करता है, तब वह अन्य शक्तियों के सत्त्व का अनरु अपेक्षाओं से समर्थन करता ही है । इस अन्य शक्तियों की अपेक्षा को जैन सिद्धांत 'स्यात्' पद से प्रकट करता है । वस्तु तत्त्व के कथन में इस 'स्यात्' अर्थात् कथञ्चित् पद के प्रयोग का नाम ही 'स्याद्वाद' है । इसे ही कथञ्चिद्-वाद या अनेकान्तवाद भी कहते हैं ॥८॥

भावार्थ - प्रत्येक वस्तु में अनेक गुण, धर्म या शक्तियां हैं । उन सब का कथन एक साथ एक शब्द से संभव नहीं है, इसलिए किसी एक गुण या धर्म के कथन करते समय यद्यपि वह मुख्य रूप से विवक्षित होता है, तथापि शेष गुणों या धर्मों की विवक्षा न होने से उनका अभाव नहीं हो जाता, किन्तु उस समय उनकी गौणता रहती है । जैसे गुलाब के फूल में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि अनेक गुण विद्यमान है, तो भी जब कोई मनुष्य यह कहता है कि देखो यह फूल कितना कोमल है, तब उसकी विवक्षा स्पर्श गुण की है । किन्तु फूल की कोमलता को कहते हुए उसके गन्ध आदि गुणों की विवक्षा नहीं है । इस विवक्षा की अपेक्षा से जो कथन होता है, उसे ही स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, अपेक्षावाद आदि नामों से कहा जाता है ।

द्राक्षा गुडः खण्डमथो सिताऽपि माधुर्यमायाति तदेकलापी ।
वैशिष्ट्यमित्यत्र न वक्तु मीशस्तस्मादवक्तव्यकथाश्रयी सः ॥९॥

दाख मिष्ट है, गुड़ मिष्ट है, खांड मिष्ट है और मिश्री मिष्ट है, इस प्रकार इन चारों में ही रहने वाले माधुर्य या मिठास को 'मिष्ट' इस एक ही शब्द से कहा जाता है । किन्तु उक्त चारों ही वस्तुओं में मिष्टता की जो तर-तमभावगत विशिष्टता है, उसे कहने के लिए हमारे पास कोई शब्द नहीं है । (तर और तम शब्द भी साधारण स्थिति को ही प्रकट करते हैं, पर उनमें परस्पर कितनी मिष्टता का अन्तर है, इसे वे भी व्यक्त नहीं कर सकते ।) इसलिए उक्त भाव के अभिव्यक्त करने को 'अवक्तव्य' पद के कथन का ही आश्रय लेना पड़ता है ॥९॥

तुरुष्कताभ्येति कुरानमारादीशायिता वाविलमेकधारा ।
तयोस्तु वेदेऽयमुपैति विप्रः स्याद्वाददृष्टान्त इयान् सुदीप्रः ॥१०॥

तुरुष्क (मुसलमान) 'कुरान' का आदर करता है, किन्तु ईसाई उसे न मानकर 'बाइबिल' को मानता है । इन दोनों का ही 'वेद' में आदर भाव नहीं है । किन्तु ब्राह्मण वेद को ही प्रमाण मानता है,

कुरान और बाइबिल को नहीं । इस प्रकार 'स्याद्वाद' सिद्धान्त उक्त दृष्टान्त से बहुत अच्छी तरह दैदीप्यमान सिद्ध होता है ॥१०॥

भावार्थ - मुसलमान और ईसाई अपने-अपने धर्म ग्रन्थ को ही प्रमाण मानते हैं, इस अपेक्षा एक ग्रन्थ एक के लिए प्रमाण है, तो दूसरे के लिए अप्रमाण है । किन्तु ब्राह्मण दोनों को ही अप्रमाण मानते हैं और वेद को प्रमाण मानते हैं । इस दृष्टान्त में मुसलमान और ईसाई परस्पर विरोधी होते हुए भी वेद को प्रमाण नहीं मानने में दोनों अविरोधी है, अर्थात् एक हैं । इस प्रकार एक की अपेक्षा जो ग्रन्थ प्रमाण है, वही दूसरे की अपेक्षा अप्रमाण है और तीसरे की अपेक्षा दोनों ही अप्रमाण हैं । इस स्थिति को एक मात्र स्याद्वाद सिद्धान्त ही यथार्थतः कहने में समर्थ है, अन्य एकान्तवादी सिद्धान्त नहीं। इसी से स्याद्वाद की प्रामाणिकता सिद्ध होती है ।

गोऽजोष्ट्रका बेरदलं चरन्ति वाम्बूलमुष्ट्रश्छगलोऽप्यनन्तिन् ।
समत्ति मान्दारमजो हि किन्तु तान्येकभावेन जनाः श्रयन्तु ॥११॥

गाय, बकरी और ऊंट ये तीनों ही बेरी के पत्तों को खाते हैं, किन्तु बबूल के पत्तों को ऊंट और बकरी ही खाते हैं, गाय नहीं । मन्दार (आकड़ा) के पत्तों को बकरी ही खाती है, ऊंट और गाय नहीं । किन्तु मनुष्य बेरी, बबूल और आक इन तीनों के ही पत्तों को नहीं खाता है । इसलिए हे अनन्त धर्म के मानने वाले भव्य, जो वस्तु एक के लिए भक्ष्य या उपादेय है, वही दूसरे के लिए अभक्ष्य या हेय हो जाती है । इसे समझना ही स्याद्वाद है, सो सब लोगों को इसका ही एक भाव से आश्रय लेना चाहिए ॥११॥

हंसस्तु शुक्लोऽसृगमुष्य रक्तः पदोरिदानीमसकौ विरक्तः ।
किंरूपतामस्य वदेद्विवेकी भवेत्कथं निर्वचनान्वयेऽकी ॥१२॥

यद्यपि हंस बाहिर से शुल्क वर्ण है, किन्तु भीतर तो उसका रक्त लाल वर्ण का है, तथा उसके पैर श्वेत और लाल दोनों ही वर्णो के होते हैं । ऐसी स्थिति में विवेकी पुरुष उसको किस रूप वाला कहे ? अतएव कथञ्चिद्-वाद के स्वीकार करने पर ही उसके ठीक निर्दोष रूप का वर्णन किया जा सकता है ॥१२॥

घूकाय चान्ध्यं ददेव भास्वान् कोकाय शोकं वितरन् सुधावान् ।
भुवस्तले किन्न पुनर्धियापि अस्तित्वमेकत्र च नास्तितापि ॥१३॥

देखो-इस भूतल पर प्राणियों को प्रकाश देने वाला सूर्य उल्लू को अन्धपना देता है और सब को शान्ति देने वाला चन्द्रमा कोक पक्षी को प्रिया-वियोग का शोक प्रदान करता है ? फिर बुद्धिमान् लोग यह बात सत्य क्यों न मानें कि एक ही वस्तु में किसी अपेक्षा अस्तित्व धर्म भी रहता है और किसी अपेक्षा नास्तित्व धर्म भी रहता है ॥१३॥

पटं किमञ्चेद् घटमासुमुक्तः नोचेत्प्रबन्धः इह प्रयुक्तः ।
घटस्य कार्यं न पटः श्रियेति घटः स एवं न पटत्वमेति ॥१४॥

घड़े को लाने के लिए कहा गया पुरुष क्या कपड़ा लायगा ? नहीं, क्योंकि घड़े का काम कपड़े से नहीं निकल सकता । अर्थात् प्यासे पुरुष की प्यास को घड़ा ही दूर कर सकता है, कपड़ा नहीं । यदि ऐसा न माना जाय, तो फिर इस प्रकार के वाक्य-प्रयोग का क्या अर्थ रहेगा ? कहने का भाव यह है कि घड़े का कार्य कपड़ा नहीं कर सकता । और न घड़ा पट के कार्य कर सकता है । घड़े अपने जल-आहरण आदि कार्य को करेगा और कपड़ा अपने शीत-निवारण आदि कार्य को करेगा ॥१४॥

घटः पदार्थश्च पटः पदार्थः शैत्यान्वितस्यास्ति घटेन नार्थः ।
पिपासुरभ्येति यमात्मशक्त्या स्याद्वादमित्येतु जनोऽति भक्त्या ॥१५॥

घट भी पदार्थ है और पट भी पदार्थ है, किन्तु शीत से पीड़ित पुरुष को घट से कोई प्रयोजन नहीं । इसी प्रकार प्यास से पीड़ित पुरुष घट को चाहता है, पट को नहीं । इससे यह सिद्ध होता है कि पदार्थपना घट और पट में समान होते हुए भी प्रत्येक पुरुष अपने अभीष्ट को ही ग्रहण करताहै, अनभीप्सित पदार्थ को नहीं । इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य को स्याद्वाद सिद्धान्त भक्ति से स्वीकार करना चाहिए ॥१५॥

स्यूतिः पराभूतिरिव ध्रुवत्वं पर्यायतस्तस्य यदेकतत्त्वम् ।
नोत्पद्यते नश्यति नापि वस्तु सत्त्वं सदैतद्विदधत्समस्तु ॥१६॥

जैसे पर्याय की अपेक्षा वस्तु में स्यूति (उत्पत्ति) और पराभूति (विपत्ति या विनाश) पाया जाता है, उसी प्रकार द्रव्य की अपेक्षा ध्रुवपना भी उसका एक तत्त्व है, जो कि उत्पत्ति और विनाश में बराबर अनुस्यूत रहता है । उसकी अपेक्षा वस्तु न उत्पन्न होती है और न विनष्ट होती है । इस प्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रुव इन तीनों रूपों को धारण करने वाली वस्तु को ही यथार्थ मानना चाहिए ॥१६॥

भाष्ये निजीये जिनवाक्यसारम्पतञ्जलिश्चैतदुरीचकार ।
तमांसमीमांसकनामकोऽपि स्ववार्त्तिके भट्टकुमारिलोऽपि ॥१७॥

जिन भगवान् के स्याद्वाद रूप इस सार वाक्य को पतञ्जलि महर्षि ने भी अपने भाष्य में स्वीकार किया है, तथा मीमांसक मत के प्रधान व्याख्याता कुमारिल भट्ट ने भी अपने श्लोक-वार्तिक में इस स्याद्वाद सिद्धान्त को स्थान दिया है ॥१७॥

ध्रुवांशमाख्यान्ति गुणेति नाम्ना पर्येति योऽन्यद्द्वितयोक्तधामा ।
द्रव्यं तदेतद्गुणपर्ययाभ्यां यद्वाऽत्र सामान्यविशेषताऽऽभ्याम् ॥१८॥

ज्ञानी जन वस्तु-गत ध्रुवांश को 'गुण' इस नाम से कहते हैं और अन्य दोनों धर्मों को अर्थात् उत्पाद और व्यय को 'पर्याय' इस नाम से कहते हैं। इस प्रकार गुण और पर्याय से संयुक्त तत्त्व को, अथवा सामान्य और विशेष धर्म से युक्त तत्त्व को 'द्रव्य' इस नाम से कहा जाता है ॥१८॥

सद्भिः परैरातुलितं स्वभावं स्वव्यापिनं नाम दधाति तावत् ।
सा मान्यमूर्ध्वं च तिरश्च गत्वा यदस्ति सर्वं जिनपस्य तत्त्वात् ॥१९॥

जो कोई भी वस्तु है वह आगे पीछे होने वाली अपनी पर्यायों में अपने स्वभाव को व्याप्त करके रहती है, इसी को सन्त लोगों ने ऊर्ध्वता सामान्य कहा है। तथा एक पदार्थ दूसरे पदार्थ के साथ जो समानता रखता है, उसे तिर्यक् सामान्य कहते हैं। इस प्रकार जिनदेव का उपदेश है ॥१९॥

भावार्थ - सामान्य दो प्रकार का है - तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य। विभिन्न पुरुषों में जो पुरुषत्व-सामान्य रहता है, उसे तिर्यक् सामान्य कहते हैं। तथा एक ही पुरुष की बाल, युवा और वृद्ध अवस्था में जो अमुक व्यक्तित्व रहता है, उसे ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं। प्रत्येक वस्तु में यह दोनों प्रकार का सामान्य धर्म पाया जाता है।

अन्यैः समं सम्भवतोऽप्यमुष्य व्यक्तित्वमस्ति स्वयमेव पुष्यत् ।
यथोत्तरं नूतनतां दधान एवं पदार्थः प्रतिभासमानः ॥२०॥

अन्य पदार्थों के साथ समानता रखते हुए भी प्रत्येक पदार्थ अपने व्यक्तित्व को स्वयं ही कायम रखता है, अर्थात् दूसरों से अपनी भिन्नता को प्रकट करता है। यह उसकी व्यतिरेक रूप विशेषता है। तथा वह पदार्थ प्रति समय नवीनता को धारण करता हुआ प्रतिभासमान होता है, यह उसकी पर्यायरूप विशेषता है ॥२०॥

भावार्थ-वस्तु में रहने वाला विशेष धर्म भी दो प्रकार का है-व्यतिरेक रूप और पर्याय रूप। एक पदार्थ में जो असमानता या विलक्षणता पाई जाती है, उसे व्यतिरेक कहते हैं और प्रत्येक द्रव्य प्रति समय जो नवीन रूप को धारण करता है, उसे पर्याय कहते हैं। यह दोनों प्रकार का विशेष धर्म भी प्रत्येक पदार्थ में पाया जाता है।

समस्ति नित्यं पुनरप्यनित्यं यत्प्रत्यभिज्ञाख्यविदा समित्यम् ।
कुतोऽन्यथा स्याद् व्यवहारनाम सूक्तिं पवित्रामिति संश्रयामः ॥२१॥

द्रव्य की अपेक्षा वस्तु नित्य है और पर्याय की अपेक्षा वह अनित्य है। यदि वस्तु को सर्वथा नित्य कूटस्थ माना जाय, तो उसमें अर्थक्रिया नहीं बनती है। और यदि सर्वथा क्षण-भंगुर माना जाय, तो उसमें 'यह वही है' इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता। अतएव वस्तु को कथञ्चित् नित्य और कथञ्चित् अनित्य मानना पड़ता है। अन्यथा लोक-व्यवहार कैसे संभव होगा। इसलिए लोक-व्यवहार के संचालनार्थ हम भगवान् महावीर के पवित्र अनेकान्तवाद का ही आश्रय लेते हैं ॥२१॥

दीपेऽञ्जनं वार्दकुले तु शम्पां गत्वाऽम्बुधौ वाडवमप्यकम्पा ।
मेधा किलास्माकमियं विभाति जीयादनेकान्तपदस्य जातिः ॥२२॥

दीपक में अञ्जन, बादलों में बिजली और समुद्र में बड़वानल को देखकर हमारी बुद्धि निःशङ्क रूप से स्वीकार करती है कि भगवान् का अनेकान्तवाद सदा जयवन्त है ॥२२॥

भावार्थ - दीपक भासुराकार है, तो भी उससे काला काजल उत्पन्न होता है । बादल जलमय होते हैं, फिर भी उनसे अग्निरूप बिजली पैदा होती है । इन परस्पर-विरोधी तत्त्वों को देखने से यही मानना पड़ता है कि प्रत्येक पदार्थ में अनेक धर्म हैं । इसी अनेक धर्मात्मकता का दूसरा नाम अनेकान्त है । इसकी सदा सर्वत्र विजय होती है ।

सेना–वनादीन् गदतो निरापद् दारान् स्त्रियं किञ्च जलं किलापः ।
एकत्र चैकत्वमनेकताऽऽपि किमङ्गभर्तुर्न धियाऽभ्यवापि ॥२३॥

जिसे 'सेना' इस एक नाम से कहते हैं, उसमें अनेक हाथी, घोड़े और पयादे होते हैं । जिसे 'वन' इस एक नाम से कहते हैं, उनमें नाना जाति के वृक्ष पाये जाते हैं । एक स्त्री को 'दारा' इस बहुवचन से, तथा जल को 'आप' इस बहुवचन से कहते हैं । इस प्रकार एक ही वस्तु में एकत्व और अनेकत्व की प्रतीति होती है । फिर हे अङ्ग (वत्स), क्या तुम्हारी बुद्धि इस एकानेकात्मक रूप अनेकान्ततत्त्व को स्वीकार नहीं करेगी । अर्थात् तुम्हें उक्त व्यवहार को देखते हुए अनेकान्ततत्त्व को स्वीकार करना ही चाहिए ॥२३॥

द्रव्यं द्विधैतच्चिदचित्प्रभेदाच्चिदेष जीवः प्रभुरात्मवेदात् ।
प्रत्यङ्गमन्यः स्वकृतैकभोक्ता यथार्थतः स्वस्य स एव मोक्ता ॥२४॥

जो द्रव्य सत्सामान्य की अपेक्षा एक प्रकार का है, वही चेतन और अचेतन के भेद से दो प्रकार का है । उनमें यह जीव चेतन द्रव्य है जो अपने आपका वेदन (अनुभवन) करने में समर्थ है, प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, अपने किये हुए कर्मों का स्वयं ही भोक्ता है और यथार्थतः अपने आपका विमोक्ता भी यही है ॥२४॥

मद्याङ्गवद्भूतसमागमेभ्यश्चिच्चोत्र भूयादसमोऽमुकेभ्यः ।
कुतः स्मृतिर्वा जनुरन्तरस्यानवद्यरूपाद्य च भूरिशः स्यात् ॥२५॥

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि मदिरा के अंग-भूत गुड़-पीठी आदि के संयोग से जैसे मदशक्ति उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार पृथ्वी आदि चार भूत द्रव्यों के संयोग से एक चेतन शक्ति उत्पन्न हो जाती है, वस्तुतः चेतन जीव नाम का कोई पदार्थ नहीं है । किन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि गुड़-पीठी आदि में तो कुछ न कुछ मद शक्ति रहती ही है, वही उनके संयोग होने पर अधिक

विकसित हो जाती है। किन्तु पृथ्वी आदि भूत चतुष्टय में तो कोई चेतनाशक्ति पाई नहीं जाती। अतः उनसे वह विलक्षण चैतन्य कैसे उत्पन्न हो सकता है ? दूसरी बात यह है कि यदि जीव नाम का कोई चेतन पदार्थ हो ही नहीं, तो फिर लोगों को जो जन्मान्तर की स्मृति आज भी निर्दोष रूप से देखने में आती है, वह कैसे संभव हो। तथा भूत-प्रेतादि जो अपने पूर्व भवों को कहते हुए दृष्टिगोचर होते हैं, उनकी सत्यता कैसे बने। अतएव यही मानना चाहिए कि अचेतन पृथ्वी आदि से चेतन जीव एक स्वतन्त्र पदार्थ है ॥२५॥

निजेङ्गितात्ताङ्गविशेषभावात्संसारिणोऽमी ह्यचराश्चरा वा ।
तेषां श्रमो नारकदेवमर्त्यतिर्यक्कया तावदितः प्रवर्त्यः ॥२६॥

अपने शुभाशुभ भावों से उपार्जित कर्मों के द्वारा शरीर-विशेषों को धारण करते हुए ये जीव सदा संसार में परिभ्रमण करते हुए चले आ रहे हैं, अतः इन्हें संसारी कहते हैं। ये संसारी जीव दो प्रकार के हैं चर (त्रस) और अचर (स्थावर)। जिनके केवल एक शरीर रूप स्पर्शनेन्द्रिय होती है, उन्हें अचर या स्थावर जीव कहते हैं और जिनके स्पर्शनेन्द्रिय के साथ रसना आदि दो, तीन, चार या पांच इन्द्रियां होती हैं उन्हें चर या त्रस जीव कहते हैं। नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति के भेद से वे जीव चार प्रकार के होते हैं। नारक, देव और मनुष्य तो त्रस जीव हैं और तिर्यंच त्रस तथा स्थावर दोनों प्रकार के होते हैं। इस प्रकार से जीवों के और भी भेद-प्रभेद जानना चाहिए ॥२६॥

नरत्वमास्वा भुवि मोहमायां मुञ्चेदमुञ्चेच्छिवतामथायात् ।
नोचेत्पुनः प्रत्यववर्तमानः संसारमेवाञ्चति चिन्निधानः ॥२७॥

संसार में परिभ्रमण करते हुए जो जीव मनुष्य भव को पाकर मोह-माया को छोड़ देता है, वह शिवपने को प्राप्त हो जाता है अर्थात् कर्म-बन्धन से छूट जाता है। किन्तु जो संसार की मोह-माया को नहीं छोड़ता है, वह चैतन्य का निधान (भण्डार) होकर भी चतुर्गति में परिभ्रमण करता हुआ संसार में ही पड़ा रहता है ॥२७॥

धूलिः पृथिव्याः कणशः सचित्तास्तत्कायिकैरार्हतसूक्तवित्तात् ।
अचेतनं भस्म सुधादिकन्तु शौचार्थमेतन्मुनयः श्रयन्तु ॥२८॥

(उपर्युक्त देव, नारकी और मनुष्यों के सिवाय जितने भी संसारी जीव हैं, वे सब तिर्यंच कहलाते हैं। वे भी पांच प्रकार के हैं-एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। इनमें एकेन्द्रिय जीव भी पांच प्रकार के हैं-पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक।) पृथ्वी ही जिनका शरीर है, ऐसे जीवों को पृथ्वीकायिक कहते हैं। पृथ्वी की धूलि, पत्थर के कण आदिक सचित्त हैं, क्योंकि उन्हें अर्हत्परमागम में पृथ्वीकायिक जीवों से युक्त कहा गया है। जली हुई पृथ्वी की भस्म, चूना की कली आदि पार्थिव वस्तुएं अचेतन हैं, शौच-शुद्धि के लिए मुनिजनों को इस भस्म आदि का ही उपयोग करना चाहिए ॥२८॥

संगालिते वारिणि जीवनन्तु तत्कायिकं किन्तु न तत्र जन्तुः ।
ततः समुष्णीकृतमेव वारि पिबत्यहो संयमिनामधारी ॥२९॥

सभी प्रकार के जल के भीतर जलकायिक जीव होते हैं, जल ही जिनका शरीर है उन्हें जलकायिक कहते हैं । वस्त्र से गालित (छाने हुए) जल में भी जलकायिक जीव रहते हैं । हां, छान लेने पर उसमें त्रस जीव नहीं रहते । इसलिए वस्त्र-गालित जल को अच्छी तरह उष्ण करके प्रासुक बना लेने पर संयमी नाम-धारी पुरुष उसे पीते हैं ॥२९॥

नान्यत्र सम्मिश्रणकृत्प्रशस्तिर्वह्निश्च सञ्जीवनभृत्समस्ति ।
भोज्यादिकेष्वात्तपदस्त्वजीवभावं भजेद्वो सुतपःपदी वः ॥३०॥

अग्नि ही जिनका शरीर है उन्हें अग्निकायिक जीव कहते हैं । जैसे काष्ठ, कोयला आदि के जलाने से उत्पन्न हुई सभी प्रकार की अग्नि, बिजली, दीपक की लौ आदि । किन्तु जो अग्नि भोज्य पदार्थों में प्रविष्ट हो चुकी है, वह सचित्त नहीं है, किन्तु अचित्त है । पर जो अनय पदार्थों में मिश्रण को नहीं प्राप्त हुई है, ऐसे धधकते अंगार आदि सचित्त ही हैं, ऐसा जान कर हे सुतपस्वी जनो, आप लोग अचित्त अग्नि का उपयोग करें ॥३०॥

प्रत्येक–साधारणभेदभिन्नं वनस्पतावेवमवेहि किन्न ।
भो विज्ञ ! पिण्डं तनुमत्तनूनां चिदस्ति चेते सुतरामदूना ॥३१॥

वृक्ष, फल, फूल आदि में रहने वाले एकेन्द्रिय जीव वनस्पति कायिक कहलाते हैं । प्रत्येक और साधारण के भेद से वनस्पति कायिक जीव दो प्रकार के होते हैं । हे विज्ञ जनो, क्या तुम लोग वनस्पति के पिण्ड को सचेतन नहीं मानते हो ? अग्नि-पक्व या शुष्क हुए बिना पत्र, पुष्प,फलादि सभी प्रकार की वनस्पति को सचित्त ही जानना चाहिए ॥३१॥

एकस्य देहस्य युगेक एव प्रत्येकमाहेति जिनेशदेवः ।
यत्रैकदेहे बहवोऽङ्गिनः स्युः साधारणं तं भवदुःखदस्युः ॥३२॥

जिस वनस्पति में एक देह का एक जीव ही स्वामी होता है, उसे संसार के दुःख नष्ट करने वाले जिनेन्द्रदेव ने प्रत्येक वनस्पति कहा है । जैसे नारियल, खजूर आदि के वृक्ष । जिस वनस्पति में एक देह में अनेक वनस्पति जीव रहते हैं, उसे साधारण वनस्पति कहते हैं । जैसे कन्द मूल आदि। साधारण वनस्पति का भक्षण संसार के अनन्त दुःखों को देने वाला है ॥३२॥

यदग्निसिद्धं फलपत्रकादि तत्प्रासुकं श्रीविभुना न्यगादि ।
यच्छुष्कतां चाभिदधत्तृणादि खादेत्तदेवासुमतेऽभिवादी ॥३३॥

जो पत्र, फल आदिक अग्नि से पक जाते हैं, अथवा सूर्य की गर्मी, आदि से शुष्कता को प्राप्त हो जाते हैं, उन्हें ही श्री जिनेन्द्रदेव ने प्रासुक (निर्जीव) कहा है। प्राणियों पर दया करने वाले संयमी जनों को ऐसी प्रासुक वनस्पति ही खाना चाहिए ॥३३॥

वातं तथा तं सहजप्रयातं सचित्तमाहाखिलवेदितातः ।
स्यात्स्पर्शनं हीन्द्रियमेतकेषु यत्प्रासुकत्वाय न चेतरेषु ॥३४॥

वायु (पवन) ही जिनका शरीर है, ऐसे जीवों को वायुकायिक कहते हैं। सहज स्वभाव से बहने वाली वायु को सर्वज्ञ देव ने सचित्त कहा है। इन सभी स्थावरकायिक जीवों के एक स्पर्शनेन्द्रिय ही होती है। ये सभी प्रयोग-विशेष से प्रासुक या अचित्त हो जाते हैं किन्तु इतर त्रस जीवों का शरीर कभी भी अचित्त नहीं होता है ॥३४॥

कृमिर्घुणोऽलिर्नर एवमादिरेकैकवृद्धेन्द्रिययुग न्यगादि ।
महात्मभिस्तत्तनुरत्र जातु केनाप्युपायेन विचित्र भातु ॥३५॥

कृमि (लट) घुण, कीट, भ्रमर और मनुष्य आदि के एक-एक अधिक इन्द्रिय होती है। अर्थात् लट, शंख, केंचुआ आदि द्वीन्द्रिय जीवों के स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियां होती हैं। घुण, कीड़ी-मकोड़ा आदि त्रीन्द्रिय जीवों के स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियां होती हैं। भ्रमर मक्षिका, पतंगा आदि चतुरिन्द्रिय जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियां होती हैं। मनुष्य, देव, नारकी और गाय, भैंस, घोड़ा आदि पंचेन्द्रिय जीवों के कर्ण सहित उक्त चारों इन्द्रियां होती हैं। इन द्वीन्द्रियादि जीवों का शरीर किसी भी उपाय से अचित्त नहीं होता, सदा सचित्त ही बना रहता है, ऐसा महर्षि जनों ने कहा है ॥३५॥

अचित्पुनः पञ्चविधत्वमेति रूपादिमान् पुद्गल एव चेति ।
भवेदणु-स्कन्धतया स एव नानेत्यपि प्राह विभुर्मुदे वः ॥३६॥

अचेतन द्रव्य पांच प्रकार का होता है-पुद्गल, धर्म अधर्म, आकाश और काल। इनमें पुद्गल द्रव्य ही रूपादिवाला है, अर्थात् पुद्गल में ही रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पाया जाता है, अतः वह रूपी या मूर्त्त कहलाता है। शेष चार द्रव्यों में रूपादि गुण नहीं पाये जाते, अतः वे अरूपी या अमूर्त्त कहलाता हैं। पुद्गल के अणु और स्कन्ध रूप से दो भेद हैं। पुनः स्कन्ध के भी बादर, सूक्ष्म आदि की अपेक्षा नाना भेद जिन भगवान् ने कहे हैं। आप लोगों को प्रमोद-वर्धक जितना कुछ दिखाई देता है, वह सब पुद्गल द्रव्य का ही वैभव है ॥३६॥

गतेर्निमित्तं स्वसु-पुद्गलेभ्यः धर्मं जगद्-व्यापिनमेतकेभ्यः ।
अधर्ममेतद्विपरीतकार्यं जगाद सम्वेदकरोऽर्हदार्यः ॥३७॥

जीव और पुद्गल द्रव्यों को गमन करने में जो निमित्त कारण है, उसे धर्म द्रव्य कहते हैं । इससे विपरीत कार्य करने वाले द्रव्य को, अर्थात् जीव और पुद्गलों के ठहरने में सहायक निमित्त कारण को अधर्म द्रव्य कहते हैं । ये दोनों ही द्रव्य सर्व जगत् में व्याप्त हैं, ऐसा विश्व-ज्ञायक अर्हद्देव ने कहा है ॥३७॥

नभोऽवकाशाय किलाखिलेभ्यः कालः परावर्तनकृत्तकेभ्यः ।
एवं तु षड्द्रव्यमयीयमिष्टिर्यतः समुत्था स्वयमेव सृष्टिः ॥३८॥

जो समस्त द्रव्यों को अपने भीतर अवकाश देता है उसे आकाश द्रव्य कहते हैं । और जो सर्व द्रव्यों के परिवर्तन कराने में निमित्त कारण होता है, उसे काल द्रव्य कहते हैं । इस प्रकार यह समस्त जगत् षट द्रव्यमय जानना चाहिए । इसी से यह सब सृष्टि स्वतः सिद्ध उत्पन्न हुई जानना चाहिए ॥३८॥

भावार्थ - इस षट् द्रव्यमयी लोक को किसी ने बनाया नहीं है । यह स्वतः सिद्ध अनादि-निधन है । इसमें जो भी रचना दृष्टिगोचर होती है, वह भी स्वतः उत्पन्न हुई जानना चाहिए ।

न सर्वथा नूत्नमुदेति जातु यदस्ति नश्यत्तदथो न भातु ।
निमित्त-नैमित्तिकभावतस्तु रूपान्तरं सन्दधदस्ति वस्तु ॥३९॥

कोई भी वस्तु सर्वथा नवीन उत्पन्न नहीं होती । इसी प्रकार जो वस्तु विद्यमान है, वह भी कभी नष्ट नहीं होती है । किन्तु निमित्त नैमित्तिक भाव से प्रत्येक वस्तु नित्य नवीन रूप को धारण करती हुई परिवर्तित होती रहतीहै, यही वस्तु का वस्तुत्व धर्म है ॥३९॥

भावार्थ - यद्यपि वस्तु के परिणमन में उसका उपादान कारण ही प्रधान होता है, तथापि निमित्त कारण के बिना उसका परिणमन नहीं होता है, अतएव निमित्त-नैमित्तिक भाव से वस्तु का परिणमन कहा जाता है ।

समस्ति वस्तुत्वमकाटचमेतन्नोचेत्किमाश्वासनमेतु चेतः ।
यदग्नितः पाचनमेतिकर्तुं जलेन तृष्णामथवाऽपहर्तुम् ॥४०॥

प्रत्येक वस्तु का वस्तुत्व धर्म अकाट्य है, वह सर्वदा उसके साथ रहता है । यदि ऐसा न माना जाय, तो मनुष्य का चित्त कैसे किसी वस्तु का विश्वास करे ? देखो-किसी वस्तु के पकाने का कार्य अग्नि से ही होता है और प्यास दूर करने के लिए जल से ही प्रयोजन होता है । अग्नि का कार्य जल नहीं कर सकता और जल के कार्य को अग्नि नहीं कर सकती । वस्तु की वस्तुता यही है कि जिसका जो कार्य है, उसे वही सम्पन्न करे ॥४०॥

बीजादगोऽगादुत बीज एवमनादिसन्तानतया मुदे वः ।
सर्वे पदार्थाः पशवो मनुष्या न कोऽप्यमीषामधिकार्यनु स्यात् ॥४१॥

बीज से वृक्ष होता है और वृक्ष से बीज उत्पन्न होता है । यह परम्परा अनादिकाल से बराबर सन्तान रूप चली आ रही है । इसी प्रकार पशु, मनुष्य आदिक सभी पदार्थ अपने-अपने कारणों से उत्पन्न होते हुए अनादि से चले आ रहे हैं । इन पदार्थों का कोई अधिकारी या नियन्ता ईश्वर आदि नहीं है, जिसने कि जगत् के पदार्थों को बनाया हो । सभी चेतन या अचेतन पदार्थ अनादिकाल से स्वयं सिद्ध हैं ॥४१॥

चेत्कोऽपि कर्त्तेति पुनर्यवार्थं यवस्य भूयाद्वपनं व्यपार्थम् ।
प्रभावकोऽन्यस्य भवन् प्रभाव्यस्तेनार्थ इत्येवमतोऽस्तु भाव्यः ॥४२॥

यदि जगत् के पदार्थों का कोई ईश्वरादि कर्त्ता-धर्त्ता होता, तो फिर जौ के लिए जौ का बोना व्यर्थ हो जाता । क्योंकि वही ईश्वर बिना ही बीज के जिस किसी भी प्रकार से जौ को उत्पन्न कर देता । फिर विवक्षित कार्य को उत्पन्न करने के लिए उसके कारण-कलापों के अन्वेषण की क्या आवश्यकता रहती ? अतएव यही मानना युक्ति संगत है कि प्रत्येक पदार्थ स्वयं प्रभावक भी है और स्वयं प्रभाव्य भी है, अर्थात् अपने ही कारण कलापों से उत्पन्न होता है और अपने कार्य-विशेष को उत्पन्न करने में कारण भी बन जाता है । जैसे बीज के लिए वृक्ष कारण है और बीज कार्य है । किन्तु वृक्ष के लिए वही कार्य रूप बीज कारण बन जाता है और वृक्ष उसका कार्य बन जाता है । यही नियम विश्व के समस्त पदार्थों के लिए जानना चाहिए ॥४२॥

सूर्यस्य घर्मत इहोत्थितमस्ति पश्य
वाष्पीभवद्यदपि वारि जलाशयस्य ।
तस्यैव चोपरि पतेदिति कारणं किं
विश्वप्रबन्धकनिबन्धविधाभृदङ्गिन् ॥४३॥

देखो-जलाशय (सरोवरादि) का जल सूर्य के घाम से भाप बन कर उठता है और आकाश में जाकर बादल बन कर उसी के ऊपर बरसता है और जहां आवश्यकता होती है, वहां नहीं बरसता है, इसका क्या कारण है ? यदि कोई ईश्वरादिक विश्व का प्रबन्धक या नियामक होता, तो फिर यह गड़बड़ी क्यों होती । इसी प्रकार ईश्वर को नही मानने वाला सुखी जीवन व्यतीत करता है और दूसरा रात-दिन ईश्वर का भजन करते हुए भी दुखी रहता है, सो इसका क्या कारण माना जाय? अतएव यही मानना चाहिए कि प्रत्येक जीव अपने ही कारण-कलापों से सुखी या दुखी होता है, कोई दूसरा सुख या दुःख को नहीं देता ॥४३॥

यदभावे यन्न भवितुमेति तत्कारणकं तत्सुकथेति ।
कुम्भकृदादिविनेव घटादि किमितरकल्पनयाऽस्त्वभिवादिन् ॥४४॥

न्याय शास्त्र का यह सिद्धान्त है कि जिसके अभाव में जो कार्य न हो, वह तत्कारणक माना जाता है। जैसे कुम्भकार आदि के बिना घड़ा उत्पन्न नहीं होता, तो वह उसका कारण या कर्त्ता कहा जाता है । इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक कार्य अपने अपने अविनाभावी कारणों से उत्पन्न होता है । ऐसी स्थिति में हे अभिवादिन्, ईश्वरादि किसी अन्य कारण की कल्पना करने से क्या लाभ है ॥४४॥

इस विषय का विस्तृत विवेचन प्रमेयकमलमार्तण्ड, आप्त-परीक्षा, अष्टसहस्री आदि न्याय के ग्रन्थों में किया गया है । अतः यहां पर अधिक कथन करने से विराम लेते हैं ।

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
सर्गेऽङ्केन्दुसमङ्किते तदुदितेऽनेकान्ततत्त्वस्थितिः
श्रीवीरप्रतिपादिता समभवत्तस्याः पुनीतान्वितिः ॥१९॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भुज और घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए, वाणीभूषण, बाल-ब्रह्मचारी पं. भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर-विरचित इस वीरोदय काव्य में वीर-भगवान् द्वारा प्रतिपादित अनेकान्तवाद और वस्तुतत्त्व की स्थिति का वर्णन करने वाला यह उन्नीसवां सर्ग समाप्त हुआ ॥१९॥

✤ ✤ ✤

अथ विंशतितमः सर्गः

जिना जयन्तूत्तमसौख्यकूपाः सम्मोहदंशाय समुत्थधूपाः ।
विश्वस्य विज्ञानि पदैकभूपा दर्पादिसर्पाय तु ताक्ष्यर्रूपाः ॥१॥

जो उत्तम अतीन्द्रिय सुख के भण्डार हैं, मोह रूप डांस-मच्छरों के लिए दशांगी धूप से उठे हुए धूम्र के समान हैं, जिन्होंने विश्व भर के ज्ञेय पदार्थों को जान लेने से सर्वज्ञ पद को प्राप्त कर लिया है और जो दर्प (अहंकार) मात्सर्य आदि सर्पों के लिए गरुड़-स्वरूप हैं, ऐसे जगज्जयी जिनेन्द्र देव जयवन्त रहें ॥१॥

समुत्थितः स्नेहरुडादिदोषः पटेऽञ्जनादीव तदन्यपोषः ।
निरीहता फेनिलतोऽपसार्य सन्तोषवारीत्युचितेन चार्य ! ॥२॥

जैसे श्वेत वस्त्र में अंजन (काजल) आदि के निमित्त से मलिनता आ जाती है, उसी प्रकार निर्मल आत्मा में भी स्नेह (राग) द्वेष आदि दोष भी अन्य कारणों से उत्पन्न हुए समझना चाहिए । जैसे वस्त्र की कालिमा साबुन और निर्मल जल से दूर की जाती है, उसी प्रकार हे आर्य, निरीहता (वीतराग) रूप फेनिल (साबुन) और सन्तोष रूप जल से आत्मा की मलिनता को दूर करना चाहिए ॥२॥

नक्रादिभिर्वक्रमथाम्बु यद्वन्नदस्य ते ज्ञानमिदं च तद्वत् ।
मदादिभिर्भाति ततो न वस्तु-सम्वेदनायोचितमेतदस्तु ॥३॥

जैसे मगर-मच्छों के द्वारा उन्मथित जल वाले नदी-सरोवरादिक के अन्तस्तल में पड़ी हुई वस्तुएं स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं होती, उसी प्रकार मद-मात्सर्यादि के द्वारा उन्मथित तेरा यह ज्ञान भी अपने भीतर प्रतिबिम्बित समस्त ज्ञेयों को जानने में असमर्थ हो रहा है ॥३॥

नैश्चल्यमाप्त्वा विलसेद्यदा तु तदा समस्तं जगदत्र भातु ।
यदीक्ष्यतामिन्धननाम बाह्यं तदेव भूयादुत बह्रिदाह्यम् ॥४॥

जब यह आत्मा क्षोभ-रहित निश्चलता को प्राप्त होकर विलसित होता है, तब उसमें प्रतिबिम्बित यह समस्त जगत् स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगता है, क्योंकि ज्ञेय पदार्थों को जानना ही ज्ञान रूप आत्मा का स्वभाव है । जैसे बाहिरी दाह्य इन्धन को जलाना दाहक रूप अग्नि का काम है, उसी प्रकार बाहिरी समस्त ज्ञेयों को जानना ज्ञायक रूप आत्मा का स्वभाव है ॥४॥

भविष्यतामत्र सतां गतानां तथा प्रणालीं दधतः प्रतानाम् ।
ज्ञानस्य माहात्म्यमसावबाधा-वृत्तेः पवित्रं भगवानथाऽधात् ॥५॥

भविष्य में होने वाले, वर्तमान में विद्यमान और भूतकाल में उत्पन्न हो चुके ऐसे त्रैकालिक पदार्थों की परम्परा को जानना निरावरण ज्ञान का माहात्म्य है । ज्ञान के आवरण दूर हो जाने से सार्वकालिक वस्तुओं को जानने वाले पवित्र ज्ञान को सर्वज्ञ भगवान् धारण करते हैं, अतः वे सर्व के ज्ञाता होते हैं।

भूतं तथा भावि खपुष्पवद्वा निवेद्यमानोऽपि जनोऽस्त्वसद्वाक् ।
तमग्नये त्विन्धनमासमस्य जलायितत्त्वं करकेषु-पश्यन् ॥६॥

जो कार्य हो चुका, या आगे होने वाला है वह आकाश-कुसुम के समान असद्-रूप है और असत् पदार्थ को विषय करने वाला ज्ञान सम्यग्ज्ञान कैसे हो सकता है ? ऐसा कहने वाला मनुष्य भी सम्यक् भाषी नहीं है, क्योंकि अग्नि के लिए इन्धन एकत्रित करने वाला मनुष्य इन्धन में आगे होने वाली अग्नि पर्याय को देखता है और करकों (ओलों) में जल तत्त्व को वह देखता है, अर्थात् वह जानता है कि जल से ओले बने हुए हैं । फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि भूत और भावी वस्तु असद्-रूप है, कुछ भी नहीं है ॥६॥

त्रैकालिकं चाक्षमतिश्च वेत्ति कुतोऽन्यथा वार्थ इतः क्रियेति ।
अस्माकमासाद्य भवेदकम्पा नाम्वा प्रजा पातुमुपैति कंका ॥७॥

उपर्युक्त कथन से यह बात सिद्ध होती है कि सर्वज्ञ के ज्ञान की तो बात ही क्या है, हमारा-तुम्हारा इन्द्रिय जन्य ज्ञान भी कथंचित् कुछ त्रिकालवर्ती वस्तुओं को जानता है । अन्यथा मनुष्य किसी भी पदार्थ से कोई काम नहीं ले सकेगा । देखो- पानी को देखकर प्यासा मनुष्य क्या उसे पीने के लिए नहीं दौड़ता ? अर्थात् दौड़ता ही है । इसका अभिप्राय यही है कि पानी के देखने के साथ ही उसके पीने से मिटने वाली प्यास का भी ज्ञान उसे हो गया है । तभी तो वह निःशङ्क होकर उसे पीवेगा और अपनी प्यास को बुझावेगा ॥७॥

प्रास्कायिकोऽङ्गान्तरितं यथेति सौगन्धिको भूमितलस्थमेति ।
को विस्मयस्तत्र पुनर्यतीशः प्रच्छन्नवस्तूचितसम्मतिः सः ॥८॥

इसी प्रकार प्रच्छन्न (गुप्त) वस्तुओं का ज्ञान भी लोगों को होता हुआ देखा जाता है । देखो- प्रास्कायिक-(अङ्ग-निरीक्षक) एक्स रे यन्त्र के द्वारा शरीर के भीतर छिपी हुई वस्तु को देख लेता है और सौगन्धिक (भूमि को सूंघ कर जानने वाला) मनुष्य पृथ्वी के भीतर छिपे या दबे हुए पदार्थों को जान लेता है । फिर यदि अतीन्द्रिय ज्ञान का धारक यतीश्वर देश, काल और भूमि आदि से प्रच्छन्न सूक्ष्म, अन्तरित और दूर-वर्ती पदार्थों को जान लेता है, तो इसमें विस्मय की क्या बात है ॥८॥

यथैति दूरेक्षणयन्त्रशक्त्या चन्द्रादिलोकं किमु योगभक्त्या ।
स्वर्गादिदृष्टावधुनातियोगः सोऽतीन्द्रियो यत्र किलोपयोगः ॥९॥

देखो-दूर-दर्शक यन्त्र की शक्ति से चन्द्रलोक आदि में स्थित वस्तुओं को आज मनुष्य प्रत्यक्ष देख रहे हैं । फिर योग की शक्ति से स्वर्ग-नरक आदि के देखने में क्या आपत्ति आती है ? योगी पुरुष अतीन्द्रिय ज्ञान के धारक होते हैं, वे स्वर्गादि के देखने में उस अतीन्द्रिय ज्ञान का उपयोग करते हैं, ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए ॥९॥

एको न सूचीमपि दृष्टुमर्हः विमन्ददृष्टिः कलितात्मगर्हः ।
परो नरश्चेत् त्रसरेणुदृक्कः किन्नाम न स्यादणुमादधत्कः ॥१०॥

एक मन्द दृष्टिवाला पुरुष सुई को भी देखने के लिए समर्थ नहीं है, इसलिए वह अपनी मन्द दृष्टि की निन्दा करता है और दूसरा सूक्ष्म-दृष्टि वाला मनुष्य त्रसरेणु (अति सूक्ष्म रजांश) को भी देखता है और अपनी सूक्ष्म दृष्टि पर गर्व करता है । फिर योगदृष्टि से कोई पुरुष परमाणु जैसी सूक्ष्म वस्तु को क्यों नहीं जान लेगा ॥१०॥

न्यगादि वेदे यदि सर्ववित्कः निषेधयेत्तं च पुनः सुचित्कः ।
श्रुत्यैव स स्यादिति तूपक्लृप्तिः शाणेन किं वा दृषदोऽपि दृप्तिः ॥११॥

यदि वेद में सर्ववेत्ता होने का उल्लेख पाया जाता हैं, तो फिर कौन सुचेता पुरुष उस सर्वज्ञ का निषेध करेगा । यदि कहा जाय कि श्रुति (वेद-वाक्य) से ही वह सर्वज्ञ हो सकता है, अन्यथा नहीं, तो यह तभी सम्भव है, जब कि मनुष्य में सर्वज्ञ होने की शक्ति विद्यमान हो । देखो-मणि के भीतर चमक होने पर ही वह शाण से प्रकट होती है । क्या साधारण पाषाण में वह चमक शाण से प्रकट हो सकती है ? नहीं । इसका अर्थ यही है कि मनुष्य में जब सर्वज्ञ बनने की शक्ति है, तभी वह श्रुति के निमित्त से प्रकट हो सकती है ॥११॥

सूची क्रमादञ्चति कौतुकानि करण्डके तत्क्षण एव तानि ।
भवन्ति तद्वद्भुवि नस्तु बोध एकैकशो मुक्त इयान्न रोधः ॥१२॥

जैसे सुई माला बनाते समय क्रम-क्रम से एक-एक पुष्प को ग्रहण करती है किन्तु हमारी दृष्टि तो टोकरी में रखे हुए समस्त पुष्पों को एक साथ ही एक समय में ग्रहण कर लेती है । इसी प्रकार हमारे छद्मस्थ जीवों का इन्द्रिय-ज्ञान क्रम-कम से एक-एक पदार्थ को जानता है । किन्तु जिनका ज्ञान आवरण से मुक्त हो गया है, वे समस्त पदार्थों को एक साथ जान लेते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है ॥१२॥

किन्नानुगृह्णाति जगज्जनोऽपि सेना-वनाद्येकपदन्तु कोऽपि ।
समस्तवस्तून्युपयातु तद्वद् विरोधनं भाति जनाः कियद्वः ॥१३॥

हमारे जैसा कोई भी संसारी मनुष्य सेना, वन आदि एक पद को ही सुनकर हाथी, घोड़े, रथ, पियादों के समूह को या नाना प्रकार के वृक्षों के समुदाय को एक साथ जान लेता है, फिर सर्वज्ञ प्रभु का अतीन्द्रिय ज्ञान यदि समस्त वस्तुओं को एक साथ जान लेवे, तो इसमें आप लोगों को कौनसा विरोध प्रतीत होता है ॥१३॥

समेति भोज्यं युगपन्मनस्तु मुखं क्रमेणात्ति तदेव वस्तु ।
मुक्तान्ययोरीदृशमेव भेदमुवैमि भो सज्जन नष्टखेदः ॥१४॥

हे सज्जनो, देखो-थाली में परोसे गये समस्त भोज्य पदार्थों को हमारा मन तो एक साथ ही ग्रहण कर लेता है, अर्थात् प्रत्येक वस्तु के भिन्न-भिन्न स्वादों को एक साथ जान लेता है, किन्तु उन्हीं वस्तुओं को मुख एक-एक ग्रास के क्रम से ही खाता है । बस, इसी प्रकार का भेद आवरण-विमुक्त अतीन्द्रिय ज्ञानियों के और आवरणयुक्त इन्द्रिय ज्ञान वाले अन्य लोगों के ज्ञान में दुखातीत सर्वज्ञ ने कहा है, ऐसा जानना चाहिए ॥१४॥

उपस्थिते वस्तुनि वित्तिरस्तु नैकान्ततो वाक्यमिदं सुवस्तु ।
स्वप्नादिसिद्धेरिह विभ्रमस्तु भो भद्र ! देशादिकृतः समस्तु ॥१५॥

यदि कहा जाय कि वर्तमान काल में उपस्थित वस्तु का तो ज्ञान होना ठीक है, किन्तु जो वस्तु है ही नहीं, ऐसी भूत या भविष्यत्कालीन अविद्यमान वस्तुओं का ज्ञान होना कैसे संभव है ? तो यह कहना भी एकान्त से ठीक नहीं है, क्योंकि स्वप्नादि से अविद्यमान भी वस्तुओं का ज्ञान होना सिद्ध है । यदि कहा जाय कि स्वप्नादि का ज्ञान तो विभ्रम रूप है, मिथ्या है, सो हे भद्र पुरुष यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि स्वप्न में देखी गई वस्तु का देश-कालादि-कृत भेद हो सकता है, किन्तु सर्वथा वह ज्ञान मिथ्या नहीं होता ॥१५॥

भावार्थ - स्वप्न में देखी गई वस्तु भले ही उस समय उस देश में न हो, किन्तु कहीं न कहीं किसी देश में और किसी काल में तो उसका अस्तित्व है ही । इसलिए वह सर्वथा मिथ्या रूप नहीं है ।

यद्वा स्मृतेः साम्प्रतमर्थजातिः किमस्ति या सङ्गतये विभाति ।
सा चेदसत्याऽनुमितिः कथं स्यादेवन्तु चार्वाकमतप्रशंसा ॥१६॥

अथवा स्वप्न ज्ञान को रहने दो । स्मरण ज्ञान का विषयभूत पदार्थ- समूह क्या वर्तमान में विद्यमान है । वह भी तो देशान्तर और कालान्तर में ही रहता है । फिर अविद्यमान वस्तु के ज्ञान को सत्य माने बिना स्मृति ज्ञान के प्रमाणता की संगति के लिए क्या आधार मानोगे । यदि कहा जाय कि स्मृति तो असत्य है, प्रमाण रूप नहीं है, तो फिर अनुमान ज्ञान के प्रमाणता कैसे मानी जा सकेगी ? क्योंकि कार्य-कारण के अविनाभावी सम्बन्ध के स्मरणपूर्वक ही तो अनुमान ज्ञान उत्पन्न होता है । यदि कहो

कि अनुमान ज्ञान भी अवस्तु है-अप्रमाण रूप है-तब तो चार्वाक (नास्तिक) मत ही प्रशंसनीय हो जाताहै, जो कि केवल एक प्रत्यक्ष वस्तु के ज्ञान को ही प्रमाण मानता है ॥१६॥

स चात्मनोऽभीष्टमनिष्टहानि-पुरस्सरं केन करोतु मानी ।
ततोऽनुमापि प्रतिपादनीया या चाऽविनाभूस्मृतितो हि जायात् ॥१७॥

यदि कहा जाय कि अनुमान ज्ञान को प्रमाण नहीं मानना हमें अभीष्ट है, तो हम पूछते हैं कि फिर अनुमान के बिना आप चार्वाक लोगों के लिए अनिष्ट परलोक आदिका निषेध कैसे संभव होगा? इसलिये चार्वाकों को भी अपने अभीष्ट सिद्धि के लिये अनुमान को प्रमाण मानने पर स्मृति-को प्रमाण मानना ही पड़ेगा, क्योंकि अनुमान तो साध्य-साधन के अविनाभाव-सम्बन्ध की स्मृति से ही जीता है। इस प्रकार जब बीती हुई बात को जानने वाला हम लोगों का स्मरण-ज्ञान प्रमाण सिद्ध होता है, तब भूत और भविष्य की बातों को जानने वाला सर्वज्ञ का अतीन्द्रिय ज्ञान कैसे प्रमाण न माना जायगा ? अतएव सर्वज्ञ के भूत-भावी वस्तु-विषयक ज्ञान को प्रमाण मानना ही चाहिए ॥१७॥

श्रुताधिगम्यं प्रतिपद्य वस्तु नाध्यक्षमिच्छेदिति कोऽयमस्तु ।
दुराग्रहोऽपास्य गुरुं विनेयमभीच्छतो यद्वदहो प्रणेयः ॥१८॥

परोक्ष ज्योतिष शास्त्र आदि से ज्ञात होने वाले सूर्य-ग्रहण, चन्द्र-ग्रहण आदि बातों को स्वीकार करके भी यदि कोई अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा ज्ञात होने वाली वस्तुओं को स्वीकार न करे, तो उसे दुराग्रह के सिवाय और क्या कहा जाय ? क्योंकि प्रत्यक्षदृष्टा के वचनों को ही शास्त्र कहते हैं। इसलिए प्रत्यक्ष-दृष्टा सर्वज्ञ को स्वीकार करना चाहिए । जैसे गुरु के बिना शिष्य नहीं हो सकता, उसी प्रकार सर्वदर्शी शास्ता के बिना शास्त्र का होना संभव नहीं है ॥१८॥

यदस्ति वस्तूदितनामधेयं ज्ञेयं न भूयात्तु कुतः प्रणेयम् ।
ज्ञेयं तदध्यक्षमपीति नीतेस्तत्पूर्वकत्वादपरप्रणीतेः ॥१९॥

जो कोई भी वस्तु है, वह ज्ञेय है, और ज्ञेय को किसी न किसी ज्ञान का विषय अवश्य होना चाहिए । यदि वस्तु को ज्ञेय न माना जाय, तो उसको प्रणेय (ज्ञातव्य या वर्णन) कैसे माना जा सकेगा। अतएव प्रत्येक वस्तु ज्ञेय है, वह किसी न किसी के प्रत्यक्ष होना ही चाहिए। क्योंकि अन्य सब ज्ञानों का मूल आधार तो प्रत्यक्ष ज्ञान ही है । इस प्रत्यक्ष ज्ञान-पूर्वक ही अन्य ज्ञान प्रस्तुत होते हैं । अतः सम्पूर्ण पदार्थों का प्रत्यक्ष-दृष्टा भी कोई न कोई अवश्य है, यह बात निश्चित होती है ॥१९॥

नालोकसापेक्षमुलूकजातेर्ज्ञानं दृगुत्पन्नमहो यथा ते ।
नासन्नतापेक्ष्यमिदं भविन्नः प्रत्यक्षमीशस्य समस्तु किन्न ॥२०॥

यदि कहा जाय कि आलोक (प्रकाश) आदि बाहिरी साधनों की सहायता से ही हमें पदार्थों का ज्ञान होता है, तब उसके बिना अतीन्द्रिय ज्ञानी को पदार्थों का ज्ञान कैसे हो जायगा ? सो यह कहना

भी ठीक नहीं है, कारण कि उल्लू आदि रात्रिचर जीवों को आलोक आदि के बिना भी ज्ञान होता हुआ देखा जाता है । इसलिए आलोक आदि की अपेक्षा से ज्ञान होता है, यह कथन दूषित सिद्ध होता है । यदि कहा जाय कि आसन्नता (निकटता) की अपेक्षा पदार्थों का ज्ञान होता है, सो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि दूरवर्ती भी पदार्थों का ज्ञान गिद्ध आदि पक्षियों को होता हुआ देखा जाता है। जब इन उल्लू-गिद्ध आदि को भी प्रकाश और सामीप्य के बिना अन्धकार-स्थित एवं दूर-वर्ती पदार्थों का ज्ञान होना संभव है, तब हे भव्य प्राणी, सर्व-दर्शी ईश्वर को सब का प्रत्यक्ष ज्ञान होना क्यों न संभव माना जाय ॥२०॥

आत्मानमक्षं प्रति वर्तते यत् प्रत्यक्षमित्याह पुरुः पुरेयत् ।
यदिन्द्रियाद्यैरुपजायमानं परोक्षमर्थाद्भवतीह मानम् ॥२१॥

विश्वदृष्वा सर्वज्ञ का ज्ञान प्रत्यक्ष होकर भी इन्द्रिय, आलोक आदि की सहायता के बिना ही उत्पन्न होता है । भगवान् पुरु (ऋषभ) देव ने 'अक्षं आत्मानं प्रति यद् वर्तते, तत्प्रत्यक्षं' ऐसा कहा है । अर्थात् जो ज्ञान केवल आत्मा की सहायता से उत्पन्न हो, वह प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है और जो ज्ञान इन्द्रिय, आलोक आदि की सहायता से उत्पन्न होता है, वह ज्ञान जैनागम में वस्तुतः परोक्ष ही माना गया है ॥२१॥

सर्वज्ञतामाप च वर्धमानः न श्राद्धिकोऽयं विधिरेकतानः ।
ताथागतोक्तेऽध्ययनेऽपि तस्य प्रशस्तिभावाच्छृणु भो प्रशस्य ॥२२॥

श्री वर्धमान स्वामी ने सर्वज्ञता को प्राप्त किया था, यह बात केवल श्रद्धा का ही विषय नहीं है, अपितु इतिहास से भी सिद्ध है। देखो-ताथागत (बौद्ध) प्रतिपादित मज्झिमनिकाय आदि ग्रन्थों में भी निग्गंथनाठपुत्त भगवान् महावीर को दिव्य ज्ञानी और जन्मन्तरों का वेत्ता कहा गया है । अतएव हे भव्योत्तम, बौद्ध ग्रन्थों की उक्त प्रशस्ति से तुम्हें भी भगवान् महावीर को सर्वज्ञ मानना चाहिए ॥२२॥

वृथाऽभिमानं व्रजतो विरुद्धं प्रगच्छतोऽस्मादपि हे प्रबुद्ध ।
प्रवृत्तिरेतत्पथतः समस्ति ततोऽस्य सत्यानुगता प्रशस्तिः ॥२३॥

इसलिए हे प्रबुद्ध (जागरूक) भव्य, व्यर्थ के अभिमान को प्राप्त होकर भगवान् महावीर के द्वारा प्रतिपादित मार्ग से विरुद्ध चलना ठीक नहीं है । क्योंकि उनके द्वारा प्रतिपादित अनेकान्तवाद के मार्ग से ही लौकिक, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक जगत की प्रवृत्ति समीचीन रूप से चल सकती है, अन्यथा नहीं । इसलिए भगवान् महावीर के सर्वज्ञता सम्बन्धी प्रशस्ति सत्यानुगत (सच्ची) है, यह अनायास ही स्वतः सिद्ध हो जाता है ॥२३॥

ज्ञानाद्विना न सद्वाक्यं ज्ञानं नैराश्यमञ्चतः ।
तस्मान्नमो नमोहाय जगतामतिवर्तिने ॥२४॥

पूर्ण या सत्य ज्ञान के बिना सद्-वाक्य संभव नहीं हैं और निराशा, निरीहता एवं वीतरागता को प्राप्त पुरुष के ही पूर्ण सत्य ज्ञान हो सकता है, अन्य के नहीं । इसलिए जगत् से परवर्ती अर्थात् जगज्झंजालों से रहित उस विमोही महात्मा के लिए हमारा नमस्कार है ॥२४॥

यज्ज्ञानमस्तसकलप्रतिबन्धभावाद्

व्याप्नोति विश्वगपि

विश्वभवांश्च भावान् ।

भद्रं तनोतु भगवान् जगते जिनोऽसा-

वङ्केऽस्य न स्मयरयाभिनयादिदोषाः ॥२५॥

जिनका ज्ञान समस्त प्रतिबन्धक कारणों के दूर हो जाने से सर्व विश्व भर के पदार्थों को व्याप्त कर रहा है, अर्थात् जान रहा है और जिनके भीतर मद, मत्सर, आवेग, राग, द्वेषादि दोष नहीं है, ऐसे वे जिन भगवान् समस्त संसार का कल्याण करें ॥२५॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं

वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।

सर्वज्ञत्वमुताह वीरभगवान् यत्प्राणिनां भूषणं

सर्गे खाक्षिमिते तदीयगदिते व्यक्तं किलादूषणम् ॥२०॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भुज और घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए, वाणी-भूषण, बाल ब्रह्मचारी, पं. भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर-विरचित इस वीरोदय काव्य में भगवान् महावीर की सर्वज्ञता का प्रतिपादन करने वाला बीसवां सर्ग समाप्त हुआ ॥२०॥

❖ ❖ ❖

अथैकविंशः सर्गः

शिवश्रियं यः परिणेतुमिद्धः समाश्रितो वल्लभतां प्रसिद्धः ।
धरातले वीक्षितुमर्हतां तं पतिं शरत् प्राप किलैककान्तम् ॥१॥

जो शिव-लक्ष्मी को विवाहने के लिये उद्यत हैं, सर्व जनों की वल्लभता को प्राप्त हैं, जगत् में प्रसिद्ध हैं, अरहन्तों के स्वामी हैं और अद्वितीय सुन्दर हैं, ऐसे भगवान् महावीर कोदेखने के लिए ही मानो शरद् ऋतु धरातल पर अवतीर्ण हुई ॥१॥

परिस्फुरत्तारकता ययाऽऽपि सिताम्बरा गुप्तपयोधरापि ।
जलाशयं सम्प्रति मोदयन्ती शरन्नवोढेयमथाव्रजन्ती ॥२॥

यह शरद्-ऋतु नव-विवाहिता स्त्री के समान आती हुई ज्ञात हो रही है । जैसे नवोढ़ा स्त्री के नेत्रों की तारकाएं (पुतलियां) चंचल होती हुई चमकती हैं, उसी प्रकार यह शरद्-ऋतु भी आकाश में ताराओं की चमक से युक्त हैं । जैसे नवोढा वधू स्वच्छ वस्त्र धारण करती हैं, उसी प्रकार यह शरद्-ऋतु भी स्वच्छ आकाश को धारण कर रही है । जैसे नवोढा अपने पयोधरों (स्तनों) को गुप्त रखती है, उसी प्रकार यह शरद्-ऋतु भी पयोधरों (बादलों) को अपने भीतर छिपा कर रख रही है । और जैसे नवोढा लोगों के हृदयों को प्रमुदित करती है, उसी प्रकार यह शरद्-ऋतु भी जलाशयों में कमलों को विकसित कर रही है ॥२॥

परिस्फुरत्षष्ठिशरद् धराऽसौ जाता परिभ्रष्टपयोधरा द्यौः ।
इतीव सन्तप्ततया गभस्तिः स्वयं यमाशायुगयं समस्ति ॥३॥

शरद्-ऋतु में साठी धान्य पक जाती है, आकाश बादलों से रहित हो जाता है और सूर्य उत्तरायण से दक्षिणायन हो जाता है । इस स्थिति को लक्ष्य में रख कर इस श्लोक में व्यंग्य किया गया है कि अपनी धरा रूप स्त्री को साठ वर्ष की हुई देखकर, तथा द्यौ नाम की स्त्री को भ्रष्ट-पयोधरा (लटकते हुए स्तनों वाली) देखकर ही मानों सूर्य सन्तप्त चित्त होकर स्वयं भी यमपुर जाने के लिए तत्पर हो रहा है ॥३॥

पुरोदकं यद्विषदोद्भवत्वात्सुधाकरस्याद्यकरैर्धृतत्वात् ।
पयस्तदेवास्ति विभूतिपाते बलीयसी सङ्गतिरेव जातेः ॥४॥

वर्षा ऋतु में जो जल विषद अर्थात् मेघों से, पक्षान्तर में विष देने वालों से उत्पन्न होने के कारण लोगों को अतीव कष्ट-कारक प्रतीत होता था, वही अब शरद्-ऋतु में सुधा (अमृत) मय कर (हाथ)

वाले सुधाकर (चन्द्रमा) की किरणों का सम्पर्क पाने से दूध जैसा स्वच्छ एवं सुस्वादु बन गया। नीतिकार कहते हैं कि जाति की अपेक्षा संगति ही बलवती होती है ॥४॥

विलोक्यते हंसरवः समन्तान्मौनं पुनर्भोगभुजो यदन्तात् ।
दिवं समाक्रामति सत्समूहः सेयं शरद्योगिसभाऽस्मदूहः ॥५॥

कवि कहते हैं कि हमारे विचार से यह शरद्-ऋतु योगियों की सभा के समान प्रतीत होती है जैसे योगियों की सभा में 'अहं सः' (मैं वही परमात्म-रूप हूँ) इस प्रकार ध्यान में प्रकट होने वाला शब्द होता है, उसी प्रकार इस शरद्-ऋतु में हंसों का सुन्दर शब्द प्रकट होने लगता है। तथा जैसे योगियों की सभा में भोगों को भोगने वाले भोगी-जन मौन-धारण करते हैं, उसी प्रकार इस शरद्-ऋतु में भोगों अर्थात सर्पों को खा जाने वाले मयूर गण बोलना बन्द कर मौन धारण कर लेते हैं। इसी प्रकार जैसे योगियों की सभा में सज्जनों का समूह स्वर्ग पाने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार इस शरद् ऋतु में तारागण आकाश में चमकते हुए आगे बढ़ने का प्रयत्न करते हैं ॥५॥

स्फुरत्पयोजातमुखी स्वभावादङ्के शयालीन्द्रकुशेशया वा ।
शरच्छ्रियं दृष्टुमपङ्कपात्री विस्फालिताक्षीव विभाति धात्री ॥६॥

शरद्-ऋतु में पृथ्वी पर कमल खिलने लगते हैं और उन पर आकर भौंरें बैठते हैं, तथा सारी पृथ्वी कीचड़-रहित हो जाती है। इस स्थिति को देखकर कवि उत्प्रेक्षा करते हुए कहते हैं कि निर्मल पात्र वाली पृथ्वी विकसित कमल-मुखी होकर भ्रमर रूप नेत्रों को धारण करती हुई मानों अपने नेत्रों को खोल कर शरद् ऋतु की शोभा देखती हुई शोभित हो रही है ॥६॥

इत प्रसादः कुमुदोदयस्य श्रीतारकाणान्तु ततो वितानम् ।
मरालबालस्तत इन्दुचालः सरोजलं व्योमतलं समानम् ॥७॥

शरद् ऋतु में सरोवर का जल और गगन-तल एक समान दिखते हैं। देखो-इधर सरोवर में तो कुमुद (श्वेत कमल) के उदय का प्रसाद होता है, अर्थात् श्वेत कमल खिल जाते हैं और उधर ताराओं की कान्ति का विस्तार हो जाता है। इधर सरोवर में मराल (हंस) का बालक चलता हुआ दृष्टिगोचर होता है और उधर चन्द्रमा की चाल दृष्टिगोचर होती है ॥७॥

नभोगृहे प्राग्विषदैरुदूढे चान्द्रीचयैः क्षालननामगूढे ।
विकीर्य सत्तारकतन्दुलानीन्दुदीपमञ्चेत्क्षणदा त्विदानीम् ॥८॥

जो आकाश रूप गृह पहिले विष (जल) दायी मेघों से उपगूढ़ (व्याप्त) अर्थात् विष-दूषित था, वह अब चन्द्रिका रूप जल-समूह से प्रक्षालित हो गया है। अतएव उसमें इस समय मंगल के लिए ही मानों रात्रि ने चन्द्रमा रूप दीपक रखकर तारा रूप चांवलों को बिखेर दिया है ॥८॥

तारापदेशान्मणिमुष्टिनारात्प्रतारयन्ती विगताधिकारा ।
सोमं शरत्सम्मुखमीक्षमाणा रुषेव वर्षा तु कृतप्रयाणा ॥९॥

सोम (चन्द्रमा) को शरद् ऋतु के सम्मुख गया हुआ देखकर अपने अधिकार से रहित हुई वर्षा ऋतु मानों रोष से ताराओं के बहाने मुट्ठी में भरे हुए मणियों को फैंक कर प्रतारणा करती हुई वहां से शीघ्र चली गई ॥९॥

जिघांसुरप्येणगणः शुभानामुपान्तभृच्छालिकबालिकानाम् ॥
सुगीतिरीतिश्रवणेशितेति न शालिमालं स पुनः समेति ॥१०॥

धान्य चरने के लिए आया हुआ मृग-समूह धान्य रखाने वाली सुन्दर बालिकाओं के द्वारा गाये जाने वाले मधुर गीतों के सुनने में इस प्रकार तल्लीन हो जाता है कि वह धान्य को चरना भूल जाता है और फिर धान्य की क्यारियों में नहीं आता है ॥१०॥

जिता जिताम्भोधरसारभासां रुतैरुतामी पतताम्रुदासाः ।
उन्मूलयन्ति स्वतनूरुहाणि शिखावला आश्विनमासि तानि ॥११॥

इस शारदीय आश्विन मास में मेघों की भी गम्भीर वाणी को जीतने वाले हंसों के शब्दों से हम लोग पराजित हो गये हैं, यह सोच करके ही मानों उदास हुए मयूर गण अपने शरीर की पांखों को उखाड़-उखाड़ कर फैंकने लगते हैं ॥११॥

क्षेत्रेभ्य आकृष्य फलं खलेषु निक्षिप्यते चेत्कृषकैस्तु तेषु ।
फलेशवेषः कुनरेशदेशः को वाऽनयोरस्तु मिथो विशेषः ॥१२॥

जब किसान लोग उत्पन्न हुई धान्य को खेतों में से ला-लाकर खलों (खलियानों और पक्षान्तर में दुर्जन पुरुषों) में फैंक रहे हैं, तब यह शरद् काल खोटे राजा के देश के समान है, क्योंकि उन दोनों में परस्पर क्या विशेषता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥१२॥

स्मरः शरद्यस्ति जनेषु कोपी तपस्विनां धैर्यगुणो व्यलोपि ।
यतो दिनेशः समुपैति कन्याराशिं किलासीमतपोधनोऽपि ॥१३॥

शरद्-ऋतु में कामदेव मनुष्यों पर कुपित होता है और तपस्वी जनों के भी धैर्य गुण का लोप कर देता है । क्योंकि असीम तपोधन वाला अर्थात् प्रचुर ताप को धारण करने वाला सूर्य भी इस समय सिंह-राशि को छोड़ कर कन्या-राशि को प्राप्त होता है ॥१३॥

भावार्थ - सूर्य जैसा तेजस्वी देव भी इस शरद् काल में कामासक्त होकर अपनी सिंह वृत्ति को छोड़ कन्याओं के समूह पर आ पहुँचता है । यह आश्चर्य की बात है ।

ते शारदा गन्धवहाः सुवाहा वहन्ति सप्तच्छदगन्धवाहाः ।
सन्मैथुनम्लानवधूविहारातिमन्थरामोदमयाधिकाराः ॥१४॥

वे शरद्-कालीन हवाएं, जो सप्तपर्ण वृक्षों की सुगन्ध को लेकर बहा करती हैं, वे इस समय मैथुन-प्रसंग से शिथिल हुई बधुओं के समीप विहार करने से अति मन्थर (मन्द) गति वाली और आमोदयुक्त अधिकार वाली होकर काम-वासना को बढ़ाने में और भी अधिक सहायक हो जाती है ॥१४॥

मही-महाङ्के मधुबिन्दुवृन्दैः सुपिच्छिले पान्थ इतोऽपि विष्वक् ।
सरोजिनीं चुम्बति चञ्चरीके निक्षिप्तदृष्टिः स्खलतीति शश्वत् ॥१५॥

फूलों के मधु-बिन्दुओं के समूह से अति पिच्छिल (कीचड़युक्त) हुए इस भूमण्डल पर चलने वाला पथिक जब कमलिनी को चूमते हुए भ्रमर अपनी दृष्टि डालता है, तब अपनी प्राणप्रिया की याद कर पग-पग पर स्खलित होने लगता है ॥१५॥

तल्लीनरोलम्बसमाजराजि-व्याजेन जाने शरदाऽङ्कितानि ।
नामाक्षराणीव मनोभवस्यातिपेशले पद्मदलेऽर्पितानि ॥१६॥

अति सुन्दर कमल-दल पर आकर निश्चल रूप से बैठे हुए भ्रमर-पंक्ति के बहाने से मानों शरद् ऋतु ने कामदेव की प्रशस्ति के अक्षर ही लिख दिये है, ऐसा प्रतीत होता है ॥१६॥

रमा समासाद्य भुजेन सख्याः स्कन्धं तदन्यार्धशयात्तमध्या ।
पन्थानमीषन्मरुता धुतान्तःकुचाञ्चला कस्य कृतेऽक्षिकृद्या ॥१७॥

इस शरद् ऋतु में मन्द-मन्द चलती हुई हवा से जिसके स्तनों का आंचल कम्पित हो रहा है, ऐसी कोई प्रोषित-भर्तका नारी एक हाथ अपनी सखी के कन्धे पर रख कर और दूसरा हाथ अपनी कमर पर रख कर खड़ी होकर किस भाग्यवान् के लिए प्रतीक्षा करती हुई मार्ग को देख रही है ॥१७॥

स्वयं शरच्चामरपुष्पिणीयं छत्रं पुनः सप्तपलाशकीयम् ।
हंसध्वनिर्बन्धनतो विमुक्तः स्मरस्तु साम्राज्यपदे नियुक्तः ॥१८॥

इस शरद्-ऋतु में ऐसा प्रतीत होताहै, मानों कामदेव साम्राज्य पद पर नियुक्त हुआ है, जिसके चंवर तो फूले हुए कांस हैं और सप्तपर्ण के पत्र ही मानों छत्र हैं । तथा राज्याभिषेक की खुशी में कारागार के बन्धन से विमुख हंसो की ध्वनि ही गाई जाने वाली विरुदावली है ॥१८॥

अनन्यजन्यां रुचिमाप चन्द्र आत्मप्रियायामिति कोऽस्त्वमन्द्रः ।
इत्येवमेकान्ततयाऽनुराग-सम्वर्धनोऽभूच्छरदो विभागः ॥१९॥

इस समय चन्द्रमा भी अपनी प्राणप्रिया रात्रि में ऐसी अनन्यजन्य कान्ति को धारण कर रहा है, जैसी कि उसने शेष पांचों ऋतुओं में कभी नहीं धारण की थी । इस समय कौन आलसी पुरुष अपनी प्राण-प्यारी के प्रति उदासीन रहेगा ? इस प्रकार शरद्-ऋतु का यह समय-विभाग एकान्त रूप से लोगों में अपनी स्त्रियों के प्रति अनुराग बढ़ाने वाला हो रहा है ॥१९॥

अपि मृदुभावाधिष्ठशरीरः सिद्धिश्रियमनुसर्तुं वीरः ।
कार्त्तिककृष्णाब्धीन्दुनुमायास्तिथेर्निशायां विजयनमथाऽयात् ॥२०॥

ऐसी शरद-ऋतु में अति मृदुल शरीर को धारण करने वाले भगवान् महावीर भी मुक्ति-लक्ष्मी को प्राप्त करने के लिए कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि में एकान्त स्थान को प्राप्त हुए ॥२०॥

पावानगरोपवने मुक्तिश्रियमनुगतो महावीरः ।
तस्या वर्त्मानुसरन् गतोऽभवत् सर्वथा धीरः ॥२१॥

उसी रात्रि के अन्तिम समय में वे धीर वीर महावीर पावानगर के उपवन में मुक्ति-लक्ष्मी के अनुगामी बने और उसके मार्ग का अनुसरण करते हुए वे सदा के लिए चले गये ॥२१॥

प्रापाथ तादृगनुबन्धनिबद्धभावं
प्रत्यागतो न भगवान् पुनरद्य यावत् ।
तस्या मुखाम्बुरुहि सङ्गतदृष्टिरस्मात्
तस्यैव भाक्तिकजनानपि दृष्टुमस्मान् ॥२२॥

इसके पश्चात् भगवान महावीर उस सिद्धि-वधू के साथ ऐसे अनुराग भाव से निबद्ध हुए कि वहां से वे आज तक भी लौट कर वापिस नहीं आये । वे उस सिद्धि-वधू के मुख-कमल पर ऐसे आसक्त दृष्टि हुए कि हम भक्त जनों को देखने की भी उन्हें याद नहीं रही ॥२२॥

देवैर्नरैरपि परस्परतः समेतै
र्दीपावली च परितः समपादि एतैः ।
तद्वर्त्म शोधितुमिवाथ तकैः स हूतः
नव्यां न मोक्तुमशकत्सहसात्र पूतः ॥२३॥

भगवान् महावीर के मुक्ति-वधू के पास चले जाने पर उनका मार्ग शोधन करने के लिए ही मानों देवों और मनुष्यों ने परस्पर मिलकर चारों ओर दीपावली प्रज्वलित की, उन्हें ढूंढा और पुकारा भी । किन्तु वे पवित्र भगवान् उस नव्य दिव्य मुक्ति-वधू को सहसा छोड़ने के लिए समर्थ न हो सके ॥२३॥

सोऽसौ स्वशिष्यगुरुगौतममात्मनीने
कैवल्यशर्मणि नियुक्तमगादहीने ।
कृत्वेति सिद्धवनितामनुतामचिन्तः
रेमे स्म किं पुनरुदीक्षत इङ्गिनीं तत् ॥२४॥

वे भगवान् महावीर अपने महान् केवलज्ञान मयी अनन्त सुख रूप सिंहासन पर अपने प्रधान शिष्य गौतम गणधर को नियुक्त करके गये, इसलिए उन्हें हम लोगों के संभालने की चिन्ता न रही और इसी कारण वे उस आनन्द-दायिनी मुक्ति-वधू के प्रेम में अनन्य रूप से संलग्न हो गये ॥२४॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीयतम् ।
तस्या सावुपयाति सर्ग उत सा चन्द्राक्षिसंख्ये कृतिः
सम्प्राप्ते शरदागमेऽनु समभूद्वीरप्रभुर्निवृतिम् ॥२१॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भुज और घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए, वाणी-भूषण, बाल-ब्रह्मचारी, पं. भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञानसागर विरचित इस वीरोदय काव्य में भगवान् महावीर के निर्वाणगमन को वर्णन करने वाला इक्कीसवां सर्ग समाप्त हुआ ॥२१॥

❖ ❖ ❖

अथ द्वाविंशः सर्गः

वीरस्तु धर्ममिति यं परितोऽनपायं
विज्ञानतस्तुलितमाह जगद्धिताय।
तस्यानुयायिधृतविस्मरणादिदोषा–
द्याऽभूद्दसा क्रमगतोच्यत इत्यहो सा ॥१॥

वीर भगवान् ने सर्व प्रकार से निर्दोष और विज्ञान-सन्तुलित जिस धर्म का उपदेश जगत् भर के प्राणियों के हित के लिए दिया था, उस धर्म की जो दशा भगवान् महावीर के ही अनुयायियों द्वारा विस्मरण आदि दोष से हुई, वह क्रम से यहां पर कही जाती है ॥१॥

भो भो प्रपश्यत पुनीतपुराणपन्था विश्वस्य शैत्यपरिहारकृदेककन्था ।
आभद्रबाहु किल वीरमतानुगाना मेका स्थितिः पुनरभूदसकौ द्विदाना ॥२॥

हे पाठको देखो- वह पवित्र, पुरातन (सनातन) धर्म-पन्थ (मार्ग) विश्व की शीतता (जड़ता) को परिहार करने के लिए अद्वितीय कन्था (रिजाई) के समान था । उस धर्म के अनुयायियों की स्थिति भद्रबाहु श्रुतकेवली तक तो एक रूप रही,पुनः वह दो धाराओं में परिणत हो गई ॥२॥

कर्णाटकं स्थलमगात् स तु भद्रबाहु
र्यं वीरवाचि कुशलं मनुयः समाहुः ।
स्थौल्येन भद्र इति कोऽपि तदर्थवेत्ता ।
वीरस्य वाचमनुसन्धृतवान् सचेताः ॥३॥

जिन भद्रबाहु को मुनिजन वीर-वचन कुशल (श्रुत केवली) कहते थे, वे भद्रबाहु तो उत्तर-प्रान्त में दुर्भिक्ष के प्रकोप से दक्षिण प्रान्त के कर्णाटक देश को चले गये । इधर उत्तर प्रान्त में रह गये स्थूलभद्र मुनि ने - जो कि अपने को वीर-वाणी के अर्थ-वेत्ता और सुचेत्ता मानते थे-उन्होंने महावीर के प्रवचनों का संग्रह किया ॥३॥

ये स्पष्टशासनविदः खलु भद्रबाहो
स्तैरस्य कर्म सतुषं गदितं तदाहो ।

संशोधितं न निजचेष्टितमित्यनेन
तेषां समं न समभून्मिलनं निरेनः ॥४॥

जो मुनिजन भद्रबाहु श्रुतकेवली के शासन के स्पष्ट जानकार थे, उन्होंने स्थूलभद्र के उक्त संग्रह को उस समय सदोष कहा और उसे संशोधन करने के लिए निवेदन किया। किन्तु उन्होंने अपनी कृति का संशोधन नहीं किया और इसी कारण उनका परस्पर निर्दोष सम्मिलन नहीं हो सका ॥४॥

यत्सम्प्रदाय उदितो वसनग्रहेण
सार्धं पुरोपवनादिविधी रयेण ।
यो वीरभावमतिवर्त्य सुकोमलत्व
शिक्षां प्रदातुमधितिष्ठति सर्वकृत्वः ॥५॥

इन स्थूलभद्र के उपदेश एवं आदेश से जो सम्प्रदाय प्रकट हुआ, वह वीर-भाव (सिंह वृत्ति) को गौण करके वन-वास छोड़कर पुर-नगरादि में रहने लगा और कठिन तपश्चरण एवं नग्नता के स्थान पर वस्त्र-धारणादि सुकुमारता की शिक्षा देने के लिए वेग से सर्व ओर फैल गया ॥५॥

देवर्द्धिराप पुनरस्य हि सम्प्रदायी
यो विक्रमस्य शरवर्षशतोत्तरायी ।
सोऽङ्गाख्यया प्रकृतशास्त्रविधिस्तदीयाऽऽ
म्नायं च पुष्टिमनयज्जगतामितीयान् ॥६॥

पुनः इन्हीं स्थूलभद्र की सम्प्रदाय वाले देवर्द्धि गणी जो विक्रम से पांच सौ वर्ष पीछे हुए। उन्होंन आचाराङ्ग आदि अंगनाम से प्रसिद्ध आगमों की रचना कर स्थूलभद्र के आम्नाय की पुष्टि की, जिससे कि उनका सम्प्रदाय जगत् में इतना अधिक फैल गया ॥६॥

काँश्चित् पटेन सहितान् समुदीक्ष्य चान्या
नाहुर्दिगम्बरतया जगतोऽपि मान्याः ।
स्वाभाविकं सहजवेषमुपाददानान्
वेदेऽपि कीर्त्तितगुणान्मनुजास्तथा तान् ॥७॥

उस समय कितने ही वीर-मतानुयायी साधुओं को स्वेत पट-सहित देखकर लोग उन्हें सितपट या श्वेताम्बर कहने लगे और वेद में भी जिनके गुणों का गान किया गया है ऐसे जगन्मान्य,सहज (जन्म-जात) स्वाभाविक नग्न वेष के धारक अन्य साधुओं को नग्नाट या दिगम्बर कहने लगे ॥७॥

वीरस्य वर्त्मनि तकैः समकारि यत्नः स्थातुं यथावदथ कः खलु मर्त्यरत्नः ।
बाल्येऽपि यौवनवयस्यपि वृद्धतायां तुल्यत्वमेव वसुधावलयेसदाऽयात् ॥८॥

उन लोगों ने भगवान् महावीर के मार्ग पर यथावत् स्थिर रहने के लिए भर-पूर प्रयत्न किया, किन्तु कालदोष से वे उस पर यथापूर्व स्थिर न रह सके । जैसे कि कोई पुरुष-रत्न (श्रेष्ठ-मनुष्य) प्रयत्न करने पर भी बालपन में, यौवन वय में और वृद्धावस्था में काल के निमित्त से होने वाले परिवर्तन में तुल्यता रखने के लिए इस भूतल पर कभी भी समर्थ नहीं हो सकता है ॥८॥

पार्श्वस्थसङ्गमवशेन दिगम्बरेषु शैथल्यमापतितमाशु तपःपरेषु ।
तस्मात्तकेष्वकथिकैर्न वने निवासः कार्यः कलेरिति तमां समभूद्विलासः ॥९॥

शिथिलता को प्राप्त हुए समीपवर्ती साधुओं की संगति के वश से तप में तत्पर दिगम्बर साधुओं में भी शीघ्र शिथिलता आ गई । इसलिए उनमें भी कितने ही आचार्यों ने यह कहना प्रारम्भ कर दिया कि साधुओं को इस काल में वन में निवास नहीं करना चाहिए । सो यह कलिकाल का ही महान् विलास है, ऐसा जानना चाहिए ॥९॥

मन्दत्वमेवमभवत्तु यतीश्वरेषु तद्वच्छनैश्च गृहमेधिनुमाधरेषु ।
याद्दङ् नरे जगति दारवरेऽपि ताद्दक् भूयात् क्रमः किमिति नेति महात्मनां द्दक् ॥१०॥

इस प्रकार जैसे बड़े मुनि-यतीश्वरों में शिथिलता आई, उसी प्रकार धीरे-धीरे गृहस्थ श्रावकों में भी शिथिलता आ गई । सो महापुरुषों का कथन सत्य ही है कि जैसी प्रवृत्ति इस जगत् में मनुष्यों की होगी, वैसी ही प्रवृत्ति स्त्रीजनों में भी होगी ॥१०॥

श्रीभद्रबाहुपदपद्ममिलिन्दभावभाक् चन्द्रगुप्तनृपतिः स बभूव तावत् ।
सम्पूर्णभारतवरस्य स एक शास्ता तद्राज्यकाल इह सम्पद एव तास्ताः ॥११॥

श्री भद्रबाहु के चरण-कमलों के भ्रमर-भाव को धारण करने वाला चन्द्रगुप्त नाम का राजा उस समय हुआ । वह सम्पूर्ण भारतवर्ष का अद्वितीय शासक था । उसके राज्य-काल में यहां पर प्रजा को सुख देने वाली सभी प्रकार की सम्पत्तियां प्राप्त थी ॥११॥

मौर्यस्य पुत्रमथ पौत्रमुपेत्य हिन्दुस्थानस्य संस्कृतिरभूदधुनैकबिन्दुः ।
पश्चादनेकनरपालतया विभिन्न विश्वासासवाञ्जनगणः समभूत्तु खिन्नः ॥१२॥

चन्द्रगुप्त मौर्य का पुत्र बिन्दुसार और उसका पौत्र अशोक और तत्पश्चात् सम्प्रति आदि श्रेष्ठ राजाओं का आश्रय पाकर इस भारत देश की संस्कृति एक बिन्दु वाली रही, अर्थात् उक्त राजाओं के समय सारे भारतवर्ष की संस्कृति और सभ्यता अहिंसा धर्मप्रधान बनी रही, क्योंकि ये सब राजा लोग जैन धर्मानुयायी थे । पीछे अनेक धर्मानुयायी राजाओं के होने से यहां के मनुष्य-गण भी भिन्न-भिन्न धर्मों के विश्वास वाले हो गये ॥१२॥

हिंसां स दूषयति हिन्दुरियं निरुक्तिःश्रीवीरराट्समनुयायिषु यत्प्रयुक्तिः ।
युक्ताऽथ वैदिकजनेष्वपि तत्प्रयोगःकैर्देहिभिः पुनरमानि न योग्ययोगः ॥१३॥

'जो हिंसा को दोष-युक्त कहे' वह हिन्दू है, ऐसी हिन्दू शब्द की निरुक्ति अहिंसा को ही धर्म मानने वाले वीर भगवान् के अनुयायी लोगों में ही युक्त होती थी । कितने ही लोग 'हिन्दु' इस शब्द का प्रयोग वैदिक जनों में करते हैं और उसे ही युक्ति-युक्त बतलाते हैं । हमारी दृष्टि से तो उनका यह कथन युक्ति-संगत नहीं है ॥१३॥

अत्युद्धतत्वमिह वैदिकसम्प्रदायी प्राप्तोऽभवत् कुवलये वलयेऽभ्युपायी ।
तत्सन्निषेधनपरः परमार्हतस्तु विष्वग्भुवोऽधिकरणं कलहैकवस्तु ॥१४॥

मौर्य-वंशी राजाओं के पश्चात् इस भूमण्डल पर वैदिक सम्प्रदायी पुनः पशु-बलि और हिंसा प्रधान यज्ञों का प्रचार कर अति उद्धतता को प्राप्त हुए । तब उनका निषेध परम आर्हत (अर्हन्त मतानुयायी) जैन लोग करने लगे । इस प्रकार यह सारा देश एक मात्र कलह का स्थान बन गया ॥१४॥

वीरस्य विक्रममुपेत्य तयोः पुनस्तु सम्पर्कजातमनुशासनमैक्यवस्तु ।
यद्वत्सुधासु निशयोर्जगतां हिताय श्रद्धाविधिः स्वयमिहाप्यनुरागकाय ॥१५॥

पुनः परम प्रतापशाली वीर विक्रमादित्य के शासन को प्राप्त कर उक्त दोनों सम्प्रदाय वाले एक ही अनुशासन में बद्ध हो मेलमिलाप से रहने लगे । जैसे कि चूना और हल्दी परस्पर मिलकर एक रंग को धारण कर लेते हैं ॥१५॥

स्नानाऽऽचमादिविधिमभ्युपगम्य तेन बह्नेरुपासनमुरीकृतमार्हतेन ।
यक्षादिकस्य परिपूजनमप्यनेनः साडम्बरं च विहितं मधुर मते नः ॥१६॥

इस राजा के शासन-काल में वैदिक-सम्प्रदाय-मान्य स्नान, आचमन आदि बाह्य क्रिया-काण्ड की विधि को स्वीकार करके उन परम आर्हत-मतानुयायी जैन लोगों ने अग्नि की उपासना को भी अङ्गीकार कर लिया, यज्ञादिक व्यन्तर देवों की पूजन को भी इस निराडम्बर, मधुर दिगम्बर जैन मत में स्थान मिला और याज्ञिक वेदानुयायी जनों की अन्य भी बहुत सी बातों को जैन लोगों ने अपना लिया ॥१६॥

त्यक्तं क्रतौ पशुबलेः करणं परेण निर्हिंसनैकसमये सुसमादरेण ।
देवानुपेक्ष्य नृवरस्तवनाय चेतः कृत्वाऽवतारविधिरुत्कलितोऽथवेतः ॥१७॥

इधर यज्ञों में पशु-बलि करने वाले वैदिक जनों ने भी अहिंसा मय जैन धर्म में अति आदर-भाव प्रकट करके यज्ञ में पशुओं की बलि करना छोड़ दिया और नाना प्रकार के देवी-देवताओं की उपेक्षा करके श्रेष्ठ मनुष्यों के स्तवन में अपना चित्त लगा कर मानव पूजा को स्थान दिया और तभी से उन्होंने महापुरुषों के अवतार लेने की कल्पना भी की ॥१७॥

जातीयतामनुबभूव च जैनधर्मः विश्वस्य यो निगदितः कलितुं सुशर्म ।
आगारवर्तिषु यतिष्वपि हन्त खेद स्तेनाऽऽश्वभूदिह तमां गण–गच्छभेदः ॥१८॥

जैन और वैदिक जनों के इस पारस्परिक आदान-प्रदान का यह फल हुआ कि विश्व का कल्याण करने वाला यह जैन धर्म जातीयता का अनुभव करने लगा अर्थात् वह धर्म न रहकर सम्प्रदाय रूप से परिणत हो गया और उसमें अनेक जाति-उपजातियों का प्रादुर्भाव हो गया । अत्यन्त दुःख की बात है कि इसके पश्चात् गृहस्थों में और मुनियों में शीघ्र ही गण-गच्छ के भेद ने स्थान प्राप्त किया और एक जैन धर्म अनेक गण-गच्छ के भेदों में विभक्त हो गया ॥१८॥

तस्मात्स्वपक्षपरिरक्षणवर्धनायाऽ हङ्कारितापि जगतां हृदयेऽभ्युपायात् ।
अन्यत्र तेन विचिकित्सनमप्यकारि सत्यादपेतपरताशनकैरधारि ॥१९॥

जैन धर्म में गण-गच्छ के भेद होने से प्रत्येक पक्ष को अपने पक्ष के रीति-रिवाजों की रक्षा करने का भाव प्रकट हुआ, इससे लोगों के हृदय में अहङ्कार का भाव भी उदित हुआ, अर्थात् प्रत्येक पक्ष अपने ही रीति-रिवाजों को श्रेष्ठ मानने लगा और अन्य पक्ष के रीति-रिवाजों को अपने से हलका मान कर उससे ग्लानि करने लगा । इस प्रकार धीरे-धीरे लोग सत्य से दूर होते गये ॥१९॥

तस्माद् दुराग्रहवतीर्षणशीलताऽऽपि अन्योन्यतः कलहकारितया सदापि ।
एवं मिथो हतितया बलहानितो क्षेत्रे बभूव दुरितस्य न सम्भवो न ॥२०॥

इसगण-गच्छ-भेद के फल स्वरूप जैन धर्म-धारकों में दुराग्रह और ईर्ष्या ने स्थान प्राप्त किया, तथा परस्पर में कलहकारिता भी बढ़ी । इस प्रकार जैनों की पारस्परिक लड़ाई से उनके सामाजिक बल (शक्ति) की हानि हुई और हमारे इस पवित्र भारतवर्ष में अनेक प्रकार की बुराइयों ने जन्म लिया । ।२०॥

धर्मः समस्तजनताहितकारि वस्तु यद्वाह्यडम्बरमतीत्य सदन्तरस्तु ।
तस्मायनेकविधरूपमदायि लोकै र्यस्मिन् विलिप्यत उपेत्य सतां मनोऽकैः ॥२१॥

जो धर्म समस्त जनता का हितकारी है और जो बाहिरी आडम्बर से रहित आन्तरिक वस्तु है, अर्थात् जो अपने मन को मदमत्सरादि दुर्भावों से जितना अधिक दूर रखेगा, वह धर्म के उतने ही समीप पहुँचेगा, ऐसे पवित्र धर्म को भी लोगों ने अनेक प्रकार के बाहिरी रूप प्रदान किये, जिनके चक्र में पड़कर सत्पुरुषों का मन भी नाना प्रकार के विकल्पों से संलिप्त रहने लगा ॥२१॥

बिम्बार्चनञ्च गृहिणोऽपि निषेधयन्ति केचित्परे तु यतयेऽपि विशेषयन्ति ।
तस्मै सदन्दुवसनाद्यपि केवनाहु र्नान्योऽभिषेचनविधावपि लब्धबाहुः ॥२२॥

कितने ही लोग गृहस्थों के लिए भी प्रतिमा-पूजन का निषेध करते है और कितने ही लोग मुनियों के लिए भी उसकी आवश्यकता बतलाते हैं। कितने ही लोग वीतराग परमात्मा की मूर्ति को भी वस्त्राभूषणादि पहिराना आवश्यक मानते हैं, तो कितने ही लोग मूर्ति का अभिषेक आदि करना अनावश्यक बतला कर उनका निषेध करते हैं ॥२२॥

कश्चित्त्वसिद्धमपि पत्रफलाद्यचित्तं संसिद्धमालुकमलादि पुनः सचित्तम् ।
निर्देष्टुमुद्यतमना न मनागिदानीं सङ्कोचमञ्चति किलात्ममताभिमानी ॥२३॥

उस पवित्र जैन धर्म को मानने वालों की आज यह दशा है कि कोई तो अग्नि से सीझे बिना ही पत्र-फल आदि को अचित्त मानता है और कोई भली-भांति अग्नि से पकाये गये आलु आदि को भी सचित्त मानता है। इस प्रकार लोग अपने-अपने मत के अभिमानी बनकर और अन्यथा प्ररूपण करने के लिए उद्यत चित्त होकर आज कुछ भी सङ्कोच नहीं करते हैं ॥२३॥

कूपादिसंखननमाह च कोऽपि पापं लग्नस्य वाश्रयभुजः शमनेऽपि शापम् ।
इत्यादिभूरिजनमानसदुःस्थितत्वा त्संकल्पयन्निह जनो यमुपैति तत्त्वात् ॥२४॥

कितने ही जैन लोग कूप-वावड़ी आदि के खुदवाने को पाप कहते हैं और किसी स्थान पर लगी हुई आग के बुझाने में भी पाप बतलाते हैं। इत्यादि रूप से नाना प्रकार की मनमानी कल्पनाएं करके आज का यह मानव तत्त्व का अन्यथा प्रतिपादन कर रहा है ॥२४॥

भावार्थ - जनता को पीने का पानी सुलभ करने के लिए कुंआ बावड़ी आदि का खुदवाना पुण्य-कार्य है। पर कितने ही जैनी उसे आरम्भ-समारम्भ का कार्य बताकर पाप-कार्य बतलाते हैं। इसी प्रकार किसी स्थान पर लगी आग को उसमें घिरे हुए प्राणियों की रक्षार्थ बुझाना पुण्य-कार्य है। परन्तु वे लोग उसमें जलकायिक तथा अग्नि कायिक जीवों की विराधना बतलाकर उसे पाप-कार्य कहते हैं। उन लोगों को ज्ञात होना चाहिए कि जब तक श्रावक आरम्भ का त्यागी अष्टम प्रतिमाधारी नहीं बन जाता है, तब तक उसके लिये उक्त कार्य विधेय है और वह उन्हें कर सकता है। अन्यथा सभी लोकोपकारी कार्यों का करना असम्भव हो जायगा। हां आरम्भ-त्यागी हो जाने पर गृहस्थ को उनके करने का जैन-आगम में निषेध किया गया है।

सत्त्वेषु सन्निगदतः करुणापरत्वं भूत्वानुयाय्यपि वदेत्तदिहाद्ध तत्वम् ।
यत्साधुतोऽन्यपरिरक्षणमेव पापं हा हन्त किन्तु समुपैमि कलेः प्रतापम् ॥२५॥

जो धर्म प्राणिमात्र पर मैत्री और करुणाभाव रखने का उपदेश देता है, उसी के अनुयायी कुछ जैन लोग कहें कि साधु के सिवाय अन्य किसी भी प्राणी की रक्षा करना पाप है । सो हाय यह बडे दुःख और आश्चर्य की बात है । अथवा मैं तो इसे कलिकाल का ही प्रताप मानता हूँ कि लोग जीव-रक्षा जैसे धर्म-कार्य को भी पाप-कार्य बतलाते हुए संकोच का अनुभव नहीं करते ॥२५॥

यः क्षत्रियेश्वरवरैः परिधारणीयः सार्वत्वमावहति यश्च किलानणीयः
सैवाऽऽगतोऽस्ति वणिजामहहाद्य हस्ते वैश्यत्वभेव हृदयेन सरन्त्यदस्ते ॥२६॥

जो धर्म उत्तम क्षत्रिय राजाओं के द्वारा धारण करने योग्य था, और अपनी सर्व कल्याणकारी निर्दोष प्रवृत्ति के कारण सब का हितकारी था, वही जैन धर्म आज व्यापार करने वाले उन वैश्यों के हाथ में आ गया है, जो धर्म के विषय में भी हृदय से वणिक्-वृत्ति का आश्रय कर रहे हैं ॥२६॥

भावार्थ - आज तक संसार में जितने भी जैन धर्म के प्रवर्तक तीर्थङ्कर हुए हैं, वे सब क्षत्रिय थे और क्षत्रिय उसे कहते हैं जो दूसरों की दुःख से रक्षा करे । ऐसा क्षत्रियों के द्वारा धारण करने योग्य यह जैन धर्म उन व्यापारी वैश्य वर्ग के हाथों में आया है, जिनका कि अपनी वस्तु को खरी और दूसरों की वस्तु को खोटी बताना ही काम है । यही कारण है कि जैन-धर्म आज जहां प्राणि-मात्र का हितैषी होने के कारण लोक-धर्म या राज-धर्म होना चाहिए था, वह आज एक जाति या सम्प्रदाय वालों का धर्म माना जा रहा है, यह बडे दुःख की बात है ।

येषां विभिन्नविपणित्वमनन्यकर्म स्वस्योपयोगपरतोद्धरणाय मर्म ।
नो चेत्पुनस्तु निखिलात्मसु तुल्यमेव धर्मं जगाद न वधं जिनराजदेवः ॥२७॥

अपनी-अपनी जुदी दुकान लगाना ही जिनका एक मात्र कार्य है और अन्यों से अपना निरालापन प्रकट कर अपनी उपयोगिता सिद्ध करना ही जिनका धर्म है, ऐसे वैश्यों के हाथों में आकर यदि यह विश्व धर्म आज अनेक गण, गच्छ आदि के भेदों में विभक्त हो रहा है, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? श्री जिनराज देव ने तो समस्त जीवों में समान भाव से जीव-रक्षा को ही धर्म कहा है, जीव-घात को नहीं ॥२७॥

इदानीमपि वीरस्य सन्ति सत्यानुयायिनः ।
येषां जितेन्द्रियं जन्म परेषां दुखदायि न ॥२८॥

इतना सब कुछ होने पर भी आज भी भगवान् महावीर के सच्चे अनुयायी पाये जाते हैं, जो जितेन्द्रिय है और जिनका जीवन दूसरों के लिए दुःखदायी नहीं है, प्रत्युत सर्व प्रकार औरों का कल्याण करने वाला ही है ॥२८॥

सुखं सन्दातुमन्येभ्यः कुर्वन्तो दुःखमात्मसात् ।
छायावन्तो महात्मानः पादपा इव भूतले ॥२९॥

जैसे भूतल पर छायावान् वृक्ष शीत-उष्णता आदि की स्वयं बाधा सहते हुए औरों को सुख प्रदान करते हैं, उसी प्रकार महापुरुष भी आने वाले दुःखों को स्वयं आत्मसात् करते (झेलते) हुए औरों को सुख प्रदान करने के लिए इस भूतल पर विचरते रहते हैं ॥२९॥

मक्षिकावज्जना येषां वृत्तिः सम्प्रति जायते ।
जीवनोत्सर्गमप्याऽऽसृवा परेषां वमिहेतवे ॥३०॥

कुछ लोगों की प्रवृत्ति आज मक्खी के समान हो रही है, जो अपना जीवन उत्सर्ग कर दूसरों के वमन का कारण बनती है ॥३०॥

भावार्थ - जैसे मक्खी किसी के मुख में जाकर उसके खाये हुए मिष्टान्न का वमन कराती हुई स्वयं मौत को प्राप्त होती है, इसी प्रकार आज कितने ही लोग इस वृत्ति के पाये जाते हैं कि जो अपना नुकसान करके भी दूसरों को हानि पहुँचाने में संलग्न रहते हैं । ऐसे लोगों की मनोवृत्ति पर ग्रन्थकार ने अपना हार्दिक दुःख प्रकट किया है ।

दुःखमेकस्तु सम्पर्के प्रददाति परः परम् ।
दुःखायापसरन् भाति को भेदोऽस्त्वसतः सतः ॥३१॥

अहो देखो-एक तो सम्पर्क होने पर दूसरे को दुःख देता है और दूसरा दूर होता हुआ दुःख देता है, दुर्जन और सज्जन का यह क्या विलक्षण भेद प्रतीत होता है ॥३१॥

भावार्थ - दुर्जन का तो समागम दुःखदायी होता है और सज्जन का वियोग दुःखदायी होता है, संसार की यह कैसी विलक्षण दशा है ।

ग्रन्थकार का लघुता-निवेदन

ममाऽमृदुगुरङ्कोऽयं सोमत्वादतिवर्त्यपि ।
विकासयतु पूषेव मनोऽम्भोजं मनस्विनाम् ॥३२॥

मेरा यह काव्य-प्रबन्ध यद्यपि मृदुता-रहित है, कटूक्ति होने से सौम्यता का भी उल्लंघन कर रहा है, तथापि सन्ताप-जनक सूर्य के समान यह मनस्वी जनों के हृदय-कमलों को विकसित करेगा ही, ऐसा मेरा विश्वास है ॥३२॥

योऽकस्माद्भयमेत्यपुंसकतया भीमे पदार्थे सति
एकस्मिन् समये परेण विजितः स्त्रीभावमागच्छति ।

क्षीणं वीक्ष्य विजेतुमभ्युपगतः स्फीतो नरत्वं प्रति
नित्यं यः पुरुषायतामदरवान् वीरोऽसकौ सम्प्रति ॥३३॥

साधारण जन प्रायः भयंकर पदार्थ के अकस्मात् सम्मुख उपस्थित होने पर नपुंसकता से भयभीत हो कायर बन जाता है, वही दूसरे समय में अन्य से पराजित होने पर उसकी नाना प्रकार की अनुनय-विनय करता हुआ स्त्री भाव को धारण करता है, कालान्तर में वही मनुष्य किसी क्षीण (दुर्बल-अशक्त) मनुष्य को देखकर उसे जीतने के लिए अपना पौरुष दिखाता हुआ दृष्टिगोचर होता है । किन्तु जो निरन्तर ही पुरुषार्थी है, निर्भय है और दूसरे जीवों के संरक्षण के लिए सदा उद्यत रहता है वही पुरुष वास्तव में आज 'वीर' कहलाने के योग्य है और ऐसा वीर पुरुष ही जगत् में धन्य है ॥३३॥

सूपकार इवाहं यं कृतवान् वस्तु केवलम् ।
तत्स्वादूत किलास्वादु वदेयुः पाठका हि तत् ॥३४॥

मैं तो सूपकार (रसोइया) के समान केवल प्रबन्ध रूप भोज्य वस्तु का निर्माता हूँ । वह वस्तु स्वादु है, अथवा अस्वादु है, यह तो भोजन करने वालों के समान पढ़ने वाले पाठक-गण ही अनुभव करके कहेंगे ॥३४॥

भावार्थ - मेरी यह काव्य-कृति कैसी बनी है, इसका निर्णय तो विज्ञ पाठकगण ही करेंगे । मेरा काम तो रसोइये के समान प्रबन्ध-रचना मात्र था, सो मैंने कर दिया ।

कलाकन्दतयाऽऽह्लादि काव्यं सद-विधुबिम्बवत् ।
अदोषभावमप्यङ्गीकुर्यादेतन्महाद्भुतम् ॥३५॥

नाना प्रकार की कलाओं का पुञ्ज होकर काव्य पूर्ण शरच्चन्द्र बिम्ब के समान जगत् का आह्लादक हो और अदोष भाव को भी अङ्गीकार करे, यह सचमुच में महान् आश्चर्य की बात है ॥३५॥

भावार्थ - दोषा नाम रात्रि का है, सम्पूर्ण कलाओं का धारक चन्द्रमा भी अदोष भाव को नहीं धारण करता, अर्थात् वह भी कलंक से युक्त रहता है । फिर मेरा यह काव्य सर्व काव्य-गत कलाओं से युक्त हो और सर्वथा निर्दोष भी हो, यह असंभव सी बात यदि हो जाय, तो वास्तव में आश्चर्यकारी ही समझना चाहिए ।

अनन्यभावतस्तद्धि सद्भिरासेव्यते न किम् ।
केवलं जडजैर्यत्र मौनमालम्ब्यते प्रभो ॥३६॥

हे प्रभो, फिर भी क्या वह सकलंक चन्द्र-बिम्ब सदा सर्व ओर से नक्षत्रों के द्वारा घिरा रहकर अनन्य भाव से सेवित नहीं होता है ? अर्थात् होता ही है । हां, केवल जड़जों (कमलों) दूसरे पक्ष में जड़ बुद्धियों के द्वारा ही मौन का आलम्बन लिया जाता है ॥३६॥

भावार्थ - चन्द्रमा कलंक-युक्त होने पर भी अपने नक्षत्र-मण्डल से सदा सेवित रहता है, भले ही कमल उसे देख कर मौन रहें, अर्थात् विकसित न हों । इसी प्रकार मेरे इस सदोष प्रबन्ध को भी ज्ञानी जन तो पढ़ेंगे । भले ही कमलों के समान कुछ विशिष्ट व्यक्ति उसके पढ़ने में अपना आदर-भाव न दिखावें और मौन रखें ।

रमयन् गमयत्वेष वाङ्मये समयं मनः ।
नमनागनयं द्वेष-धाम वा समयं जनः ॥३७॥

(गोमूत्रिकमिदं पद्यम्)

ज्ञानी जन अपना मन शुद्ध वाङ्मय में संलग्न कर समय व्यतीत करें । वे अपने मन को ईर्षा, द्वेष, और अन्याय मार्ग की ओर किंचिन्मात्र भी न जाने देवें ॥३७॥

विशेष - इस पद्य की गोमूत्रिका रचना परिशिष्ठ में देखें ।

नमनोद्यमि देवेभ्योऽर्हद्भ्यः सम्व्रजतां सदा ।
दासतां जनमात्रस्य भवेदप्यद्य नो मनः ॥३८॥

(यानबन्धरूपमिदम्)

सदा से ही सर्व साधारण जनों की दासता करने वाले हम जैसे लोगों का मन आज भगवान् अरहन्त देव के चरण-कमलों को नमस्कार करने के लिए प्रयंत्नशील हो और उनका गुणानुवाद करे, यह हमारे सौभाग्य की बात ही है ॥३८॥

विशेष-इस पद्य की यानबन्ध-रचना परिशिष्ट में देखें ।

विनयेन मानहीनं विनष्टैनः पुनस्तु नः ।
मुनये नमनस्थानं ज्ञानध्यानधनं मनः ॥३९॥

(पद्मबन्धरूपमिदम्)

हमारा यह मन विनय के द्वारा अभिमान-रहित होकर पापरहित निर्दोष बन जाय, महा मुनियों को नमस्कार करे, एवं सदा ज्ञान और ध्यान में तन्मय रहे, ऐसी हमारी भावना है ॥३९॥

विशेष - इस पद्य की पद्मबन्ध-रचना परिशिष्ट में देखें ।

सन्तः सदा समा भान्ति मर्जूमति नुतिप्रिया ।
अयि त्वयि महावीर ! स्फीतां कुरु मर्जूं मयि ॥४०॥

(तालवृन्तबन्धमिदं वृत्तम्)

हे महावीर प्रभो, आपके विषय में सन्त जन यद्यपि सदा समभाव रखते हैं, तथापि अति भक्ति से वे आपको नमस्कार करते हैं, क्योंकि आप वीतराग होते हुए भी विश्व-भर के उपकारक हैं, निर्दोष हैं और संकीर्णता से रहित हैं । हे भगवन्, आपकी कृपा से आपकी यह निर्दोषता मुझे भी प्राप्त हो, ऐसी मुझ पर कृपा करें ॥४०॥

विशेष - इस पद्य की तालवृन्त-रचना परिशिष्ट में देखें ।

मङ्गल-कामना

भूपालाः पालयन्तु प्रशमितसकलोपद्रवां भूतधात्रीं
काले काले समन्ताद्विकिरतु मघवा वृष्टिमानन्दपात्रीम् ।
एतद्विद्याधराणामनुभवतु पुनर्मानसं काव्यवस्तु
भव्यानां जैनमार्गप्रणिहितमनसां शाश्वतं भद्रमस्तु ॥४१॥

शासक लोग प्रजा को सकल उपद्रवों से रहित करते हुए इस भूमण्डल का भली-भाँति पालन करें, इन्द्रदेव समय-समय पर आनन्द-दायिनी जल-वर्षा करते रहें, विद्वानों का मन इस काव्य के पढ़ने में सदा लगा रहे और भव्य जनों का मन जैन मार्ग पर अग्रेसर हो, अर्थात् भव्य जन जैन धर्म धारण करें और सारे संसार का सदा कल्याण होवे ॥४१॥

जिनेन्द्रधर्मः प्रभवेत्समन्ताद्यतः स्वकर्तव्यपथानुगन्ता ।
भूयाज्जनः कर्मठतान्वयीति धर्मानुकूला जगतोऽस्तु नीतिः ॥४२॥

श्री जिनेन्द्रदेव प्ररूपित यह जैन धर्म सर्व ओर प्रसार को प्राप्त हो, जिससे कि जगज्जन अपने कर्तव्य-मार्ग पर चलें, समस्त लोग कर्मठ बने और धर्म के अनुकूल उनकी नीति हो, ऐसी मेरी भावना है ॥४२॥

नीतिर्वीरोदयस्येयं स्फुरद्रीतिश्च देहिने ।
वर्धतां क्षेममारोग्यं वात्सल्यं श्रद्धया जिने ॥४३॥

वीरोदय काव्यकी यह नीति प्राणि-मात्र के कल्याण के लिए स्फुरायमान रहे जगत् में क्षेम और आरोग्य बढ़ें, एवं जिन भगवान् में श्रद्धा के साथ प्राणिमात्र पर वात्सल्य भाव रहे ॥४३॥

श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं
वाणीभूषणवर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम् ।
तेनेदं रचितं समर्थखचितं भद्रैः पदैरञ्चितं
जीयाद्वीरमहोदयस्य चरितं युग्माक्षिसर्गैर्मितम् ॥२२॥

इस प्रकार श्रीमान् सेठ चतुर्भुजजी और घृतवरी देवी से उत्पन्न हुए, वाणी-भूषण, बाल-ब्रह्मचारी पं. भूरामल वर्तमान मुनि ज्ञान सागर के द्वारा रचित भद्र पदों से संयुक्त, वीर भगवान् के इस चरित में यह बाईसवां सर्ग समाप्त हुआ ॥२२॥

❖ *वीरोदय काव्य समाप्त* ❖

वीरोदय महाकाव्यम्

स्वोपज्ञ-टीका-सहितम्

प्रथमः सर्गः

श्री वीरदेवमानस्य प्रमाविक्रमशालिनम् ।
भक्त्या तदुदयस्येयं मया वृत्तिर्विधीयते ॥१॥

श्रिय इत्यादि - जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते स जिनोऽर्हन् स चात्र प्रबन्धविषये श्रिये स्वस्तिलक्षणायै लक्ष्म्यै, अस्तु मङ्गलकरो भवतु । यस्येयं यदीया, सा चासौ सेवा चेति यस: । समस्ताश्च ते संश्रोतारश्च तेषां जनाय समूहाय वाऽथवा मे मह्यमपि रसने समास्वादने द्राक्षेव यथा गोस्तनी तथा मृद्व मृदुप्रायाऽनुभूयते तथा हृदोऽपि हृदयस्यापि प्रसादिनी प्रसादकर्त्री भवति द्राक्षातुल्यैव । किञ्चात्रास्मिन् विषये श्रमोऽपि मनागेव न भवति ततोऽसौ मेवा खुल इति प्रचलितभाषानुकरणात् ॥१॥

कामारितेत्यादि - येन महोदयेन नोऽस्माकं कामितस्य वाञ्छितस्य सिद्धये सम्पादनार्थं कामारिता वाञ्छितविरोधिता समर्थिता स्वीकृतेति विरोधस्तत्परिहारस्तावत् कामस्य पञ्चबाणस्यारिता स्वीकृतेति । सैव भगवान् अभिजातः सुभगोऽपि नाभिजात: सौन्दर्यरहित इति विरोधस्तस्मान्नाभेर्नाम्नो महाराजस्य जात: पुत्र इति । अभिधातो नामतो वृषभो बलीवर्द: स एव समै: प्रशंसनीयैरजैश्छागैर्मान्य इति विरोधस्तत: समाजेन जनसमूहेन माननीय: स वृषभो नाम प्रथमस्तीर्थंकरो गृह्यते । अत्र विरोधाभासालङ्कार: ॥२॥

चन्द्रप्रभमित्यादि - चन्द्रप्रभमष्टतीर्थंकरं नौमि यस्याङ्गस्य सार: कान्तिसौष्ठवादिरूप: स कौ पृथिव्यां मुदस्तोमं हर्षप्रकर्षमुरीचकार प्रसारितवान्, यतश्च प्रणश्यत्तमस्तया मोहस्याभावेनात्मीयपदं स्वस्वरूपं समस्य लब्ध्वाऽसौ जन: सुखं लभते । चन्द्रपक्षे कुमुदानां समूह: कौमुदश्चासौ स्तोमश्च तं तथा सुखञ्जनो नाम चकोरपक्षी । श्लेष: ॥३॥

समस्तित्यादि - भो मनुजा: ! पार्श्वप्रभोस्त्रयोविंशाख्यतीर्थंकरस्य सन्निधये सामीप्यार्थं वो युष्माकं चित्ते बहुलाश्च ते ऊहा वितर्काश्च तेषां भावो मुहुर्विचार: समस्तु यत: काञ्चनानिर्वचनीयां सम्प्रवृत्तिं लब्ध्वा प्रसत्तिं प्रसन्नतां संलभेध्वं । पार्श्वपाषाणस्य सन्निधये बहुलोहत्वं वाऽस्तु यत: कञ्चनस्येयं काञ्चना सा चासौ सम्प्रवृत्तिश्च तां सुवर्णरूपतां धृत्वा प्रसत्तिं बहुमूल्यतां संलभेध्वमिति च ॥४॥

वीर इत्यादि - हे वीर ! त्वमानन्दभुवामुत्सवस्थानानामवीर: सुगन्धिचूर्णवद् भवसि । खलु गुणानां क्षमाधैर्यादीनां मीर: 'मीरोऽब्धिशैल-नीरेषु' इति विश्वलोचनकोश: । समुद्र एवं किन्तु जगतां प्राणिनां मध्ये अमीर: सर्वश्रेष्ठ: । इ एव इक: काम: खेदो वा स न विद्यते यस्य स नेकस्तस्य सम्बोधनम् । त्वमेक: केवलो मुख्यश्च भवन्ननेकान्तमतेन स्याद्वदेनानेकलोकान् पासितमां अतिशयेन पालयसि । शाब्दिकविरोधालङ्कार: ॥५॥

ज्ञानेनेत्यादि - ये पथि सन्मार्गे सन्तस्तिष्ठन्त इत्यतश्च ज्ञानेन विवेकेन हेतुनाऽऽनन्दमुपाश्रयन्त: समसुखमनुभवन्त: सदा ब्रह्म चरन्ति आत्मानमेवानुशीलयन्ति, तेषां गुरूणां दिगम्बर-परमर्षीणां तथा च ज्ञानानन्दनामधारकाणां परमब्रह्मचारिणां विद्यागुरूणां सदनुग्रह: कृपाकटाक्ष एवं मम कवित्वशक्तौ कविताकरणे तथैव कं वेत्तीति कवित् तस्य भाव: कवित्त्वं तस्य शक्तावात्मसम्वेदनेऽपि विघ्नलोपी भूयात् ॥६॥

वीरोदयमित्यादि - यमिमं वीरोदयं नाम भगवच्चरित्रं विदधातुं पूर्णतया वर्णयितुं श्रीगणराजदेवो गौतमस्वाम्येव शक्तिमान्नाभूत् तम्प्रतीदानीमहं विदधातुमिच्छु: सन् जलं गच्छतीति जलगश्चासाबिन्दुश्च तस्य तत्त्वं जलगतचन्द्रबिम्बं वहन् बालसत्त्वम् बालकवदज्ञानभावमेव विदधातुमिव । अथवा पुनरलसत्वमेव स्वीकरोमि, यत: कर्तुं न शक्नोमीति लाघवम् ॥७॥

शक्त इत्यादि - अथवा तु पुनरुपायादहमपि शक्तो भवितास्मि युक्तिबलेन समर्थयिष्यामि, यत: किल ते श्री गुरव: सहाया भवन्तु तावदित्येतदेव पुष्णाति-यथा शिशुरेव शिशुको लघुतरबालकोऽपि पितु: सम्बन्धिनो बिलब्धा संधृताऽङ्गुलिमूलस्य तातिः पङ्क्तिर्येनेत्येतादृक् सन् यथेष्टदेशं वाञ्छितस्थानं यात्येवेति । दृष्टान्तोऽलङ्कार ॥८॥

मन इत्यादि - यत्राङ्गिनां संसारिणां मनो यस्य श्रीवीरभगवत: पदे चरणौ तयोश्चिन्तनेन स्मरणमात्रेणैवानेन: पापवर्जितं सत् किलामलतां स्वच्छतां समेति तत्र तदीयवृत्तस्य चरित्रस्यैकमनन्यतया समर्थनं यस्यां सा मे वाक् वाणीयमात्त: सुवर्णानां शोभनवर्णानां भावो ययैतादृशी किन्न समस्तु स्यादेव । यदि-पदेनैकशब्देनामलत्वं स्फटिकत्वं तदावृत्तेनानेकानेकशब्दात्मकेन सुवर्णता किं खलु दुर्लभेति यावत् रलयोरभेदादमरतां देवत्वमेति भव्यानां मन इति च ॥९॥

रज इत्यादि - आविलं मलिनं च रजो यथा पुष्पसमाश्रयेण किल सतां गलस्यालङ्करणाय भवति तथैवेदं मद्वचनमपि किन्नास्तु भवत्येव, येनेदं वीरोदयस्य श्रीमद्वीरप्रभोश्चरितनिर्माणकरणस्य योऽसावुदारविचार: स एव चिह्नं यस्येत्येतादृक् समस्ति । वक्रोक्तिर्दृष्टान्तश्चालङ्कार: ॥१०॥

लसन्तीत्यादि - अथापि पुनर्यथाऽयो लोहधातु: रसै: पारदादिभि: संयोगात् सुवर्णत्वमुपैति तथैव निस्सारमप्यस्मद्वचनं येन वचनेनार्हत: परमेष्ठिनो वृत्तस्य चरित्रस्य विधानं निर्माणं तदापि स्वीकृतं तदपि भवतु यस्योपयोजनाय स्वीकरणाय सन्त: परदु:खकातरा जना लसन्ति वर्तन्तेऽस्मिन्भूतले, इति शेष: ॥११॥

सतामित्यादि - सतां साऽनिर्वचनीया गुणग्रहणरूपा शुद्धि: सहजेन स्वभावेनानायासेनैव भवति यतस्तेषां बुद्धिर्विचारशक्ति: परोपकारे परेषां प्राणिनामनुग्रह एव निरता तल्लीना भवति यथैषोऽस्मदादीनां दृक्पथमुपगतस्तरुराम्रादि: स उपद्रुत: पाषाणादिनोपहतोऽपि सन् तस्मायङ्गभृते प्राणिने त्रिकालं सर्वदैव यथा स्यात्तथा रसालं सरसं फलं श्रणति ददाति, न तु रुष्टो भवति ॥१२॥

यत्रेत्यादि - यस्य सोधर्युक्ति: सदैवान्यगुणाय परगुणग्रहणाय परस्मिंश्च गुणसम्पादनाय वा भवति तस्य सूक्तिर्मञ्जुवागपि सुधेव रुचिरामृतधारेवोपयोगिनी, अथ च सुधेव चूर्णकलिकेव गुणवती यत्रानुरागार्थं प्रीत्यर्थं शोणिमसम्पत्त्यर्थं च समवायहेतो: परस्परं सम्मेलं कर्तुमिदमस्माकं चेतोऽन्त: करणं कर्तृ, तत् हारिद्रवत्वं हारि मनोहरं च तद्द्रवत्वं चाथवा हरिद्राया इदं हारिद्रं तद्द्रत्त्वं तावदुपैति ॥१३॥

सुवृत्तभावेनेत्यादि - सन्तो ये सत्पुरुषा भवन्ति ते सुवृत्तभावेन सच्चरित्रत्वेन समुल्लसन्तो हर्षयुक्तं यथा स्यात्तथा भवन्तो जनस्य सर्वसाधारणस्य गुणमेवानुभवन्ति जानन्ति, ते न तु तस्य दोषं कदाचिदपि, अतएव ते मुक्ताफलत्वं मुक्तं च तदफलत्वं च तन्मुक्ताफलत्वं सफलत्वमित्यर्थस्तथा च मौक्ति कत्वं प्रतिपादयन्तः सन्ति मौक्तिकमपि वर्तुलं भवत् गुणं सूत्रमनुभवति तत्तस्मादेव कारणादहं तत्र सत्पुरुषेषु आदरित्वं विनीतभावं प्रवहामि । श्लेषोपमा ॥१४॥

साधारित्यादि = साधोः सत्पुरुषस्य विनिर्माणविधावुत्पादनकाले विधातुर्नामकर्मणः कराद्धस्ततो या तूत्करसम्विधा निस्सारांशततिश्च्युता पतिता तयैवामी अन्ये उपकारिणः श्रीचन्दनाद्या ये जगति दृश्यन्ते चन्दननदीचन्द्रप्रमुखास्ते जाता इतीवाहं मन्ये । उत्प्रेक्षालङ्कारोऽयम् ॥१५॥

साधुरित्यादि - साधुः सज्जनः स गुणस्य ग्राहकोऽतएवैष तु पुनरास्तां तावत्, किन्तु मम तु याः का अपि श्लाघास्तास्तास्सर्वाः, सर्वप्रियप्रायतया सर्वाङ्गसुन्दरत्वेनोदितस्य प्रबन्धस्य यं कञ्चिदपि प्रमादादिनाऽवशिष्टं दोषं तं ततः समुद्घाट्य वरंकरस्यास्माकमनुकूलमाचरतोऽसत एव सन्तु ॥१६॥

सद्ङ्कुराणामित्यादि - नुर्मनुष्यस्य गीर्वाणी सा कामधेनुर्गौरिव सा चेह सतां सभ्यपुरुषाणामङ्कुराः कृपारूपास्तथा सन्तश्च तेऽङ्कुराश्च तृणानि तेषां समुपायने समागमे सति यथा पुष्टा भवति तथैव सा खलस्य दुष्टस्य तिलविकारस्य च शीलनेन समागमेन पयस्विनी सरसा दुग्धदात्री भवतीत्यनेन हेतुना तस्य खलस्यैवोपयोगो महानस्तु ॥१७॥

कर्णेजपमित्यादि - हे विधे, यत्किल त्वं कर्णेजपं पिशुनं कृतवानभूः करोषि स्म तदेतदपि ते पटुत्वं चातुर्यं विचारकारित्वमेवास्ति यतोऽनेन दुर्जननिर्माणकरणेन साधोर्नृभावः मनुष्यत्वं सफलोऽभूत् सर्वसाधारणानां दृष्टौ तस्य समादरणमभूत्, तमपेक्ष्यैव यदिह तम ऋतेऽन्धकाराभावे रवेरपि प्रभावः क्व तावत्स्यात् ॥१८॥

अनेकधान्येष्वित्यादि - स एष पिशुनो धूर्तस्य आखोर्मूषकस्य सजातिः समान एव भाति, मूषकोऽनेकेषु धान्येषु विपत्तिकारी तथाऽयमप्यनेकधा बहुप्रकारेणान्येषुजनेषु विपत्तिं करोति । मूषको निष्कपटस्य बहुमूल्यस्य वस्त्रस्यारिर्विनाशकः पिशुनो निष्कपटस्य सरलमनुष्यस्यारिर्भवति । मूषकश्छिद्रं बिलं निरूप्य दृष्टवा स्थितिमादधाति पिशुनश्छिद्रं पश्यति दोषं समीक्षते तावत् ॥१९॥

य इत्यादि - हे ईश ! काकारिलोकस्योलूकस्य खलस्य च परस्परं कोऽसौ विशेषो भेदस्स्यादित्यहं न जाने यतोऽसौ दोषायां रात्रौ दोषेषु वाऽनुरक्तः तथा दिने वा काव्ये वाशब्दोऽत्रेवार्थे । प्रतिभासमाने प्रकाश रूपे प्रतिभया वा समाने सम्माननीयेऽसौ मालिन्यं सान्धकारतां दुष्प्रेक्षतामेवाप्येति । अहो आश्चर्याभिव्यक्तयेऽत्र ॥२०॥

खलस्येत्यादि - खलस्य हृद् हृदयं तन्नक्तमिव रात्रिवदघवस्तु पापकारि भवति, तु पुनः सतः सभ्यस्य तदेव वासरवद् दिवसतुल्यं प्रकाशकृत् तयोर्द्वयोर्मध्यं सायंकालमिवोपेत्य गत्वा तदेतत्काव्यं नाम वस्तु जनानामनुर-ञ्जनाय प्रीत्युत्पत्तये भवत्वेव ॥२१॥

रसायनमित्यादि - हे बुधा भवन्तः शृण्वन्तु तावद् ये खलु विबुधा देवास्ते पीयूषं नामामृतमीयुर्गच्छेयुर्विबुधत्वाद् बुद्धिहीनत्वादेव यतो यत्सेवनेनाद्यापि तेऽनिमेषभावादनिमेषनामाऽऽमयात् पिचुकाख्यात् नोऽपयान्ति न निवर्तन्ते। वयन्तु पुनः काव्यमेव रसायनं रसानां शृङ्गारादीनामयनं स्थानं वर्त्म वा तदेव रसायनं कायकल्पकारि भेषजमाश्रयामो

यतो द्रुतमेव स्वयमात्मान मानवतां मा लक्ष्मी. शोभा च तया तस्यां वा नवतां नवीनतां नयामो देहसौन्दर्यमाश्रयामस्तथा मानवतां मनुष्यभावं गच्छामः ॥२२॥

सारमित्यादि - अहन्तु काव्यमेव त्रिविष्टपं स्वर्गमुपैमि यत इदं सारं कृतीष्टं सारं सर्वोपयोगि भवत् कृतिभिर्बुद्धिमद्भिरिष्टमभिलषितं पक्षे रलयोरभेदात्-अलंकृतिभिरुपमाद्यलङ्कारैः सहितं तत इष्टं च। सुराणां देवानां सार्थेन समूहेन रम्यं पक्षे सुरसो रससहितो योऽर्थस्तेन रम्यं रमणीयं यतः विपदो विपत्तेर्ये लवा अंशास्तेषामभावो विनाशस्तत्तया पक्षे विकृतानां पदानां ये लवास्ते विपल्लवा पदस्य पदित्यादेशात्। तेषामभावतयाऽभिगम्यमनुमननीयम्। समुल्लसन्तीनां कल्पलतानां पक्षे समुल्लसन्तो ये कल्पा विचारास्तेषां परम्परास्तासामेकस्तन्तुर्यत्र तत्। श्लेषोपमालङ्कार ॥२३॥

हारायत इत्यादि - अथ किन्तु उत्तमं च तद् वृत्तं छन्द एव मुक्ता मौक्तिकं सा कीदृशी भवति या सूत्रस्य पूर्वपरम्परागतवृद्धवचनस्य सार उपयोगिभागस्तमनुगच्छति वर्णयति सा। पक्षे सूत्रं दोरकं तस्य सारमनुसरति सोऽधिकारो यस्यास्साऽतएवोदारा ऽसंकीर्णा ततश्च सत्पुरुषैः कण्ठीकृता कण्ठस्थाने धारितोद्घोषिता च सा हारायते हारवदाचरति। समन्ताद्भद्रं कुशलं तस्मै समस्तु भवतु हारपक्षे समन्तभद्राय एतन्नानामाचार्यायैव समस्तु समर्पणमस्तु ॥२४॥

किलेत्यादि - अकलंकस्याचार्यस्यार्थमभिप्रायमभिष्टुवन्ती नामाभिव्यञ्जयन्ती समन्ततः सर्वत्र कौ पृथिव्यामतएव मुदं हर्षमेधयन्ती नोऽस्माकं च तिमिरमज्ञानाख्यं निरस्य दूरीकृत्य सा प्रभाचन्द्रमहाशयस्य सुमञ्जुर्मृदुतमा याऽसौ वाक् सा जीयात्। यद्वा वसं कृत्वा प्रभाशब्दस्य विशेषणं कर्तव्यं चन्द्रमहाशयस्य प्रभापि अकलङ्कार्थमभिष्टुवन्ती कुमुदानां समूहं चैधयन्ती किलास्ति। लङ्कानां व्यभिचारिणीनामर्थो लङ्कार्थः, अकोऽघकरश्चासौ लङ्कार्थश्च तम् ॥२५॥

नव्याकृतिरित्यादि - भो सुचित् शोभनचिद् धीर्यस्य तस्य सम्बोधनं त्वं शृणु तावत् वक्तव्यतो वचनमात्रादपि किं पुनरर्थात् अलंकृतिभ्य उपमाद्यलंकारेभ्यो दूरा। वृत्तिश्चेष्टा यस्य तस्य वृत्ताधिकारेष्वपि च्छन्दःशास्त्रेष्वपि च न प्रवृत्तिर्यस्य तस्य मे मम व्याकृतिर्व्याकरणमपि नास्ति कवित्वन्तु पुनः कुतः सम्भवतात्तत्पूर्वकत्वात्तस्य। तथा च वक्तव्यतोऽलं यतः कृतिभ्यः सभ्यजनेभ्यो दूरवृत्तेः पराङ्मुखस्य वृत्ताधिकारेष्वाचरणशास्त्रेष्वपि प्रवृत्तिहीनस्य मे कृतिश्चेष्टा। नव्या वृद्धजनासम्मता, कवित्वमात्मवित्त्वं तु पुनः कुतः सम्भवतान्नैव सम्भवेदिति ॥२६॥

सुवर्णमूर्तिरित्यादि - इयं कविता भार्येव कुलवधूसदृशी यत आर्या प्रशंसनीया सद्भिः सुवर्णस्य मूर्तिरिव मूर्तिः शरीरं यस्याः, पक्षे शोभनानां वर्णानां ककारादीनां मूर्तिः। लसन् शोभनः पदयोर्न्यासो गमनं यस्याः पक्षे लसतां पदानां सुप्तिङन्तानां न्यासः संकलनं यत्र सा तत्तया, तथा चालंकारणां नूपुरादीनां पक्षे रूपकादीनां सम्भारवतीति हेतोः कारणादपीतो भूतले जनस्य चेतो हृदयमनुगृह्णाति सम्मोहयति ॥२७॥

तम इत्यादि - कवेः कृतिरिन्दुरुचिरिव ज्योत्स्नासदृशी भवति यतोऽसौ तमोऽज्ञानमन्धकार च धुनाना संहरन्ती किञ्च सुधाया अमृतस्याथवा तद्विधानं यस्याः कौमुदं यद्वा कौमुदमादधाना प्रसारयन्ती जनानामाह्लादनाय सुखाय, किन्तु सैव जडजायाज्ञपुत्राय कमलाय च नानाव्यथाकरी स्यादेव ॥२८॥

सार्द्धेत्यादि - अथ प्रकृतिविषयं प्रतिपादयितुमाह - अद्यादिनादेतत्समयात् सार्द्धद्विवर्षायुतपूर्वं अर्धतृतीयसहस्रवर्षपूर्वं समयं प्रपद्येह भुवस्तलेऽस्मिन् पृथिवी-मण्डले खलु या कापि रूपरेखाऽऽसीत् जनानां प्रवृत्तिरभूत्तामेवामुतो लेखान्निम्नाङ्कितादनुविन्देज्जानीयाज्जनः ॥२९॥

यज्ञार्थमित्यादि – रसाशिश्नयोर्जिह्वागुह्येन्द्रिययोर्वशंगतैरधीनैरत-एवाशस्तैरप्रशंसायोग्यैस्तैर्धूर्तैर्लोके, एते दृश्यमाना: पशवश्छागादयो यज्ञार्थं यज्ञे बलिदानार्थमेव वेधसा सृष्टास्तावन्नह्येतेषामन्य: कश्चिदुपयोग इत्येवंरूपा भ्रष्टा या काचिदुक्ति: सा बहुशोऽप्यनेकरूपेणाभितस्यसर्वत्रैव प्राचालि प्रचारमिता तदानीम् ॥३०॥

किं छाग इत्यादि – अधुनेति तत्कालीनविषयं स्वसंवेदनगोचरीकृत्योक्तमस्ति ततस्तदानीं किं छाग: किं महिष: किमश्व: किं गौरिवं नरोऽपि स्वरसेण यदृच्छया शश्वद्वारं वारं वैश्वानरस्य वह्नेरिन्धनतामवाप धूर्तैस्तस्मिन् हुत आसीत् । अहिंसाविधये तु पुनराप एव दत्ता जलाञ्जलिरेव सम्पादित: ॥३१॥

धूर्तैरित्यादि – जनस्य सर्वसाधारणस्य सा दृक् बुद्धिर्धूर्तैर्वाचालै: समाच्छादि संवरणं नीता वेदस्य चार्थस्तादृक् हिंसापरक एव समवादि प्रत्युक्त इतस्तत: सर्वत्रैव पैशाच्यं परासृक्पिपासुत्वमभूत् यत: कारणादियं भू: स्वयमपि रक्तमयि जाता । अहो इतायश्चर्ये ॥३२॥

पर इत्यादि – सर्व एव लोकोऽन्यजनस्यापकारे दु:खोत्पादने परस्तल्लीन: समभूत्तु पुन: परोपकार: परस्मायनुग्रहबुद्धि: खर्व उत्तरोत्तरं क्षीणातामवाप्त: वर्वो नृशंस एव जन: सम्माननीयत्वमवाप स्वागतं लेभे । इत्यातोऽधिकमहं वो युष्माकं किं पुनर्वच्मि ॥३३॥

श्मश्रूमित्यादि – लोकोऽयं सर्वोऽपि स्वकीयां श्मश्रूं कूर्चततिं वलयन् समर्थयन् व्यभावि दृष्ट आसीत्, यद्यस्मात्कारणादस्येह मत्सदृशो नास्तिकोऽप्यनन्य' इत्यनन्यताया: स्वार्थपरताया अनसि शकटरूपे मनसि दर्पोऽभिमान आविरभूत्समजनि, अपि च तत एव साधुताया भद्रभावस्य नामलेशोऽपि नासीत् ॥३४॥

समक्षत इत्यादि – अपायात् पापादविभ्यता भयमदधता जनेन जगतां प्राणिनामम्बिका प्रतिपालिकेयमिति तस्या देव्या अपि समक्षतस्तत्पुत्रकाणामजादीनां निगले किं पुनरन्यत्र, तेनासिस्थितिरङ्किताऽऽसीत्खड्गप्रहार: कृत इत्यनेनैव कारणेनेयं धरा दुराशीर्दुरभिप्रायाऽभूत ॥३५॥

परस्परेत्यादि – तदानीं परस्परस्येतरेतरविषयको यो द्वेषस्तन्मयी प्रवृत्तिरभूत् यत एक: कश्चिदप्यन्यजीवाय समात्ता समुत्थापिता कृत्तिश्छुरिका येनैतावानेवासीत् यस्य कोपि कोपयुक्तं चित्तं नाभूदेतावान्कोऽपि जनो न व्यभावि, प्रत्युत शान्तं मनुष्यं जनोऽपवित्तं दरिद्रमकर्तव्यशीलं मन्यते स्म तदानीमिति ॥३६॥

भूय इत्यादि – स्वपुत्रकाणामेतेषां देहिनां तत्तादृक् चिह्नमुदीक्ष्य भुवो हृदा भूयो वारं वारं विभिन्नं मुहु: भूकम्पनमभूदिति ता एता दिशोऽन्धकारानुगता इव बभूवु: किञ्चैतन्नभो गगनमपि चाधस्ताद्गन्तुमिवा-वाञ्छदित: ॥३७॥

मन इत्यादि – वक्रस्य भावो वक्रिया तस्य कल्प: समुत्पादस्तस्य हेतु: साधनमहिवत् सर्पस्येव मनो बभूव, वाणी चान्यस्य मर्म भेत्तुं कृपाणीव छुरिका सदृशी तीक्ष्णा जाता, कायश्चायं जनस्य जगते सम्पूर्णप्राणिवर्गायाकस्य दु:खस्याय: समागमो यत: स दु:खद एवाभूत्, तदानीं कोऽपि जन: कस्यापि वश्य आज्ञाकारी नासीत् ॥३८॥

इतीत्यादि – इत्येवमुपर्युक्तप्रकारेण दुरितमेवान्धकार: स एवास्तिक आत्मा यस्य तस्मिन् तथा क्षतात्त्रायन्ते ते क्षत्त्रा: परपरित्राणकरा क्षत्रिया न भवन्ति, तेषामोघेनाथ च नक्षत्रौघेण तारकासमूहेन संकुले व्याप्तेऽत एव निशीवथ इवाघमये पापबहुले तस्मिन् समये जनानामाह्लादनाय वीर इत्याह्वयो नाम यस्य स एव वर: सर्वोत्तम: सुधास्पदश्चन्द्रमास्तेनाजनि जन्म लब्धम् ॥३९॥

इति प्रथम: सर्ग: ।

द्वितीयः सर्गः

द्वीप इत्यादि - अथ जम्बूपपदो नाम द्वीपः समस्ति, असावेवासकावयमेव स च स्थित्याऽऽसनेन तु सर्वेषां द्वीपानां मध्ये गच्छतीति प्रशस्तिः प्रख्यातिर्यस्य स किन्तु नास्ति अन्या काचिदुपमा यस्यास्तया लक्ष्म्या स्वकीयया शोभया उपविष्टोऽवस्थित तु अन्ये द्वीपा धातकीखण्डादयस्ते द्वीपान्तरास्तेषामुपरि प्रतिष्ठा यस्यैतादृक् भाति ॥१॥

संविदित्यादि - सुराद्रिः सुमेरुरित्येतादृक् दम्भोमिषस्तेनोदस्ता समुत्थापिता स्वहस्तस्याङ्गुलिर्येन सोऽयं द्वीपोऽङ्गिनं प्रतीतीव किं वक्ति कथयति - भो महाशय, यदि वृत्तं सदाचरणमेव वस्तु पाथेयं मार्गोपयोगिद्रव्यं त्वयाऽऽप्तं लब्धमस्ति तदा तु पुनरितः स्थानात् सिद्धिं मुक्तिनगरीं प्रगुणां सरलां सहजप्राप्यामेव संविद्धि जानीहि ॥२॥

अधस्थेत्यादि - अधस्तिष्ठति स च यो विस्फारी प्रलम्बमानश्च योऽसौ फणीन्द्रः शेषो लोकख्यात्या स एव दण्डो यस्य सोऽसौ वृत्ततया वर्तुलतयाऽखण्डः सन् छत्रमिवाचरति छत्रायते यश्च् सुदर्शन इत्येवं प्रकार उत्तमोऽत्यन्तोन्नतो यः शैलस्तस्य दम्भो मिषो यस्मिस्तं सुवर्णस्य कुम्भपपि स्वयमेव समाप्नोति ॥३॥

सुवृत्तभावेनेत्यादि - अस्य द्वीपस्य सुवृत्तभावेन वर्तुलाकारतया, पूर्णमास्यां भवति स पौर्णमास्यो योऽसौ सुधांशुश्चन्द्रस्तेन सार्धमिहोपमा तुलना कर्तुं योग्या । यतो यत्परितः परिक्रम्य वर्तमानोऽसावम्बुराशिर्लवणसमुद्रः स समुल्लसन् प्रकाशमानः कुण्डिनवत् परिवेषतुल्यो विलासो यस्य स तथाभूतोऽस्ति ॥४॥

तत्त्वानीत्यादि - अयमुपर्युक्तो द्वीपः सप्त क्षेत्राणि तत्त्वानि जैनागमवत् विभर्ति, जैनागमे यथा सप्त तत्त्वानि तथैवेह सप्त क्षेत्राणिः । तत्रापि सप्तसु पुनरसकौ भारतनाम वर्षस्तत्त्वेषु जीव इवाग्रवर्ती सर्वप्रधानः सदक्षिणो यमदिग्गतो बुद्धिसहितो वा अतश्चाप्तहर्षः प्रारब्धप्रमोदभावः ॥५॥

श्रीभारतमित्यादि - अस्य द्वीपस्य श्रीभारतं नाम तत्प्रसिद्धं शस्तं प्रशंसायोग्यं क्षेत्रं सन्निगदामि यत्किल सुदेवानां वृषभादितीर्थकराणामागमः समुत्पादस्तस्य वारि जन्माभिषेकजातं ततोऽथवा तेषामेवागमः सदुपदेशस्तस्य वारितो वचनतः स्वर्गश्चापवर्गश्च द्वौ किलादिर्येषां चक्रवर्ति-बलभद्र-नारायणत्वानामभिधानमेव शस्यं धान्यं पुण्यविशेषमुत्पादयद्वर्तते यत् ॥६॥

हिमालयेत्यादि - भोः पाठका एष भारतवर्ष एतस्य द्वीपानामधिपस्य जम्बूद्वीपस्य राज्ञः क्षत्रस्येदं क्षात्रं यद्यशस्तदनुपततीति सःक्षत्रियत्वप्रकाशक इत्यर्थः । धनुर्विशेष एवास्ति यतौऽसौ हिमालय एवोल्लासी स्फीतिधरो गुणः प्रत्यञ्चापरिणामो यस्य तथा वाराशिर्लवणसमुद्र एव वंशस्थितिर्वेणुस्थानीयो यस्य स एतावान् विभाति। रूपकालङ्कारः ॥७॥

श्रीत्यादि - श्रीयुक्ता सिन्धुश्च गङ्गा च तयोर्मध्येऽन्तरतस्तिर्यक् स्थितेन वर्तमानेन पूर्वश्चापरश्च पूर्वापरौ यावम्भोनिधी ताभ्यां संहितेन संस्पृष्टेन शैलेन वैताढ्यनाम्ना भिन्नेऽत्र भारतवर्षे षट्खण्डके सति पुनस्तत्रार्य-शस्तिरार्यखण्डनामकोऽयं ज्योतिःशास्त्रविहिते षड्वर्गके स्वोच्चवर्ग इव सर्वप्रधानोऽस्ति ॥८॥

तस्मिन्नित्यादि - तस्मिन्नेतस्मिन् आर्यखण्डे विदेहदेशे इत्येवमुचितमभिधानं नाम यस्य स स्वं स्वकीयमुत्तमत्वं प्रधानत्वं दधान एको विषयो देशोऽस्ति, स च वपुषि शरीरे शिरःसमानः प्रतिभाति, स एवाधुना नोऽस्माकं गिरा वाचा सत्क्रियते व्यावर्ण्यते ॥९॥

अनल्पेत्यादि - तस्मिन् विदेहदेशे ग्रामास्त्रिदिव: सुरालय एवोपमानमुपमाविषयो येषां ते लसन्ति । पीतमालीढमम्बरं गगनं यैस्तानि च तानि धामानि, अनल्पनि च पीताम्बरधामानि तै रम्या मनोहरा ग्रामा एवं पवित्राणि पद्मानि कमलानि यत्र ता आपो जलानि येषु तानि सरांसि येषु सन्ति ते । अनेके कल्पा भेदा येषां तेऽनेककल्पास्तेषां द्रुमाणां तरुणां संविधानं सम्भावनं येषु ते तत एवादम्या दमितुं पराभवितुमयोग्या ग्रामा । सुरालयश्च पीताम्बरस्य इन्द्रस्य धामभिस्तावद्रम्यो भवति, पद्मा तथाऽप्सरसोऽपि स्वर्वेश्यास्तत्र भवन्ति, कल्पद्रुमा अपि सन्त्येवेति । श्लेषोपमा ॥१०॥

शिखावलीत्यादि - शिखया खचूलिकयाऽवलीढं स्पृष्टमभ्रं गगनं यैस्तत्तयाऽटूटा अखण्डरूपेण स्थिता नूतनस्य तत्कालोत्पन्नस्य धान्यस्य कूटा राशयो ये बहि:स्थिता ग्रामेभ्यो बाह्यसीम्नि वर्तमानास्तेऽपि पुन: प्राच्या: पूर्वदिशात: प्रतीचीं पश्चिमदिशां व्रजतो निरन्तरं पर्यटतोऽब्जपस्य सूर्यस्य तस्य विश्रामशैला इव भान्ति ॥११॥

पृथ्वीत्यादि - प्रफुल्लन्ति विकसन्ति यानि स्थलपद्मानि तान्येव नेत्राणि तेषां प्रान्तेऽग्रभागे निरन्तरमविच्छिन्नतयाऽऽत्तानां समागता नामलीनां भ्रमराणां कुलस्य प्रसक्तिं संसर्गमेवाञ्जनौघ: कज्जलकुलं दधती स्वीकुर्वतीयमत्र प्रान्तस्य पृथ्वी हे सखे पाठक ! आत्मीयमात्मसम्बन्धिसौभाग्यमेवाभिव्यनक्ति प्रकाशयति ॥१२॥

धान्येत्यादि - धान्यस्थली शस्यभूमिस्तस्या ये पालकास्तेषां या बालिका: क्षेत्ररक्षां कर्तुमुपस्थितास्तासां विनोदवशाद्गायन्तीनां गीतश्रुतेरतिशयमाधुर्याद्धेतोर्निश्चलतां श्रवणसन्निहितचित्ततया निष्प्रकम्पभावं दधाना: स्वीकुर्वन्त: कुरङ्गरङ्का शस्यास्वादनार्थमायाता दीना मृगा अपि तत्राध्वनीनस्य पथिकस्य चित्ते विलेप्यशङ्कां अमी विलेपात् काष्ठ-पाषाणादित: सम्भवा विलेप्या न तु साक्षाद्रूप इति भ्रान्तिमुत्पादयन्ति । संशयालङ्कार: ॥१३॥

सम्पल्लवत्वेनेत्यादि - यस्मिन् देशे वृक्षा: समीचीना: पल्लवा: पत्राणि सम्पल्लवास्तथा सम्पदां सम्पत्तीनां लवा अंशास्तत्त्वेन हेतुना जनानामागतलोकानां छायादिदानेन पक्षे भोजनादिना हितमुत्पाद: यन्तो वीनां पक्षिणां नयं समागमनलक्षणं नीतिप्रकारं दधाना: पक्षे विनयं नम्रत्वं स्वीकुर्वाणा एव सुष्ठु पन्था: सुपथस्तस्यैकशाणा अद्वितीयतया द्योतका भवन्त: सफलं फलैराम्रदिभि: सहितं फलेन सत्कृतेन वा सहितं ब्रुवाणां प्रकटयन्तो लसन्ति ॥१४॥

निशास्वित्यादि - हे नाथ प्रभो ! इह अस्मिन् देशे या श्रीसरितां नदीनां तति: परम्पराऽस्ति सा निदाघकाले ग्रीष्मसमयेऽपि कूलमतिक्रम्यातिकूलं यथा स्यात्तथा प्रसन्नरूपा सती वहति, वर्षाकाल इवानल्पजलतयैव प्रचरति। यद्यस्मात् कारणात् निशासु रात्रिषु चन्द्रोदये सति चन्द्रोपलभित्तिभ्यश्चन्द्रकान्तघटितप्रदेशेभ्यो निर्यतो निर्गच्छतो जलस्य प्लव: प्रवाहो यस्या: सा तादृशी भवति ॥१५॥

यदीयेत्यादि - इयं भू: स्वयमपि विश्वस्य हितायोपकारायैका किलाऽद्वितीया अत एव पूता पुनीता तामनन्यभूतामितरत्रासम्भविनीं यदीयां सम्पत्तिं वीक्षितुमेव विस्फालितानि समुन्मीलितानि लोचनानि यया सेव विभाति, यत उत्फुल्लानां विकसितानां नीलाम्बुरूहाणामिन्दीवराभिधानामनुभाव: प्रभावो यस्या: सा सदैव तिष्ठति ॥१६॥

वणिक्पथेत्यादि - वणिक्पथेषु विपणिस्थानेषु स्तूपिता उच्छिखीकृता वस्तूनां पदार्थानां विक्रयार्थं जूटा: संग्रहास्ते चाऽऽपदं प्रतिस्थानमेवोल्लसन्तस्तिष्ठन्ति, ते बहिष्कृतां निष्कासितामापदं विपत्तिं हसन्त: सन्तितमां ते हरिप्रियाया: कमलायाश्च केलिकूटा: क्रीडापर्वता इव वा सन्ति ॥१७॥

यत इत्यादि - तदेकवंशा तद्देशसमुद्भवा सरित्ततिर्नदीनां पङ्क्ति: सा सम्पल्लवर्मृदुपत्रैरथ च केयूरादिविभूषणैरुद्यत्यारुणावरुद्धा, उल्लसन् यस्तरुरिति जात्यामेकवचनं तेन तरुसमूहेन पक्षे उल्लसद्भिस्तरुणैरवरुद्धापि समनुगृहीतापि सती, अतिवृद्धं गुरुतरं पक्षे स्थविरं तं जलधीश्वरं जलाशयानामधीशं समुद्रं पक्षे मूर्खशिरोमणिं याति प्राप्नोति, ततो निम्नगात्वस्य य: प्रतिबोधो विश्वासो जनेषु जातस्तं नुदति दूरीकरोतीत्येवंशीला न भवति। हा-इति खेदप्रकाशकरणे ॥१८॥

पद इतायदि - इदानीमस्मिन् देशे साम्प्रतमपि नाल्पमनल्पं जलं येषु तेऽनल्पजलास्तटाका: सरांसि सन्ति। तथा समीचीनानां फलानां पुष्पाणां च पाक: परिणामो येषु तेऽनोकहा वृक्षा: संन्ति पदे पद एव तस्माद्धेतोर्धनिनां श्रेष्ठिनां सत्रस्य सदाव्रतस्थानस्य प्रपाया: पानीयशालायाश्च स्थापने विषये यानि वाञ्छितानि तानि व्यर्थानि भवन्ति तत्र तेषां प्रयोजना भावादिति ॥१९॥

विस्तारिणीत्यादि - यस्य देशस्य धेनुततिर्गोपरम्परा सा विस्तारिणी उत्तरोत्तरं विस्तरणशीला कार्तिरिव तथा चेन्दोश्चन्द्रस्य रुचिवदमृतस्रवा दुग्धदात्री यथा चन्द्रस्य दीप्ति: सुधामुत्पादयति तथा पुण्यस्य परम्परेव सुदर्शना शोभनाऽऽकृति: स्वभावादेव विभ्राजते ॥२०॥

अस्मिन्नित्यादि - इयद्विशाले पूर्वोक्तप्रकारवैभवविस्तारयुक्ते भुव: पृथिव्या भाले ललाट इव भासमानेऽस्मिन् देशे विदेहनाम्नि हे आले ! मित्रवर ! श्रीतिलकत्वं समादधत्स्वीकुर्वाणमस्ति तिलकं यथा ललाटस्यालङ्करणं तथैव यत्पुरं विदेहदेशस्याभूषणतया प्रतीयते यच्च जना: कुण्डिनमित्येतत्पदं पूर्वं विद्यते यस्य तन्नाम पुरं कुण्डिनपुरमित्याहु: प्रोचुस्तदेव समङ्कितं वणयितुं मदीयबाहुर्याति प्रवर्तते साम्प्रतमिति शेष: ॥२१॥

नाकामित्यादि - तत्पुरमहं नाकं स्वर्गं तथैवाकेन दु:खन रहितं नाकं सम्प्रवदामि यतो यत्र वसन्तो निवसनशीला जना: सुरक्षणा: सुराणां देवानां क्षण इव क्षण उत्सवो येषां तथा च रलयोरभेदात्सुलक्षणा भवन्ति रामा: स्त्रियश्च सुरीत्येवंरूपां सम्बुद्धिमामन्त्रणमितास्सम्प्रप्तास्तथा शोभना रीति: सुरीति: समीचीना बुद्धि: सम्बुद्धि: सुरीतौ सम्बुद्धिमिता: सरसचेष्टावत्य इत्यर्थ:, राजा च सुना परमपुरुष: शीरस्य सूर्यस्य पुनीतं धाम तेज इव धाम यस्य सस्तथा सुनीशीरस्येन्द्रस्य पुनीतधामेव धाम यस्येति सुनीशीरपुनीतधामाऽस्ति ॥२२॥

अहोनेत्यादि - यत्पुरमनन्तालयसङ्कुलंस त् सम्भवत् अनन्तैरन्तवर्जितैरथ चानन्तस्य शेषनागस्यालयै: संकुलं व्याप्तं सत् न हीना अहीना: सद्गुणसम्पन्नास्तेषां सन्तानैर्यद्वाऽहीनामिन: शेषस्तस्य सन्तानै; सर्पै. समर्थिततत्वात् अथ च पुन्नगानां पुरुषश्रेष्ठानां कन्याभि: साध्वीभिस्तथा नागकन्याभिरञ्चिततत्वात् नालोकस्य समानशंसं तुल्यरूपं विभाति शोभते ॥२३॥

समस्तीत्यादि - एष भोगीन्द्राणां सुखिनां यद्वा नागानां निवास एवेत्यतो वप्रस्य प्रकारस्य छलात् तस्य कुण्डिनपुरस्य मण्डलं परित: परिक्रम्य शेष एव समास्थित: । परिखामिषेण खातिकाश्छलेनाथ पुनरनु तत्समीपे निर्मोक एव तस्य कञ्चुकमेव बृहता विषेण जलेन सहित: समास्थित इति ज्ञायते ॥२४॥

लक्ष्मीमित्यादि - यस्येयं यदीया तां लक्ष्मीमनुभावयन्तो हठात्स्वीकुर्वन्तो जना: पुनरिहागत्य वसन्त: सन्तीति रोषात् कोपवशात् किलैतत्परित उपरुद्ध्यासौ वारिराशि: स्वयं एव स्थितोऽस्थि परिखाया: खातिकाया उपचार: प्रकारो यस्य स इत्यत इन्प्रत्यय: ॥२५॥

वाणिकपथ इत्यादि - यस्य पुरस्य वाणिकपथो विपणि-प्रदेशोऽपि स इति निम्नप्रकारेण काव्यस्य तुलां समानतामुपैति, यत: श्रीमान् सम्पत्तिमान् पक्षे शृङ्गारादिरसस्य शोभावान् असंकीर्णा पदानां पादविक्षेपाणां प्रणीतिर्मार्गसरणिर्यत्र, पक्षे पदानां सुप्तिङन्तानां प्रणीति: सुरचना । अनेकैरर्थानां गुडादीनां गुणै: सुरीतिं सत्प्रथां पक्षेऽनेकेऽर्था वाच्या येषां पदानां तेऽनेकार्थास्तेषां गुणै: प्रसादादिभि: शोभनां गौडीत्यादिरीतिं समादधत् स्वीकुर्वाण:, तथा निष्कपटानां प्रशंसनीयबहुमूल्यवस्त्राणामौर्णनाभादिप्रभवाणां प्रतीतिं समुचितनीतिं, पक्षे निष्कपटा कपटवर्जिताऽसौ या प्रतीतिर्व्युत्पत्तिस्तां सरलतया निश्छलार्थज्ञानोत्पत्तिं समादधत् किलेत्यत: ॥२६॥

रात्रावित्यादि - रात्रावन्धकार - बहुलायां यस्य वणिक्पथस्याभ्रं गगनप्रान्तं लिहति स्पृशतीत्यभ्रं लिहो योऽसौ शालो वप्रस्तस्य शृङ्गे प्रान्तभागे समाश्रितो लग्न: सन् भानां नक्षत्राणां गण: समूह: स चाभङ्गो यावद् रात्रि: अपि न भ्रष्टतामेति य: स स्फुरतां भासुरस्वभावानां प्रदीपानामुत्सवतामनुपतति स्वीकरोतीत्यनुपाती योऽसौ सम्वादो जनानामै कमत्येन स्वीकारस्तमतएवनन्दकरं प्रसन्नतोत्पादकं दधाति ॥२७॥

अध:कृत इत्यादि - यन्नगरं तस्य शालस्याग्रतो या खातिका तस्या अम्भसि सुविशदे जले याच्छवि: स्वकीयाऽऽकृतिस्तस्या दम्भजाति: कपटप्रबन्धो यस्य तत् कर्तृ। नागलोकोऽध:कृतोऽस्माकमपेक्षया नीचै: स्थितस्तिरस्कृत इति वा सन् भवन्नपि, पुनरथ सोऽसावहीनानामुत्तमाङ्गभृतामोक: प्राणिनां स्थानं कुत: कस्मात् कारणादस्तु यश्चाहीनामङ्गभृतां शेषादिसर्पमुख्यानां स्थानमस्त्येवेति किलाहो एवं कृतकोपतया तं नागलोकं जेतुमिव प्रयाति। श्लेषमिश्रितोत्प्रेक्षालङ्कार: ॥२८॥

समुल्लसन्नित्यादि - समुल्लसन्त: प्रकटतामाश्रयन्तो ये नीलमणयस्तेषां प्रभाभि: कान्तिभि: समङ्किते व्याप्ते यस्य नगरस्य वरणे प्राकारे राहोर्भीर्भ्रम उत्पद्यते रविमनसि अनेनैव तु हेतुना रविरयं सूर्य: साचि सवक्रिमपरिणामं तथा स्यात्तथा कदाचिदुदीचीमुत्तराशामथवाऽपि पुनरवाचीं दक्षिणदिशां श्रयति, रवे: सहजमेव दक्षिणायनोत्तरायणतया गमनं भवति तदिह राहुभ्रान्तिकारणकं प्रपिपद्यतेऽतो भ्रान्तिहेतुकोत्प्रेक्षालङ्कार: । अथवाशब्दो वर्णनान्तरार्थ: ॥२९॥

यत्खातिकेत्यादि - शनैश्चरन्तो मन्दतया गच्छन्तोऽपि च निनादिनो गर्जनशीला एवमुदारा अक्षुद्रा ये वारिमुचो मेघास्ते यत्खातिकावारिणि यन्नगरस्य खातिकाया निर्मले नीरे प्रतिमावतारात् स्वकीयप्रतिच्छविप्रदानाद् वारणानां जलगजानां शङ्कामनुसन्दधाना लसन्ति समुत्पादयन्तो वर्तन्ते । भ्रान्तिमदलङ्कार: ॥३०॥

तत्रत्येत्यादि - तत्र भवतीति तत्रत्यो यो नारीणां जन: समूहस्तस्य धूतै: पुनीतै: पादैश्चरणै: कीदृशैरिति चेद् रते: कामदेवस्त्रिया अपि मूर्ध्नि मस्तके लसति शोभते प्रसादोऽनुग्रहकरणं येषां तैस्तादृशैरस्माकं तुला तुल्यता स्यादितीयं यस्मात् कारणात् कठिना समस्या, यतोऽस्माकं तु स्थितिस्तावद्रतिदेवताया अपि पादयोरेव भवतीति तापादिव मन:खेदात् किल पद्मानि कमलपुष्पाणि यस्या: खातिकाया वारि जले लुठन्ति 'वार्वारि कं पयोऽम्भोऽम्बु। इति धनञ्जयोक्त्या वा: शब्दोऽपि जलवाचको वर्तते यस्य सप्तम्येकवचनं वारि ॥३१॥

एतस्येत्यादि - एतस्य नगरस्य वप्र: प्राकार: सशृङ्गाणां शिखाराणामग्रस्य प्रान्तभागस्य रत्नेभ्य: प्रभवति समुत्पद्यते या रूचि: कान्ति स्तस्या: स्रक्परम्परा यत्र स तादृक् हे सुरालय देवावास, त्वमेतस्यास्माकं जन्मदातु: सौधपदानि धनिनां स्थानानि तान्येवामृतस्थानानि पश्य । सुधाया अमृतपर्यायत्वात्सुधासञ्जातानि सुधोत्पादकानि वा सौधानि इति । त्वम् तु पुन: सुराया मदिराया आलय:, पुनरपि कथं कस्मात् कारणादस्योर्ध्वं वर्तस इत्येवं प्रकारेणाजस्रं निरन्तरं यथा स्यात्तथा प्रहसतीव किल । शब्दार्थपरावृत्तिमूलकोत्प्रेक्षालङ्कार ॥३२॥

सन्धूपेत्यादि - समीचीनस्य धूपस्याग्नौ प्रक्षिप्तस्य यो धूमस्तस्मादुत्थिताः सम्पन्ना ये वारिदा मेघा यत्र तेषामातोद्यानां वादित्राणां पूजनस्तवनादौ समर्थितानां नादैः शब्दैः कृतं गर्जितं यत्र तेषां, वाद्यं वादित्रमातोद्यं काहलादि निरुच्यत इति कोशः । एतादृशानां जिनालयानामुपरि वर्तमाना तावदिति शेषांशः शृङ्गाग्रे शिखरप्रान्तभागे प्रोतो यो हेमाण्डकः स्वर्णकलश इत्येतत्सम्विधानं कथनं यस्याः सा शम्पेव विद्युदिव सम्भाति विराजते ॥३३॥

गत्वेत्यादि - द्वारोपरि प्राङ्गणभागः प्रतोली कथ्यते, तस्याः शिखराग्रे लग्नेभ्य इन्दुकान्तेभ्यश्चन्द्रकान्तमणिभ्यो निर्यत्समुद्रच्छद्यज्जलं तदापिपासुः पातुमिच्छुरिन्दोर्मृगस्तस्त्र गत्वाऽथ पुनस्तत्रैवोल्लिखितादुत्कीरितान्मृगेन्द्रात् सिंहाद् भीतो भयं प्राप्तः सन्नपि स आशु शीघ्रमेव जलमपीत्वेत्यर्थः, प्रत्यपयाति प्रतिनिवृत्तो भवति । सन्देहालङ्कार • ॥३४॥

वक्तीत्यादि - उच्चलति मुहुरुत्थितो भवति केतुरेव करो यस्याः सा जिनो भगवान् अङ्क उत्सङ्गे यस्याः सा ध्वजा कर्त्री, कणन्त्यो निरन्तरध्वनिवत्यो याः किङ्किणिकास्तासामपदेशात् मिषात्सा ध्वजा तावदित्येवं वक्ति वदति-यद्भो भव्यजना धार्मिकलोका यदि भवतां सुकृतस्य पुण्याख्यस्य शुभकर्मणोऽर्जने सम्पादने इच्छा वर्तते तदाश्वेव शीघ्रतयेहायात, अत्र समागच्छत स्वयमेव स्वमनसा । सेत्यथवा स्यादिच्छाया विशेषणम् । रूपकयुक्तापह्नुत्यलङ्कारः ॥३५॥

जिनालया इयादि - तत्र नगरे रात्रो स्फटिकस्यायं स्फाटिकश्चासौ सौधदेशस्तस्मिन्नशेषे सम्पूर्णेऽपि नैकस्मिन्नेव प्रदेशे ताराणामवतारः प्रस्फुरणं तस्य छलतो मिषात् सुपर्वभिर्देवैः पुष्पगणस्योचितः सम्पादित उपहारः सन्तर्पणं यत्र यस्मिन्नगरे ते तथाविधा इव भान्ति शोभन्ते जिनालयाः ॥३६॥

नदीनेत्यादि - यत्र नगरे जना नदीनभावेनौदार्येण हेतुना लसन्ति शोभन्ते सर्वेऽप्युदारचरिताः सन्ति । वनिताः स्त्रियो वा पुना रोचित्वं सौन्दर्यं श्रयन्ति । एवं द्वयेषामुभयेषां गुणतो विशालः कालः स मुदस्तरङ्गत्वं मोदपरिणामवत्वमुपैति । तथा सर्वे जना नदीनस्य भावेन समुद्रभावेन शोभन्ते, स्त्रियश्च वार इव रोचितत्वं जलतुल्यतां नैर्मल्यं श्रयन्ति, कालश्च तरङ्गभावं विशालोऽपि याति शीघ्रं प्रयाति । श्लेषालङ्कारः ॥३७॥

नासावित्यादि - यत्र नगरेऽसौ नरो मनुष्यो नास्ति यो भोगी न भवति, भोगोऽपीन्द्रियसुखसमागमोऽपि नासौ यो वृषप्रयोगी न भवति, किन्तु धर्मानुकूलमेव सुखानुभवनमस्ति । वृषो धर्माचारोपि स तादृशो नास्ति य किलासख्यमर्थितः स्यात् सख्येन परस्परप्रेम्णा संयुक्तो न भवेत् । सख्यं मित्रत्वमपि तत्तादृङ् नात्र सम्भाव्यते यत्कदापि नश्यात् नष्टं भूयात् किन्त्वामरणस्थायि मित्रत्वं भवति । अर्थात् परस्पराविरोधेन त्रिवर्गसेवनं कुर्वन्ति तत्रत्या इति । समन्वयालङ्कारः ॥३८॥

निरौष्ठ्येत्यादि - यत्रापवादवत्ता पकारोच्चारणवत्त्वं न भवतीत्यपवादवत्ता । सा निरौष्ठ्यकाव्येष्वेव, न पुनः कस्मिन्नपि जने अपवादवत्ता निन्दायुक्तत्वम् । अथ च हेतुवादे न्यायशास्त्र एव परमस्य निर्दोषस्योहस्य तर्कस्य सत्ता परन्तु, न क्वचिदपि जने परस्मिन्पदार्थे मोहसत्ता ममत्वपरिणामः । अपाङ्गनामश्रवणं तु कटाक्षे नेत्रवीक्षण एव स्त्रियाः किन्तु न कोऽपि किलापाङ्गो विकलाङ्गः, छिद्राधिकारित्वं विवरयुक्तत्वं गवाक्षे जालक एव, किन्तु न कोऽपि जनो दोषान्वेषी । परिसंख्यालङ्कार ॥३९॥

विरोधितेति - यत्र पञ्जरे पक्षिनिवास एव वेः पक्षिणो रोधिता अवरोधः, नान्यत्र विरोधो वैरभावो भाति। सरस्तटाकं गच्छतीति सरोगस्तस्य भावः सरोगता तां मरालतातिर्हंसपङ्क्तिरेवैति प्राप्नोति, न कोऽपि

तृतीय: सर्ग:

निःशेषेत्यादि – निशेषाणामखिलानां नम्राणां नमः कुर्वतामवनिपालानां राज्ञां या मौलिमाला: शिरोभूषणस्था: पुष्पसन्ततयस्तासां रजोभि: पिञ्चरिता धूसरीकृताऽङ्घ्र्योश्चरणयो: पौलि: प्रान्तभागो यस्य सोऽस्य नगरस्य कुण्डिनपुरस्य शास्ता प्रतिपालको बभूव, यस्य तास्ता: प्रसिद्धा: कीर्ती: यशांसि एवं च श्रियो: गुण-सम्पत्तीश्च वदामि कथयामि तावत् ॥१॥

सौवर्ण्यमित्यादि – अस्य नृपस्य शोभनो वर्णो रूपं यस्य स सुवर्णस्तस्य भाव: सौवर्ण्य- तदथवा काञ्चनत्वमेवं च धैर्यं धीरभावं दृढत्वं अचलत्वं वोद्वीक्ष्य दृष्ट्वा मेरु: सुमेरुर्दूरंगतो नाहमीदृक् धैर्यवान् सुवर्णी चेति लज्जया किल वा । पुनर्वार्धि: समुद्रोऽपि एतस्य मुक्तामयत्वात् मुक्तो निवृत्तिमितो नाशमवाप्त आमयो रोगो यस्मात्स मुक्तामयस्तत्त्वात् अथवा मौक्तिकमयत्वात् गभीरभावद् गूढचित्तत्वादतलस्पर्शत्वाद्वा हेतोश्च सदा ग्लपितो द्रवत्वमित एव तिष्ठति । अहो-इत्याश्चर्ये ॥२॥

रेवरित्यादि – एकेनैव करेण हस्तेन लोकस्याशानामभिलाषाणां सहस्रं दशशतसंख्यात्वं समासात्सक्षेपात् अन्यथा त्वतोऽप्यधिकमिति भाव: । अथवा समेकीभावे समस्यत इति समासस्तत्कालस्तस्माद् युगपदिति, आपूरयतस्तृप्तिमानयतोऽस्य नृपस्य समक्षमग्रतस्तावत्, च पुन: सहस्रै: करै: स्वकीयै: किरणैर्दशानामाशानां दिशां परिपूरकस्य सप्रकाशकस्य अस्य रवे: सूर्यस्य महिमा महत्त्वं किमिवास्ति ? न किमपि किन्त्वतिशयेनाल्पकत्वमेवास्ति। श्लेषगर्भो वक्रोक्त्यलङ्कार: ॥३॥

भूमावित्यादि – वीतो विनाशमित: कलङ्कस्य दूषणस्य लेशो यस्मात्स दोषवर्जित: भव्यानां सभ्यजनानामेवाब्जानां कमलानां वृन्दस्य सम्प्रदायस्य पुन: मुदे प्रसत्त्यै जातोऽथ च लसन्तीभि: सततं वर्तमानाभि: कलाभि: स्फूर्तिप्रभृतिभिराढ्य: सम्पन्न:, एतादृशो राजा भूपश्चन्द्रश्च द्वितीयोऽपि किलाद्वितीयोऽपूर्वरूपो जात इतीव विचार्य चन्द्रोऽप्ययं भयाढ्यो भयभीतो नाहं निष्कलङ्को न च कमलप्रियो नाप्यक्षकलावान् एवं त्रस्तोऽथ च भया कान्त्याऽऽढ्य: संयुक्तो जात: खलु । एकं विशिष्टगुणं दृष्ट्वाऽपरोऽपिगुणप्रकर्षमात्मनि समादातुं यतत एवेति नासौ चन्द्र: सिद्धार्थसम इत्यर्थ: । अतिदेशालङ्कार: । 'अतिदेश: सजातीयपदार्थेभ्यो विशिष्टता' इति सुक्ते: । भूमावहो धरण्यामपीत्याश्चर्यम् ॥४॥

योग इत्यादि – विधेर्ब्रह्मणो वेदनायाज्ञानेन योग: सम्बन्ध: परावृत्य पीडयेति यावत् । स चापराजितेशोऽपराजिताया: पार्वत्या: स्वामी महादेव: शूली त्रिशूलनामायुधधारक: शूलरोगवान्वा । माधव: श्रीकृष्ण: पुनर्गदान्वितो रोगयुक्त: । गदो रोगो नाम, गदा चायुधविशेषस्तदन्वित: । इत्थमस्य निरामयस्य रोगरहितशरीरस्य नृपस्य सम: समान: क्व ? किलामीषु न कोऽपीत्यर्थ : ॥५॥

यदित्यादि – यत् किल यस्मात्कारणाज्जन: साधारणो मनुष्यवर्ग: कृष्णं वर्त्म मार्गो नीतिलक्षणोऽथ च गगनप्रदेशो यस्मात् स तस्य भाव स्तत्त्वमनीतिगामित्वं धूमवत्त्वमपि वर्ते विनाऽमुष्य राज्ञोऽत्र प्रताप एव वह्नि: अग्नि: शत्रुसंहारकत्वात् तं सदाप्यवाप, पुनश्च लोकस्यक स्यापि जनस्य वितर्कस्य प्रश्नामिधस्य चिन्तायाश्च सत्त्वं नो बभूव, ततोऽ मुष्यानुमानमेवानुमात्वं प्रत्यपि चाद्भुतत्वं अपूर्वत्वं पश्याम्यहमिति । यत्प्रतापतो न कोप्यनीतिकर्ताऽभूदित्यर्थ: । मां लक्ष्मीमनुवर्तमानत्वमनुमात्वमिति चोक्तिलेश: ॥६॥

मृत्त्वमित्यादि - पूज्यपादो जैनेन्द्रव्याकरणे संज्ञासु मनुष्यादिषु शब्देषु मृत्त्वं मृदमिधेयत्वमधुमृदिति जगाद सूक्तवान् । किन्तु नृपोऽसकौ राजा धातुषु सुवर्णादिषु परस्य लोकस्योत्तरजन्मनो हेतोः कारणात् किं वा परेषां लोकानां हेतोरुद्धारकारणाद् ममत्वहीनो भवन् न तत्र रूप्यकादिषु ममत्वं कृतवान् । मृदो मृत्तिकाया भावं मृत्त्वं स कथितवान् यत्र पूज्यपादोऽपि मुनिर्धातुषु भूवादिषु मृत्त्वं न कथितवान् एवं तदेतदस्योज्ज्वला कीर्तिरिव केतुः पताका यस्य-तस्य राज्ञोऽस्ति धाम तेज एव यावत् ॥७॥

सा चेत्यादि - हे सखिराज, मित्रशिरोमणे, पश्य विचारय तावत् । यत्किल नृपनायकस्य सिद्धार्थस्य सा॰ विद्या या लोकोत्तरत्वमसाधारणभावमितरजनेषु यथा न स्यात् तथात्वमाप समुपलेभे । यतः स मार्गणानां मङ्गतानां बाणानां चौघः समूहो यस्य सविधं समीपभावमाप, गुणस्तु यस्य यसोनामा दिगन्तगामी बभूव, दानित्वात्। इतरस्य जनसाधारणस्य धनुर्धरस्य बाणसमूहो दूरं याति, गुणः प्रत्यञ्चाभिधः समाकृष्टो भवतीति विचित्रवस्तु समाश्चर्यस्थानमेतत् यस्माद् ईदृशी चापविद्या क्वापि न दृष्टा, यादृशी सिद्धार्थस्याभूदिति ॥८॥

त्रिवर्गेत्यादि - प्रतिपतेर्व्युत्पत्तेः सारः सत्त्वभागो यत्र सोऽसौ राजा त्रयाणां वर्गाणां धर्मार्थकमाख्यानां भावात् परिणामात् स्वयमेवानायासेनैव चतुर्णां वर्णानां ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रनाम्नां विधिं विधानं चकार कृतवान् । ततोऽमुष्य भवे जन्मनि, अपवर्गस्य स्थितये मोक्षपुरुषार्थसम्पत्तयेऽनभिज्ञत्वमज्ञत्वं वेद, अद इदं ज्ञातवान् स तादृशो जनो नास्ति त्रिवर्गसम्पत्तेः अपवर्गसाधकत्वात् तथा च त्रिवर्गाणां क-च-ट-वर्गाणां भावात्सद्भावाद् ज्ञानादनन्तरं यः स्वयमेव चतुर्णां वर्णांनां त-थ-द-धानां विधिं चकार । अत एव जनोऽमुष्यापवर्गास्थितये पवर्गस्योपपत्यभावार्थमद इदं नकारस्यानभिज्ञत्वं वेद, नकाराध्ययनात्पूर्वं- पवर्गाध्ययनं कुतः स्यादित्यर्थः । श्लेषपूर्णा निन्दायां स्तुतिः ॥९॥

भुजङ्गत इत्यादि - अमुष्य राज्ञो भुजं कुटिलं गच्छतीति भुजङ्गस्ततोभुजङ्गतोऽसेः खड्गादेव सर्पात् मन्त्रिणः सचिवा अथ च गारुडिनोऽपि त्रातुं रक्षितुं क्षमाः समर्था न भवन्ति । यदि कदाचित् अवसरे स राज्ञोऽसिः कोपी कोपयुक्तो भवेच्चेत् इत्येवं विचार्यैवारयः शत्रवः तस्यैव भूपस्याङ्घ्र्योश्चरणयोर्ये नखा नखरा एव चन्द्रा दीप्तिमत्वात् तेषां कान्तिं ज्योंत्स्नामनुयान्ति स्वीकुर्वन्ति । श्लेषयुक्तो रूपकालङ्कारः ॥१०॥

हे तातेति - समुद्रं प्रति हे तात पूज्यवर, तव तनुजा लक्ष्मीर्या सा जानुर्जङ्घा तदुचितो लम्बो बाहुस्तत्प्रापको भुजो यस्य तस्य सिद्धार्थनामनृपस्याङ्गं शरीरं सभास्वपि किमुतान्यत्रेत्यपि शब्दार्थः । न विमुञ्चत्यजेदीदृशी लज्जारहिता जातेत्थं गदितुं वक्तुं तस्य राज्ञः कीर्तिः समुद्रस्यान्तं समीपमवाप । अहो-इत्याश्चर्ये ॥११॥

आकर्ण्येत्यादि - चेद्यदि भूपालस्यास्य सिद्धार्थस्य यश-प्रशस्तिं विरुदावलिं चारणादिगीतामकर्ण्य श्रुत्वाऽऽशतचर्यचकितः सन् शिरोधुनेत् धुनुचयात् कम्पं प्राप्नुयात्तदा भुवोऽपि स्थितिरेवं कथमेवं स्यान्नैव सम्भवितुं न शक्नुयादित्यनुमानजातात्परिज्ञानात् धाता पूर्वमेवाहिपतेः शेषस्य कर्णौ न चकार । सर्पजातेः श्रवणशक्तिसद्भावेऽपि कर्णयोराकाराभावमाश्रित्येत्थमुत्प्रेक्षितमस्ति ॥१२॥

विभूतिमत्वमित्यादि - विभूतिमत्वं सम्पत्तियुक्तत्वमत एव महेश्वरत्वं प्रभुत्वञ्च दधता सृष्टेः प्रजारूपायाः समुन्नतत्वं हर्षपूर्वकं नम्रभावं च व्रजता स्वीकुर्वताप्येनन जननायकेन राज्ञा कुतोऽपि क्व चिदपि प्रजावर्गे दृष्टेर्वैषम्यं नेतं वैपरीत्यं न प्राप्तं कस्मैचिदपि विराधकत्वं नाङ्गीकृतमिति । लोकाभिमतो महेश्वरस्तु विभूतिमान्

स्वाङ्गे भस्मयुक्तोऽपि भवन् त्रिलोचनत्वाद् दृष्टिवैकम्यमेति सृष्टेश्च संहारकरोऽपि भवतीति । अतिदेशालङ्कारः ॥१३॥

एकेत्यादि - अस्य राज्ञ एका प्रसिद्धा चैकसंख्याका च सती विद्या श्रवसोरस्मादृशां कर्णयोर्द्वयोस्तत्त्वं वस्तुस्वरूपं सम्प्राप्य तद्विद्यां श्रुत्वाऽस्माकमपि कर्णौ वस्तुतत्त्वं लभेत इति । सम्प्राप्याथ च तत्त्वं नाम सप्तसंख्याकत्वमवाप्य सप्तद्वयं चतुर्दशत्वं लेभे समवापेति युक्तं, किन्तु तस्यैकापि शक्तिनीतेश्चतुष्कस्य सामदामदण्डभेदभिन्नस्य सारमुपागता सम्प्राप्ता सती भवतां नित्यनूततां बभार । अथ च नव संख्याकत्वमवापेत्यहो आश्चर्यमेव । यत एकस्य चतुर्भिर्मिलित्वा पञ्चत्वमेव स्यादिति । किञ्चैकापि विद्या कर्णद्वयं प्राप्य त्रित्वमेवोरीक्रियतां, न तु चतुर्दशत्वं चतुःप्रकारत्वमित्यहो विरोधाभासः ॥१४॥

छायेत्यादि - हे सुमन्त्रिन् मित्रवरः, श्रृणु तावत् इति योज्जम् । तस्य नृपस्य प्रियं करोतीति प्रियकारिणी इत्येवंशीला स्त्री बभूव, या नाम्नापि प्रियकारिणी आसीत् । या च सदा राज्ञोऽनुगन्त्री छन्दोऽनुगामिनी सूर्यस्य छायेव, यद्वा विधेर्विधातुर्मायेव प्रपञ्चरचनेव । यस्या राज्ञ्याः प्रणयस्य प्रेम्णः प्रणीतिस्तावद्रीतिः पुनीता निर्दोषा समभूदिति ॥१५॥

दयेत्यादि - असौ प्रियकारिणी नाम्नी राज्ञी तस्य राज्ञः पदयोश्चरणयोरधीना वशवर्तिनी समर्था चार्थक्रियाकारिणी सेवा वैय्यावृत्यक्रिया यस्यस्याः सा महाननुभावः प्रभावो यस्याः सा, धर्मस्य समीचीना नुष्ठानस्य दया जीवरक्षावृत्तिरिव, तथा तपस इच्छानिरोधलक्षणस्य क्षान्तिः सहिष्णुतेव, पुण्यस्य शुभकर्मणः कल्याणानामुत्सवानां परम्परा पद्धतिरिव सदैवाभूज्जाता ॥१६॥

हरेरित्यादि - हरेः कृष्णस्य प्रिया लक्ष्मीः सा चपलस्वभावाऽनवस्थानशीला क्षणस्थितिमती सा, वाऽथवा मृडस्य महादेवस्य प्रिया पार्वती सा सततमेवालिङ्गनशीलाऽतो निर्लज्जतयाऽघं पापं कष्टं वा ददातीत्यघदा स्त्रिया लज्जैव भूषणमित्युक्तेः । रतिः कामप्रिया सा पुनरदृश्या द्रष्टुमयोग्या मूर्तिरहितत्वात् विरूपकत्वाद्वेति अतः हे शस्य पाठकमहाशय, पश्यात्र लोके शीलभुवः सहजतया निर्दोषस्वभावाया । स्तस्याः प्रियकारिण्याः समा समानकक्षा कथमस्तु तासु काचिदपीति ॥१७॥

वाणीत्यादि - या राज्ञी परमस्य सर्वोत्कृष्टस्यार्थस्य मुक्तिमार्गलक्षणस्य दात्री वाणीव जिनवागिव । यद्वा परमस्याविसम्वादरूपस्यार्थस्य पदार्थज्ञानस्य दात्री वाणी भवति, तथा चानन्दस्याऽऽह्लादस्य विधायाः प्रकारस्य विधात्री विधि-कर्त्री कलेव चन्द्रमसः, वितर्केणावच्च परमोहपात्री, यथा वितर्कणा परमस्य निर्दोषस्योहस्य व्याप्ति ज्ञानस्य पात्री, तथैव राज्ञी परस्योत्कृष्टस्य मोहस्य प्रेम्णः पात्री, सत्कौतुकपूर्णगात्री मालेव यथा सद्भिः प्रफुल्लैः कौतुकैः कुसुमैः पूर्णगात्रं मालायास्तथा सता समीचीनेन कौतुकेन विनोदेन पूर्वगात्रं यस्या एतादृशी राज्ञी । मालोपमालङ्कारः ॥१८॥

लतेत्यादि - या राज्ञी लतेव सम्पल्लवभावभुक्ता लता यता समीचीनानां पल्लवानां कोमल-पत्राणां भावेन भुक्ता भवति, तथा राज्ञी सम्पदः श्रियो लवानां भावेन भुक्ता । अथवा तु समीचीनानां पदानां लवाः ककारदयस्तेषां भावेन भुक्ता मृदुभाषिणीत्यर्थः दीपस्य दशावर्तिरिव विकासेन (प्रकाशेन, प्रसन्नभावेन च) युक्ता । नित्यं सततमेव सतेव समवादसूक्ता सामान्यशक्तिर्यथा समवादेन सत्सदिति प्रकारेणान्वयवचनेन सूक्ता भवति तथैव राज्ञी समवादसूक्तवती, न हि कुत्रचिदपि वैषम्यं वैरभावमनुकर्त्रीत्यर्थः । यतो यस्यां मृदुता कोमलत्वं मधुरत्वञ्च द्राक्षायामिवोपयुक्ताऽऽसीदभूत् ॥१९॥

इत इत्यादि - हे अम्ब, मात: अहमित: प्रभृति, अद्यारभ्यामुष्य तवाननस्य मुखस्य सुषमां शोभां न स्पर्धयिष्येऽनुकर्तुं न प्रयतिष्ये इत्येवं स्पष्टीकरणार्थमिव सुधांशुश्चन्द्रमा: स्वस्य कुलेन नक्षत्रमण्डलेन युक्त: सन् यस्या लोकोत्तर-सौन्दर्ययुक्ताया: पादाग्रं चरणप्रान्तभागमित: प्राप्त: स्यादिति सम्भावनायामुपात्त: । अथशब्द: क्रमेणावयववर्णं नार्थमिति ॥२०॥

दण्डाकृतिमित्यादि - या राज्ञी स्वनितम्बदेशे कटिपृष्ठभागे पृथुरूपस्य महतश्चक्रस्य कलशकरणस्य मानादनुमानाज्ज्ञानादथारमनायासेनैव कुचयोस्तनयोर्द्वयो: कुम्भोपमत्वं कलशतुल्यत्वं दधाना स्वीकुर्वाणा सती तथैव लोमलतासु रोमावलीप्रदेशेषु दण्डस्याकृतिं दधाना पुन: स्वयमेवात्मनैव कुलालस्य कुम्भकारस्य सत्त्वं स्वरूपं किञ्च कुलेऽलसत्वं प्रमादित्वं स्वयमुज्जहार स्वीकृतवती मत्सदृशोऽनुत्साही कोऽपिनास्तीति किलानुबभूव । अथवा कुरिति पृथ्वी आधारे आधेयारोपणेन च प्रजाततिस्तस्या लालसा प्रेम यत्र तत्त्वम् ॥२१॥

मेरोरित्यादि - याऽसौ राज्ञी मेरो: नाम्न: पर्वतादौद्धत्यमुन्नतत्वमाकृष्य निजे नितम्बे तदिताऽऽरोपितवती। अथवा पुनरब्जात् कमलादाकृष्याऽऽस्यबिम्बे मुखमण्डले, उत च पुनरब्धे: समुद्रादुद्धृत्य गाम्भीर्यमगाधभावं नाभिकायामधो तथैव धराया भूमेर्विशालत्वं विस्तारं श्रोणौ कटिपुरोभागे समारोपितवतीति किल । अतिशयोक्त्यलङ्कार: ॥ २२॥

चाञ्चल्यमित्यादि - या खलु चाञ्चल्यं चञ्चलभावमक्ष्णोश्चक्षुषोरनुमन्यमाना स्वीकुर्वाणा, दोषाणामाकरत्वं दोषमूलत्वमथ च दोषां रात्रिं करोतीति दोषाकरश्चन्द्रमास्तत्त्व मुखे दधाना समारोपितवती । प्रकर्षेण बालभावं मुग्धत्वं प्रबालभावं तथैवं मृदुपल्लवत्वं करयोर्हस्तयोर्मध्ये जगाद् कथितवती । यस्या महिष्या उदरेऽपवादो निन्दापरिणामोऽथवा नास्तीति वादो लोकोक्तिर्बभूव: निन्दायां स्तवं एवालङ्कार: ॥२३॥

महीपतेरित्यादि - महीपते: सिद्धार्थनराधिपस्य धाम्नि गृहे सा महिषी निजस्येङ्गितेन शरीरचेष्टया यत: कारणात् सुरीभ्यो देवीभ्योऽपीते: सम्पतिकरी बाधा-सम्पादिका अभूत्, देवीभ्योऽप्यधिकसुन्दरी बभूवेत्यर्थ: । तथैव हितेन राज्ञोऽप्यन्यस्य लोकस्यापि हितेन शुभचिन्तनेन शोभनाया रीते: सम्पत्तिकरी समभूत् । पुनर्हे मित्र, असकौ राज्ञी स्वकटिप्रदेशेन पवित्रा पविं वज्रं त्रायते स्वीकरोति सा शक्रायुधवदल्पमध्यप्रदेशवती । हृदा हृदयेनापि पवित्रा पुनीता अतीव निर्मलमानसा धरायां भूमौ न तु स्वर्गे अपिशब्दोऽत्रेवार्थक: किञ्च निजेङ्गितेन राज्ञी सानुरिवोन्नतिशीलाऽभूदित्यप्युक्तिलेश: ॥२४॥

मृगीदृश इत्यादि - मृगी हरिणी तस्या दृशाविव दृशौ नेत्रे यस्यास्तया मृगीदृशो महिष्या या स्वयं सहजा चापलता चपल एव चापलस्तस्य भावश्चापलता हावभावादचेष्टा या खुल रम्या रमणीया अत: सैव स्मरेण कामदेवेन चापलताऽऽपि धनुर्यष्टित्वेन अङ्गीकृताऽभूत् । अथ च मनोज: कामदेव एव हारो हृदयालङ्कारो यस्या: साऽसौ राज्ञी निजेक्षणेन स्वकीयेनावलोकनेन कटाक्षरूपेण क्षणेन तत्कालमेवाङ्गभृत: शरीरधारिणो मनो हृदयं जहारापहृतवतीति । यमकोऽलङ्कार ॥२५॥

अस्या - मृणालकं कमलनालमहमस्या महिष्या भुजस्य बाहुदण्डस्य स्पर्द्धने तुलनाकरणे गर्द्धनं तृष्णापरिणामो यस्य तत्तवात्कृतोऽपराधो दोषो येन तमेनमिदानीं तत्त्वाद्वस्तुत: । अन्तरभिव्याप्याभ्यन्तो न पुनर्बहि:। उच्छिन्नो गुणानां धैर्यादीनां तन्तूनां च प्रपञ्चो यत्र तं स्फूटितहृदयमित्यर्थ: नीरे जले समागच्छति स्मेति नीरसमागतं

तमेव नीरसं रसरहितजीवनमत एवऽऽगतं विनष्टप्रायञ्च समुपैमि जानामि । पराभूतश्च जनो जले बुडित्वा विनश्यतीति रीतिः ॥२६॥

या पक्षिणीत्यादि - याऽसौ भूपतेः सिद्धार्थस्य मानसं नाम चित्तं तदेव मानसनामसरस्तस्य पक्षिणी तदादरिणी पतत्रिणी च या किल जगदिदं चराचरं तदेवैकं दृश्यमवलोकनस्थानं तस्मिन् राजहंसी राज्ञः प्रिया क्षीरनीरविवेचिनी पक्षिणी चेत्येवमिष्टानुमानिता, या खलु विनयेन नम्रभावेन, अथ च वीनां पक्षिणां नयेनाऽऽचारेण युक्ता, यतः खलु स्वचेष्टितेनैव मुक्ता परित्यक्ता, अफला फलरहिता स्थितिश्चेष्टा यया सा मुक्ताफलस्थितिस्तथा मुक्ताफलैर्मौक्तिकैरेव स्थितिः जीविका जीवनवृत्तिर्यस्या सापि ॥२७॥

प्रवालतेत्यादि - अस्या महिष्या मूर्ध्नि मस्तके प्रकष्टा बालाः केशा यत्र स प्रबालस्तस्य भावः प्रबालता सघनकेशत्वमिति अधरे ओष्ठदेशेऽपि प्रवालो विद्रुमस्तस्य भावः प्रवालताऽभूद्, अरुणवर्णत्वात्, तथैव करे हस्ते च प्रबालता सद्योजातपल्लवत्वं कोमलतयेति । यस्या मुखेऽब्जता चन्द्रमस्त्वमाह्लादकारित्वात्, चरणे पदप्रदेशेऽप्यब्जता कमलरूपत्वमाकारेण कोमलत्वेन च, तथा गले कण्ठेप्यब्जता शङ्खरूपत्वमभूदिति यस्या जान्वोर्जङ्घयोर्युगे द्वये सुवृत्तता समुचितवर्तुलाकारत्वम्, तथा चरित्रेऽपि सुवृत्तता नियमितेङ्गितत्वात् । कुचयोः स्तनयोः रसालताऽऽम्रफलतुल्यताऽभूदेवं कटित्रेऽधोवस्त्रेऽपि रसालता- रसां काञ्चीं लाति स्वीकरोति रसालस्तस्य भावो रसालाऽभूत् ॥२८॥

पूर्वमित्यादि - एषोऽर्थोल्लोकमान्यो विधिर्विधाता पूर्वं प्रथमतस्तावदभ्यासार्थं विधुं नाम चन्द्रमसं विनिर्माय रचयित्वा पश्चाद् व्युत्पत्त्यनन्तरं विशेषय त्वात्सावधानो भवन् तस्या मुकं कुर्वन् सन् एव मेतादृशं सर्वाङ्गसुन्दरं सम्पादयन् स तस्यैतद्वृत्तान्तस्योल्लेखकरीं तां चिह्नाभिधां लेखां तत्र चन्द्रमसि चकार कृतवानित्युदारो महामनाः संज्ञायते । लोकेऽपि शिल्पिप्रभृति उत्तरां कृतिंकुर्वन् पूर्वां कृतिं लेखाभिश्चिह्नयति ॥२९॥

अधीतीत्यादि - अधीतिरध्ययनं, बोधो ज्ञानम् आचरणं तदनुकूला प्रवृत्तिः प्रचारोऽन्यप्राणिभ्यः सम्प्रदानमेतैश्चतुर्भिरुदारैः सर्वसम्मतैः प्रकारैरस्या राज्ञ्या विद्या चतुर्दशत्वं चतस्रो दशा अवस्था यस्याः तस्या भावश्चतुर्दशत्व तद्गमिता नीता, अतः कारणात्सकला वा पुन : कला, कला तु षोडशो भाग इति स्वभावादेव चतुःषष्ठिर्जाताः । अथ च तस्या विद्या निरन्तरमधीत्यादिभिः प्रकारैश्चतुर्दशप्रकारत्वं प्रापिताः, कलाश्च स्फूर्त्यादिरूपाश्चतुः षष्ठिसंख्याप्रमिताः स्त्री समाजयोग्यास्ताः परिपूर्णाः सञ्जताः ! पूर्णविदुषी सा सम्बभूवेति यावत् ॥३०॥

या सामेत्यादि - या राज्ञी सामरूपस्य शान्तभावस्य स्थितिमात्मना मनसाऽऽह, सततमेव शान्तचित्ताऽऽसीत्, या स्वीयाधरे ओष्ठदेशे विद्रुमतां प्रबालसंकाशतामुवाह अरुणाधराऽभूदिति । यस्यास्तनौ शरीरे तु पुनरुपमामनुवर्तमानत्वमनूपमत्वं, तस्योपमानत्वस्य सत्त्वं न पुनरुपमेयत्वस्य । तच्छरीरादधिकं सुन्दर किञ्चिदपि नास्ति यस्योपमा दीयताम् इति । धारणा स्मरणशक्तिरपि सा प्रसिद्धा तस्यां या खलु महत्त्वमुत्तरोत्तरवर्धमानत्वमन्वभवत् स्वीचकारेति । यस्या आत्मनि मरुनाम देशस्योपस्थितिर्यत्र विद्रुमता द्रुमविहीनता भवति, अनूपो नाम जलबहुलो देशस्तद्वत्त्वं शरीरे साधारणाय देशायानधिकजलगुल्मादिरूपाय तु यत्र महत्त्वमिति समासोक्तिः, त्रिप्रकारस्य देशस्य स्वामिनी सेत्यर्थः ॥३१॥

अक्ष्णोरित्यादि - या युवतिर्नवयौवनवती, अक्ष्णोर्दीर्घसन्दर्शितां विचारशीलतां दधती स्वीकुर्वती साञ्जनतां सदोषभावमवापेति विरोधः, किन्तु साऽक्ष्णोर्नेत्रयोर्दूरदर्शित्वं दधत्यपि साञ्जनत्वं सकज्जलत्वमवापेति परिहारः ।

या चोर्वोर्विलोमतां वैपरीत्यमाप्यापि सुवृत्तस्थितिं सदाचारभावमवापेति विरोधः, तत्र पुनरपि सा ऊर्वोर्जंघयोर्विलोमतां लोमाभावं दधत्यपि वर्तुलभाव लेभ इति परिहारः। या आत्मनः कुचयोः काठिन्यंकठोरत्व दधती समुन्नतिं सहर्षनम्रत्वं सम्भावयन्ती बभौ शुशुभ इति विरोधः। कुचकाठिन्येऽपि समुन्नतिं समुच्छ्रायत्वं स्वीकुर्वाणेति परिहारः। या कचानां केशानां सग्रहे श्लक्ष्णत्वं नम्रत्वं दधत्यपि समुदितं साकं वक्रत्वं सम्भावयन्ती बभाविति विरोधः, तत्र कचसंग्रहे मार्दवं कुटिलत्वश्च सार्धं बिभ्राणा बभाविति परिहारः। विरोधाभासोऽलङ्कार ॥३२॥

अपीत्यादि - या राज्ञी जिनपस्यार्हतो गिरा वाणीव समस्तानां प्राणिनामेकाऽद्वितीया बन्धुः पालनकरी आसीदभवत्। शशधरस्य चन्द्रमसः सुषमा ज्योत्स्ना यथा तथैवाऽऽह्लादस्य प्रसन्नतायाः सनदोहः किलाविच्छिन्नप्रवाहस्तस्य सिन्धुर्नदी बभूव नदीव यथा नदी तथैव सानुकूला कूलानुसारिणी नदी, राज्ञी चानुकूलचेष्ठावती। सरसा शृङ्गारससहिता सजला च सकला चेष्टा यस्याः सा, षट्पदीव भ्रमरीव नरपतेः पदावेव चरणावेव पद्मे। ते प्रेक्षत इत्येवंशीला नृपचरणकमलसेविकाऽभूदिति ॥३३॥

रतिरिवेत्यादि - तस्य विभूतिमतः सम्पत्तिशालिनः भस्मयुक्तस्य चेशस्य राज्ञो महेश्वरस्येव सा राज्ञी भूमावस्यां पृथिव्यां गुणतोऽपराजिता पार्वतीव कयापि परया स्त्रिया न जिता सर्वोत्कृष्टा सती तस्य नृपस्य जनुषः जन्मनः आशिकेव शुभाशंसेव सन्धात्री पुष्पधनुषः स्मरस्य रतिरिव प्रियाऽभूत्प्रेमपात्री सञ्जाता ॥३४॥

असुमाहेत्यादि - सा राज्ञी सुरीतिः सुसंज्ञा, स्वसखि पति, इति जैनेन्द्रव्याकरणोक्ता सैव वस्तु प्रयोजनभूतत्वात्तस्य स्थितिः प्रतिपालयित्री सा पुनः समवायाय सम्यग्ज्ञानाय पतिमित्येनं शब्दं तावदसुं सुसंज्ञातो बहिर्भूतमाहोक्तवती, तथैव शोभना रीतिः प्रथा सैव वस्तु तस्य स्थितिर्निर्दोषकार्यकर्त्रीत्यर्थः। सा पतिं भर्तारमसुमाह प्राणरूपं निजगाद। समर्थं कं जलं धरतीति समर्थकन्धरः पुनरप्यजड़ो ड-लयोरभेदाज्जलरहित इति समतामपि ममतां शान्ति मपि मोहपरिणाममुदाहरदिति विरोधः, ततः समर्थौ विजयकरौ बाहुमूलभागौ यस्य स भूपोऽजडो मूर्खत्वरहितः स राजा मम कवेर्मतां वर्णितप्रकारां तां राज्ञीमुदाहरत्, मया वर्णितस्वभावां तां राज्ञी स्वीचकारेत्यर्थः ॥३५।

नरप इत्यादि - नरपो राजा वृषभावं बलीवर्दतामाप्तवान्। एतकस्य पुनरियं महिषि रक्ताक्षिकाऽभूत्, अनयोद्वयोः क्रिया चेष्टा सा अविकारिणी अवेर्मेषस्य उत्पादिका, सा च द्युसदां देवानां प्रिया स्त्री समभूत् इति सर्वं विरुद्धम्। अतो नृपो वृषभावं धर्मस्वरूपमाप्तवान् जानाति स्म। एतकस्य पुनरियं महिषी पट्टराज्ञी वा धर्ममाप्तवतीत्यनयोर्विकाररहिता चेष्टा सुराणामपि मध्ये प्रिया प्रीतिसम्पादिका समभूदिति। अहो इत्याश्चर्यनिवेदने ॥३६॥

स्फुटमित्यादि - तयोर्नृपमहिष्योः सर्वोऽपि समयः स प्रसिद्धो निशा-वासरयोर्मध्य इतरेतरमानुकूल्यतः परस्परानुकूलाचरणतस्तथा स्पष्टं स्फुटमेव किल ऋतूनामिदमार्तवं यत्सन्निधानं यथर्तु सुखसाधनं ततः स्वतोऽनायासेनैव स्वमूल्यतः सदुपयोगेन समगच्छन्निर्जगाम ॥३७॥

इति तृतीयः सर्गः।

चतुर्थः सर्गः

अस्या इत्यादि – अस्माकमानन्दगिराणां प्रसन्नतासम्पादिकानां वाणीनामुपहारः पारितोषिकरूपो वीरो वर्द्धमानो भगवान् भवितुमर्हः । स कदाचिदेकदाऽस्याः श्रीसिद्धार्थस्य महिष्या उदरे आरात्संयोगवशात् शुक्तेरारात्कुवलस्य मौक्तिकस्य प्रकार इव मौक्तिकविशेष इव उदरे स्वयमनन्यप्रेरणयैवावभार धृतवान् गर्भकल्याणं नाम । अतोऽन्यं गर्भं न धरिष्यतीति यावत् ॥ १ ॥

वीरस्येति – मासेष्वाषाढमासः । पक्षयोर्द्वयोर्यः सारः शुचिर्विशुद्धनामा सः । तिथिश्च सम्बन्धवशेन यस्या गर्भो जातः सा षष्ठीति नाम्नी । ऋतुस्तु पुनः समारब्धा पुनीता वृष्टिर्यस्मिन् स वर्षारम्भसमय इत्यर्थः । एष वीरस्य गर्भेऽभिगमस्य गर्भावतारस्य प्रकारो विधिः कालनिर्देशः ॥ २ ॥

धरेत्यादि – गर्भमुपेयुषः समायातवतः प्रभोर्भगवतस्त्रिज्ञानधारिणः कारणात्तु पुनः प्रजेव प्रजावद् इयं धरा भूमिरप्युल्लासेन हर्षेण सहितस्य विचारस्य वस्तु बभूव जाता। यतस्तदानीं रोमाञ्चनैरङ्कुरिताऽङ्कुरभावमितेवेत्यन्तर्हितोपमा। सन्तापं शोकपरिणाममुष्णभावञ्चोज्झित्य त्यक्त्वाऽऽर्द्रभावां कोमलहृदयत्वं सजलत्वञ्च गता प्राप्तेति ॥३॥

नानेत्यादि – प्रसङ्गवशात्कविस्तस्य वर्षाकालस्यैव वर्णनं करोति। एष वर्षाभिधानः किल कालो रसायनाधीश्वर वैद्य इव भाति। तथाहि–रसस्य जलस्यायनं प्रवर्तनं, पक्षे रसस्य पारदाख्यधातोरयनं उपयोगकरणं तस्याधीश्वरोऽधिकारी। नानाऽनेकप्रकाराणामौषधीनां कण्टालिकादीनां पक्षेऽमरसुन्दर्यादिप्रयोगरूपाणां स्फूर्तिं धरतीति सः। प्रशस्या प्रशंसायोग्या वृत्तिः, पक्षे प्रकृष्टानां शस्यानां मुद्गधान्यादीनां वृत्तिः समुत्पत्तिर्यत्र सः इदं जगत्तप्तमुष्णतायुक्तं ज्वरयुक्तं चावेत्य तस्य कौ पृथिव्यां र-लयोरभेदात् शर जलं, शरं वनं कुशं नीरं तोयं जीवनमब्विषमिति धनञ्जयः । पक्षे कौशलं कुशलभावं प्रवर्तयन् कुर्वन्सन्नित्येवं रूपेणोदार उपकारकरः ॥ ४ ॥

वसन्तेत्यादि – वसन्त एवं कुसुमप्रायतुरिव सम्राट श्रीमत्त्वात्तस्य विरहो राहित्यं तस्मात् । अपगता ऋतुः कान्तिर्यस्यास्ताम् तथा चापकृष्टो वस्तूनां बलवीर्यापहारको ग्रीष्माख्यर्तुर्यस्यां तामेतां महीं पृथ्वीमेव स्त्रीमिति यावत् । उपकर्तुमिव स्वास्थ्यमानेतुमिव दिशा एवं वयस्याः सख्यस्ताभिर्घनानां मेघानामपदेशो मिषस्तस्मात् । नीलाब्जानामुत्पलानां दलानि पत्राणि धृतानि समारोपितानि, अशेषात् सर्वत एवं ॥ ५ ॥

वृद्धिरित्यादि – अयं वर्षावसारः कलिर्नुकलिकाल इवास्तु प्रतिभातु, यतोऽत्र जड़ानां ड-लयोरभेदात् जलानां पक्षे मूर्खाणां वृद्धिः । मलिनैः श्यामवर्णैर्घनैर्मेघैः पक्षे बहुभिः पापिभिरुन्नतिर्लब्धा सम्प्राप्ता । जनो मनुष्यवर्गस्तु पुनस्त्यक्तपथोऽत्र भ्रष्टपथो जातः, जलप्लवत्वा न्नियतं मार्गं त्यक्ताऽन्यमार्गगामी वर्षायां कलौ च सन्मार्गच्च्युतो भूत्वा पापपथरत इति यत्र च देशं देशं प्रति प्रतिदेशं सर्वत्रैव द्विरेफाणां भ्रमराणां पक्षे पिशुनानां संघः प्रतिभात्येवंप्रकारेण साम्यमस्ति ॥ ६ ॥

मित्रस्येत्यादि – निर्जलमेघैराच्छादितं दिनं दुर्दिनमित्याख्यायते, तच्च दुर्दैवतां दुर्भाग्यस्य समानतामगात्, यत्र मित्रस्य सूर्यस्य पक्षे सहचरस्य वेक्षणं दर्शनं समागमनं च, दुःसाध्यमसुलभम्, तु पुनः यूनां तरुणानामप्युद्योगा व्यापारा यत्र बिलयं नाशमेव व्रजन्तु सशंकभावात्कार्यं कुर्तुं नोत्सहन्ते जना इति । जीवनं जलमायुश्च यदुपात्तं सल्लब्धं तद् व्यर्थं भवति ॥ ७ ॥

लोक इत्यादि - अस्मिन्नृतौ, अयं लोकः समस्तमपि जगत् तथा च जनसमूहो जडाशयत्वं जलस्याशयः स्थानं तथैव जडो मन्दत्वमित आशयश्चित्तपरिणामो यस्येति सः। तत्त्वमाप्नोति घनानां मेघानां मेचकेनान्धकारेणाथवा घनेन निविडेन मेचकेन पापपरिणामेन सतां नक्षत्राणां वर्त्म गगनं तथैव सत्समीचीनं वर्त्म पुण्यं तल्लुप्तं भवति यत्रारात्रिरन्तरं प्लवङ्गा दर्दुरा यद्वा चञ्चलचित्ताः प्लवं चापल्यं गच्छन्तीत्येवं शीला जना एवं वक्कारो ध्वनिकराः पाठकाश्च भवन्तीति । अन्यपुष्टः कोकिलोऽथवान्येन पोषणमिच्छति स मौनी वाग्विरहितः सचिन्तश्च भवति, न कोऽपि परोपकारी सम्भवतीति यतः । अनेन कारणेन वर्षाकालः स्वयमेव सहजभावेन कलितुल्य इति ॥ ८ ॥

• **रसैरित्यादि** - यद्वा वर्षाकालो नृत्यालय इव भवति, यत्र मृदङ्गस्य वादित्रविशेषस्य निस्वानं शब्दं जयति तेन मुदिरस्य मेघस्य स्वनेन ध्वनिना सूत्कण्ठितः समीचीनामुत्काण्ठां सम्प्राप्तोऽयं कलापी मयूरो यो मृदु मञ्जु च लपतीति स मधुरमानन्दकरञ्चालपति स क्षणेन तत्कालमेव रसैर्जलैः शृङ्गारादिरसैश्च जगदिदं प्लावयितुं जलमयं कर्तुं नृत्यं तनोति ॥ ९ ॥

पयोधरेत्यादि - अथवाऽसौ प्रावृट् वर्षाकालो नारीव भाति । यस्याः पयोधराणां मेघानां पक्षे स्तनयोरुत्तानता समुन्नतिस्तया कृत्वा वाग्गर्जनं पक्षे वाणी सा जनानां मुदे प्रीतये भवति या च भृशं पुनः पुनर्दीपितः कामदेवो यया सा, नील श्यामलमम्बरं गगनं वस्त्रं वा यस्याः सा रसौघस्य जलप्रवाहस्य शृङ्गारानन्दसन्दोहस्य च दात्री वितीर्णकर्त्री सुमनोभिः कुसुमैरभिरामा मनोहरा, अथवा सुमनसे प्रसन्नचेतसेऽप्यभिरामा ॥ १० ॥

वसुन्धराया इत्यादि - अद्यास्मिन्समये वसुन्धराया भूमेस्तनयान् वृक्षान् विपद्य नाशयित्वा ग्रीष्मे वृक्षा विरोपा भवन्तीति तं खरकालं ग्रीष्मर्तुं आरादचिरान्निर्यान्तं पलायमानममी द्राक् शीघ्रमेवान्तरार्द्राः सजला मनसि दयालवश्चाम्बुमुचो मेघा परिणामे फलस्वरूपेण वार्जलमश्रुस्थानं येषां यथास्यात्तथा शम्पा विद्युत एवं दीपास्तैः साधनभूतैर्विलोकयन्ति ॥ ११ ॥

वृद्धस्येत्यादि - आशु शीघ्रं निष्कारणमेव वृद्धस्य वृद्धिं गतस्य जराजीर्णस्य च वराकस्य सिन्धोः समुद्रस्य रसं जलं सुवर्णादिकञ्च हत्वाऽपहृत्य तु पुनस्ततः शापाद् दुरशिषः कारणादिवास्ये स्वीयमुखप्रदेशेऽलिरुचिं भ्रमर-सङ्काशत्वं धृत्वा श्यामलिमानमधिकृत्य, अथ पुनरेतस्य आगसो दूषणस्य हृतिः परिहारस्तस्या नीतेः सत्तवात्सद्भावात् असौ तडित्वान् जलधरस्तमशेषं सम्पूर्णमपि श्रणाति परित्यजति न मनागप्यात्मसात्करोति ॥ १२ ॥

श्लोकमित्यादि - हे विचारिन् पाठक, शृणु तावत् इत्यध्याहारः । विशारदा विदुषी शरदागमरहिता चेयं वर्षा लोकानामुपकृतौ विश्यस्यापकारः स्यादिति विचारमधिकृत्येत्यर्थः । तु पुनः श्लोकमनुष्टुप्छन्दो विधातुं कर्तुमथ च यशो लब्धुं तस्यैव साधनभूतानि पत्राणि पल्लवरूपाणि कर्गलानि कलमं धान्यविशेषं लेखनीं च लातुं संगृहीतुं यावदभ्यारभते तावदयं भूयः पुनः पुनर्भवन् वार्दलो मेघो मषीपात्रं वा स आशुकारी आशुं नानाविधमन्त्रं करोति स सफलताकारको वाऽस्ति । समासोक्तिः ॥ १३ ॥

एकाकिनीनामित्यादि - असौ नीरदो मेघो रदरहितो वृद्धश्च सोऽधुना किलैकाकिनीनां स्वामिविहीनानां वधूनां मांसानि यानि किल स्वभावत एवं मृदूनि कोमलानि भवन्ति तानि आस्वाद्य भक्षयित्वा हे आत्मसाक्षिन् विवेकिन् शृणु स एव करकानां जलोपलानां प्रकाशात् समुद्भावनात् तासामस्थीनि एव काठिन्याद्धे तोर्निष्ठीवति थूत्करोति । किमिति संप्रश्नविचारे ॥ १४ ॥

नितम्बिनीनामित्यादि - कुशेशयानि कमलानीदानीं नितम्बिनीनां युवतीनां मृदुभिः सुकोमलैः पादैरेव पर्यस्तैः प्रतारितानि न यूयमस्माकं तुल्यतां कर्तुमर्हथेति तिरस्कृतानि, ततो ह्रिया लज्जयेव किल स्वीयस्य शरीरस्य हत्यै विनाशार्थं विषप्रायस्य जलवेगस्यैव गरलरूपस्य स्यात्प्रसङ्गाद्धे तोरियं क्रिया तेषां प्रतिभाति तावद्वर्षायां कमलानां विनाशो भवतीति समाश्रित्योक्तिरियम ॥ १५ ॥

समुच्छलदित्यादि - इदानीं वर्षतौं समुच्छलन्ति सम्मिश्रणतामनुभवन्ति शीतलाः शीकरा जलांशा अङ्कं मध्ये तस्मिन्, तादृशि वायौ वहति सति, महीमहाङ्के सुविस्तृते भूतले किलैष प्रसिद्धोऽनङ्गः कामः सभियेव भयमवाप्यैव खलु उत्तापेन शोकवशेन तप्तमुष्णतां नीतं विधवानां पतिहीनानां नारीणामन्तरङ्गं भूयः पुनः पुनर्यथा स्यातथा प्रविशति ॥ १६ ॥

वृथेत्यादि - इदानीं भेका दर्दुरा वृथैव कुकवीनां प्रयातं चेष्टितं अयन्तः स्वीकुर्वन्तः किलैकाकितया स्वममेवान्यप्रेरणं विनैव लपन्तः शब्दं कुर्वन्तः पङ्केन कर्दमेन पापेन वा प्लुताः संयुक्ताः सन्तः, यद्वा पङ्के प्लुतास्तन्मया भवन्त उदात्तं कं महदपि जलं कलयन्ति दूषयन्ति यद्वाऽऽनन्दमनुकुर्वन्ति, किन्तु महतामुदारचरितानामन्तश्चित्तं नित्यमेव तुदन्ति दुःखितं कुर्वन्ति । उत भङ्ग्यन्तरर्णने ॥ १७॥

चित्तेशय इत्यादि - चित्ते शेते समुत्पद्यते स चित्तेशयः कामः सोऽयं सर्वमान्यः संस्तु पुनर्जयताद् विजयी भूयादिति किल हृष्टाः श्लाघापरायणत्वेन फुल्लतामिताः श्रीमन्तः कुटजा नाम वृक्षास्ते सुमेषु पुष्पेषु तिष्ठन्तीति समुस्था वारो जलस्य बिन्दवोऽशास्तेषां दलानि समूहास्तेषामपदेशो मिषः सम्भवति यत्र तं तादृक्षं मुक्तामयं मौक्तिकलक्षणमुपहारलेशं पारितोषकांशं श्रयन्तु येऽधुना वर्षाकाले श्रयन्ति ॥ १८ ॥

कीदृगित्यादि - हे अंशकिन्, विचारकारिन् पश्य, तावदनेन तु पुनराशुगेन वायुना कीदृग्दारुणमतिभयावहं चरित्रं चरितम् । चातकस्य चञ्चुमूले चिराद्दीर्घकालादपि पतद्यद्वारि जलं तदप्यत्र तूले प्रसङ्गे निवारितं दूरोत्सारितमास्ते। अर्थाद्दीनजनस्य हस्ते कदाचिद् यत्समायाति तदपि दुर्दैवेन विनश्यतीति । अन्योक्तिनामालङ्कारः ॥ १९ ॥

घनैरित्यादि - उडुवर्गो नक्षत्राणां समूहः स इह वर्षाकाले घनैर्मेघैरेव घनैर्लोहकुट्टनायुधैः पराभूतो भवन् लघुत्वं ह्रस्वाकारतामासाद्य सम्प्राप्य विचित्रः पूर्वस्मादाकारादन्यरूप एव सर्गो निर्माणो यस्य सोऽस्मिन् धराङ्के भूतले खमाकाशं द्योतयति स खद्योत इत्येवं तुल्या समानरूपाऽर्थस्य वृत्तिर्यत्र स प्रथितः प्रसिद्धिमवाप्तः सन् तन्नाम्ना चरित तावदित्यहं शङ्के मन्ये ॥ २० ॥

गतागतैरित्यादि - इदानीं वर्षाकाले योषा नाम स्त्रीजातिः सा दोलासम्बन्धिनी या केलिः क्रीडा तस्यां दौलिककेलिकायां स्वार्थे कविधानात् । कीदृश्यां तस्यां मुहुर्मुहुः पौनःपुन्येन सम्प्राप्तः परिश्रमोऽभ्यासो यस्यां तस्यां समीचीनस्तोषस्तृप्तिभावो यस्याः सा सुतोषा सती पुनश्च संलग्ना तेषु प्रसिद्धेषु पुरुषायितेषु पुरूषवच्चे ष्टितेषु निपुणस्य भावो नैपुण्यं कुशलत्वमुपैति ॥ २१ ॥

मुखश्रिय इत्यादि - शोभनौ बाहू यस्याः सा सुबाहुर्दोलिनी दोलाकेलिभोक्त्री मुखश्रियः स्तेयिनं चौर्यकरम्, इन्दोरिदमैन्दवं बिम्बं चन्द्रमण्डलं बिम्बशब्दस्य पुर्नपुसकत्वादिह पुंल्लिङ्गो ग्राह्यः । प्रहर्तुं समुद् यथा स्यात्तथा एति उपरि गच्छति, किन्तु तत्रापि व्योम्नि मुनयो महर्षयो राहुं नाम ग्रहं समाहुः कथयन्ति, योऽस्मन्मुखं चन्द्रमिति मत्वा कवलयिष्यतीति सञ्जातस्मरणा जवादेवापैति नीचैरायातीति पुनः पुनः करोति ॥ २२ ॥

प्रौढिमित्यादि - प्रौढिं गतानां वर्द्धमानजलत्वेनोद्धतानां बहूनां वाहिनीनां नदीनां विभ्रमेण भ्रमणेन संयुतानां मुहुर्वारंवार सम्पर्कमासाद्याधुना वर्षाकाले तेन रयेन समागमेनासौ वराको जलधिरपि वृद्धो जात: साधिकजलत्वमित इति सम्भाव्यते । बहूना विलासवतीनां युवतीनां मृदु: सम्पर्कमासाद्य वृद्धो जनो जडबुद्धिश्च भवतीति समासोक्ति: ॥२३॥

रसमित्यादि - कश्चिदपि जनो मद्यं पीत्वा भ्रमभावमुपेत्य यद्वा तद्वा प्रलपति निरर्गलत्वेन, तथा च मुखे फेनपुञ्जवानापि भवति तथैव हे सखे, मित्रवर पाठक, रसं जलं रसित्वा संगृह्य भ्रमैर्विभ्रमैरिति भ्रमतो वसित्वा भ्रमपूर्णो भूत्वा तथा चोद्धततां कशित्वा सम्प्राप्यापजल्पतो व्यर्थं प्रलपत: शब्दं कुर्वतोऽस्य समुद्रस्याधुना परञ्जानां फेनानां पुञ्जस्योद्गति: प्रादुर्भावस्तया पूर्णं व्याप्तमास्यं मुखमस्तीति पश्च । समोसोक्ति: ॥ २४ ॥

अनारतेत्यादि - तथा चानारतं निरन्तरमाक्रान्ता सर्वतो व्याप्ता ये घना मेघास्तेषामन्धकारे सति भूजलेऽस्मिन्निशावासरयो रात्रि-दिवसयोपि भेदं भर्तुश्चक्रवाकस्य युतिं संयोगं पुनरयुतिं वियोगमपि च सम्प्राप्य वराकी चक्रवाकी केवलमेव हि तनोति विस्तारयति तत्संयोगवियोगवशेनैव जना दिनरात्र्योर्भेदं कुर्वन्तीति । रे सखेदसम्बोधने ॥ २५ ॥

नवाङ्कुरैरित्यादि - भो सुदेह, यदा धरा तु नवैरङ्कुरैरङ्कुरिता व्याप्ताभूत् । व्योम्नो गगनस्यापि शोभना कन्दा मेघा यस्मिंस्तत्वमजातु बहुलतयाऽभूत् । इह भूतलेऽस्मिन्समये यत्किञ्चिदासीज्जातं तन्मया निरुच्यते कथ्यते त्वं शृणु तावदिति प्रजावर्गस्य तु का वार्ता, भूरपि किलाङ्कुरिता रोमाञ्चिता व्योम्नोऽपि सहर्षत्वमभूद्यदेति भाव: ॥२६॥

स्वर्गादित्यादि - या रमा लक्ष्मीरिव सा पूर्वोक्ता राज्ञी किलैकदा पश्चिमायां निशि रात्रेरन्तिमप्रहरे सुखनोपसुप्ता सहजनिद्रावती सतीत्यर्थ: । श्रीयुक्तां शुभसूचिकां षोडशस्वप्नानां ततिं परम्परां स्वर्गादिन्द्रादिनिवासस्थानादिह भूतले आयातवत: समागच्छतो जिनस्य धर्मतीर्थप्रवर्तकस्य सोपानानां पदिकानां सम्पत्तिमभ्युत्पत्तिमिवाभ्यपश्यद्ददर्श ॥२७॥

तत्कालमित्यादि - च पुन: स्वप्नदर्शनानन्तरं सुनष्टा सहजेनाप्यपगता निद्रा ययोस्ते तथाभूते नयने यस्या: सा वरतनुरुत्तमाङ्गी राज्ञी पुनरपि नियोगमात्रमेतदस्माकमवश्यं कर्तव्यमिति किलाभित: सर्वांशेन कल्याणमयानि मङ्गलसूचकानि वाक्यानि येषु तै: स्तवैर्गुणाख्यानैर्हेतुभिर्मागधैश्चारणवन्दिजनै: कर्तृस्थानैर्देवीभिश्च परिचारिकास्थानीयाभि: श्रीप्रभृतिभि: सम्बोधिता सतीष्टो य: कोऽप्याचार: पञ्चपरमेष्ठिस्मरणात्मकस्तत्पुरस्सरं यथा स्यात्तथा तल्पं शय्यां विहाय त्यक्त्वा प्रात:कर्म शरीरशोधनस्नानादि विधाय च द्रव्याणां जलादीनामष्टकेनार्हतां पूज्यानामर्चनं पूजनं च तत्प्रसिद्धमागमोक्तरीत्या कृतवती ॥ २८ ॥

तावदित्यादि - तावत्तु पुनरर्हत्पूजनानन्तरं सत्तमै: प्रशस्तैर्विभूषणैर्नूपुरादिभिर्भूषितमलङ्कृतमङ्गं यस्या: सा, नतानि नम्रतामितानि - अङ्गानि यस्या: सा । परमा पूता पावनी देवताभिरपि सेवनीया तनुर्यस्या: सा । महती महाशयमधिकुर्वती सा देवी प्रियकारिणी आलीनां सहचरीणां कुलेन समूहेन कलिता परिपूरिता सती किमिदं मम मनसि सञ्जातमिति ज्ञातुं कामयते तत्तया शुभायां सभायां स्थितमिति तं पृथ्वीपतिं सिद्धार्थनामानं निजस्वामिनं प्रतस्थे सञ्जगाम ॥२९॥

नयनेत्यादि - नयने एवाम्बुजे कमले तयो: सम्प्रासादिनी यद्वीक्षणेनैव ते प्रसन्ने भवत इति तमस: शोकसन्तापस्यान्धकारस्य चादिनीं हर्त्रीं दिनपस्य सूर्यस्य रूचिं छविमिव तां राज्ञीं समुदीक्ष्य दृष्ट्वाऽथ पुन: स राजापि तां निजस्यासनस्यार्द्धके भागे किलानके दोषवर्जिते वेशयति स्मोपावेशयदिति ॥ ३० ॥

विशदेत्यादि - विशदानां स्वच्छनामंशूनां किरणानां समूहानाश्रिताश्च ते मण्यश्च तेषां मण्डलेन समुदायेन मण्डिते संयुक्ते विशाले विस्तारयुक्ते सुन्दराकारे शोभने समुन्नते महाविमले निर्मलतान्वितेऽत एवावनौ भूमौ ललिते

हरिपीठे सिंहासने पर्वत इत्यनेन कैलासपर्वत इव प्राणेश्वरस्य पार्श्वं संगच्छते स्मेति पार्श्वसंगताऽसौ सती महिषी पट्टराज्ञी, पशुपतेर्महादेवस्य पार्श्वगता पार्वतीव तदा बभौ शुशुभे । अपि च पादपूर्तौ ॥३१-३२॥

उद्योतयन्तीत्यादि - उदितानामुदयमितानां दन्तानां विशुद्धैर्निर्दोषै रोचिरशैर्दीप्तिलेशैर्नृपस्य स्वामिनः कलयोर्मनोहरयोः कुण्डलयोः कर्णाभूषणयोः कल्पस्य संस्थानस्य शोचिः कान्तिमुद्योतयन्ती वर्धयन्ती सती सा चन्द्रवदना राज्ञी समयानुसारं यथा स्यात्तथाऽवसरमवेत्येत्यर्थः । तस्य नरपतेः कर्णयोर्मध्ये इति निम्नाङ्कितं वच एवामृतं प्रसक्तिहेतुत्वात्, यच्चोदारमसंकीर्णं स्पष्टतयेत्यर्थः । तदपि पुनश्चिक्षेप पूरितवती ॥ ३३ ॥

श्रीत्यादित्रयम् - हे प्राणेश्वर, संशृणु, या भगवच्चरणपयोजभ्रमरी या चोत किल श्रीजिनपद-प्रसादादवनौ सदा कल्याणभागिनी तया मया निशावसाने विशदाङ्का स्पष्टरूपा स्वप्नानां षोडशी ततिः सहसाऽनायासेनैव दृष्टा तस्या यत्किञ्चिदपि शुभमशुभं वा फलं शुभाशुभफलं तद् हे सज्ज्ञानैकविलोचन, श्रीमता भवता वक्तव्यमस्ति यतः खलु ज्ञानिनां निसर्गादेव किञ्चदप्यगोचरं न भवति ॥ ३४ - ३६ ॥

पृथ्वीनाथ इत्यादि - पृथ्वीनाथः सिद्धार्थ स प्रथितः ख्यातस्वरूपः सुपृथुर्विशालः प्रोथो नितम्बदेशो यस्यास्तया 'प्रोथः पान्थेऽश्वघोणायामस्त्री ना कटि-गर्भयोः' इति विश्वलोचनः । महिष्या प्रोक्तामुक्ता पृथुमतिविस्तृतं कथनं यस्यां तां तीर्थरूपामानन्ददायिनीं तथ्यां सारभूतां वाणीं श्रुत्वा ततो हर्षणै रोमाञ्चैर्मन्थरमङ्गं यस्य सः । अथ च पुनः सोऽविकलया गिरा प्रस्पष्टरूपया वाचा स्वकीयया तामित्थं निम्नप्रकारेण तावत् सत् प्रशंसायोग्यो मङ्गलरूपश्चार्थोऽभिधेयो यस्यास्तां तादृशीं प्रथयतितरां स्म दर्शयामासेति । कीदृशो राजा, फुल्ले विकासं प्राप्ते ये पाथोजे कमले, त इव नेत्रे यस्य स प्रसन्नताधारक इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

त्वं तावदित्यादि - हे तनूदरि, तनु स्वल्पमुदरं यस्याः सा तस्सम्बुद्धिः । त्वं तावच्छयने सुखशयनापि पुनरन्येभ्योऽसाधारणामनन्यां स्वप्नावलिमीक्षितवती ददर्शिथेति हेतोस्त्वं धन्या पुण्यशालिनी भासि राजसे । भो प्रसन्नवदने; हे कल्याणिनि यथास्याः स्वप्नततेर्मञ्जुतमं जनमनोरञ्जकं फलितमिहलोके स्यात्तथा ममास्यान्मुखाच्छृणु ॥३८॥

अकलङ्केत्यादि - हे सुभगे शोभने त्वं मीमांसिताख्याऽऽप्तमीमांसेव वा विभासि राजसे यतस्त्वं किलाकलङ्का निर्दोषा अलङ्कारा नूपुरादयो यस्याः सा, पक्षेऽकलङ्केन नामाचार्येण कृतोऽलङ्कारो नाम व्याख्यानं यस्याः सा। अनवद्यं निर्दोषं देवस्य नाम तीथकर्तुरागमोऽवतारस्तस्यार्थं तमेव वार्थं प्रयोजनं, पक्षे देवागमस्य नाम श्रीसमन्तभद्राचार्यकृतस्तोत्रस्यार्थं वाच्यं गमयन्ती प्रकटयित्रीत्यर्थः । सतां वृद्धानां नय आम्नायस्तस्मात् । पक्षे समीचीनो यो नयो न्यायनामा ततो हेतोः । श्लेषोपमा ॥ ३९ ॥

लोकेत्यादि - उत्फुल्ले नलिने कमले इव नयने यस्यास्तस्याः सम्बोधिनम् । इदं तवेङ्गितं चेष्टितं हीति निश्चयेनाद्य तवोदरे लोकत्रयस्य त्रिभुवनस्यैकोऽद्वितीयस्तिलकः ललाटभूषणमि व यो बालकः सोऽवतरितः समायात इत्येवं प्रकारेण सन्तनोति स्पष्टयति । क्रमशस्तदेव वर्णयितुमारभते ॥ ४० ॥

दानमित्यादि - प्रथममैरावतहस्तिस्वप्नं स्पष्टयति-स किल निश्चये द्वौ रदौ दन्तौ यस्य स द्विरद इव हस्तिसमानो भवन्नवतरेदवतारमाप्नुयात् । यतः सोऽखिलासु दिक्षु मेदिनीचक्रे पृथ्वीमण्डले मुहुरपि वारं वारं दानं मुञ्चन् मदमिव त्यागं कुर्वन् सन् पुनः समुन्नत आत्मा चेतनं शरीरं वा यस्य सः । विमलो मलेन पापेन रहितः शुक्लवर्णश्च मुदितो मोदमितः प्राप्त ईदृश ऐरावत इव सम्भवेदिति ॥ ४१ ॥

मूलेत्यादि - मूलगुणा महाव्रतादयः, आदिशब्देनोत्तरगुणास्तपश्चरणादयस्तत्समन्वितेन रत्नत्रयेण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकेन पूर्णं भृतं धर्मनामशकटं च पुन र्मुक्तिरेव पुरी चिरनिवासयोग्यत्वात्तामुपनेतुं प्रापयितुं वृषभस्य बलीवर्दप्रधानस्य गुणं स्वभावमञ्चन् अनुसरन् तस्य धुरन्धरो भवेदिति ॥ ४२ ॥

दुरभिनिवेशेत्यादि - दुरभिनिवेशो विरुद्धाभिप्रायो वस्तुस्वरूपादन्यप्रकारः स एव मदस्तं उन्मदयितुं समर्थत्वात्तेनोद्धुरा उत्थापितमस्तका उद्धता वा कुवादिनः कुत्सितं वदन्तीति ये तेषामेव दन्तिनां हस्तिनां तुल्यधर्मत्वात्तेषां च मदमुद्भेत्तुं परिहर्तुमयं बालकः खलु निश्चयेन दक्षः समर्थो भवेददीनः कातरतारहित इत्थं केसरी सिंह इव भूयादिति । अदयं यथा स्यात्तथेति निर्धयत्वेन कदाचिदप्यस्मिन् विषये दयां न कुर्यादिति ॥ ४३ ॥

कल्याणेत्यादि - कमलाया लक्ष्म्या आत्मनो यथाऽभिषवो गजैः क्रियते तथास्य कल्याणाभिषवः स्नोनोत्सवः सुमेरोः पर्वतस्य शीर्षे मस्तके पाण्डुकशिलोपरि नाकपतिभिरिन्द्रैररं शीघ्रं जन्मसमय एव विमलो निर्मलतासम्पादकः स्याद्भूयात् । सोऽपीदृशो वरः सर्वश्रेष्ठो बालकः स्यादिति ॥ ४४ ॥

सुयश इत्यादि - अयं चोत्पित्सुर्बालकः सुयश एव सुरभिर्गन्धस्तस्य समुच्चयेन समूहेन विजृम्भितं व्याप्तं च तदशेषं सम्पूर्णमपि विष्टपं जगद्येन न सोऽत एव च भव्या धर्मात्मानस्त एव भ्रमरास्तैरिह लोक योऽसावभिमतः स्वीकृत इतः कारणात् पुनर्माल्ययोर्माले एव माल्ये तयोर्द्विक इव युगलवद्भवेत् ॥ ४५ ॥

निजेत्यादि - यश्च बालको विधुरिव चन्द्रमा इव कलाधरत्वात् कलानां स्वशरीरस्य षोडशांशानां क्रमशो धारकश्चन्द्रो भवति, बालकश्च पुनः सर्वासां विद्याकलानां धारक इत्यतः । निजानां शुचीनां पावनानामुज्ज्वलानां च गवां सूमीनां वाचां च प्रततिभ्यः पङ्क्तिभ्योऽपादानरूपाभ्यः समुत्पन्नस्य वृषो धर्म एवामृतं तस्योरुधारया किलाविकलस्वरूपया सिञ्चन् कौ पृथिव्यां मुदं हर्षं चन्द्रपक्षे कुमुदानां समूहं विवर्धयेदिति ॥ ४६ ॥

विकचितेत्यादि - रविदर्शनाद् यश्य बालको रविरिव विकचितानि प्रसन्नभावं नीतानि भव्यात्मान एव पयोजानि कमलानि येन स । अज्ञानमेवान्धकारो भ्रामकत्वात् तस्य सन्दोहः संस्काररूपो नष्टः प्रणाशं गतोऽज्ञानान्धकारो येन सः । स्वस्य महसा तेजसाऽभिकलितो व्याप्तो लोकः समस्तमपि जगद् येन सः । केवलनाम्नो ज्ञानस्यालोकः प्रकाशोऽथ च केवलोऽन्यनिरपेक्ष आलोको यत्र स सम्भवेदिति । रूपकालङ्कार ॥ ४७ ॥

कलशेत्यादि - यश्च कलशयोर्मङ्गलकुम्भयोर्द्विक इव विमलो मलवर्जित इह च भव्यजीवानां मङ्गलं पापनाशनं करोति सः । तृष्णया पिपासया विषयानामाशया चातुराय दुःखितायामृतस्य जलस्य मरणाभावस्य च सिद्धिं निष्पत्तिं संसारेऽस्मिन् स्वार्थपूर्णेऽपि श्रणति ददाति ॥ ४८ ॥

केलिकलामित्यादि - स बालको महीतले पृथिव्यां मुदितात्मा मुदितः प्रसन्न आत्मा यस्य सः, मीनद्विकवन्मत्स्ययुगलमिव केलीनां क्रीडानां कला तामाकलयन् अनुभवन् सकललोकं समस्तजीवलोकमतुलतयाऽनुपमतया मुदितं प्रसन्नं कुर्यात् ॥ ४९ ॥

अष्टाधिकमित्यादि - यथा त्वया स्वप्ने कमलानां पङ्कजानामष्टाधिकसहस्रं दधानो ह्रदस्तडागो दृष्टः, तथैवायं बालकः स्वशरीरे सुलक्षणानां शुभचिन्हानामष्टाधिकं सहस्रं धारयिष्यति, किञ्च भविनां संसारिजीवानां सततं क्लमनाशकः क्लमं परिश्रान्तिं नाशयति तच्छीलो भविष्यति ॥ ५० ॥

जलनिधिरित्यादि - यथा स्वप्ने जलनिधिर्दृष्ट:, तथैवायं बालक: समुद्र इव गम्भीर:, पालिता स्थितिर्येन स मर्यादापालक:, लब्धीनां नवनिधीनां धारक: भविष्यति । वाऽथवा केवलजानां, केवलज्ञानोत्पत्त्या सह जातानां नवलब्धीनां धारक: प्रभवेत् ॥ ५१ ॥

सुपदमित्यादि - स: शिशु: इहास्मिंल्लोके सततं सदा समुन्नतेरुत्कर्षस्य पदं स्थानं स्यात्, तथा शिवराज्यपदानुराग: शिवस्य मोक्षस्य राज्यपदं प्रभुत्वस्थानं तस्मिन्ननुरागो यस्य मोक्षराज्यप्रीतिमान् स्यात् । किञ्च स्वप्ने सिंहासनदर्शनेन, चामी[illegible] चार्वी रुचि[illegible]स्य [illegible]थाभूत:, वरिष्ठ: श्रेष्ठश्च स्यादिति ॥ ५२ ॥

सुरसार्थैरित्यादि - असौ बालक: सुर[illegible]र्थै: सुराणां: देवानां सार्था: समूहास्तै: सम्यक् सेव्यत इति संसेव्य सेवार्ह[illegible] । संसृते[illegible]तं मनो यस्य तस्मै जगद्विरक्तचित्ताय पुरुषाय, अभीष्ट: प्रदेशस्तस्य संलब्धिस्तस्या: समीहितमुक्तिप्राप्ते: हेतु: विमानेन तुल्यं विमानवत् विमानसदृश: पूत:, पवित्र: स्यादित्यर्थ: ॥ ५३ ॥

सततमित्यादि - असौ महीमण्डले पृथ्वीलोके, सततमनारतं सुगीतं तीर्थं यशो यस्य स: महाँश्चासौ विमल: परमपवित्र:, पुन: धवलेन यशसा कीर्त्या नागानां मन्दिरं पाताललोकस्तद्वत् पुन: सुष्ठु विश्रुत: प्रसिद्ध: स्यादिति ॥ ५४ ॥

सुगुणैरित्यादि- सुगुणै: शोभनगुणैरमलैर्निर्मलैर्दया-दाक्षिण्यादिभि: सकलानां लोकानां जनानां अनन्तै: असीमैर्मनसोऽनुकूलैर्गुणै:, रत्नै: रत्नसमूह इवाभिभायाच्छोभेत ॥ ५५ ॥

अपीत्यादि - अपि पुनरन्ते यथा विशदो निर्धूमो वह्निसमूहो दारुणा काष्ठेनोदितानां सम्पन्नानां तथैव दारुणं भयंकरमुदितमुदयभावो येषां तेषां चिरजातानामनादिपरम्परया प्राप्तानां कर्मणां ज्ञानावरणादीनां निवहं समूहं स बालको भस्मीभावं नयेदिति ॥ ५६ ॥

उक्तार्थमेव पुनरुपसंहरति -

समुन्नतात्मेत्यादि - हे देवि, असौ तव पुत्रो गजानां राजा गजराजस्तद्वत् समुन्नत उत्कृष्ट आत्मा यस्य स एवंभूत: स्यात् । अवनौ पृथिव्यां धुरन्धर इव वृषभ इव धवलो निर्मलो धर्मधुराधारकश्च भवेत् । सिंहेन तुल्यं सिंहवद् व्याघ्रवत् स्वतन्त्रा वृत्तिर्व्यवहारो यस्य तथाभूत: प्रतिभातु शोभताम् । रमावल्लक्ष्मीवत् शाश्वदखण्डित उत्सवो यस्य तथाभूत: स्यात् । हे देवि, जवञ्जवे संसारे तव सुत: द्विदामवत्, द्वे दामनी तदस्यास्तीति द्विमाल्यवत् सुमन:स्थलं सुमनसां पुष्पाणां सज्जनानाञ्च स्थानं स्यात् । शशिना तुल्यं शशिवच्चन्द्रवन्नोऽस्माकं प्रसादभूमि: प्रसन्नतास्पदं स्यात् । यो बालको दिनेशेन तुल्यं सूर्यवत् पथां मार्गाणां दर्शक: स्यात्, द्वयो: कुम्भयो: समाहारो द्विकुम्भं तद्वत् मङ्गलकृत् कल्याणकारी स्यात् । हे देवि, तव बालक: झषयोर्युग्मं मीनमिथुन सम्मितिर्यस्य स:, विनोदेन पूर्ण: सततमनोरञ्जक: स्यात्, पयोधे: समुद्रस्य सम: परिपालिता स्थितिर्येन स मर्यादापालक: स्यात् । क्लमच्छिदे परिश्रान्तिनाशाय देहभृतां प्राणिनां तटाकवत् सरोवरतुल्य: स्यात् । गौरवं करोतीति गौरवकारिणी या संवित् तस्यै गौरवशालिज्ञानाय सुष्ठु पीठंसुपीठं तद्वत् सुन्दरसिंहासनमिव स्यात् । यो बालक:, विमानने तुल्यं विमानवद्, देवयानमिव, सुरसार्थेन संस्तूयते इति सुरसार्थसंस्तवो देवसमूहस्तुत: स्यात् । यो नागानां लोकस्तद्वत् पाताललोक इव सुगीतं तीर्थं यशो यस्य वर्णितकीर्ति: स्यात् । भुवि पृथिव्यां रत्नराशिवत् रत्नसमूह इव गुणैर्दयादाक्षिण्यादिभिरुपेतो युक्त स्यात् । वह्निना तुल्यं वह्निवदग्निवत् पुनीततां पवित्रतामभ्युपयानु प्राप्नोतु । हे देवि महाराज्ञि, इति किलोपर्युक्तप्रकारेण तव गर्भे आगत: पुत्र: निश्चयेन निस्सन्देहमित्येवं प्रकारेण भूत्रयाधिप:

त्रैलोक्यस्वामी भवितुमर्हः, तीर्थस्य नायकः, एतादृक् पुत्रः इष्टोऽस्माकं इच्छाविषयोऽस्ति । यत इह भूतले सतां सज्जनानां स्वप्नवृन्दं कश्चिदप्यफलं निष्फलं न जायते । वै-इति निश्चये ॥ ५७ - ६१ ॥

वाणीमित्यादि - इत्थमुक्तप्रकारेणामोघा सत्यार्थरूपा च सा मङ्गलमयी पापापेता चेति तामेवं मिष्टां श्रवणप्रियामपि ट र्णी स्वामिनो निजनायकस्य महीपतेस्तस्य मतिमतेर्विशिष्टबुद्धिशालिनः श्रीमुखान्निःसृतामाकर्ण्य श्रुत्वा सा वामोरुर्वामे ग नोहरे-उरू जङ्घे यस्याः सा उत्सङ्गे अङ्के प्राप्तः सुतो यया सेव, कण्टकैः रोमाञ्चैर्युक्ता तनुर्यस्या सा र्षाश्रूणां प्रमोदजलानां संवाहिनी नदी जाता बभूव । यद्यस्मात्कारणात् सुतमात्र एव साधारणोऽपि पुत्रः सुतः सुखदो भवति स एव तीर्थेश्वरः सर्वजनसम्मान्यः स्याच्चेतदा किं पुनर्वाच्यमिति ॥ ६२ ॥

तदिहेत्यादि - तत्तस्मात्कारणात् सुराश्च सुरेशाश्च कीदृशास्ते सन् समीचीनो धर्मस्य कर्तव्यनिर्वहणरूपो लेशो मनसि संस्कारो येषां ते । इह कुण्डननाम्नि नगरे प्राप्य समागम्य सदुदयेन शुभकर्मणा केलितं समनुभावितमङ्गं शरीरं यस्यास्तां तत एव वराङ्गीं सुन्दरावयवाम् वरस्य देवोपनीतस्य पटहस्य रणः शब्द आद्यः पूर्वसम्भवो यत्र तैः झल्लरीमर्दलवेणुप्रभृतिशब्दैः किञ्चानिर्वचनीयप्रभावैः श्रेष्ठैश्च तैः पाद्यैश्चरणयोरर्पणीयजलैरपि नवं नवीनमपूर्वदृष्टं नवस्तवनमिति कृत्वा तत्पूर्वकं तां मुहुश्च नुत्वा नमस्कृत्य ते पुनरिष्टं स्थानं जग्मुः ॥ ६३ ॥

इति चतुर्थ सर्गः ।

पञ्चमः सर्गः

अथाभवदिति - अथ इति शुभसम्वादे, व्योम्नि आकाशे सूर्यमतिशेते इति सूर्यातिशायी महाप्रकाशः महांश्चासौ प्रकाशः महाप्रकाशः समुद्योतः तदा तस्मिन् काले सहसा अकस्मादेव जनानां दर्शकानां हृदि हृदये किमेतत् इत्थं एवं प्रकारेण काकुभावं वितर्कं कुर्वन् समुत्पादयन् सन् प्रचलत्प्रभावः प्रचलति प्रसरति प्रभावो यस्य स उत्तरोत्तरवर्द्धनशीलः इत्यर्थः स प्रसिद्धः अभवत् ॥ १ ॥

क्षणोत्तरमित्यादि - स प्रसिद्धः श्रीदेवतानां श्रीह्रीप्रभृतीनां निवहः समूहः क्षणोत्तरं क्षणानन्तरं सन्निधिं समीपमाजगाम। तदा स नरेशः सिद्धार्थ आदरे सम्माने उद्यतस्तत्परः, सन्, तासां देवतानामातिथ्यविधौ अतिथिसित्कारे ऊर्ध्वीबभूव, न ऊर्ध्वोऽनूर्ध्वः, अनूर्ध्व ऊर्ध्वोबभूवे त्युर्ध्वीबभूव, ऊर्ध्वमुखः सन् उत्तिष्ठतिस्म ॥ २ ॥

हेतुरित्यादि - नराणामीशो नरेश इति वाक्यं प्रयुक्तवान् उवाच । तदेवाह- हे सुरश्रियो देवलक्ष्म्यः, तत्र भवतीनां नरद्वारि मानवगृहे समागमाय-आगमनाय को हेतुः किलेति सन्देहे । इतिकाय एवंरूपस्तर्क ऊहो मम चित्तं हृदयं दुनोति पीडयति ॥ ३ ॥

गुरोरित्यादि - हे विभो, हे राजन्, गुरुणां श्रीमदर्हतां गुरोर्जनकस्य भवतः श्रीमतो निरीक्षा निरीक्षणं दर्शनमित्यर्थः। अस्माकं भाग्यविधेर्दैवविधानस्य परीक्षास्तीति शेषः। श्रीमद्दर्शनजन्यपुण्यार्जनमेवास्माकमागमनहेतु-रित्यर्थः । तदर्थमेव भवद्दर्शनार्थमेवेयमस्माकमागमनरूपा दीक्षा वर्तते । अन्या काचिद् भिक्षा न प्रतिभाति, न रोचते ॥ ४ ॥

अन्तःपुर इत्यादि - तीर्थकृतो भगवतोऽवतारः अन्तःपुरे श्रीमद्राज्ञीप्रासादे स्यात्, अतस्तस्य भगवतः सेवा परिचर्यैव सुरीषु देवाङ्गनासु शोभनः सारस्तत्त्वार्थो विद्यते । शक्रस्येन्द्रस्याज्ञया निर्देशेन तवाज्ञां तां भवदनुज्ञां लब्धुमिच्छुर्लिप्सुरयं सुरीगणो देवलक्ष्मीसमूहो भाग्याद्दैवात् सफलोऽपि स्यात् कृतार्थोऽपि स्यादिति । सम्भावनायां लिङ् ॥ ५ ॥

इत्थमित्यादि - अथेत्थमनेन प्रकारेण स सुरीगणः कञ्चुकिना सनाथः युक्तो भवन् मातुर्जनन्या निकटं समीपं समेत्य प्राप्य, प्रणम्य वन्दित्वा तस्याः पदौ तयोस्तच्चरणयोः सपर्यायां परः पूजातत्परो बभूवेति नृषु वर्याः नृवर्या महापुरुषा जगुरवदन् ॥ ६ ॥

न जात्वित्यादि - देव्यो राज्ञीं प्रति कथयन्ति, हे राज्ञि, वयं जातु कदापि मनागपि ते दुःखदं कष्टप्रदं कार्यं नाचरामो न कुर्मः सदा तव सुखस्यैव स्मरामः, तव आनन्दाय एव वयं चिन्तयामः, ते तवानुग्रहं कृपामेव शुल्कं यामो जानीमः । त्वदिङ्गतस्त्वत्संकेततोऽन्यत्र वदामो न कथयामः ॥ ७ ॥

दत्त्वेत्यादि - ता देव्यस्तस्यै राज्यै निजीयमात्मीयं हृदयं चित्तमभिप्रायं वा दत्त्वा किञ्च शस्यैः श्रेष्ठैः कार्यैस्तस्या हृदि हृदये पदं स्थानं लब्ध्वा सुधन्याः कृतकृत्या देव्यो विनत्युपज्ञैः प्रणतिपुरस्सरैर्वचनैर्जनन्या मातुः सेवासु परिचर्यासु विबभुः शुशुभिरे ॥ ८ ॥

प्रग इत्यादि - काचिद्देवी प्रगे प्रभाते राज्यै आदरेण दर्पणं मुकुरं रयेण वेगेन मञ्जुदृशो मनोज्ञनेत्राया मुखं द्रष्टुं ददौ । काचित् रदेषु दन्तेषु कर्तुं विधातुं मृदु मञ्जनं ददौ, तथा काचित्वक्त्रं मुखं क्षालयितुं धावितुं जलं पानीयं ददौ ॥ ९ ॥

तनुमित्यादि - पराऽपरा जनन्यास्तनुं देहमुद्वर्तयितुमभ्यङ्गार्थं गता, कयाचित् राज्या अभिषेकाय कक्लृप्तिर्जलसमूह आपि आनीत: । अत्र जननीशरीरे जडप्रसङ्गो मूर्खसंगो डलयोरभेदाज्जलप्रसङ्गो वा कुत: समस्तु तिष्ठतु, इति तर्कवस्तु चित्ते कृत्वा । पुन: कयाचिद्देव्या: प्रशस्या अतिश्रेष्ठा गात्रततिरङ्गसमूह: प्रोञ्छनकेन वस्त्रेण सन्मार्जित: शोधित: । अन्या देवी तस्यै राज्यै, अथानन्तरं सुशातं निर्मलं दुकूलं पट्टवस्त्रं समदाद् ददौ, अतोऽस्या गुणवत्सु पुरुषेषु पटेषु वा समादर आसीदिति शेष: ॥ १० ११ ॥

बबन्धेत्यादि - काचिद्देवी तस्या जनन्या निसर्गत: स्वभावतो वक्रिमभावदृश्याम् कुटिलभावदर्शनीयाम् कबरीं केशबन्धं बबन्ध, वेणीगुम्फनं चकोरेत्यर्थ: । तथा वदान्या चतुरा अन्या देवी तस्याश्चञ्चलयोर्दृशोर्नेत्रयोरञ्जनं चकार कज्जलं चिक्षेप । कीदृशमतिशितं अतिकृष्णम् । कृष्णाञ्जनेन चक्षुषो: शोभातिशयदर्शनादिति भाव: ॥ १२ ॥

श्रुतीत्यादि - तस्या: श्रुती कर्णौ सुशास्त्रश्रवणात् शोभनागमश्रवणात् पुनीते पूते, अतएव कयाचिद्देव्या पयोजपूजां कमलार्चनां नीते । तस्या: कर्णौ कमलाभ्यामलङ्कृतावित्यर्थ: । काचिद्देवी, सर्वेष्वङ्गेषु विशिष्टतां लातीति तस्मिन् विशिष्टताले परमशोभने भाले ललाटे तिलकं विशेषकं च चकार ॥ १३ ॥

अलञ्चकारेत्यादि - अन्यसुरी काचिदपरा देवी नूपुरयोर्द्वयेन नूपुरयुगलेन रयेण वेगेन तस्याश्चरणौ भूषयाञ्चकार । इह तस्या: कुचयोररं शीघ्रं संछादयन्ती आश्रियमाणा कण्ठे मृदुकोमलपुष्पहारं पुष्पमालां चिक्षेप न्याधात् ॥ १४ ॥

काचिदिति - काचिद्देवी, इहास्या जनन्या भुजे बाहौ बाहुबन्धं केयूरमदात्, बबन्धेत्यर्थ: । पराऽपरा करे तस्या हस्ते कङ्कणं वलयमाबबन्ध अबध्नात् । तानि प्रसिद्धानि वीरमातुस्तीर्थकरजनन्या वलयानि कङ्कणाभूषणानि, माणिक्यमुक्तादिर्विनिर्मितानि हीरकपद्मरागादिमणिभिर्विरचितान्यासन्निति भाव. ॥ १५ ॥

तत्रेत्यादि - तत्रार्हतस्तीर्थंकरस्य, अर्चासमये, पूजाकाले तदा अर्चनाय पूजनाय योग्यान्युचितानि वस्तूनि प्रदाय दत्त्वा, उत्साहयुता सोत्कण्ठा: देव्य: सुदेव्य: श्रेष्ठदेवाङ्गनास्तास्तया जनन्या समं सार्धं जगत एक· सेव्य इति जगदेकसेव्यस्तं जगदेकनाथं प्रभुमाभेजु: सेवितवत्य: ॥ १६ ॥

एकेत्यादि - तदैका देवी मृदङ्गं मर्दलवाद्यं प्रदधार धृतवती, अन्या वीणां महतीं दधार, प्रवीणा चतुराऽन्या समुञ्जीरं वाद्यविशेषं दधार । जिनप्रभोरर्हतो भक्तिरसेन युक्ता काचिन्मातु: स्वरे गातुं प्रयुक्ता प्रवृत्ता अभूत्, गानं कर्तुं लग्ना गातुमारेभे ॥ १७ ॥

चकारेत्यादि - काचिद युवतिर्देवी, स्वकीयसंसत्सु निजसभासु कृतैकभाष्यम्, विहितैकविस्तारं, जगद्विजेतु: संसारजयशीलस्यार्हतो दास्यं कैङ्कर्यं दधद्धारयत् आशु शीघ्रं पापस्य हास्यं तिरस्कारं कुर्वाणं विदधानं सुलास्यं मनोहरनृत्यं चकार ॥ १८ ॥

अर्चावसान इत्यादि - उत अथ अर्चाया: पूजाया अवसाने अन्ते गुणरूपयोश्चर्चाद्वारार्हतो गुणरूपवर्णनकरणेन विनष्टवर्चा: मति: समस्तु सामस्त्येन नष्टपापमला मतिरस्तु मातुरिति इङ्गितं चेष्टामेत्य ज्ञात्वा जातु कदाचिदिह नृत्यविषये जोषमपि मौनमपि ययु: प्राप्ता: तूष्णीम्भावेन स्थिता इत्यर्थ: ॥ १९ ॥

सदुक्तय इत्यादि - रदालिरश्मिच्छलदीपवंशा, दन्तपङ्क्तिव्याजेन दीपसमूहतुल्या, या च अलसज्ञा न, आलस्यज्ञानरहिता सा श्रीमातुर्जनन्या रसज्ञा जिह्वा.सदुक्तये, सती चासावुक्तिस्तस्यै, अयनं अवकाशं मार्गं वा दातुमिव एवं प्रकाराऽभूत् । वक्ष्यमाणप्रकारेण प्रोवाचेत्यर्थः ॥ २० ॥

यथेच्छमित्यादि - भो सुदेव्यः हे देवलक्ष्म्यः, यथेच्छमिच्छानुरूपमापृच्छत प्रश्नसमाधानं कुरुत, युष्माभिरेव प्रभुर्जिनः सेव्यः सेवनीयोऽस्ति । अहमपि प्रभोरर्हत एवोपासिकाऽस्मीति शेषः । अतः शङ्काप्रश्न-समाधानरूपया नावा सङ्कोचो वार्धिरिवेति सङ्कोचवार्धिर्लज्जासागरः प्रतरेत तरीतुं शक्नुयादित्यर्थः ॥ २१ ॥

न चातकीनामित्यादि - यदि पयोदमाला मेघपङ्क्तिश्चातकीनां चातकस्त्रीणां पिपासां जलपानतृष्णां न प्रहरेत् न नाशयेत्तर्हि जन्मना सा किमु ? तस्या जन्मना कोऽर्थः ? न कोऽपीत्यर्थः । तथैवाहमपि युष्माकमाशङ्कितं संशयमुद्धरेयम्, अपहरेयम् । किञ्च तर्के सदसदूहे रूचिमिच्छां किं कथं न समुद्धरेयं धारयेयमवश्यमेव धारयेयमित्याशयः ॥ २२ ॥

नैसर्गिकीत्यादि - वितर्के, ऊहापोहे मेऽभिरूचिः कामना नैसर्गिकी स्वाभाविकी अस्ति । यथेह कर्के शुक्लाश्वे दर्पणे वा स्वाभाविकी अच्छता स्वच्छता भवति । अद्य विश्वम्भरस्य जगत्पालकस्य प्रभोः सती शोभना कृपा दया, सुधेवामृतमिव मे साहाय्यकरीं साहाय्यदानशीला विभातु राजताम् । अत्र दृष्टान्तः, उपमा चालङ्कारः ॥ २३ ॥

इत्येवमित्यादि - अयि बुद्धिधार हे बुद्धिमन् मातुरित्येवं पूर्वोक्तप्रकारेण, आश्वासनतः साहाय्यदानवचनतः सुरीणा देवीनां सङ्कोचततिर्लज्जाभावविस्तरः सुरीणा विनष्टा बभूव । यथा प्रभातो दयतः उषःकालागमात्, अन्धकारसत्ता तमःस्थितिर्विनश्येन्नश्यति तथैवेति भावः अत्रापि दृष्टान्तोऽलङ्कारः ॥ २४ ॥

शिर इत्यादि - तदैव तस्मिन्नेव काले तासां देवीनां भक्तिरेव तुला तत्र स्थितं शिरो मस्तकं गुरुत्वादादर-गौरवान्नतिं नम्रत्वमाप । सा कुड्मलकोमला कलिकामृद्वी करद्वयी हस्तयुगलं समुच्चचाल, नत्यर्थमूर्ध्वमगमत्। नमस्कारार्थं पाणियुगलं शिरसा संयोजयामासुरित्यर्थः । चेति समुच्चये । एषा युक्तिर्योजनोचितैव । अत्र रूपकोऽलङ्कारः ॥ २५ ॥

मातुरित्यादि - भो जिनराज, भो देव, कुमारिकाणां सरोज इव शस्तौ कमलसुन्दरौ हस्तौ करौ चन्द्रमिवेन्दुमिव मातुर्जनन्या मुखमाननमेत्य प्राप्यैव तु सङ्कोचं कुड्मलीभावमाप्तौ, यदेतद् युक्तमेव विभाति । यतो हि चन्द्रोदये कमलानि सङ्कु चन्त्येव नियमात् । अत्र उपमालङ्कारः ॥ २६ ॥

ललाटमित्यादि - तासां देवीनां ललाटमलिकमिन्दोरुचितमिन्दुचितं चन्द्रतुल्यमेव, तथापि तन्मातुर्जनन्याः पादावब्ज इव पादाब्जे तयोश्चरणकमलयोरवाप प्राप्तम् । अयं भावः - लोके चन्द्रः कदाचिदपि कमलं नाप्नोति, परं तासां भालचन्द्रो मातुश्चरणकमलयोः प्राप्त इत्याश्चर्यम् । सा पूर्वोक्ताशाऽभूतपूर्वा अद्भुतेत्यवलोक-नायाधुना तासां सकौतुका वाग्वाणी उदियाय प्रकटीबभूव, वक्ष्यमाणप्रकारेणेति शेषः । अत्र उपमा-उत्प्रेक्षा चालङ्कारः ॥ २७ ॥

दुःखमित्यादि - तदेवाह-हे मातः, जनो लोको दुःखं कष्टं कुतः कस्मादभ्येति प्राप्नोतीति प्रश्नः । पापादिति मातुरुत्तरम् । पापे कल्मषे धीर्बुद्धिः कुत इति प्रश्नः । अविवेकस्य तापः प्रतापस्तस्मादित्युत्तरम् । सोऽविवेकोऽज्ञानं

कुत इति प्रश्नः । मोहस्याज्ञानस्य शापः उदयस्तस्मादित्युत्तरम् । जगतां लोकानां मोहक्षतिर्मोहहानिः किं दुरापा दुष्प्रापेति प्रश्नः ॥ २८ ॥

स्यात्सेत्यादि - इह संसारे सा मोहक्षतिरपरागस्य विरक्तस्य पुरुषस्य हृदि चित्ते विशुद्ध्या चित्तशुद्ध्या स्यादित्युत्तरम् अपरागो रागाभावः कुत इति प्रश्नः । परमात्मनि बुद्धिः परमात्मबुद्धिः, तया रागाभाव इत्युत्तरम्। इति परमात्मनीना परमात्मविषयिणी बुद्धिः कुतोऽस्त्विति प्रश्नः । उपायात्परमात्मभक्ति-तपः-संयमादिसाधनात्सुतरामत्यन्तमहीना श्रेष्ठा परमात्मबुद्धिर्भवतीत्युत्तरम् ॥ २९ ॥

राग इत्यादि - रागः कियान् किंपरिमाणोऽस्तीति प्रश्नः । स देहस्य सेवा यस्मिन्निति देहसेवः शरीरपोषणरूप इत्युत्तरम् । देहः कीदृगिति प्रश्न : । एष देहः शठो धूर्तो जडो वेत्युत्तरम् । शठः कथमिति प्रश्नः । अयं देहः पुष्टिं पोषणमितः प्राप्तोऽपि नश्यति विपद्यतेऽतः शठ इत्युत्तरम् । किन्तु, अयं सांसारिको जनस्तदीयवश्यस्तस्य देहस्यैव वशीभूतः ॥ ३० ॥

कुतोऽस्येत्यादि - अयं जनोऽस्य देहस्य वश्योऽधीनः कुतः कस्मात्कारणादस्तीति प्रश्नः । यतो हि जनस्य तत्त्वबुद्धिर्हेयोपादेयज्ञानं नास्त्यतोऽयं देहवश्यो भवतीत्युत्तरम्। पुनस्तद्धीस्तत्तत्त्वबुद्धिः कुतः स्यात् कस्माद्भवेदिति प्रश्नः । यदि जनस्य चित्तशुद्धिः स्यात्तर्हि तत्त्वबुद्धिः स्यादित्युत्तरवाक्यम् । शुद्धेर्द्वाः द्वारं किमिति प्रश्नः । जिनस्य वाग्वाणी तस्याः प्रयोगस्तदनुकूलाचरणमेव चित्तशुद्धेर्मार्गे इत्युत्तरम् । यथा रोगोऽगदेन तदौषधेनैव निरेति दूरीभवति तथैवेति दिक् । अत्र रूपकालङ्कारः ॥ ३१ ॥

मान्यमित्यादि - अर्हतो वचनमर्हद्वचनं जिनवाक्यं मान्यं कुतः समस्तु भवत्विति प्रश्नः । यतो यस्मात् कारणात्तत् अर्हद्वचनं सत्यं यतः कारणात् तत्र वस्तु तत्त्वस्यैव कथनं भवेदित्युत्तरम् । तस्मिन्नर्हद्वचनेऽसत्यस्याभाव. कुत इति प्रश्नः । तदीये उक्ते कथने विरोधभावो नास्त्यतस्तन्मान्यमस्तीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

किमित्यादि - तत्रार्हद्वचने, न विरोधोऽविरोधस्तस्यः भावः किं कथं जीयाद्विद्योतेति प्रश्नः । यतो हि तत्र विज्ञानतः सन्तुलितः प्रभावः वैज्ञान्यविशिष्टज्ञानेन यथोचितप्रभावोऽतोऽविरोध इत्युत्तरम् । अहो देव्यः, इह लोके या प्रणीतिर्व्यवहारो गतानुगत्यैवान्योन्यानुकरणेनैव भवति सा प्रणीतिः कल्याणकारी मङ्गलकरी न जायते ॥ ३३ ॥

एवमित्यादि - एवमित्थं रुचिवेदने इच्छाज्ञाने विज्ञाश्चतुरास्तादेव्य एतां मातरं सुविश्रान्तिं विराममभीप्सुं लब्धुमिच्छुं विज्ञाय विशश्रमुः प्रश्नाद्विरता जाताः । हि यतोऽत्र लोकेऽगदोऽपि मितः परिमित एव सेव्यः साम्प्रतमुचितं भवतीति शेषः । अर्थान्तरन्यासः अलङ्कारः ॥ ३४ ॥

अवेत्येत्यादि - एका देवी विवेकाद् भुक्तेर्भोजनस्य समयमवेत्य ज्ञात्वा, मातुरग्रे नानामृदुव्यञ्जनपूर्णं विविधमिष्टाहारसहितममत्रं पात्रं प्रदधार धृतवाती । एवं निजं कौशलं चातुर्यं प्रकटीचकार । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥३५॥

मातेति - माता तदीयं भोजनसम्बन्धि रसं समास्वाद्यानुभूय यावत्सुतृप्तिं समगाज्जगाम तावदन्या देवी मृदीयः कोमलं ताम्बूलं प्रददौ । यत्प्रकृतानुरक्ति प्रकृत्यनुकूलं वस्तु तत् प्रसत्तिप्रदं प्रसाददायकं भवति ॥३६॥

यदेत्यादि - भोजनान्ते यदाम्बा, उपसान्द्रे गृहोद्याने प्रविहर्तुमारेभे तदा काचिद्देवी मुकुरावलम्बा तया

सार्धमनुजगाम । सुगात्री मनोज्ञदेहा माता विनोदवार्ताम् अनुसंविधात्री कुर्वती तया समं शनकैरगात् ॥३७॥

चकारेत्यादि - काचिद्देवी तस्याः शयनाय अभितः पुष्पैः प्रशस्यां मनोहरां शय्यां चकार । अन्या पदयोः संवाहने निपीडने लग्ना बभूव, यतो निद्राभग्ना नास्तु ॥ ३८ ॥

एकान्वितेत्यादि : एका देवी वीजनं कर्तुमेव व्यजनेन मात्रे वायुप्रदानमेव कर्तुमन्विता प्रयुक्ता बभूव, अपरा देवा विकीर्णान् विपर्यस्तान् केशान् कचान् प्रधर्तुं संयन्तुमन्वितेत्यध्याहारः । एवं प्रत्येककार्ये निष्प्रयासात्परिश्रमं विनैवासां देवीनामपूर्वमद्भुतं चातुर्यं पटुत्वं बभूव खलु ॥ ३९ ॥

श्रियमित्यादि - अम्बा जननी स्वके स्वकीये मुखे वदने श्रियं शोभां समादधाना सम्यग्धारयन्ती, नेत्रयोश्चक्षुषोर्ह्रियं त्रपां समादधाना, स्वके आत्मनि, धृतिं धैर्यं समादधाना, उरोजराजयोः कुचयुगले कीर्तिमौन्नत्यं समादधाना, विधाने कार्यसम्पादने बुद्धिं धियं समादधाना, वृषक्रमे धर्माचरणे रमां लक्ष्मीं समादधाना सती गृहाश्रमे विबभौ विशेषतः शुशुभे ॥ ४० ॥

सुपल्लवेत्यादि - यथा लताः सुपल्लवाख्यानतया सुन्दरकिसलयशोभया सदैवानुभावयन्त्यो वसन्तभावनामनुभावयन्ति, अत एव कौतुकसन्निधाना मनोविनोदमाचरन्त्यो भवन्ति, तथैव ता देव्यो जननीमुदे मातृचित्तविनोदाय सुपल्लवाख्यानतया कोमलपदकथावर्णनेन जननीसुखमनुभावयन्त्यो निदानाद्विविधकारणान्मधुरां मञ्जुस्भावां तां जननीमन्वगुरनुगता अभूवन्। दृष्टान्तोऽलङ्कारः ॥ ४१ ॥

मातुरित्यादि - ता देव्यो मातुर्जनन्या मनोरथमनुप्रविधानदक्षा इच्छानुकूलकार्याचरणानिपु'' , अभ्युपासनसमर्थनकारिपक्षाः सेवासमर्थनकरणचतुरा आसन् । अतः सा माता तदत्र तासां देवीनां कौशलं नैपुण्यमवेत्य ज्ञात्वा निजं गर्भक्षणं प्रसूतिकालं मुदा हर्षेणातीतवती व्यतीयाय ॥ ४२ ॥

इति पञ्चमः सर्गः ।

षष्ठः सर्गः

गर्भस्येत्यादि - भो भो जना लोकाः ! देव-देवः, देवानामपि पूज्यः स श्रीवर्धमानो महावीरतीर्थंकरो भुवि पृथिव्यां वो युष्माकं मुदे हर्षाय, अस्तुतमामतिशयेन भवतु, गर्भस्य षण्मासमधस्त एव षण्मासेभ्य प्रागेव कुवेरो धनेशो रत्नानि पद्मरागादीनि ववर्ष, रत्नानां वृष्टिं चकारेत्यर्थः ॥ १ ॥

समुल्लसदित्यादि - प्रयत्नीयितः प्रयत्नशीलो मर्त्यराट् तस्य पत्नी सा पूर्णमुदरं यस्या सा पूर्णोदरिणी वर्षेव रराज शुशुभे । कथम्भूता-समुल्लसत्पीनपयोधरा, समुल्लसन्तौ पीनौ पयोधरौ कुचौ यस्याः सा, पक्षे समुदितस्थूलामेघा, पुनः कथम्भूता-मन्दत्वं शिथिलत्वमञ्चन्तौ पदावेव पङ्कजे यस्याः सा, पक्षे मन्दत्वमञ्चन्ति पदानि येषां तथा भूतानि पङ्कजानि यस्यां सा, एवम्भूता वर्षेव रराज ॥ २ ॥

गर्भार्भकस्येवेत्यादि - एषा राज्ञी इहावसरे गुणानां सम्पदा सौन्दर्यशीलादिगुणसम्पत्त्योपगुप्ता समावृता सती स्वल्पैरहोभिः कतिपयदिवसैर्गर्भेऽर्भको गर्भार्भकस्तस्य यशःप्रसारैः कीर्तिकलापैरिवाऽऽकल्पितं निर्मितं घनसारसारैः कर्पूरतत्त्वैराकल्पितं देहं शरीरं समुवाह, गर्भप्रभावेण तस्याः शरीरे शौक्ल्यमजनीत्यर्थः ॥ ३ ॥

नीलाम्बुजेत्यादि - तस्या महिष्या नेत्रयुगं नेत्रयोर्द्वयं कर्तृ, पुरा मया नीलाम्बुजानि नीलकमलानि जितानि, अद्य पुनः सितोत्पलानि पुण्डरीकाणि जयामि, इतीव किल, कापर्दको योऽसावुदारोऽसङ्कीर्णो गुणस्य प्रकारो भेदः शुक्लवर्णस्तं बभार दधार ॥ ४ ॥

सतेत्यादि - सतां सज्जनानामर्हता पूज्येन सार्धं यत्किल विधेर्विधानं निवसनं सहवासमभ्येत्य नाभिजनस्य तुण्डीनाम्नोऽवयवस्य या प्रकृतिगंभीरता तस्यास्तु मानमभूत् गाम्भीर्यं त्यक्तोच्छ्रयत्वमन्वभूदित्यर्थः । तुत्तयुक्तमेव यत्तुकिल नाभिजाता अकुलीना प्रकृतिर्यस्य तस्य नीचजातेः कुतोऽपि महता संयोगेऽभिमानो भवत्येव । तथापि महतार्हता समागमेऽपि पुना राज्ञश्चन्द्रमसः कुलमन्वयस्तदुचितेन राजवंशयोग्येन वा मृगीदृशस्तस्या महिष्या मुखेन तत्रापि नतिरेव प्राप्तेत्यहो महदाश्चर्यम् । राजकुलोचितः क्षत्रियो महत्त्वेऽपि नमत्येवेत्यर्थः ॥ ५ ॥

गाम्भीर्यमित्यादि - अथेत्युक्तिविशेषे । अहो इत्याश्चर्ये । मञ्जू मनोहरे दृशौ चक्षुषी यस्यास्तस्या देव्या नाभिः, अन्तर्गभे तिष्ठतीत्यन्तःस्थः स चासौ शिशुस्तस्मिन् । त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी तस्या अप्यचिन्त्यप्रभावं स्मर्तुमपार्यमाणमहत्त्वं सहजमनायाससम्भवं गाम्भीर्यं विलोक्य ह्रियेव लज्जयेव किल स्वगभीरभावं आत्मीयगम्भीरतां जहौ मुमोच ॥ ६ ॥

यथेत्यादि - तस्या इदं तदीयं यदुदरं तस्य वृद्धिरुच्छ्रायस्तस्य वीक्षाऽवलोकनवृत्तियर्था यथाऽभूत् तथा तथा वक्षोजयोः कुचयोः श्यामञ्च तन्मुखं तस्य दीक्षोपलब्धिरभूत् तदिदमुचितमेव, यतो मध्यस्थाऽनुत्सेकरूपा केन्द्रधरणस्वरूपा वा वृत्तिर्यस्य तस्यापि, किं पुनरितरस्येत्यपि शब्दार्थः । उन्नतत्वं महत्त्वं सोढुमङ्गीकर्तुं कठिनेषु कठोरेषु सत्त्वं सामर्थ्यं कुतोऽस्तु ? कुचौ च तस्याः कठिनौ तस्मात्तथात्वं स्यादेव। अर्थान्तरन्यासः ॥७॥

तस्या इत्यादि - तस्या महाराज्या उदरप्रदेशो योऽत्यन्तं कृश इति कृशीयान् पुनरपि स बलित्रयोच्छेदी त्रिबलीनां विध्वंसकोजातः । दुर्बल एकस्यापि बलवतो विजेता न भवेत्, किं पुनर्बलित्रयस्येत्येतावत्तया खलु तस्य भूपस्य सिद्धार्थस्य मुदे बभूव प्रसन्नतां चकार । किन्त्वेतादृग् उदरे प्रभावः स सर्वोऽपि किलान्तर्भुवः प्रच्छन्नतया तिष्ठतः विवेकस्य विचारस्य नौरिव भवतः श्रीतीर्थंकृत एव ॥ ८ ॥

लोकेत्यादि - स भगवान् महावीरः, लोकत्रयमुद्योतयति प्रकाशयतीति लोकत्रयोद्योति तत एवं पवित्रं यद्वितीनां ज्ञानानां मतिश्रुतावधिनाम्नां त्रयं तेन हेतुना गर्भेऽपि किलोपपत्त्या सहितः सोपपत्तिर्माहात्म्यवानेवाऽऽसीदिति । अत एव स घनानां मेघानां मध्ये आच्छन्नः समावृतो यः पयोजानां कमलानां बन्धुः सूर्यः स इव स्वोचितस्य धाम्नस्तेजसः सिन्धुः समुद्रोऽर्थात्खनिराबभौ शुशुभे ॥ ९ ॥

पयोधरेत्यादि - इह भुवि संसारे बन्धूनां धात्री भूरिवाधारभूताऽत एवोत्तमस्य पुण्यस्य पात्री तस्यास्त्रिशलाया यथा पयोधरयोः स्तनयोरुल्लासः समुन्नतिभाव आविरास सम्बभूव, तथा मुखमेवेन्दुश्चन्द्रः स च पुनीताया निर्दोषाया भासो दीप्तेः स्थानमाधिकरणं बभूवेत्येद्विचित्रमभूतपूर्वम्, यतोऽत्र पयोधराणां मेघानामुल्लासे चन्द्रमसो दीप्तिप्रहाणिरेव सम्भवतीति । विरोधाभासः ॥ १० ॥

कवित्ववृत्त्येत्यादि - कवित्वस्य वृत्तिः कवित्ववृत्तिस्तया कविव्यवहारेण उदितः । वस्तुतस्तु जिनराजमातुरर्हज्जनन्या जातु कदाचिदपि कोऽपि विकारः देहविपरिणामो नासीन्न बभूव । तत्रार्थान्तरेण हेतुमाह मरुतः पवनस्य दीपिकायामधिकारो निर्वापणादिः स्यात्, किन्तु तथा विद्युतस्यडितोऽतिचारः क ? अर्थात्पवनो दीपिकां निर्वापयितुं समर्थः, किन्तु विद्युन्निर्वापणे तस्य शक्तिर्नास्तीति भावः ॥ ११ ॥

विजृम्भत इत्यादि - इदानीं बसन्तकाले श्रीयुक्तो नमुचिः कामदेवः प्रचण्डः सन्ननिवार्यतया विजृम्भतेऽथवा नमुचिनामा दैत्यो विजयते । अंशुः सूर्यः कुबेरदिश्युत्तरस्यामवाप्तदण्डः संल्लब्धमार्गसरणिरथवा समावाप्तापराधः । अदितिः पुनः पृथ्वी देवमाता च लोकोक्तौ सा समन्तात् सर्वत एवमधुना पुष्पपरागेण मधुनाम दैत्येन च विद्धं व्याप्तं धाम स्थानं यस्या सा समस्तीति किलायं कालः सुरभिरीदृङ् नाम यस्य स वसन्तर्तुरिव सुरेभ्यो भीतिर्यत्र स सुरभीतिः किलेत्येवंनामा सञ्जायत इति । समासोक्तिः ॥ १२ ॥

परागेत्यादि - अनङ्गस्य कामस्यैकोऽनन्यः सखा हितकर्ता मधुर्नाम वसन्तर्तुः स च मानी सम्मानयोग्यो भवन् यो धनी भर्ता वन्य एव जन्यः स्त्रियस्तासां मुखानि, अवलोकनस्थानानि प्रसिद्धानि । पराग एव नीरं तेनोद्धरितैः परिपूर्णैः प्रसूनैरेव श्रृङ्गैर्जलोक्षणयन्त्रैर्हेतुभूतैर्मरुद्वायुरेव करस्तेन प्रयोगेणोक्षति सन्तर्पयत्यभिषिञ्चतीत्यर्थः । अनुप्रासपूर्वको रूपकालङ्कारः । नाम वाक्यालङ्कारे ॥ १३ ॥

वन्येत्यादि - इदानीं वन्या वनस्थल्या सार्धं मधोर्वसन्तस्य पाणिधृतिः पाणिग्रहणं विवाहः सम्भवति तस्मादेव कारणात् पुंस्कोकिलैः कीदृशैर्विषु पक्षिषु प्रवरैर्मुख्यैः मिष्टसम्भाषणत्वात्तैरेव विप्रवरैर्ब्राह्मणोत्तमैः पुनरिदानीं यदुक्तं तत्सूक्तं पाणिग्रहणकारिकाणामृचां पठनमतः सूक्तं सुष्ठूक्तमस्ति । स्मरः काम एवाक्षीणो हविर्भुगग्निः सततं सन्तापकत्वादेव साक्षी प्रमाणभूतोऽत्र कार्ये । अलीनां भ्रमराणां निनादस्य गुञ्जनस्य देशो लेशः स एव भेरीनिवेशो मङ्गलवाद्यविशेषः सम्भावनीयस्तावत् ॥ १४ ॥

प्रत्येतीत्यादि - सर्वसाधारणः पथिकादिरयं वृक्षोऽशोकः शोकं न ददाति किलेत्यभिधया नाम्ना प्रत्येति विश्वासं करोति । अथ पुनराररक्तानि लोहितानि फुल्लानि प्रसूनान्येवाक्षीणि यस्य तत्तयेक्षितो रोषारुणविस्फालितलोचनैरवलोकितः सन् स एव जनः खलु दराणां पत्राणामेको धाता संधारकोऽथवा दरस्य भयस्यैकोऽनन्यो धाता सम्पादक इत्यनुमन्यमानोऽनुमानविषयं कुर्वाणस्तस्य कुजातितां कोर्भूमेर्जातिः सम्भूतिर्यस्य ततां किलाकुलीनतां किमुत न पश्यति पश्यत्येवेति । अन्योक्तिरलङ्कार ॥ १५ ॥

पृदाकुदर्पेत्यादि- द्युरत्नं सूर्यः पौष्ये समये पुष्पप्रसवकाले वसन्ततौ कुबेरकाष्ठाया उत्तरदिशाया आश्रयणे प्रयत्नं विदधाति, उत्तरायणो भवतीति, कुत इति चेत् पृताकव सर्पास्तेषां दर्पेण विषेणाङ्कितो योऽसौ चन्दनो नाम वृक्षस्तेनारक्तैरभिस्पृष्टैर्याम्यैर्दक्षिणदिक्सम्भवैः समीरैर्वायुभिस्तत्कालसञ्जातैस्तैः प्रसिद्धैर्भीतिभाग् भयसंत्रस्त इव यतः ॥ १६ ॥

जनीत्यादि - जनीसमाजस्य स्त्रीवर्गस्यादरणं स्वीकारस्तस्य प्रणेतुः समादेशकर्तुः स्मर एव विश्वस्य जेताऽधीनकर्ता तस्यासौ वसन्तः सहायः सहयोगकारी । वनीविहार इत्यनेनोद्यानगमनं गृह्यते तस्योद्धरणे प्रकटीकरणे एक एव हेतुरबं तु पुनर्वियोगिवर्गायैकाकिजनाय धूमकेतुरग्निरिव सन्तापकः ॥ १७ ॥

माकन्देत्यादि - माकन्दानां रसालवृक्षाणां वृन्दस्य प्रसवं कारकमभिसरतीति तस्याम्रपुष्पास्वादकस्य पिकस्य कोकिलस्य मोदाभ्युदयं प्रकर्तुं प्रसन्नतां वर्धयितुं तथैव स्मरभूमिभर्तुः कामदेवस्य नरपतेः सखाऽसौ कुसुमोत्सवर्तु र्यस्मिन् पुष्पाणामुत्सवो भवति स एष ऋतुः सुखाय विषयभोगाय निभालनीयः ॥ १८ ॥

यत इत्यादि - यतः कारणाद् अभ्युपात्ता नवपुष्पाणां तातिः समूहो येनैवंभूतः कन्दर्प एव भूपो राजा विजयाय दिग्विजयं कर्तुंयाति गच्छति । पिकद्विजातिः कोकिलपक्षी कूहरिति यच्छब्दं करोति स एष शब्दः शङ्खध्वनिरिवाविभाति शोभते ॥ १९ ॥

नवप्रसङ्ग इत्यादि - यथा कामी जनः परिहृष्टचेताः प्रसन्नचित्तः सन् नवप्रसङ्गे प्रथमसमागमे नवां नवपरिणीतां वधूं जनीं मुहुर्मुहुश्चुम्बति तथैव चञ्चरीको भ्रमरः कोर्भूम्या माकन्दजातामाम्रवृक्षोद्भवां मञ्जरीं मुहुर्मुहुश्चुम्बति ॥ २० ॥

आम्रस्येत्यादि - कलिकाया अन्तो मध्येऽलिर्भ्रमरो गुञ्जति यस्य तस्य गुञ्जत्कलिकान्तराले, आम्रस्य विशेष्यस्य सहकारस्य, एतत्किलालोकं व्यर्थं न भवति, कुतो यतो दृशोर्नेत्रयोर्वर्त्म मार्गस्तस्मिन् कर्मक्षण एव नयनगोचरतां प्राप्तावेव पान्थाङ्गिने पान्थाय परासुत्वं प्राणरहितत्वं करोतीति तस्य तावदिति वयं वदाम ॥ २१ ॥

सुमोद्‌गम इत्यादि - स्मरस्य कामस्य बाणानां वेशः स्वरूपं पञ्चविध इत्याह - प्रथमस्तु सुमोद्गमः पुष्पोत्पत्तिः, द्वितीयस्तावद् भृङ्गानामुर्वी गीतिर्भ्रमरतुमुलगुञ्जनं, तृतीयः अन्तकस्यायमन्तकीयो यमसम्बन्धी, विरहिणामन्तकारित्वात् मरुन्मलयानिलः, चतुर्थो जनीनां स्वनीतिर्वेषभूषा, शेषः पञ्चम एष पिकस्वनः कोकिलशब्द इति ॥ २२ ॥

अनन्ततामित्यादि - साम्प्रतमिदानीं स्मरस्यायुधैः पुष्पैरनन्ततामसंख्यत्वमवाप्तवद्भिरुपयुञ्जानैरतएव स्फुरद्भिर्विकसद्भिर्विमुक्तया परित्यक्तया पञ्चऽसंख्याकतया मृत्यु त्रेति पञ्चतया, इतः समारभ्य कः समलङ्क्रियेत वियोगिनां विरहिणां वर्गात्समूहादपरो न कोऽपि, किन्तु स्त्रीविरहितजन एव म्रियेतेति ॥ २३ ॥

समन्तत इत्यादि - हे समक्ष, सम्मुखे वर्तमानमहाशय, सदा सर्वदैव पिकस्य कोकिलस्योदयभृत्प्रसन्नताकारकं विधानं यत्र तस्मिन् माघान्माघमासाद्विनिवर्तमाने फ़ाल्गुनमासतः प्रारब्धेऽस्मिन्नृतौ पुनीतस्य पावनरूपस्य माकन्दस्याम्रवृक्षस्य विधानं करोतीति विधायिवस्तु तादृक् सुमनस्त्वं फुल्लपरिणामः समन्तत एवास्तु । तथा माया लक्ष्म्याः कन्दस्य परिणामस्य विधायि समुनस्त्वं देवत्वमस्तु यतो हे समक्षमः समाना क्षमा यस्य तादृङ् मित्र, अथात्पादद्रू रवर्तिनि सदा कस्य सुखस्योदयमृद्विधानं यत्र तस्मिन् सुखाधार इति ॥ २४ ॥

ऋतुश्रिय इत्यादि - अत्र वसन्तेऽदो यत्पौष्पं रजः पुष्पपरागः अनल्पं प्रचुरं प्रसरति तत्कीदृशं प्रतीयत इत्याह - तद्रज ऋतुश्रियो वसन्तलक्ष्म्याः श्रीकरणं शोभाधायकं चूर्णमिव, तूर्णं तत्कालं वियोगिनां विरहिणां भस्मवत्, श्रीमीनकेतोः कामस्य ध्वजवस्त्रकल्पं पताकापटसदृशं प्रतीयत इति शेषः ॥ २५ ॥

श्रेणीत्यादि - अस्मिन्नृतौ समन्तात्परितो याऽलीनां द्विरेफाणां श्रेणी पङ्क्तिर्विलसति सा पान्थोपरोधाय प्रोषितजनगमनवारणायादीना पुष्टा कशेव वेत्रिकेव प्रतीयत इति शेषः । असौ वसन्तश्रियो रम्या मनोज्ञा वेणीव संयतकेशपाश इव, कामो गजेन्द्र इवेति कामगजेन्द्रः, कामगजेन्द्रं गच्छति बन्धनार्थं प्राप्नोतीति कामगजेन्द्रगम्या शृङ्खलेव प्रतीयते ॥ २६ ॥

प्रत्येतीति - लोको विटं कामिनं पाति रक्षतीति विटपोऽयं च विटपो वृक्ष इत्युक्तेः सारास्लेशात्कारणात्तावत्प्रत्येति विश्वासं करोति । अथ च पुनरङ्गारतुल्यानां प्रसवानां पुष्पाणामुपहाराद्धेतोः पलमश्नाति मांसं खादतीति पलाशोऽयमिति नाम्नः स्मरणादयमेव लोको भयभीतः सन् स्वां स्वकीयां महिलां स्त्रियं सहायं सहकारितया समीहतेऽभिवाञ्छति रन्तुकामो भवतीत्यर्थः ॥ २७ ॥

मदनेत्यादि - एष वसन्ताख्यः क्षणः समयः सुरतवार इव स्त्रीपुरुषसङ्गम इव समुद्भूतः सञ्जाविरभूज्जातः यतो मदनस्य सहकार तरोः पक्षे कामस्य मर्मणां विकासैः समन्वितः कौरकैर्हावादिभिर्वा युक्तः । कुहुरितं कोकिलरवः सङ्गमध्वनिर्वा तस्यायोऽभिवृद्धिस्तद्युतया कारणेन सविटपः पलाशादितरुसहितः कामिजनसहितश्च कौतुकलक्षणः पुष्पपरम्पराचिह्नितो विनोदवाँश्चेति किलात्र तस्मात् ॥ २८ ॥

कलकृतामित्यादि - अत्र वसन्ते कलकृतां मधुरं गायन्तीनां मृगस्य दृशाविव दृशौ यासां तासां हरिणाक्षीणां कामिनीनामित्येवं झङ्कृतानि नूपुराणि यस्मिन् यथा स्यात्तथा नूपुरझङ्कारं क्वणितकिङ्किणिकङ्कृतकङ्कणं शब्दायमानक्षुद्रघण्टिकाकंकृतवलयम् श्रुत्वेत्यध्याहारः । इनः सूर्यस्तासां मुखपद्मदिदृक्षया मुखकमलंद्रष्टुकामनया रथं स्यन्दनं मन्थरं मन्दगामिनं कृतवान् किल ॥ २९ ॥

मन्वित्यादि - अस्मिन् वसन्ते रसालदल आम्रपल्लवेऽलिपिकावलिं भ्रमरकोकिलपंक्ति विवलितां परितः सङ्गतां, कथम्भूतां ललितां मनोहरामिमामहं मदनस्य कामस्य सुमाशये पुष्पराशौ भुवि पृथिव्यां वशीकरणोचितमन्त्रकस्थितिं कामिजनवशीकरणमन्त्राक्षरतुल्यामित्यये प्रत्येमि जानामीत्यर्थः । उत्प्रेक्षालङ्कार ॥ ३० ॥

नहीत्यादि - अत्र मधौ पलाशतरोः किंशुकवृक्षस्य मुकुलोद्गतिः कुड्मलोत्पत्तिर्नहि, तर्हि किमित्याह- किन्तु सती समयोचिता पतिव्रताङ्गना यौवनकालोचिता सुरभिणा नायकेन कलिता रचिता अपि अतिलोहिता रक्ता नखरक्षतसन्ततिर्नखाघातव्रणपङ्क्तिर्लसति शोभते । अपह्नुत्यलङ्कार ॥ ३१ ॥

अयीत्यादि - अयि लवङ्गि, भवत्यप्यद्य शिशिर इव शैशवे बाल्ये विकलिते व्यतीते सति भ्रमरसङ्गवशाद् द्विरेफस्पर्शालिङ्गनादिवशाद् अतिशयोन्नतिमन्तः स्तवका गुच्छा एव स्तना यस्याः सैवम्भूता सती मदनस्तवे कामस्तुतौ राजते वर्तते इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

रविरित्यादि - यदयं रविरुत्तरां दिशं गन्तुमुद्यतोऽभवत् तदासौ दक्षिणा दिगपि विप्रियनिःश्वसनः प्रियविरहनिःश्वासस्वरूपं गन्धवहं मलयानिलं ननु वहतितराम् अतिशयेन वहतीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

मुकुलेत्यादि - स्थलपयोजवनेऽब्जिनी कमलिनी मुकुलपाणिपुटेन कोरकरूपहस्तसम्पुटेन रुचाम्बुजजिद्दृशां स्वकान्तिपराजिकमलनेत्राणां युवतीनां दृशि नेत्रे, नेत्रेष्वित्यर्थः । रजः परागं ददाति क्षिपतीन्यर्थः स्मरधूर्तराद् शठशिरोमणिः कामरूपः शठराजो रसात्कौतुकात्कद्-हृदयधनं तासामम्बुजजिद्दृशां कमलनयनानां हृदयरूपवित्तं हरति ॥ ३४ ॥

अभिसरन्तीत्यादि - अत्र कुसुमक्षणे वसन्ते सरसभावं बिभ्रतीति तेषां सरसभावभृतां रसिकभावधारिणां कोकिलपित्सतां पिकानां मधुरारवैः कलकूजितैः समुचिताः शब्दायमानाः सहकारगणा आम्रवृक्षसमूहा रुचिरतां मनोज्ञतामभिसरन्ति प्राप्नुवन्ति ॥ ३५ ॥

विरहिणीत्यादि - अयं वसन्तर्तुर्विरहिणीनां परितापं सन्तापं करोतीति तथाभूतः सन् यदिहापरिहारभृदनिवार्य पापमकरोत्, एषको वसन्तो लगदलिव्यपदेशतया संलग्नभ्रमर-व्याजतया यदघं दधत् धारयन् सम्प्रति तत्परिणामेन विपद्यते नश्यतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

ऋद्धिमित्यादि - सैषा वनी वारजनी वेश्येवान्वहं प्रतिदिनं श्रीभुवं सम्पत्तिभूमिकामृद्धिं परिवृद्धिं गच्छति। स्तेयकृता चौरेण तुल्यो भवन् रागदः कामः खरैस्तीक्ष्णैः शरैः पान्थानं प्रतर्जति भीषयति रसराजः श्रृङ्गाररसः सोऽस्मिन् संसारे नित्यं निरन्तरमतिथिसात् प्रतिष्ठापनमेति, अतिथिरिवादृतो भवति । सकलोऽपि नोऽस्माकं बन्धु र्मित्रवर्गः स ऋतुकौतुकीव ऋतुः शारीरिकशोभा तस्यां कौतुकीव नर्मश्रीर्विनोदवशंगतः सम्मुदं याति हर्षितो भवति । षडरचक्रबन्धः ऋतुसम्वदननामा ॥ ३७ ॥

चैत्रेत्यादि - सा भूपतिजाया प्रियकारिणी चैत्रशुक्लपक्षस्य त्रयोदश्यां तिथौ, उत्तमोच्चसकलग्रहनिष्ठे श्रेष्ठोच्चस्थानस्थितग्रहे मौहूर्तिकोपदिष्टे ज्योतिर्विदादिष्टे समये सुतं पुत्रमसूत सुषुवे ॥ ३८ ॥

रविणेत्यादि - तदा सा राज्ञी सता श्रेष्ठेन तेन सुतेन, रविणा सूर्येण, इन्द्रशासिका ककुबिव पूर्णदिगिव, स्फुटपाथोजकुलेन प्रफुल्लकमलसमूहेन वापिकेव, नवपल्लवतो नूतनकिसलयैर्लता यथा वल्लीव शुभेन मनोहरेण पुत्रेणाऽऽशुशुशुभे अशोभत ॥ ३९ ॥

सदनेकेत्यादि - असो महीभुजो जनी राज्ञी प्रियकारिणी रजनी रात्रिरिवासीत्तदानीमिति यावद्यतो लसत्तमातिशयप्रशंसनीया स्थितिर्यस्याः सा पक्षे लसति स्फूर्तिमेति तमोऽन्धकारो यस्यामेतादृशी स्थितिर्यस्याः । रुजः प्रतिकारिणी पुत्रजननेऽपि यस्यै किञ्चिदपि कष्टं नासीत् पक्षे रुजो व्यापाराद्यायासस्यापलापिकाऽथ च पुनः सन्ति प्रशंसायोग्यानि अनेकान्यष्टोत्तरसहस्रं संख्याकानि लक्षणानि शुभसूचकचिन्हानि तेषामन्वितिः स्थितिर्यत्र तादृशेन तनयेन पक्षे सतां नक्षात्राणांमनेकेषां सुराणां क्षणस्योत्सवस्यान्वितिर्यत्र तेन तनयेन शशिना चन्द्रमसा रात्रौ पिशाचादीनां साञ्चारो भवतीति ॥ ४० ॥

सौरभेत्यादि - तस्य बालकस्य वपुष्यङ्गे पद्मस्येव सौरभावगतिः सुगन्धानुभवोऽभूत् । याऽसौ समस्तलोकानां नेत्रालिप्रतिकर्षिका चक्षुर्भ्रमराकर्षिकाऽभूत् ॥ ४१ ॥

शुक्तेरित्यादि - शुक्तेर्मौक्तिकवत्तस्या देव्या उद्भवतो जायमानस्य निर्मलस्य सद्भिरादरणीयस्य वपुष्मतो बालकस्य पवित्रता शुद्धताऽऽसीत् ॥ ४२ ॥

इति षष्ठः सर्गः ।

श्लोकानुक्रमणिका

कतिपय क्लिष्ट शब्दों का अर्थ

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
अक	दुःख	अनूचान	ब्रह्मचारी
अकाण	चक्षुष्मान्	अनोकह	वृक्ष
अक्ष	इन्द्रिय	अन्यपुष्ट	कोकिल
अग	पर्वत, वृक्ष	अन्वय	वंश
अगद	औषधि	अप	जल
अङ्क	गोद, चिह्न	अपराग	विरक्त
अङ्गसार	शरीरबल	अपर्तु	निष्प्रभ
अङ्गारिका	अंगीठी	अपाङ्ग	कटाक्ष
अङ्घ्रि	चरण	अब्ज	कमल, चन्द्र
अचित्	जड़	अब्जप	सूर्य
अचित्त	जीव-रहित	अब्जिनी	कमलिनी
अज	बकरा	अब्धितुक्	चन्द्र
अजस्त्र	निरन्तर	अभिजात	श्रेष्ठ
अणु	परमाणु	अभिधा	नाम
अदन	भक्षण	अभ्यसूया	ईर्ष्या
अदिति	देव-माता	अभ्रंलिड्	आकाशव्यापी
अद्रिशासिन्	देव	अमत्र	पात्र
अधीति	अध्ययन	अमन्द	तेज
अध्यक्ष	प्रत्यक्ष	अमीर	धनवान्
अध्वग	यात्री	अमृताशन	देव
अध्वनीन	पथिक	अम्बर	आकाश
अनक	दोष-रहित	अम्बुरुह	कमल
अनङ्ग	काम	अयुत	हजार
अनच्छ	मलिन	अयुति	वियोग
अनन्त	शेषनाग	अयन	स्थान, मार्ग
अनभ्राज	. मेघराज	अर	शीघ्र
अनिश	निरन्तर	अरम्	शीघ्र
अनीक	सेना	अर्क	सूर्य
अनुपम	उत्तम	अर्ति	पीड़ा
अनुमा	अनुमान	अर्यमन्	सूर्य

अलि	भ्रमर	इन्दिरा	लक्ष्मी
अवट	कूप, खड्डा	इन्दु	चन्द्र
अवनिपाल	राजा	इला	भूमि
अवश्याय	हिम	इष्टि	यज्ञ
अवाची	दक्षिणदिशा	ईरण	प्रेरणा
अविनाभू	अविनाभावी	ईशायिता	ईसाईपन
अवीर	एकरंग, गुलाल	उच्चय	समूह
अशन	भोजन	उच्छिष्ट	जूठा
असु	प्राण	उज्ज्वर	उज्ज्वल
असुभृत	प्राणी	उडु	नक्षत्र
असृज्	रक्त	उत्सङ्ग	गोद
अस्तिकाय	बहुप्रदेशी द्रव्य	उत्सेक	गर्व
अहस्कर	सूर्य	उदक	जल
अहिपति	सर्पराज	उदीची	उत्तरदिशा
अहीन	शेषनाग	उपायन	भेंट, नजराना
अंशकिन्	विचारशील	उरग	सर्प
आगार	गृह	उरु	जंघा
आखु	चूहा	उर्वी	पृथ्वी
आचमन	जलपान	उलूक	उल्लू
आण	नाम	उल्का	बिजली
आतपत्र	छत्र	उशीर	खस
आतोद्य	बाजा	ऊह	तर्क
आत्मनीन	आत्माका हित	एण	मृग
आरात्	दूर, समीप	एनस्	पाप
आलबाल	क्यारी	ओकस्	स्थान
आली	सखी	औतुक	बिलाव
आशुकारिन्	शीघ्रकर्ता	क	जल
आशुग	वाण, वायु	कुकुभ्	दिशा
आस्य	मुख	ककुल्य	सुखी
इङ्गित	चेष्टा	कङ्कोडुक	नहीं सीझने वाला
इङ्गिनी	चेष्टावाली	कच	केश
इन	स्वामी, सूर्य	कञ्ज	कमल
इद्ध	समृद्ध	कबरी	केश-कलाप

करक	ओला	कुरान	मुस्लिम-ग्रन्थ
करण्डक	पिटारी	कुलाल	कुम्हार
करत्र (कलत्र)	स्त्री	कुवल	मोती
करिन्	हाथी	कुशीलव	चारण, भाट, ऊंट
कर्क	एक राशि	कुशेशय	कमल
कर्कट	केंकड़ा	कुसुम	पुष्प
कर्णेजप	चुगलखोर	कुहर	कोहरा
कर्तरी	कैंची	कृत्ति	शस्त्र, छुरी
कलकृत	कोयल	कृपाण	तलवार
कलम	धान्य	कृपाणी	छुरी
कलाधर	चन्द्र	कृपीट	अग्नि
कलापिन्	मोर	कृष्णवर्त्मन्	अग्नि
कलि	कलिकाल	केकिन्	मोर
कवरस्थली	कब्रिस्तान	केतु	ध्वज
कवल	ग्रास	केशरिन्	सिंह
कशा	चाबुक	कोक	चकवा
काकु	प्रश्न	कोटर	खोखल
कापर्दक	कौड़ी	कोष	खजाना
काकारिलोक	उल्लू	कौतुक	पुष्प, तमाशा
कासार	तालाब	कौमुद	कुमुद-समूह
किङ्किणिका	क्षुद्रघंटिका	कौशल	चातुर्य
किङ्किणी	क्षुद्रघंटिका	क्लम	श्रम
किरि	सूकर	क्लेद	गलन, सड़न
कीशकुलोद्भव	वानर	क्षेम	कल्याण, प्राप्तवस्तु रक्षण
कुच	स्तन	खट्टिक	खटीक
कुजाति	नीच जाति,	खद्योत	जुगनूं
	भूमिज वृक्ष	खर्व	नाश
कुड्मल	कली	खल	दुष्ट
कुन्तिन्	भाले वाला	खातिका	खाई
कुबेरकाष्ठा	उत्तर दिशा	गन्धकुटी	समवसरण
कुमारश्रमण	बालब्रह्मचारी	गन्धवाह	वायु
कुमुद	श्वेत कमल	गर	विष
कुरङ्ग	मृगह	गवाक्ष	झरोखा

गुण	स्वभाव, डोरी
गोपुर	नगर-द्वार
घनसार	कपूर
घूक	उल्लू
घूर्ण	घूमना, कांपना
चक्रवाकी	चकवी
चञ्चरीक	भ्रमर
चन्द्राश्म	चन्द्रकान्त
चीर	वस्त्र
चेतस्	चित्त
चैत्यद्रुम	मूर्तियुक्त-वृक्ष
छगल	बकरा
छाग	बकरा
जडज	(जलज)कमल
जनी	स्त्री
जनुष्	जन्म
जम्पती	स्त्री-पुरुष
जलद	मेघ
जलौकस्	जलचर
जव	वेग
जवञ्जव	संसार
जातिस्मृति	पूर्व जन्म-ज्ञान
जायु	औषधि
जोष	मौन
झञ्झा	आंधी
झलंझला	झञ्झावायु
झष	मच्छ
डम्बर	आडम्बर
डिम्भ	बालक
तटाक	तालाब
तनय	पुत्र
तनुजा	पुत्री
तति	समूह
तमस्	अन्धकार
तरणि	सूर्य
तालि	पंक्ति
तार्क्ष्य	गरूड़
तार्क्ष्यकेतु	गरुड़ध्वज
तिमिर	अन्धकार
तुक्	पुत्र
तुरुष्क	यवन
तूर्ण	शीघ्र
तूल	रूई, विस्तार
त्रिदिव्	स्वर्ग
त्रिविष्टप	स्वर्ग
त्रेता	तीसरा युग
दन्तच्छद	ओष्ठ
दन्तिन्	हाथी
दरी	गुफा
दल	पत्र
दस्यु	चोर
दाम	माला
दार	स्त्री
दिनप	सूर्य
दिनेश	सूर्य
दिव्	आकाश
दिशा	दिशा
दुकूल	वस्त्र
दुरन्त	असीम
दुर्दिन	मेघ-युक्त-दिन
दुरित	पाप
दृप्त	उद्धत
दृश	नेत्र
दूरेक्षणयन्त्र	दूरबीन
दोर्बली	बाहुबलि
दो:शक्ति	बाहुबलि

दोषाकर	चन्द्र	निम्नगा	नदी
दंशन	काटना	निरम्बर	वस्त्र-रहित
द्रविण	धन	निरेनस्	पाप-रहित
द्रह	सरोवर	निर्घृण	निर्दय
द्वय	दो	निर्निमेष	पलक-रहित
द्राक्षा	दाख	निर्भीषण	विभीषण
द्वापर	दूसरे युग का नाम	निर्मोक	कांचली
द्विज	पक्षी	निर्वृति	मुक्ति
द्विजिह्व	सर्प, निन्दक	निलय	निवास
द्विरद	हाथी	निवह	सपूह
द्युसद्	देवता	निशा	रात्रि
धरा	पृथ्वी	निशाचर	राक्षस, रात्रि भोजी
धरासुर	ब्राह्मण		
धव	पति	निष्क	बहुमूल्य
धुरन्धर	भार-धारक बैल	निष्ठा	श्रद्धा
धूमकेतु	पुच्छलतारा, अग्नि	निस्तुल	अनुपम
धेनु	गौ	नि:स्व	निर्धन
ध्याति	ध्यान	नि:सङ्गता	अपरिग्रहता
ध्रुव	निश्चित, नित्य	नीर	जल
ध्वान्त	अन्धकार	नीरद	मेघ
नक्र	मगर	नूत्न	नवीन
नमुचि	एक राक्षस	नूपुर	पायजेब, विछुड़ी
नमोह	मोह-रहित	नेक	भद्र
नलाशय	जलाशय	पञ्चानन	सिंह
नवोढा	नवविवाहिता	पट	वस्त्र
नाक	स्वर्ग	पतङ्ग	पतंग, चंग
नाद	शब्द	पत्तन	नगर
निकृन्तिन्	काटने वाला	पयोदमाला	मेघपंक्ति
निगड़	जंजीर	पयोमुच्	मेघ
निगल	गला	पराग	पुष्पराग
नितम्बिनी	स्त्री	पराभूति	तिरस्कार
निपात	पतन	परिकर्म	प्रसाधन, समारंभ
निमेषभाव	पलक गिराना	परोक्षज्ञान	इन्द्रिय-जनित ज्ञान और अविशद

पर्यट	घूमने वाला	प्रपा	प्याऊ
पर्वत	पहाड़	प्रमदा	स्त्री
पलाश	ढाक	प्लवङ्ग	वानर
पल	क्षण, मांस	प्रवित्	ज्ञानी
पलित	वृद्धता की सफेदी	प्रसति	प्रसन्नता
पल्लव	किशलय	प्रसव	मञ्जरी
पाणि	हाथ	प्रसून	पुष्प
पाथेय	मार्ग का भोजन	प्राची	पूर्व दिशा
पाथोज	कमल	प्रावरण	आच्छादन, कोट
पाद	किरण,चरण	प्रावृष्	वर्षा ऋतु
पादप	वृक्ष	प्रासाद	महल
पामर	दीन, नीच, किसान	प्रास्कायिक	अंग-निरीक्षक ऐक्सरे
पायस	खीर	प्रोच्छनक	अंगोछा
पिक	कोयल	प्रोथ	नितम्ब प्रदेश
पिच्छिल	कीचड़ वाला	फिरङ्गी	अंग्रेज
पित्सत्	शिशुपक्षी	बलाहक	मेघ
पीयूष	अमृत	बाम्बूल	बबूल वृक्ष
पुरु	ऋषभदेव	बाहु-बन्ध	भुज-बन्ध
पुलोमजा	इन्द्राणी	बोध	ज्ञान
पुंस्कोकिल	नर कोयल	भगण	नक्षत्र-समूह
पूत	पवित्र	भसद	भयंकर
पूतना	एक राक्षसी	भामिनी	स्त्री
पूषन्	सूर्य	भावन	भवनवासी देव
पृथ्वीसुत	मङ्गल, वृक्ष	भावबन्ध	निदान
पृदाकु	सर्प	भाल	ललाट
प्रच्छन्न	गुप्त, छिपा हुआ	भास्वत्	सूर्य
प्रजरति	वृद्धा	भूजङ्ग	सर्प
प्रणय	प्रेम	भूमिरुह	वृक्ष
प्रतति	विस्तार	भेक	मेंढक
प्रतिरूपक	प्रतिबिम्ब	भोगभुक्	भोगी, सर्प-भक्षी मयूर
प्रतीची	पश्चिमदिशा	मघवन्	इन्द्र
प्रत्यक्ष ज्ञान	विशद और साक्षात्कारी ज्ञान	मञ्जुल	सुन्दर
प्रत्यभिज्ञा	प्रत्यभिज्ञान	मंजुलापिन्	मधुरभाषी

मण्ड	मांड, कृत्य
मण्डल	कुत्ता
मतल्ल	प्रख्यात
मधु	वसन्त, शहद
मनाक्	थोड़ा, अल्प
मन्दार	वृक्ष विशेष, आकड़ा
मयूख	किरण
मराल	हंस
मर्जू	कृपा
मर्त्य	मानव
महिष	भैंसा
महिषी	रानी या भैंस
माकन्द	आम का वृक्ष
मितंपच	कृपण
मित्र	सुहृत्
मित्र	सूर्य
मिलिन्द	भ्रमर
मीन	मछली
मुकुर	दर्पण
मृड	शिव
मृणाल	कमल-दण्ड
मृत्त्व	प्रातिपदिकसंज्ञा
मेधा	बुद्धि
मेवा	मेवा, सूखे फल
मौका	अवसर
मौढ्य	छात्र, शिष्य
मौहूर्तिक	ज्योतिषी
यामिनी	रात्रि
युति	संयोग
योग	अप्राप्त की प्राप्ति
रङ्क	दरिद्र
रजस्वला	ऋतुमती
रणन	शब्द
रत्नाकर	समुद्र
रथाङ्गिन्	चकवा
रथ्या	गली
रद	दांत
रय	वेग
रस	जलस्वाद, पारद आदि
रसज्ञ	रस ज्ञाता
रसा	पृथ्वी, जिह्वा
रसायनाधीश्वर	वैद्य, वर्षाकाल
रसाल	आम
रूष	क्रोध
रोचिष्	कान्ति
रोटिका	रोटी
रोलम्ब	भ्रमर
रोष	क्रोध
रौरव	एक नरक
लास्य	नृत्य
लोचन	नेत्र
वक्षोज	स्तन
वठर	मूर्ख
वणिक्पथ	बाजार
वतंस	भूषण
वदतांवर	अच्छा बोलने वाला आचार्य श्रेष्ठ
वदान्य	उदार
वधूटी	स्त्री
वन्ध्या	बांझ
वप्तृ	बोने वाला
वप्र	परकोटा
वमि	वमन
वयस्या	सखी
वरण	परकोटा
वर्त्मन्	मार्ग
वर्व	धूर्त

वलभी	अटारी
वलय	कङ्कण
वल्ली	लता
वसन	वस्त्र
वसु	धन
वाचना	पढ़ना
वाडव	समुद्र की अग्नि
वातवसनता	दिगम्बरता
वान	व्यन्तरदेव
वारण	हाथी
वारिद	मेघ
वारिमुच	मेघ
वारिवाह	मेघ
वार्द	मेघ
वार्दल	मेघ
वाविल	ईसाई धर्मग्रन्थ
बाहुज	क्षत्रिय
वासर	दिन
वाहद्विषन्	भैंसा
वाहिनी	सेना
विचित्	अचित्त, जीव-रहित
विटप	वृक्ष
विड्	वैश्य
वित्ति	ज्ञान
विधु	चन्द्र
विपणि	बाजार
विभावसु	अग्नि
विश्	वैश्य
विशारदा	सरस्वती
विशांपति	राजा
विष	जल
वीजन	पंखा
वीनता	गरुडता
वृत्त	चरित्र
वृष	बैल, धर्म
वृषल	शूद्र
वृषभ	बैल
वेरदल	वेरी का पत्ता
वेला	तट
वैनतेय	गरुड
वैश्वानर	अग्नि
व्योमन्	आकाश
शकट	गाड़ी
शकुनि	पक्षी
शकुनी	शकुन-शास्त्र-वेत्ता,
शकुन्त	पक्षी
शक्र	इन्द्र
शची	इन्द्राणी
शम्पा	बिजली
शय	हाथ
शयान	सोता हुआ सर्प
शर	बाण
शरधि	तरकस, तूणीर
शर्मन्	सुख
शलाका	सलाई, श्रेष्ठ
शशधर	चन्द्र
शात	सुख
शान	गौरव, प्रतिष्ठा
शाप	दुष्कृत्य, बददुआ
शिखावल	मोर
शिवद्विष्	शिव-शत्रु काम
शिश्न	पुरुषलिङ्ग
शीकर	जलकण
शुनी	कुतिया
शुल्क	कर, मूल्य
शूलिन्	शिव
शेष	सर्पराज
शोणित	रक्त
श्मश्रू	दाढ़ी मूंछ
श्रवस्	कान
श्लक्ष्ण	चिकना
श्वभ्र	नरक

श्वश्रू	सास
श्रोणी	जघन
षट्पदी	भ्रमरी
षड्वर्गक	ज्योतिष के ६ वर्ग
सकाश	समीप
सचित्त	सजीव
सटा	केशर
सदारता	सस्त्रीकता
सद्मन्	घर
सत्तम	श्रेष्ठ
सत्र	अन्नक्षेत्र, सदावर्त
सत्रा	साथ
सत्वर	शीघ्र
सधर्मिणी	स्त्री
सप्तच्छद	सप्तपर्ण, सात पत्ते वाला वृक्ष
समक्ष	प्रत्यक्ष
समिद्धि	प्रकाशमान
समीर	वायु
समीरण	वायु
सरित्	नदी
सव	अभिषेक
सवितृ	सूर्य
सहकार	आम
सहस्त्ररश्मि	सूर्य
साकम्	साथ
सान्द्र	घना
सायम्	सन्ध्या काल
सित	शुक्ल
सिन्धु	समुद्र
सुकन्दत्व	सुव्याप्त
सुचित्	सुहृदय, विद्वान
सुदामन्	उत्तमाला-धारक
सुधा	अमृत
सुधाकर	चन्द्र
सुधांशु	चन्द्र
सुनाशीर	इन्द्र
सुभास	गिद्ध पक्षी
सुपर्वन्	देव
सुपर्वभू	स्वर्ग
सुपीठ	सुन्दर आसन
सुम	पुष्प
सुमाशय	वसन्त
सुरप	इन्द्र
सुराद्रि	सुमेरु
सुरीण	क्षीण
सूची	सुई
सूपकार	रसोईदार
सेतु	पुल
सोम	चन्द्र
सौगन्धिक	सूंघकर भूमि-गत वस्तु का जानने वाला
सौध	महल
संगर	युद्ध, वाद
संविधा	समूह
संसद	सभा
स्कन्ध	अनेक परमाणुओं का समूह
स्तबक	गुच्छा
स्तेयिन्	चोर
स्तोम	समूह
स्मय	आश्चर्य
स्मर	काम
स्यूति	उत्पत्ति
स्राक्	शीघ्र
स्रुति	टपकना
स्रोतस्	सोता, झरना
स्वान्तस्	चित्त
स्वेद	पसीना
हरि	सिंह
हरिविष्टर	सिंहासन
हिमारि	सूर्य
हृषीक	इन्द्रिय

तीर्थङ्कर नाम–सूची

नाम	परिचय
अजित	द्वितीय तीर्थङ्कर
आदीश	प्रथम तीर्थङ्कर
ऋषभ	प्रथम तीर्थङ्कर
वृषभ	प्रथम तीर्थङ्कर
चन्द्रप्रभ	अष्टम तीर्थङ्कर
पार्श्व प्रभु	तेईसवें तीर्थङ्कर
वीर	चौबीसवें तीर्थङ्कर
श्री वर्धमान	चौबीसवें तीर्थङ्कर
सन्मति	चौबीसवें तीर्थङ्कर

गणधर नाम–सूची

अकम्पित	अष्टम गणधर
अग्निभूति	द्वितीय गणधर
अचल	नवम गणधर
आर्यव्यक्त	चतुर्थ गणधर
इन्द्रभूतिगौतम	प्रथम गणधर
प्रभास	ग्यारहवें गणधर
मण्डिक	षष्ठ गणधर
मेतार्य	दशम गणधर
मौर्य पुत्र	सप्तम गणधर
वायु भूति	तृतीय गणधर
सुधर्म	पंचम गणधर

आचार्य नाम–सूची

अकलङ्कदेव	प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य
देवर्द्धिगणी	प्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्य
नेमिचन्द्र सिद्धान्ती	गोम्मटसार-कर्ता
पद्मनन्दि सिद्धान्ती	दक्षिण के एक आचार्य
पूज्य पाद	जैनेन्द्र व्याकरण-कर्ता
प्रभाचन्द्र	प्रेमय कमल मार्तण्ड-कर्ता
भद्रबाहु	अन्तिम श्रुतकेवली
शुभचन्द्र	दक्षिण के एक आचार्य
श्रुतसागर	एक पूर्व कालीन आचार्य
समन्तभद्र	न्याय के प्रस्थापक स्तुतिकार
स्थूलभद्र	श्वेताम्बर-मत-प्रस्थापक

ग्रन्थ–नाम–सूची

ग्रन्थ-नाम	रचयिता
आप्तमीमांसा	समन्तभद्र
आराधना (भगवती)	शिवार्य
पातञ्जल महाभाष्य	पतञ्जलि
प्रद्युम्न चरित	महासेन
मीमांसा-श्लोकवार्तिक	कुमारिल
बृहत्कथा कोष	हरिषेण

विद्वज्जन-नाम सूची

(ब्र.) ज्ञानानन्द	मुनि ज्ञान सागरजी के विद्यागुरु
(पं.) दरबारीलाल	सत्य समाज के संस्थापक
(स्वामी) दयानन्द	आर्य समाज के संस्थापक
व्यास ऋषि	वेद-संकलयिता
(ब्र) शीतलप्रसाद	विधवा विवाह के पोषक-ब्रह्मचारी

वंश नाम-सूची

इक्ष्वाकु वंश
चौहान वंश
परमार वंश
सूर्य वंश

विशिष्ट व्यक्ति-नाम-सूची

नाम	परिचय
अचल देव	मंत्री चन्द्रमौलि की स्त्री
अतिमब्बे	राजा नागदेव की स्त्री
अभया	राजा दार्फवाहन की स्त्री
अभिनन्दन	छत्रपुरी के राजा
अमरसिंह	राणौली के राजा
अर्हद्दास	मथुरा के एक सेठ
अश्वग्रीव	प्रथम प्रतिनारायण
उद्दायन	वीतभयपुर का राजा
कदम्बराज	एक कदम्ब वंशी नरेश
कदाच्छी	राजा मरु वर्मा की रानी
कनकमाला	राजा कनक की रानी
काडुवेदी	पल्लव देश का राजा
कार्त्तिकेय	एक प्रसिद्ध आचार्य
कार्त्तिदेव	एक कदम्ब वंशी राजा
कीर्त्तिपाल	एक चौहान वंशी नरेश
कृष्ण	नवम नारायण
खारवेल	कलिंग-नरेश
गङ्गराज	एक प्रसिद्ध सेनापति

गङ्ग हेमाण्डि	दक्षिण देश का एक नरेश
गौतम	प्रथम गणधर
घृतवरी देवी	कवि की माता
चट्टला	काडुबेदी की रानी
चतुर्भुज श्रेष्ठी	कवि के पिता
चन्द्रगुप्त मौर्य	एक प्रसिद्ध नरेश
चन्द्रमौलि	राजा वीरवल्लाल के मन्त्री
चामुण्डराज	एक प्रसिद्ध जैन सेनापति
चिलाति	कोटि वर्ष देश का स्वामी
चेटक	वैशाली का एक नरेश
जम्बू कुमार	अन्तिम केवली
जयकणि	राजा विष्णुचन्द्र की भावज
जयन्ती	आठवें गणधर अंकपित की माता
जरत्कुमार	एक यदुवंशी राजकुमार
जरासन्ध	नवम प्रतिनारायण
जाकियव्वे	राजा नागार्जुन की स्त्री
जीवक	जीवन्धर स्वामी
जैनी	विश्वनन्दी की माता
तथागत	बुद्ध
त्रिपृष्ठ	प्रथम नारायण
दत्त विप्र	दसवें गणधर मेतार्य के पिता
दधिवाहन	एक चम्पा नरेश
दशरथ	एक सूर्य वंशी नरेश
दशास्य	रावण (अष्टम पतिनारायण)
दार्फवाहन	एक दक्षिणी नरेश
देवकी	कृष्ण की माता
देव प्रिय	अकंपित गणधर के पिता
दोर्बलि	बाहुबली
धनदेव	छठे गणधर मंडित के पिता
धनमित्र	चौथे गणधर आर्य व्यक्त के पिता
धनवती	उष्ट्रदेश के राजा यम की रानी
धम्मिल्ल द्विज	पांचवें गणधर सुधर्म के पिता
धरावंशराज	एक परमार वंशी राजा

नन्द कुमार	भगवान् महावीर का ३१ वां पूर्वभव
नन्दादेवी	नवें गणधर अचल की माता
नागदेव	एक दक्षिणी नरेश
नागार्जुन	एक दक्षिणी नरेश
नाभिराज	अन्तिम कुलकर
निर्भीषण	विभीषण
नीलंयशा	अश्वग्रीव की माता
पद्मावती	राजा दधिवाहन की रानी
परंलूर	निर्गुन्द देश के एक राजा
पल्लवराज	पल्लव देश के एक नरेश
पाराशरिका	शाण्डिल्य ब्राह्मण की स्त्री
पुरुरवा	भगवान् महावीर का प्रथम पूर्व भव
पुरुषराज	एक दक्षिणी नरेश
पृथिवी देवी	गौतम गणधर की माता
प्रजापति	प्रथम नारायण के पिता
प्रद्योतन	एक उज्जयिनी नरेश
प्रभावती	राजा उद्दायन की रानी
प्रसेनजित	एक दक्षिणी नरेश
प्रियकारिणी	वीर भगवान् की माता
प्रियमित्र	भ. महावीर के २९ वें भव का नाम
बलविप्र	ग्यारहें गणधर प्रभास के पिता
बाहुबली	ऋषभदेव के पुत्र
भद्दिला	पांचवें सुधर्म गणधर की माता
भद्रा देवी	प्रभास गणधर की माता
भरत चक्री	ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र
भीष्म	पांडवों के दादा
भूरामल	प्रस्तुत काव्य-कर्ता
मयूरराज	प्रथम प्रतिनारायण के पिता
मरीचि	भरत का पुत्र
मरुदेवी	ऋषभदेव की माता
मल्लिका	राजा प्रसेनजित की रानी
माचिकव्वे	राजा मारसिंगय्य की स्त्री
मान्धाता	एक दक्षिणी नरेश

मारसिंगय्य	एक दक्षिणी नरेश
मुरारि	श्रीकृष्ण
मृगावती	प्रथम नारायण की माता
मौर्य	सातवें गणधर के पिता
यमपाश	चाण्डाल
राजमुनि	एक पौराणिक मुनि
लक्ष्मीमती	सेनापति गंगराज की पत्नी
वज्रषेम	भ. महावीर के २७वें भव के पिता
वसुदेव	श्री कृष्ण के पिता
वसुभूति	गौतम गणधर के पिता
वसुविप्र	नवें गणधर के पिता
वारुणी	चौथे गणधर की माता
विक्रमराज	राजा विक्रमादित्य
विजया	छठे गणधर की माता
विद्युच्चर	एक प्रसिद्ध चोर
विद्युच्चौर	एक प्रसिद्ध चोर
विमला	सुदृष्टि सुनार की स्त्री
विशाखनन्दी	भ. महावीर के १७वें भव का चचेरा भाई
विशाखभूति	विशाखनन्दी के पिता
विश्वनन्दी	भ. महावीर के १७ वें भव का नाम
विश्वभूति	विश्वनन्दी के पिता
विष्णुचन्द्र	एक दक्षिणी नरेश
विष्णु वर्धन	एक दक्षिणी नरेश
वीरमती	भ. महावीर के ३१वें भव की माता
वीर वल्लाल	एक दक्षिणी नरेश
शत्रु राजा	एक काशी नरेश
शाण्डिल्य	भ. महावीर के १५वें भव के पिता
शान्तला	एक दक्षिणी नरेश की पत्नी
शिव	एक हस्तिनापुर नरेश
शिव	महादेव
शिवादेवी	राजा प्रद्योत की रानी
शृङ्गारदेवी	राजा धारावंश की रानी
श्री पट्टमहादेवी	मान्धाता की पत्नी

श्री विजय	प्रथम बलभद्र
श्रेणिक	मगध नरेश बिम्बसार
सतानिक	एक कौशम्बी नरेश
सतरस	एक दक्षिणी नरेश
सिद्धार्थ	वीर भगवान् के पिता
सिंहयशा	सम्राट् खारवेल की रानी
सुदृष्टि	एक सुनार
सुमित्र राजा	भ. महावीर के २९वें भव के पिता
सुप्रभा	राजा दशरथ की रानी
सुव्रता रानी	भ महावीर के २९वें भव की माता
सौगत	बौद्ध
हरियव्वरसि	एक दक्षिणी रानी

भौगोलिक नाम–सूची

अलकापुरी	एक विद्याधरपुरी
उज्जयिनी	मालव राजधानी
उष्ट्र देश	एक प्राचीन देश
कदम्ब देश	एक दक्षिणी देश
कनकपुर	एकपौराणिक नगर
काशी	वाराणसी
कुण्डपुर	वीर-जन्म भूमि
कोटि वर्ष	लाड़ देश की राजधानी
कोल्लाग ग्राम	मगध देश का एक ग्राम
कौशाम्बी	एक प्राचीन नगरी
गङ्गा	भारत की प्रसिद्ध नदी
गौबर ग्राम	मगध देश का एक ग्राम
चम्पा	अंग देश की राजधानी
छत्रपुरी	एक पौराणिक नगरी
जम्बू द्वीप	मध्य लोकस्थ प्रथम द्वीप
तुङ्गिक सन्निवेश	मगध देश का एक ग्राम
दशार्ण	मध्य प्रदेश का एक देश
धातकी खण्ड	मध्य लोकस्थ द्वितीय द्वीप
निर्गुन्द देश	एक दक्षिणी देश

पल्लव देश	एक दक्षिणी देश
पुण्डरीकिणी नगरी	एक पौराणिक नगरी
पुष्कल देश	एक पौराणिक देश
पूनल्लि ग्राम	एक दक्षिणी ग्राम
भारतवर्ष	हिन्दुस्तान
मथुरा	प्रसिद्धपुरी
महीशूर	मैसूर
मिथिलापुरी	जनकपुरी
मौर्यग्राम	मगध देश का एक ग्राम
मंगलावती	एक पौराणिक नगरी
रजताचल	विजयार्धपर्वत
राजगृह	बिहार का प्रसिद्ध नगर
राजपुरी	हेमांगद देश का राजधानी
वीतभयपुर	सिन्धु देश की राजधानी
विदेहदेश	बिहार प्रान्त का एक देश
वैशाली	वज्जी जनपद की राजधानी
साकेत	अयोध्यापुरी कोसल की राजधानी
सिन्धु	प्रसिद्ध नदी
हस्तिनापुर	प्रसिद्ध नगर

वीरोदय–गत–सूक्तय:

सूक्तय:	सर्ग	श्लोक
अगदेनैव निरेति रोग:	5	31
अनेकशक्त्यात्मकवस्तु तत्त्वम्	19	8
अन्यस्य दोषे स्विदवाग्विसर्ग: ।	18	38
अर्थक्रियाकारितयाऽस्तु वस्तु ।	19	1
अस्तित्वमेकत्र च नास्तितापि ।	19	13
अहो निशायामपि अर्यमोदित: ।	9	4
अहो मरीमर्ति किलाकलत्र:	9	35
आचार एवाभ्युदयप्रदेश: ।	17	29
आत्मा यथा स्वस्य तथा परस्य ।	17	6
इन्द्रियाणां तु यो दास: स दासो जगतां भवेत् ।	8	37

गोमूत्रिक बन्ध रचना

रमयन् गमयत्वेष वाङ्मये समयं मनः ।
न मनागनयं द्वेष-धाम वा सभयं जनः ॥

(सर्ग २२ श्लोक ३७)

यान बन्ध रचना

न मनोद्यमि देवेभ्योऽर्हद्भ्यः संव्रजतां सदा ।
दासतां जनमात्रस्य भवेदप्यद्य नो मनः ॥

(सर्ग २२ श्लोक ३८)
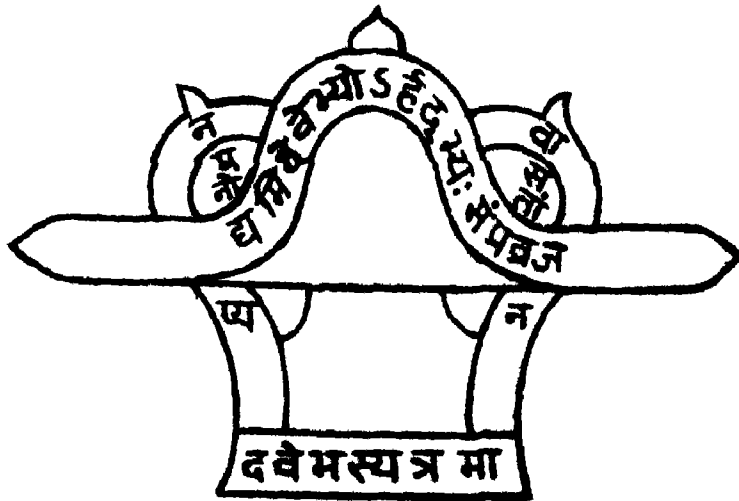
पद्म बन्ध रचना

विनयेन मानहीनं विनष्टैनः पुनस्तु नः ।
मुनये नमनस्थानं ज्ञानध्यानधनं मनः ॥
(सर्ग २२ श्लोक ३९)
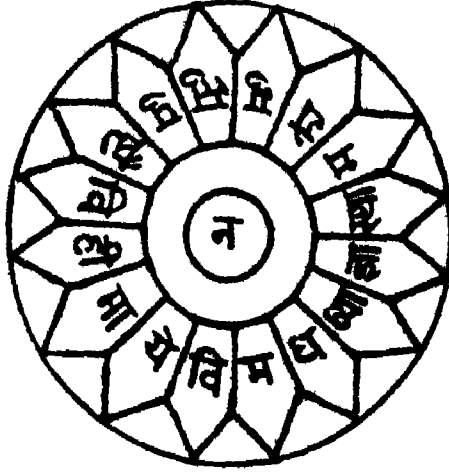
तालवृन्त बन्ध रचना
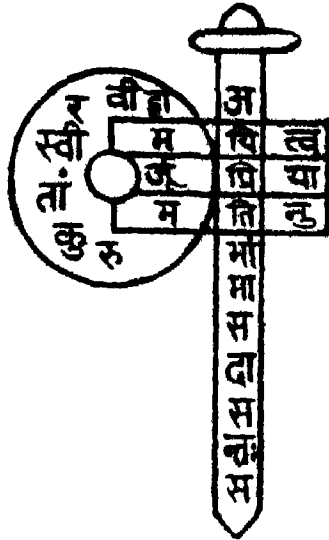
सन्तः सदा समा भान्ति
मर्जूमति नुति प्रियाः ।
अयि त्वयि महावीर
स्वीतां कुरु मर्जू मयि ॥
(सर्ग २२ श्लोक ४०)

□□□